कठोपनिषद्-प्रवचन

द्वितीय प्रवाह

कठोपनिषद्-प्रवचन

द्वितीय प्रवाह

प्रथमाध्याय : ३ वल्ली,

द्वितीयाध्याय : १, २, ३

— प्रवक्ता —

अनन्तश्री

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती महाराज

संकलनकर्त्री

डॉ० श्रीमती उर्वशी जे० सूरती

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : तृतीया वल्ली

विषय — पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

द्वितीय अध्याय : प्रथम वल्ली

विषय	पृष्ठ-संख्या

द्वितीय अध्याय : द्वितीय वल्ली

द्वितीय अध्याय : तृतीय वल्ली

ॐ

कठोपनिषद्

प्रथम अध्याय

तृतीया वल्ली

१. प्राप्त-प्राप्तव्यभेदसे दो आत्मा

संगति :

पहले विद्या-अविद्याका निरूपण बताया कि जहाँ अविद्याका फल संसार है वहीं विद्याका फल आवरणभंगपूर्वक भ्रान्ति-निवृत्ति यानी अविद्याका निरास और स्वरूपभूत ब्रह्मका साक्षात्कार। इसका अभिप्राय है कि संसारमें मनुष्य केवल नासमझीसे ही दुःखी है। वेदान्तका सार यही है कि 'जहाँ हम दुःखी होते हैं वहाँ कोई-न-कोई मूर्खता करते रहते हैं। बच्चा अधिक दूध पीना चाहता है तो माँ उसे स्तनसे हटा देती है। वह आगमें हाथ डालना चाहता है तो माँ उसे खींच लेती है। वह आवारा बच्चोंके साथ खेलना चाहता है, तो माँ उसे उनके

पास नहीं जाने देती। वह गंदी चीज़ खाना चाहता है तो माँ उसे रोकती है। माँकी ऐसी रुकावटोंसे बच्चा तो यही समझता है कि उसका बड़ा भारी नुकसान हुआ। माँ-बापकी दृष्टिसे देखा जाय तो बच्चे केवल नासमझीसे ही दुःखी होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता जानते हैं कि संसारी लोग बाहरी-भीतरी कारणकी कल्पना कर व्यर्थ ही दुःखी हो रहे हैं। असलमें अपनेको दुःखी मानना ही मूर्खताका फन्दा है।

दुःख प्रारब्धसे नहीं आता, प्रकृतिके प्रवाहमें ही सभी घटनाएँ घटती रहती हैं, ईश्वरेच्छासे ही सब कुछ चलता रहता है। कोई आता-जाता या मिलता-बिछुड़ता है तो संसारमें यह सब अपने-आप होता रहता है। उसके साथ अपनी वासना, संकल्प, इच्छा जोड़कर आने-जानेवाले सुख-दुःखको 'मैं-मेरा' मानकर हम अपने आपको सुखी या दुःखी कहते हैं। वेदान्त कहता है : 'यदि तुम अपने सच्चे स्वरूपको जान जाओ अर्थात् तुममें सच्ची समझदारी आ जाय तो मूर्खता छूट-जाय। जीवनभर सत्रह बार सुखी-दुःखी होनेकी जो इल्लत लगी हुई है, वह छूट जाय।

जो देहादि छोटी वस्तुओंसे 'मैं' करके बैठा है, देहके साथ लगी वस्तु और व्यक्तिमें 'मेरापन' मान लेता है, वह एकाएक अपनेको चिन्मात्र, चिज्ज्योति, देश-काल-वस्तुका प्रकाशक, देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान (देश-काल-वस्तु सब मानस यानी स्वप्नवत् हैं और मैं उस मानस या स्वप्नदृश्यका साक्षी हूँ, यह) जल्दी माननेको तैयार नहीं। इसीलिए बार-बार भिन्न-भिन्न रीतिसे उसे समझाना पड़ता है। अविद्याका फल है बंधन, दुःख, परिच्छिन्नसे तादात्म्य, जब कि विद्याका फल है इन सबकी निवृत्ति।

इसी विद्या-अविद्याके स्वरूपका फलसहित वर्णन करनेके लिए

अगले प्रकरणका प्रारम्भ होता है और उसीके लिए यहाँ रथके रूपक-की कल्पना की गयी है :

आत्मानम् रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। इससे परमात्मा-को समझना सुगम हो जाता है। मालूम पड़ता है कि प्राप्त करने-वाला कौन है और जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह कौन है? जानेवाला कौन है और जहाँ हमें जाना है, वह कौन है? अब रथका रूपक देकर दो आत्माओंका वर्णन-उपन्यास प्रारंभ करते हैं :

> **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके**
> **गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।**
> **छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति**
> **पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥**

तुम अपने हृदयमें देखो तो साफ-साफ मालूम होगा कि हमारी दो स्थितियाँ होती हैं, हम दो रूप धारण कर लेते हैं। कैसे? जहाँ जाग्रत्-स्वप्नमें हम सुखी-दुःखी होते हैं वहीं सुषुप्तिमें नहीं होते, वहाँ सुखी-दुःखीपन भूल जाते हैं। तात्पर्य यह कि जबतक हम चिन्ता-वाला चोला पकड़े रहते हैं, तबतक सुखी-दुःखी होते हैं। उस [illegible] न सुखी हैं, न दुःखी। चिन्ता चोलेमें ही है। [illegible] ख न मिले, इसकी चिन्ता रहती है। कभी [illegible] भी जाग्रत्। मनको पकड़कर बैठनेपर हमारा नाम [illegible] है, मनसे ऊपर बैठनेपर 'शुद्ध आत्मा'। हम छाया बनकर कर्मफल भोगते हैं और प्रतिबिम्ब बनकर कर्मफलसे मुक्त हो जाते हैं। इसी शरीरके भीतर हमारी स्थिति एक प्राप्तकी तो दूसरी अप्राप्तकी मालूम पड़ती है।

हम सबसे छूटे-छंडिंगे, द्रष्टा, दृङ्मात्र हैं, इसीको प्राप्त करना उचित है। अपने आपके बारेमें ही ऐसा मालूम पड़े कि हम ऐसे हो जायँ। हम जहाँ गिरे हैं, वहाँसे निकलना ही उचित है। अन्तः-करणके कुँएमें गिरनेपर अंधकार मिलता है, उसमेंसे साँप-बिच्छू निकलते हैं। उनसे हमारी रक्षाके लिए प्रकाश देनेवाला मात्र तत्त्वज्ञान है। सबसे बड़ो पकड़ चित्तकी ही पकड़ है। हम जब इस चित्तके घेरेको छोड़ देते है, तो उसमें राग-द्वेष, क्रूरता-शूरता, पक्षपात कुछ नहीं रहता।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके। इस लोकमें देखनेमें आता है कि अपने किये कर्म जो 'ऋत' यानी अवश्यंभावी होनेके कारण सत्य फलद हैं, उन्हें हृदयकी गुहामें बैठकर पी रहे हैं जो गुहा (बुद्धि) इसी लोक यानी शरीरमें है।

परमे परार्धे। बाह्य शरीर जिस आकाशमें रहता है, उसकी अपेक्षा अंतरंग आकाश शरीरावच्छिन्न आकाश है तो उसकी भी अपेक्षा अन्तरंग है बुद्ध्याकाश या हार्दाकाश। उसीमें परमात्माकी उपलब्धि होती है। परम परार्ध यानी ब्रह्मलोक, हृदयाकाश जहाँ ब्रह्मा-विष्णु-शिव रहते हैं। उस बुद्धिगुहामें जीव-ईश्वर दोनों रहते हैं। संपूर्ण सृष्टिका नियामक ईश्वर आपके हृदयमें है तो क्या एक शरीरका नियामक जीव नहीं है? आप भी हृदय[illegible]क, देश-काल-वस्तुकी संपूर्ण सृष्टिका नियामक भी आपके ही हृदय[illegible]नस यानी स्वप्नवत् हैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म रूप आत्मा—जिसमें न नि[illegible]यह) जल्दी माननेको न शरीर है, न शरीरी, वह परब्रह्म परमात्मा—[illegible] ही बैठा है।

ब्रह्मविदो वदन्ति। ब्रह्मवेत्ता यह बात कहते हैं। ब्रह्मवेत्ता ही नहीं, 'पञ्चाग्नयः' यानी गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि,

मुख्य। यदि चारमेंसे दो या एक भी व्यक्ति चाय पीने बैठ जायँ तो सामनेवाला यही कहेगा कि "देखो, लोग चाय पी रहे हैं।" उसमें सब पी रहे हों, यह जरूरी नहीं।

अथवा यों कहिये कि जीव कर्मानुसार फल पी रहा है और ईश्वर उसे पिला रहा है। ईश्वर साक्षी है। जो पिलाता है, उसके लिए भी 'पिबति' कहा जाता है। पाचयिताको 'पका रहे हैं' कहते हैं, तो वही बात रसोईका निर्देश करनेवालेके लिए भी कही जाती है।

बुद्धि-जीव इन दोनोंमेंसे कैसे लेना? **'करणे कर्तृत्वोपचारात्।'** बुद्धि करण है, जीव कर्ता है। मुँह पी रहा है, हाथ उठा रहा है—इसमें पीनेवाला, उठानेवाला जीव है। लकड़ी रसोई नहीं बनाती, मनुष्य बनाता है परन्तु 'एधांसि पचन्ति' ऐसा बोलते हैं। ऐसी स्थितिमें बुद्धि-जीव, जीव-ईश्वर दोनों अर्थ संभव है, और दूसरे कोई पीनेवाले नहीं हो सकते। इसलिए बुद्धि-जीव या जीव-ईश्वर दोनों कर्मफलको भोग रहे हैं, ऐसे अर्थमें बुद्धि करण है और जीव कर्मफलका भोक्ता। बुद्धिमें गौण अर्थ है; या तो जीव और परमेश्वर दोनों कर्मफलके भोक्ता हैं तो जीव मुख्य रूपसे भोक्ता है, परमात्मा उसमें व्याप्त है। इसलिए दोनोंके

अब यह संशय हुआ कि **किं तावत् प्राप्तम्?** क्या निश्चय है? यहाँ 'गुहां प्रविष्टौ'का निर्देश है। दोनों हृदयमें ही रहते हैं। यदि शरीर यानी लोक और गुहा यानी सूक्ष्म शरीर, हृदय है तो दोनों अवस्थामें बुद्धि और क्षेत्रज्ञ जीव हृदयमें ही हैं। यदि दूसरा अर्थ संभव है तो ब्रह्मको हृदयदेशमें क्यों बाँधते हैं? यहाँ तो कर्म-का फल पीनेवाला कहा है। परमात्मा न तो पापका फल पीता

है, न पुण्यका। ऐसी स्थितिमें 'छायातपौ' यानी चेतन-अचेतनका निर्देश उपपन्न नहीं होता। **छायातपौ परस्परविलक्षणत्वात्।** क्योंकि एक छाया है, एक आतप है। अतः यहाँ 'बुद्धि और जीव' यही अर्थ होना चाहिए?

अब इसके उत्तरपक्षका निरूपण करते समय क्या-क्या बात दोनों पक्षोंने कही, यह देखकर या तो दोनों पक्षोंका खण्डन कर सकते हैं या दोनोंमेंसे एक, पूर्वपक्षका समर्थन कर सकते हैं। अब यहाँ उत्तरपक्ष बताते हैं.

वास्तवमें विज्ञानात्मा (जीवात्मा) और परमात्मा ये ही दोनों 'पिबन्तौ' शब्दके अर्थ हैं; क्योंकि दोनों आत्मा, चेतन और समानस्वभाव हैं। संख्या बतायी जाती है कि 'गायका जोड़ा जो दूसरा बैल है उसे ढूँढ़ो' तो दूसरे बैलको ही ढूँढ़ते हैं, घोड़े, गधे, आदमीको नहीं! जब निश्चय हो गया कि यहाँ विज्ञानात्मा जीव कर्मफलका भोक्ता है, तो दूसरे चेतनका ही अनुसंधान करना पड़ेगा। वह केवल परमात्मा ही होगा। यहाँ बताया कि परमात्मा हृदय-गुहामें मौजूद है। क्या परमात्मा हृदय-गुहा यानी बुद्धि-[illegible]में कैद होकर रहता है? इसलिए 'गुहां प्रविष्टौ'से यह मालूम गुहामें [illegible] मा नहीं, जीव है। यहाँ 'गुहाहितम्' पड़ता है कि यह परमा[illegible] कहनेसे ही मालूम पड़ता है कि परमात्मा है; क्योंकि श्रुति-स्मृति-में बार-बार परमात्माको गुहामें प्रविष्ट बताया गया है: **गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।**—(कठ० १. २. १२) और

> **यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।**
> **आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्।** (तैत्तिरीय०)

महाभारतमें भी आया है: "ब्रह्म यद्यपि सर्वव्यापक है, फिर

तमेव विद्वान् अमृत इह भवन्ति।

और

तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिशन्ति।

तुम हमेशा यह मन्त्र पढ़ते हो :

वेदाहमेतं पुरुषम् महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

और

तदेव विदित्वा अति-मृत्युमेति।

मृत्युम् अत्येति=अमृतो भवति। उसे जानकर अमृत हो जायगा। किसको ? मन्त्रके पूर्वार्द्धमें जिसको 'एतम्' कहा गया है उसीको उत्तरार्द्धमें 'तम्' कहा गया है। अर्थात् जो 'तत्' पदका अर्थ है, परोक्ष वही 'एवम्' पदका अर्थ है अपरोक्ष। अर्थात् आत्मा-परमात्माकी एकताको जानकर मृत्युका अतिक्रमण होता है। जड़में मृत्यु है, उसका अतिक्रमण हो जाता है और दुःखमें मृत्यु है, उसका भी अतिक्रमण हो जाता है। हम देश-काल-वस्तुकी परिच्छिन्नतासे, असत्-जड़-मृत्युसे मुक्त हो जाते हैं।

वेदान्तविचारमें अमृतत्वकी प्राप्ति कैसे होती है ? यह अमृत क्या है ? विषयीलोग कहते हैं—'जब हम विषयभोग करते हैं, तब विषयको निचोड़कर उसमें-से रस-स्वाद और सुख पाते हैं।' वे कहते हैं—'यहाँ हम धर्म करते हैं तो परिश्रमसे उपार्जित धर्म-विश्राम इन दोनोंके द्वारा एक नवीन अमृतको उत्पन्न करते हैं और उसे स्वर्गमें पीते हैं। उपासक लोग कहते हैं—'हम भावनासे एक अमृत उत्पन्न करते हैं और उसका आस्वादन करते हैं।'

जल्दी नहीं करना चाहिए, धैर्यसे काम लेना चाहिए। अज्ञात-अनादि कालसे अपनेको देह होनेका, अभ्यास पड़ा हुआ है इसलिए वह तत्काल विविक्त नहीं होता है।

जैसे आकाश है। घड़ेके भीतर एक पोल है—अवकाश रहता हैं। पोल न हो तो पानी कहाँ रहे? ऐसा मालूम पड़ता हैं कि एक फुट लम्बा-चौड़ा, गोल-गोल घड़ेके भीतर आकाश है, तो हम कहेंगे कि यह एक फुटका आकाश है। यह शरीर साढ़े-तीन हाथका है तो उसके भीतर साढ़े-तीन हाथका चैतन्य है। घड़ेकी उपाधिसे, उसके सान्निध्यसे एक फुटका आकाश मालूम पड़ता है, आकाशके साथ घड़की गोलाईका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। विवेक करने पर जानेंगे कि आकाश तो घड़ा बननेके पहले भी था और घड़ा फूटनेके बाद भी रहेगा। आकाश घड़ेके भीतर भी है और बाहर भी। घड़ा भी घड़ा बननेके पहले मिट्टी था, मिट्टी बननेके पहले जल-आग-वायु-आकाश ही था। घड़ा आकाशका आधेय होनेके कारण भी, कल्पित होनेके कारण भी, आकाशका कार्य होनेके कारण भी आकाशको छोटा बनानेवाला नहीं है।

यह अंगूठेके बराबर हृदय वासनाओंके द्वारा गढ़ा हुआ है। उसके भीतर जो चैतन्य है वह भी अंगूठेके बराबर ही मालूम पड़ता है। वह चैतन्य है और अपना आपा है। घड़ेका विवेक करनेसे मालूम पड़ेगा कि चैतन्यमें देश-काल-वस्तु तीनों आधेय हैं माने सम्पूर्ण विश्वमें लम्बाई-चौड़ाईकी जो कल्पना होती है, अनादि-नित्यकी कल्पना होती है या किसी भी प्रकारकी—पृथ्वी, जल, अग्नि आदिकी कल्पना होती है, वह सब कल्पनाके द्वारा ही मालूम पड़ती है—क्लृप्त है। वह अपने आधारको—प्रकाशकका खण्ड-खण्ड नहीं

२५ मरणधर्मा-अमर

संगति—

मनुष्यके हृदयमें रामकी जगह काम बैठ गया और वह अपनेको रामकी जगह काम ही जानने लग गया ! जीवनमें जितनी गति होती है, वह राम चलाता है कि काम ? हम जो-जो करते और बोलते हैं, जहाँ-जहाँ चलते-फिरते हैं—महाभारतमें मनकी गीतामें तो ऐसे कहा है—

अकामस्य क्रिया काचित् विद्यते नेह कर्हिचित् ।
यत् यत् हि कुरुते जन्तुः तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ॥

निष्काममें क्रिया न होनेसे मनुष्यके जीवनमें जितनी क्रियाएँ होती हैं वह भीतर बैठा हुआ काम ही करता है और विक्रिया भी कामसे ही होती है, यह फूल उठा लिया तो क्रिया होगी ! हाथ चलाया तो क्रिया हुई, परन्तु यह हाथ ज़वानसे बूढ़ा हो रहा है सो हम नहीं करते, काम करता है। यह विक्रिया है। कई ऐसी क्रियाएँ हैं जो एक हाथसे पूरी नहीं होतीं तो दूसरा व्यक्ति हाथ लगाता है। एक हाथसे दूसरा हाथ बननेकी प्रक्रियाको विक्रिया कहते हैं,

दूसरे हाथके आनेमें रुकावट कौन डाल रहा है ? काम। वासनाके रथ पर सवार मैंका नाम काम है और वासनाके रथपरसे उतरे मैंका नाम राम है। है तो मैं ही ! जब परिच्छिन्न हुआ तो एक वासना पर बैठ गया और वासनाओंका तांता ही लग गया। एक मोटर पर काम कहाँ चलता है ? जिनके घरमें एक ही आदमी है, उनके पास भी कई मोटरें हैं—एक मंगनीके लिए, एक नौकरके लिए, एक-दो अपने लिए। तुम एक वासना पर बैठे रह सकते हो ? नहीं, नयी-नयी वासना चाहिए—कभी रूप तो कभी रस।

मनुष्य अपने ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानसे पंचभूतके पुतलेको मैं मानकर सुखी-दुःखी होता है, पापी-पुण्यात्मा और कर्ता-भोक्ता बनता है, जन्म-मरण वाला बनकर आता-जाता है। यदि उसे अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो जाय तो वह अमृत हो जाय अर्थात् अपनेको ब्रह्म जान ले—यह बात मन्त्र १४ मे समझायी गयी ! अब मन्त्र १५ में सम्पूर्ण वेदान्तोंका एक मात्र अभिप्राय कहा जाता है कि ब्रह्मात्म्यैकानुभवी पुरुषकी सम्पूर्ण ग्रन्थियोंका छेदन इसी जीवनमें हो जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य इसी जीवनमें अपने ब्रह्मस्वरूपको जानकर जीवनको सफल करे।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।

यहाँ पर परमात्माका व्यतिरेक मुखसे प्रतिपादन किया है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

यहाँ पर अन्वय मुखसे परमात्माका प्रतिपादन हुआ है। पहले दुनिया से अलग करके देखा और फिर उसे दुनियामें भरा पाया। तब पहचान हुई कि वही सहज सत्ता है, वही सहज ज्ञान है और वही सहज आनन्द है।

तुम्हारे हृदयमें अनादि कालसे सचमुच परमेश्वरकी जो माँग है उसको समझो। तुम दूसरी कोई वस्तु नहीं चाहते हो, तुम उसी उसीको चाहते हो। तुम अपनी माँगको समझने पर अनुभव करोगे कि तुम भगवान्‌के भक्त हो, क्योंकि तुम्हारी मांग सिवा परमात्माके अन्यत्र कहीं पूरी नहीं होगी और तुम्हारी मांग जिसके बारेमें है वह सिवाय परमात्माके दूसरी कोई चीज नहीं है। तुम उसका नाम ईश्वर रखो चाहे मत रखो। बिना परमात्मा मिले शांति-तृप्ति-परम-आनन्द नहीं है। क्योंकि दर असलमें तुम उसीको चाहते हो! जैसे हम केवल तुम्हारी माँगका अनुवाद करके ही भक्तिका निरूपण करते हैं, वैसे हमारा यह अभिप्राय बिलकुल नहीं है कि तुम ब्रह्म हो जाओ–बन जाओ! बनना बिलकुल नहीं है, बनोगे तो बिगड़ जाओगे, हो जाओगे तो बह जाओगे, टूट जाओगे, फिर वह नहीं रहेगा! हम तुम्हारे सहज स्वरूपका अनुवाद करते हैं—भाटकी तरह तुम्हारी स्तुति करते हैं।

तमु स्तोतारः अपूर्व्यम्

हम स्तोता हैं, प्रस्तोता नहीं। स्तोता माने सिद्ध वस्तुका जैसी है वैसा निरूपण करते हैं। हम बताते हैं 'तुम ब्रह्म हो। तुम अपनेको अज्ञानवश देह, बीज-जीव मानव, दानव, देवता मानते हो। जैसे जड़की बीजग्रन्थि हो गयी है वैसे तुम अपनेको चैतन्यकी भी कोई गांठ मानते हो! वेदांत विद्या बताती है–'तुम अमृत हो।' क्यों? ज्ञानसे केवल वस्तु विषयक अज्ञान मिटता है, वस्तु नहीं मिटती। अज्ञान-निवारण ही ज्ञानका काम है। अज्ञान-निवृत्ति होते ही, ज्ञान होते ही तुम अमृत हो जाते हो—

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

अर्थात् तुम अपनेको अज्ञानके कारण ही अमृत नहीं जानते। अपनेको

सच्चिदानन्दघन ब्रह्मामृतके रूपमें न पहचानना ही अज्ञान है। ब्रह्मविद्याने पहचान करवा दी।

अत्र ब्रह्म समश्नुते

इसी जिन्दगीमें हम ब्रह्मानुभव करेंगे, मरनेके बाद नहीं! बिना हमारे मरना सिद्ध नहीं होता। हम मरना देखेंगे तब कहेंगे—'मरना है।'

मधु वातारितायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

इसी जीवनमें तुम्हें ब्रह्मका समशन प्राप्त होगा—व्याप्ति होगी। तुम ब्रह्ममें व्यापक हो जाओगे अर्थात् सबसे बड़ा व्यापक तो वही है। ब्रह्मसे बड़ा व्यापक तो कोई है नहीं! कैसे ब्रह्ममें व्यापक हो जाओगे? आत्मा और ब्रह्ममें पार्थक्य तो है नहीं! पार्थक्यका जो भ्रम है वह निवृत्त हो जायगा। यह कोई वादा या सट्टा नहीं है इसलिए स्वर्ग-नरकके समान नहीं है। इसमें किसी आदमीकी, वस्तुकी, इन्द्रियकी, वृत्तिकी या स्थितिकी पराधीनता नहीं है! अत्र माने यहीं, इसी जगहमें, इसी शरीरमें, इसी मनोवृत्तिमें, इसी संकल्पमें, इसी रूपमें, इसी क्षणमें तुम ब्रह्मकी प्राप्ति करोगे।'

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

जिस समय इस जीवनमें ही इसके हृदयकी सम्पूर्ण ग्रन्थियोंका छेदन हो जाता है, उस समय यह मरणधर्मा अमर हो जाता है। बस, सम्पूर्ण वेदान्तोंका इतना ही आदेश है॥ १५॥

एक बार एक बड़ी सभा हो रही थी। काशीके एक पूर्व-मीमांसाके बड़े प्रामाणिक विद्वान् आजकल माने जाते हैं। एक दिन वे सभामें कहने लगे—'मनुष्य श्रवण-मनन-निदिध्यासन करे,

उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा। इस जन्ममें ज्ञान नहीं होगा तो अगले जन्ममें या ब्रह्मलोकमें उसके संस्कारस्वरूप ज्ञान हो जायगा।'

तब करपात्रीजी महाराजने कहा—'ठहरो, तुम वेदान्तका सिद्धान्त नहीं जानते। वेदान्त अदृष्ट उत्पत्तिके द्वारा तत्वज्ञानको स्वीकार नहीं करता। जैसे धर्म करनेमे अदृष्ट उत्पन्न होता है और उसका फल स्वर्गमें या दूसरे जन्ममें मिलता है, ऐसे यह वेदान्त अगला जन्म या परलोक बनानेके लिए या वहाँ जाकर फल देनेके लिए नहीं है। जैसे भोजनका फल क्षुधा-निवृत्ति या तृप्ति है, जो भोजन-समकाल ही इसी जीवनमें मिलता है - खाओ और भूख मिटो, तृप्ति हुई और ताकत मिली। भोजन अदृष्टार्थ नहीं होता, वैसे वेदान्तका श्रवण-मनन-निदिध्यासन अदृष्टार्थ नहीं है।

एक आदमीने अपने कुत्तेका नाम 'ब्रह्म' रख लिया। वह भक्त था और जरा वेदान्तियोंसे चिढ़ता था। एकदिन उसका कुत्ता मर गया तो 'ब्रह्म मर गया?' कोई कुत्तेका नाम ब्रह्म रखेगा तो ब्रह्म मर जायगा? वेदान्तका मर्म बड़ा विलक्षण है। जब तुम मायाकी उपाधिसे युक्त चेतनका नाम ही ईश्वर रखते हो तो आत्माको ब्रह्म जानने पर वह आभासरूप ईश्वर बाधित हो जायगा। परन्तु यदि अखण्ड चैतन्यका ही नाम ईश्वर है तो उस अखण्ड चैतन्यका आत्मरूपसे ज्ञान होने पर भी बाधित नहीं होगा। आभासवादकी प्रक्रियामें जीव-ईश्वरका भेद बाधित होता हैं। जीव-ईश्वरमें जो दृश्यांश, कारणांश, द्रव्यांश है, वह बाधित होता है, चैतन्यांश नहीं। अपनी अज्ञानतासे जो बनावटी ईश्वर बनाया गया है, उसका वेदान्ती लोग बाध करते हैं। असली ईश्वर

तो ब्रह्म ही है, आत्मा ही है, अखंड-अद्वितीय चैतन्य है, उसका कभी बाध थोड़े ही होता है ? कारण (द्रव्य) की उपाधिसे, समष्टि (देश) की उपाधिसे और नित्यताकी (काल) उपाधिसे इनको परब्रह्म परमात्मामें आरोपित करके कोई कहे कि 'परमात्मा किसी देशमें रह रहा है, किसी कालमें चल रहा है और किसी द्रव्य में व्याप्त हो रहा है' तो गलत होगा। असलमें ईश्वर व्यापक भी नहीं है, नित्य भी नहीं है, सर्वात्मक भी नहीं है। ईश्वर तो अपना आपा है।

ज्ञानमें बंधनेका स्वभाव ही नहीं है। ग्रन्थि और कुटिलताके कारण अन्तःकरणकी उपाधि पर बैठ करके एक शाखा आंखकी ओर चलती है, दूसरी कानकी ओर, तीसरी त्वचाकी ओर, चौथी नाककी ओर, पांचवी जीभकी ओर चलती है। इस प्रकार हजारों नस-नाड़ियोंमें प्रवृत्ति होती है। तब इन टेढ़ी-मेढ़ी चीजोंके साथ टेढ़ा-मेढ़ा भासता हुआ ज्ञान बद्ध-सा भासता है। असलमें ज्ञान बद्ध नहीं है। ज्ञान हजारों आये-गयेके बीच पूर्णरूपसे असंग है।

ग्रन्थि कहां है ? जब हम बीती हुई बातोंको फिरसे पाना और वर्तमानको भविष्यमें ले जाना चाहते हैं, भविष्यको बनाना चाहते हैं, तब ग्रन्थि पड़ती है। इच्छा, शक्ति और प्रेम तीनों टेढ़ी चीज हैं।

ग्रन्थि द्वन्द्वात्मक है। ऋणात्मक और धनात्मक दो प्रकारकी विद्युत् होती है, लेकिन इनसे जो परे है वह तो विज्ञानका विषय नहीं है। साइन्ससे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने जा रहे हैं। जिसमें धन और ऋण—दो नहीं होगा, वह विज्ञानके द्वारा कैसे जाना जायगा ? ब्रह्म यन्त्रका विषय नहीं होता। जिसमें द्वन्द्व होता है वही आपसमें जरा लिपट जाता है। दो रस्सीको एक करेंगे तो गांठ पड़ेगी। एक

रस्सी में गांठ होगी तो **सूत्रे मणिगणा इव** की भाँति होगी सूतमें सूतका ही मनका बनाकर तिब्बती और सिख लोग उसकी माला पहनते हैं। सोनेकी मालामें सोनेकी गांठ होती है। इनमें ग्रन्थिवत् आभास है, ग्रन्थि नहीं है।

ग्रन्थि माने माया-कुटिलता-कपट। माया माने जो बोले मीठा और मनमें लूटना चाहे तो वह ठग है। टुकड़े-टुकड़े नाशवान दृश्यात्मक प्रपंच, दृश्य और दृष्टा मालूम पड़ता है। इसमें अनेक एकसे मिला हुआ है। बुद्धि एक जगह तादात्म्य कर लेती है, यह उसका कौटिल्य है। जैसे बल्ब टेढ़ा हो तो बिजली भी टेढ़ी मालूम पड़ती है परंतु क्या बल्ब टेढ़ा होनेसे बिजली टेढ़ी हो गयी? यह अन्तःकरण, आँख-कान आदि भी बल्ब सरीखा है, आत्मा विद्युत् सरीखा है। कहीं तुम्हारे लिए गाँठ नहीं है, परंतु तुममें एक गांठ पड़ गयी है—(१) बिना पैसेके हम जी नहीं सकते, (२) बिना विरक्त हुए हम सुखी नहीं हो सकते! ये दोनों गांठ हैं।

'सम्यग्बोधः प्रवृद्धनाति निवृत्तमपि मृद्नाति।'

सम्यग्बोधः प्रवृत्तिवत् श्री-सुरेश्वराचार्यजीने कहा—सम्यग्बोध जैसे प्रवृत्तिको नष्ट कर देता है, वैसे निवृत्तिको भी चौपट कर देता है-रौंद देता है। प्रवृत्ति = रागग्रन्थि और निवृत्ति = वैराग्य-ग्रन्थि। आगे इन पर वैज्ञानिक-आविष्कार काम करेंगे। किसीके हृदयमें रागग्रन्थि प्रबल हो तो एक इन्जेकशन लगावेंगे। आणविक प्रक्रियासे ऐसा प्रभाव डालेंगे कि इन्जेक्शन लगानेकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी। लड़की-लड़के कहीं बेवकूफीसे फँस जाते हैं। यह चिकित्सा निकलेगी कि गलत जगह फँस गये हों तो इस प्रयोगसे उनके दिमागको ठीक कर दिया जायगा, रागको बदल दिया जायगा।

यदि कोई वैराग्यवान् होकर गुफामें रहने लगा, संसारसे भागने लगा, भीख माँगने लगा, बाल रखकर किंभूत-किमाकार चेहरा रखने लगा तो एक इन्जेक्शन लगा दिया जायगा और उसके दिमागसे वह गांठ निकल जायगी।

तत्त्वज्ञान सहज है। उसमें न प्रवृत्तिकी कृत्रिमता है, न निवृत्तिकी। 'ये दोनों बनावट हैं' सहज भाव कैसे आवे? अपनेको सहज रूपसे जाननेसे! क्या हम भावना करें कि 'हम सहज हैं?' नहीं, यह ध्यानामृतकी मिठास नहीं है। यह अभ्यासका नतीजा नहीं है। यह एक तथ्य-असलियत है कि तुम्हारा सहज स्वरूप ऐसा ही है। तुम बनावटी प्रवृत्ति-निवृत्ति करके भी सहज नहीं हो सकते। यह सब बनावटी पोशाक एक दिन गिर पड़ेगी। यह सब रंग-रौगन छूट जायंगे। यह सब पाउडर-स्नो-लिपस्टिक किसी काम नहीं आवेंगे! यह शरीर शरीरके सम्बन्धी और वासनाएँ पाउडर-लिपस्टिकके समान हैं। ये सब छूटकर गिर पड़ेंगे। तुम्हारी सहज सत्ता और सहज ज्ञानमें कोई रंगीनी नहीं है। आज गुलाब खिला मालूम पड़ता है, कल धरतीपर गिरेगा तो सब रंगीनी चली जायगी, मिट्टीकी मिट्टी रह जायगी! वह अपने सहज रूपमें ही रहेगा! यह करेला आज बड़ा कड़वा मालूम पड़ता है, परन्तु मिट्टीमें गिरने पर फिर मिट्टी होकर रहेगा। आज तुम्हारा जो देहसे तादात्म्यापन्न स्वरूप है, वह सारी ग्रन्थियोंके छूट जाने पर छूट जायगा और जो सहज-सरल-निर्ग्रन्थ रूप है वही शेष रह जायगा।

ग्रन्थिसे 'ग्रन्थ' शब्द बना है, हम निर्ग्रन्थ हो गये, अर्थात्—

पोथी-पन्ना फेंकके बिचरो ह्वै निर्भार।

जबतक अनुभव न हो, तबतक ग्रन्थका उपयोग है। इसमें

महाबीर स्वामीका वचन उनके अनुभवी होनेके कारण प्रमाण है।

वचनका प्रामाण्य तीन तरहका होता है— (१) तीर्थंकर महापुरुषका, (२) साधक, (३) विद्वान्। अन्तमें दिगंबर होना है तो यह भी नहीं, कमरमें लगी गांठ भी नहीं। हमको ग्रन्थि इतनी नापसंद है कि कपड़ेमें लपेटकर ग्रन्थ नहीं रखेंगे, जिल्द नहीं बाँधेंगे। हमारे पहलेके लोग कहते थे—'ग्रन्थमें भी सिलाई नहीं चाहिए, खुले पन्ने चाहिये।' उनको गांठ पसंद नहीं थी, वेष्टन भी नहीं, पोथी भी नहीं। हमारे संन्यासियोंने कहा, 'हमें जनेऊ-चोटी-की गांठ भी नहीं चाहिए, हमें गांठसे परहेज है।' ब्रह्मचारियोंने कहा: 'हम किसी स्त्रीके साथ गांठ नहीं बाँधेंगे।' भौतिक-भोग-वादी बोले: 'अरे तुम सृष्टिमें पैदा हुए तो कम-से-कम दो बच्चे तो पैदा करो, एक लड़की और एक लड़का! तुम्हारी परम्परा चलती रहे!' वे बोले: बच्चा पैदा करनेवाली प्रजाग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि) हमें नहीं चाहिए।" किसीने कहा: 'दुश्मनोंको तो मारलो!' वे बोले: 'हमें रुद्रग्रन्थि नहीं चाहिए।' कहा—'सबके पालन-पोषणकी, खिलाने पिलानेकी व्यवस्था तो करलो।' बताया: 'हमें विष्णुग्रन्थि नहीं चाहिये। इसीप्रकार धन कमाने-की लोभग्रन्थि, परिवारको सम्पन्न करनेकी मोहग्रन्थि, अमुक-अमुक भोग भोगनेकी कामग्रन्थि—ये सब अविद्याग्रन्थिके छोटे-छोटे रूप हैं। इन सबमें कुटिलता है। ग्रन्थि है नहीं, भ्रमसे मान लेनेके कारण है।

जैसे चिड़िया न मैं, न मेरी है, जैसे अन्तःकरण वाली चिड़िया मुझ देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अनन्त अद्वय-ब्रह्मतत्त्वकी दृष्टिसे तो बिलकुल मिथ्या ही भास रही है, है ही नहीं, मैं ही मैं हैं। अन्यको सच्चा मानना, मैं-मेरा मानना हृदयग्रन्थि है।

दानव, संन्यासी, कर्ता, भोक्ता ऐसा अपने बारेमें समझना दिलकी कमजोरी है। दिलके इस बांकपनका नाम कुटिलता है। एक ऐसी गांठ है जो किसीके खोले नहीं खुलती, रोशनीमें देखो तो खुल जाय।

गांठ सच्ची होती तो हम खोलते। हम बचपनमें बड़ा दावा करते थे—'जैसी भी गांठ हो, हम खोल देंगे।' 'चांदनीमें सुईके छेदमें धागा पिरो देंगे'। परन्तु एक ऐसी गांठ है जो अन्धेरेमें खोलो तो और उलझ जाय और रोशनीमें देखो तो गांठका पता ही न चले! वह तो झूठ-मूठ गांठका भ्रम था।

अग्रन्थिमें ग्रन्थिका भ्रम हो जाय तो वह कर्मसे, पड़ोसीकी मददसे, अभ्याससे, हाथ जोड़नेसे, होम, मन्त्रजप या प्रार्थना करनेसे, सिद्धि या योगशक्तिसे नहीं सुलझती। ज्ञानके प्रकाशमें देखा तो वह तो ग्रन्थि थी ही नहीं!

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्

मर्त्य अमृत हो जाता है? कभी नहीं, असलमें मरनेवाला नहीं था, अपनेको भ्रमसे मरनेवाला मान लिया था। यह केवल प्रातिभासिक अर्थात् भासनेवाला मर्त्यत्व है! मर्त्यत्वका भ्रम छूट जाता है। अमृत तो तुम हो ही। अमृत हो माने सत्-चित्-आनन्द हो। तुममें मृत्यु, जड़ता, दुःख नहीं है। तुम अद्विती ब्रह्म हो।

एतावद्ध्यनुशासनम्—आत्माको ब्रह्म बताना, मर्त्यको अमृत करना, ग्रन्थिका भेद न करना यही शास्त्रका अनुशासन है। इसके आगे और कोई अनुशासन नहीं है, श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं—

अनुशासनमनुशिष्टिरपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ।

वेदान्तोंका बस इतना ही उपदेश है कि मौत--जड़ता--दुःखसे घिरा हुआ जो मैं है, वह असलमें मौत--जड़ता--दुःखसे सम्बन्ध रखने वाला नहीं है। देश-काल-वस्तु-परिच्छेद, कोई उसको स्पर्श नहीं करता, वह तो अखण्ड, अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा है।

अथ ब्रह्म समश्नुते—अभी तुम ब्रह्म हो। तुम्हारी ग्रन्थियोंसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। अनपैदा ग्रन्थियोंके साथ और अन हुआ सम्बन्ध मानकर तुम अपनेको बद्ध, जाने-आने वाला मान रहे हो। एक जगहसे दूसरी जगह जाना क्यों होता है? दुबकके बैठना क्यों! बाहर शेर हो तो भीतर किवाड़ बन्द करके बैठ जायँ! समाधि लगाना दुबककर बैठना है। चोर--डाकूका भय हो तो थानेमें जाकर बैठते हैं। यही परलोककी यात्रा है। अपने-आपको नित्य--शुद्ध--बुद्ध--मुक्त ब्रह्म न जाननेके कारण ही सब कुछ है। अपनेमें असुन्दरपनेका भ्रम हो तो क्या करेंगे? आंखमें कालिखका डंडा लगावेंगे। ओठ पर खूनकी लालीको दिखानेके लिए लिपस्टिक लगावेंगे और चाम पर दाग हो तो उसे छिपानेके लिए पॉलिश करेंगे। इस तरह अपनेको कर्मसे सुन्दर बनावेंगे। यह हीनताकी भ्रान्ति है। योगसे अपनेको सुरक्षित रखना चाहते हैं। इसका अर्थ है सिंह-व्याघ्रादिका भय है। किसी-की शरण लेनेकी, दुबकनेकी, कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। यही, अभी, जैसे हो वैसे ही ब्रह्म हो। तुम एक अन्तःकरणमें परिच्छिन्न नहीं हो, तुम देह नहीं हो, कर्म भोगसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कामना तुमको घसीट कर ले जा नहीं सकती। तुम तो साक्षात् ब्रह्म हो।

१६ उर्ध्वगमन द्वारा अगस्त्यप्राप्ति

संगति

मंत्र १५ का सार यही है कि इसी जीवनमें, अभी-अभी तत्त्वोपदेशसे ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है। अथ मर्त्योऽमृतो भवति—अभी तुम ब्रह्म हो।

अर्केचेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतम् व्रजेत् ?

यदि अपने घरके कोनेमें ही शहद मिल जाय तो उसके लिए पहाड़पर चढ़कर शहदका छत्ता तोड़नेकी तकलीफ क्यों उठाना ? असलमें तुममें पहाड देखनेकी वासना है, शहद तो जो वहाँ मिलता है, वह यहाँ भी मिलता है। घरवाली शहद बचाये रखनेकी वासना है। अपने घरमें रखा रुपया तो खर्च नहीं करना है और दूसरेके घरसे उधार लेने जाते हैं। तब मनमें कुछ न कुछ लोभ जरूर है।

प्रश्न यह है कि तुम अपनेको नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म जाननेमें क्यों हिचकिचाते हो ? मनमें क्या दुविधा है ? यदि प्रमाणमें शंका है तो उपनिषद्-विचार करो और यदि प्रमेयमें शंका हो तो अपने आपमें विचार करो। यदि युक्तिकी स्वतःसिद्धि और ज्ञानकी साधनामें संशय है तो सत्संग करो। तब कोई कोई कहते हैं—'नहीं, हमारा विचार है कि पहले हम संसारको शुद्ध-पवित्र बना लेंगे तब अपनेको ब्रह्म जानेंगे।'

इसके लिए शास्त्रमें एक न्याय बड़ा प्रसिद्ध है।

'वृकाक्ष नवनीतम् न्याय।'

भ्रान्त माने संसारासक्त पुरुषका लक्षण ही यह है कि 'पहले खूब धर्म

करेंगे, चित्त शुद्ध बनावेंगे, ब्रह्मलोक देखेंगे, जब यह दुनिया नहीं दीखेगी तब आत्मज्ञान द्वारा इसका बाध कर देंगे—गोली मारेंगे!' पहले धर्म, उपासना, योगाभ्यास, परलोक, समाधि लगाकर फिर ब्रह्माके पास जाकर मुक्त होओ—यह झगड़ा क्यों पालना? तब तक यह संसाररूपी भेड़िया तुमपर चढ़ बैठे और तुम्हारी उसमें आसक्ति हो जाय तो? कोई किसी देवताको खुश करके फिर आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहे तो यह ख्याल भी गलत है, क्योंकि पहले तो दूसरेको खुश करना ही बड़ा मुश्किल है। फिर तुम किस देवताको खुश करोगे? एक कहता है – 'विष्णु बड़े', दूसरा कहता है—'शिव बड़े', तीसरा कहता है—'द्विभुज कृष्ण बड़े', चौथा कहता है—'द्विभुज राम सर्वश्रेष्ठ' तो पाँचवा कहता है—'शक्ति श्रेष्ठ, वह तो सबकी मां है!' अब तुम किस देवताको खुश करोगे?

इस संसाररूपी वृक्षकी हजार शाखाएँ हैं। किसको-किसको खुश करोगे? इसकेलिए "सर्ववृक्ष प्रकम्पन न्याय" है। एक आदमी चढ़ा पेड़पर। एकने कहा – "दाहिनी ओरकी डाली पर अच्छे-अच्छे फल लगे हैं, उसे हिला दो।'

दूसरेने कहा—'बांये वालीको हिलाओ।'

तीसरेने कहा—'सामने वालीको!' चौथेने कहा—'पीछे वालीको।' नीचेके सब लोग लड़ने लगे कि 'कौनसी डाली सबसे पहले हिलाई जाय? कौनसा फल पहले खायँ?'

एक समझदार आदमीने कहा—'तुम नीचेसे समूचे ही वृक्षको हिला दो! जो सबसे पका हुआ फल होगा वह गिर जायगा।'

इस प्रकार किसीने कहा—'इन्द्रवाली डाल महत्त्वपूर्ण है जो कर्म-प्रधान है' तो किसी-किसीने सत्यप्रधान विष्णुवाली, रजप्रधान ब्रह्मावाली

या तमःप्रधान रुद्रवाली शाखाको महत्त्वपूर्ण बताया। उपनिषद् जाननेवालेने बताया "सर्व-वृक्ष प्रकम्पन-न्यायसे सारे वृक्षको हिला दो—एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जायगा। एककी प्राप्तिसे सबकी प्राप्ति हो जायगी।

श्रुतिने स्पष्ट-स्पष्ट कह दिया कि 'तुम ब्रह्म हो। श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—'यदि श्रुतिके द्वारा इतना समझाने पर भी तुम्हारी अविद्या-ग्रन्थिका भेदन नहीं होता तो तुम्हारी क्या गति होगी? अशेष-विशेष-निषेधावधिमें अधिष्ठानरूपसे स्वयंप्रकाश ब्रह्म स्थित है और वह तुम हो! जब यह बात तुमको ग्रहण नहीं होती है तो अब मन्त्र १६ के द्वारा तुम्हें दूसरी बात सुनायेंगे।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ १६॥

इस हृदयकी एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें-से एक मूर्धाका भेदन करके बाहरको निकली हुई है। उसके द्वारा ऊर्ध्व—ऊपरकी ओर गमन करनेवाला पुरुष अमरत्वको प्राप्त होता है। शेष विभिन्न गतियुक्त नाड़ियाँ उत्क्रमण (प्राणोत्सर्ग) की हेतु होती हैं॥ १६॥

जिनको ब्रह्मज्ञान नहीं होता उनकी दो ही गति हैं—ऊर्ध्व-गति या संसारगति। हृदयमें एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें एक मुख्य है, सौ गौण हैं। एक-एक नाड़ीमें बहत्तर-बहत्तर शाखाएं हैं। फिर उनकी भी शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। गिनतीमें तात्पर्य नहीं

है। उनमें एक नाड़ी-सुषुम्ना ऐसी विलक्षण है जिसका छिद्र संसारधर्मसे असंस्पृष्ट है, जहाँ सांसारिक वेदनाएँ नहीं पहुँचती। मनुष्यका जीवन तो रहता है, परंतु सांसारिक संवेदनासे रहित भी उसकी अवस्था होती है। समाधिसे भी संवेदनारहित स्थिति होती है। मूर्च्छामें ही कुछ मालूम नहीं पड़ता। अभ्यासी पुरुष जाग्रत्-अवस्थामें ही नाड़ियोंको निष्क्रिय बना सकता है।

सुषुम्णा =सुछिद्रवती। एक नाड़ी ऐसी है जो हृदयसे सीधे सिर-ब्रह्मलोककी ओर चलती है। नाड़ी शब्द बहुत विलक्षण है। नाड़ी = प्रणाली, घरमेंसे पानी बहनेके लिए नाली, परिवारमें नारी, नारी न हो तो परिवार ही नहीं, 'गृहिणी गृहमुच्यते' जिस घरमेंसे पानी बहनेके लिए नाली न हो वह घर नहीं। जिस शरीरमें नाड़ी न हो वह शरीर नहीं! प्रणाली=पद्धति—ध्यान करनेकी।

मानो एक वटवृक्ष के चारों ओर फैली हुई और लटकी हुई वरोहें (जटायें) हों, वैसे ही तुम्हारे ज्योतिर्मय शरीरमेंसे छोटे-छोटे सवेदन-सूत्र निकल करके शरीरमें चारों ओर फैले हुए हैं। उनमें शिरा धमनो भी हैं। वायु चलनेकी नाड़ी, रक्त बहनेकी नाड़ी, मूत्र, पसीना और मल निकालने वाली नाड़ी—ये सब अलग--अलग हैं। परन्तु ये रक्त नहीं निकालतीं। रक्त निकालने लग जायँ तो क्या होगा? श्रीमद्भागवतमें इसकी बढ़िया व्याख्या है—तीन प्रकारके लोग होते हैं—उदरमुपासते, हृदयमुपासते और

उदरमुपासते यः ऋषि वर्त्मसु पूर्वदृशः
परिसरपद्धतिम् हृदयम् आरणयो दहरः।

तत उद्गायनन्त तव धाम सिरः परमम्
यदि ह समेत्य न पतन्ति पुनः कृतान्तमुखे ।।

जो और कोई उपासना नहीं करते हैं वे उदरकी ही उपासना करते हैं—'कमाओ और खाओ! दूसरेका धन हमारा है, और हमारा धन किसीके हाथमें न जाय'— यह है उदरोपासना।

संसारीकी रुचि उदरोपासनामें है। वे भी भोजनके लिए घर-घर फिरते हैं, हम भी भोजनके लिए घर-घर फ़िरते हैं परन्तु हममें-उनमें किसका फरक है? पेटका। यह बड़ी कठिन ग्रन्थि है।

एकबार एक जगह उत्सव हो रहा था। वहाँ गांवके सैकड़ों लोग आगये। वे आये थे महात्माके पास लेकिन गांवके लोगोंने न वैसे मकान देखे थे, न बिजली! कीर्तन तो घण्टे भर करें' लेकिन खाना लड्डू, मालपुआ, पूरी-मलाई चाहिए। प्रबन्ध करनेवाले सेठके आदमी एकबार तो घबड़ाये और सेठके पास गये। सेठने हनुमानप्रसादजीसे सलाह की कि क्या करना चाहिए? हनुमान-प्रसादजीने कहा—'अरे, ये और तो कुछ माँगते ही नहीं—रुपया, कपड़ा, दक्षिणा नहीं मांगते, खानेके लिए ही तो मांगते हैं! ढेर लगवा दो पूरी-लड्डू-मलाई-मालपुआका और छुट्टी दे दो कि जिनको जितना खाना हो खायँ। तीन दिनका तो मामला है। बिचारोंको कहाँ मिलेगा?' यह है उदरोपासना!

कई लोग उदरमें ईश्वरकी उपासना करते हैं, कई लोग गुदा-स्थानमें, मूत्रेन्द्रियस्थानमें, मूलाधारमें, स्वाधिष्ठानमें, मणिपूरकमें.

नाभिके पास त्रिकोण अग्निमय कुण्डमें ईश्वरकी उपासना करते हैं। हृदयमें, कंठमें, आज्ञाचक्रमें, सहस्रारमें भी ईश्वरकी उपासना होती है। इनमेंसे ईश्वर कहाँ है? बड़ा मतभेद है। इसके लिए तो डण्डे चलते हैं। परावाक्‌वाले कहते हैं—'मूलाधारमें ही है', अग्नि-वाले कहते हैं 'नाभिमें है।' जलवाले स्वाधिष्ठानमें और प्राणवाले हृदयमें मानते हैं। योगी सहस्रारसे भी ऊपर शून्य शिखरमें बताता है। मैंने पहले 'सर्ववृक्ष-प्रकम्पनन्याय' कहा था। सारे ही पेड़को हिला दो। वह सब जगह है। इसके लिए लड़नेकी, डण्डा चलाने की आवश्यकता नहीं है। मणिपूरक चक्रमें ध्यान करने वाले उदरकी उपासना करते हैं।

हृदयमें अनाहत चक्र है। वहाँ वर्णात्मक शब्द नहीं है, ध्वन्या-त्मक है। विशुद्ध देश कंठ है। इसके बाद आज्ञादेश, त्रिपुटी, बंकनाल, भ्रमरगुफा और शून्य शिखर है।

तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका

मूलाधारसे मूल कुण्डलिनी शक्तिको जगाते हैं।

सिरः सुषुम्नापथेन जीव शिवम् परम शिवपदे योजयामि स्वाहा।

अपनी जैव्य चेतनाको मूलाधारसे उठाकर स्वाधिष्ठानमें ले जाओ। कुण्डलिनी शक्ति इन चक्रोंको खा जाती है। वह नाभि, हृदय, कंठ, आज्ञाचक्र और सहस्रारमें आकर गुरुके चरणोंमें लीन होती है।

वेदान्त सुनकर आप लोगोंकी व्यक्तित्वकी चेतना घट गयी है। जिनकी व्यक्तित्व चेतना बड़ी जाग्रत् और प्रवल है, उनकी चेतनाको स्थूलसे सूक्ष्ममें, बाहरसे अन्तरमें ले जानेके लिए, कार्यसे कारणकी

पहचान करानेके लिए, विक्षेपसे समाधिकी पहचान करानेके लिए और वासनासे दिव्यतामें ले जानेके लिए साधन होता है।

हृदयं आरुणयो दहरम्

हृदय कमल है। नीचेको लटका हुआ है और बंद है। भावनाके प्रकर्षसे, अभ्याससे, गुरुद्वारा दी हुई युक्तिसे कमलका वह मुख निम्नसे ऊर्ध्व होता है और बंद है वह खिल जाता है। उस पर परमात्माकी हंसज्योतिके दर्शन होते हैं। उसके बाद सुषुम्ना नाड़ी चलती है। एक-एक ओरसे आकर इड़ा-पिंगला सुषुम्नामें ग्रंथि लगाती हुई ऊपरको बढ़ती हैं। फिर घूमती हैं, फिर गांठ लगाती हैं। योगी लोग इस सुषुम्नामें भी और नाड़ी मानते हैं। उनकी माया दूसरी है। सुषुम्नामें भी एक चित्रिणी नाड़ी होती है, एक शंखिनी नाड़ी होती है।

'तयोर्ध्वमायन्'

बाहर मत निकलो। उसके भीतरसे भीतर, भीतरसे भीतर घुसो। स्थूल-सूक्ष्म शरीरके पाश हैं, उनको पार करते हुए, भीतर ही भीतर घुसते हुए इतने सूक्ष्म होजाओ कि जैसे साँपकी केंचुल छूट जाती है वैसे स्थूल-सूक्ष्म शरीर छूट जाय। तुम कारणसे एक हो करके, कारण जिसका विवर्त है, जिसमें कारण बिना हुए भास रहा है उस अधिष्ठानको, स्वयंप्रकाश अपने आपको–अपने स्वरूपको पहचान लो।

ब्रह्मलोक, वैकुंठ, गोलोक, साकेत आदि देशके किसी ऊपरी भागमें होते हैं ऐसा नहीं है। हमारी समझमें यह बात बड़ी मुश्किलसे आयी थी। महात्माओंको बड़ी सेवा की, कितना तप किया, कितनी तकलीफ उठायी तब जाना। ब्रह्मलोक स्थूल पंच-

भूतोंका बना हुआ नहीं है। आकाश स्थूल पंचभूतोंमें सब जगह रहता है। यदि हम किसी चीजको आकाशरूप बतावें तो तुम सोचो कि 'वह नीलिमाके पार है' तो यह बात गलत होगी। आकाश तो जैसा नीलिमाके पार है वैसा ही तुम्हारी नाकमें है। कान, मुंह, पेट, सिर, समूचा शरीर ही आकाशमें है। पंचभूतका सूक्ष्मतम बात लें तो जब यह कहा जाता है कि यह वस्तु सूक्ष्म-तन्मात्रारूप है तो तुम उसे प्राप्त करनेके लिए स्वर्गमें क्यों जाना चाहते हो? जब स्थूल आकाश तुम्हारे शरीरमें है तो क्या सूक्ष्म तन्मात्रा तुम्हारे शरीरमें नहीं है? अप्सरा, नन्दनवन, स्वर्गका राज्य सब यहीं है।

'यहीं कहुँ बसत पुरन्दर'

इसी शरीरमें कहीं इन्द्र (पुरन्दर) रहता है

'देहेस्मिन् पर्वताः सर्वे नद्यश्च सागराः।'

इस शरीरमें पर्वत, नदी, समुद्र, ब्रह्मलोक, गोलोक, स्वर्ग बड़े-बड़े देश हैं। यदि हम किसी वस्तुको पंचतन्मात्रासे भी अधिक सूक्ष्म अहंकारमें बतावें तो तुम यह कल्पना क्यों करते हो कि ब्रह्मलोक हमसे बहुत दूर है? यदि हम उसे महत्तत्त्वमें हिरण्यगर्भ-रूपसे बताते हैं तो क्या तुम्हारे शरीरमें महत्तत्त्व (बुद्धि) नहीं है? व्यष्टि बुद्धि क्या समष्टि बुद्धिसे पृथक् है? यदि हम किसी बातको प्राकृत् बताते हैं तो क्या प्रकृतिने उसको एक कोनेमें फेंक दिया है? तुममें क्या प्रकृति नहीं है? उसने उसे अपने भीतर नहीं रहने दिया है? यदि हम किसी भी बातको आपके मन-बुद्धिमें अहंकार, महत्तत्त्व, हिरण्यगर्भमें बताते हैं तो इसका तात्पर्य है—ये सर्वव्यापी लोक हैं और जहाँ तुम हो वहीं हैं। क्योंकि तुम अपनेको

स्थूलतामें फँसाये हो, इसलिए सूक्ष्म-स्तरमें बैठे हुओंका पता नहीं चलता। स्थूल दृष्टि हट जाय तो यहीं सूक्ष्मतामें वे है।

किसीने एक महात्मासे कहा—'महाराज, हम नरक-स्वर्ग-पुनर्जन्म यह सब कुछ नहीं मानते।'

तुमने तो बहुत जल्दी ना कर दिया। रेडियो पर खबर आयी थी कि रूसमें पुनर्जन्मके विषय पर धुआँधार घनघोर अनुसंधान हो रहा है। यहाँसे राजस्थानके महाशय बनर्जी जो परामनोविज्ञान विभागके अध्यक्ष हैं, उनको वहाँ बुलाया गया है। ये पाँचसौ व्यक्तियोंका प्रमाण लेकर वहाँ जा रहे हैं कि अपने पूर्वजन्मकी स्मृति किसी-न-किसी रूपमे विद्यमान है। वैज्ञानिक लोग तो अभी संशयमें हैं, अनुसंधान कर रहे हैं और तुमने बिना समझे झटपट 'ना' कह दिया? ब्रह्मको जानकरके ना बोला या एक अनुमान ही बोल दिया? अभी तुम वासनाके सूक्ष्म रूपको समझते नहीं हो! वासना ही समझमें नही आयी तो ब्रह्म कहाँसे समझमें आयेगा? पहले वासनाको तो समझो!

जन्मविद्या, परलोक-विद्या, ईश्वरविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या सब अलग-अलग हैं। एक अद्वय ब्रह्मकी जिसके अन्दर जिज्ञासा होगी वह छोटी-मोटी चीजोंमें क्यों फँसेगा? आंख बन्द करो और इसी समय अपने हृदयमें तुम्हें वैकुण्ठकी प्राप्ति हो जाय! परलोक, गोलोक, साकेत, कैलास, स्वर्ग तुम्हें इसी समय मिल जाय! स्वर्ग सूक्ष्म तन्मात्रामें है। महत्तत्त्वमें ब्रह्मलोक है। एक ब्रह्मलोक प्रत्येक ब्रह्माण्डमे अलग-अलग होता है और एक ब्रह्मलोक हिरण्यगर्भमें-समूची सृष्टिमें सर्वत्र होता है। वही ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र रूपमें

भावभेदसे दिखाई पड़ता है। वहीं राम, कृष्ण, दिव्य वस्तुके रूपमें दिखाई पड़ते हैं।

यदि अभी तुम्हें यह नहीं मालूम पड़ता है कि मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, सच्चिदानन्दघन, अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ, मेरा न कहीं आना है न जाना है, मैं न संसारी हूँ और मुझमें न भोग-सुख-दुःख हैं, न पाप-पुण्य या रागद्वेष हैं तो तुम्हारे-जैसे लोगोंके लिए बाहरसे भीतर, विक्षेपकालसे समाधिकाल, स्थूलद्रव्यसे सूक्ष्मद्रव्य, कार्य-द्रव्यसे कारणद्रव्यमें ले जानेकी पद्धति है और 'तथा उर्ध्वमायन्' इस क्रमसे जब ऊपर चलोगे धीरे-धीरे, तब 'अमृतत्वमेति' क्रममुक्ति हो जायगी। तुम यदि स्वर्ग तक ही पहुँचोगे तब तो अमृतत्व आपेक्षिक है। ब्रह्मलोक-हिरण्यगर्भ लोकतक जाओगे तो वहाँ जाकर क्रममुक्ति हो जायगी। दो इसकी पद्धतियाँ हैं।

विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति

यदि बहिर्देशसे अन्तर्देशमें न गये, विक्षेपकालसे समाधिकालको नहीं पकड़ा, स्थूलद्रव्यसे सूक्ष्मद्रव्यमें गति नहीं हुई तो ये वासनाएँ जैसे तुम्हें—शरीरको उठाकर बाजारमें ले जाती हैं वैसे स्थूल शरीर छूट जाने पर तुम्हारे सूक्ष्म शरीरको स्वर्ग-नरकमें, पशु-पक्षी योनिमें ले जायेंगी। वासनाएँ पहले सूक्ष्म शरीरको ले जाती हैं, बादमें स्थूल शरीरको। प्राण माने अहम् और वासनाकी ग्रन्थि है अर्थात् अहम् वासनावान् इत्याकारक तुम्हारी स्वीकृति है। नौकर अगर तुम्हें हाथ पकड़कर कहीं ले जाता है तो वह तुम्हारी स्वीकृतिसे तुम्हें ले जाता है। इसमें नौकरका क्या दोष है? वासना तुम्हारा संचालन नहीं कर सकती। लेकिन जब तुमने वासनाको स्वीकृति दे दी, उसे महत्त्व दे दिया—सत्त्व दे दिया तब वह अपने मालिकको भी रुलाकर, हँसाकर गड्ढेमें डालकर स्वर्गमें ले जा सकती है।

२७ अङ्गुष्ठमात्र पुरुष अमृतरूप आत्मा

संगति—

मन्त्र १५ में यह बात कह दी गई कि जो अमृत हो जाता है उसे जाना-आना नहीं पड़ता है। 'वह यहीं ब्रह्म है' तो फिर मन्त्र १६ में मनुष्यकी गति-विशेषका वर्णन क्यों किया गया ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जिनको ब्रह्मज्ञान नहीं होता, उनकी क्या गति ? उनकी दो ही गति हैं-ऊर्ध्व या संसारगति। ऊर्ध्वगति किनकी होती है और संसारगति किनकी होती है ? उनका वर्णन करके जिस गतिमें जाना-आना नहीं पड़ता उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की गयी।

दूसरी बात-नचिकेताके उपनिषद्के प्रारम्भमें अग्निविद्याका भी प्रश्न किया था कि अग्निविद्यामें क्या गति होती है और आत्मविद्यामें क्या गति होती है ! आत्मविद्याका उपसंहार मंत्र १५ में 'एतावद्ध्यनुशासनम्' कहकर कर दिया और मंत्र १६ द्वारा अग्निविद्याका उपसंहार किया गया। आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञानसे अविद्याग्रन्थिका भेदन करके सब वासना, परिच्छिन्नता, समाधि, देश काल सबका भस्मीभाव माने बाधित होना--उनका मिथ्या हो जाना आत्मज्ञानकी पद्धति है। यदि वासना शेष होवे तो उसे बाहरसे भीतर करना चाहिए, स्थूलसे सूक्ष्म करना चाहिए, विक्षेपको समाधिमें लाना चाहिए तो आत्मज्ञानकी योग्यता प्राप्त होगी ऐसा बताकर अग्निविद्याका उपसंहार किया गया।

अब मन्त्र १७ में कहते हैं कि उपनिषद्का सार यह अंगुष्ठमात्र पुरुष है। 'त्वं-तत्' पदकी एकताको जानना ही ब्रह्मविद्याका तात्पर्य है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जो अन्तरात्मा है सर्वदा जीवके हृदय-देशमें स्थित है। मूँजसे सींकके समान उसे धैर्यपूर्वक अपने शरीरसे बाहर निकाले [अर्थात् शरीरसे पृथक् करके अनुभव करे]। उसे शुक्र (शुद्ध) और अमृतरूप समझे, उसे शुक्र और अमृतरूप समझे ॥ १७ ॥

पशु मालिककी सेवा करता है। देवता मालिककी जगह लेनेकी कोशिश करता है।

यह शरीर एक जन है—एक कालमें पैदा हुआ है। थोड़े दिनोंके लिए रखा गया है। इसकी एक उमर है। इसका एक मान है। जिसकी थोड़ी-सी शक्ति है, वह हमें कुछ तकलीफोंसे बचाता है और हमारी वासनाओंको पूरी करता है, इस शरीरका नाम जन है—जायन्ते इति जनः—शरीराणि।

'जनानां हृदये' माने प्रत्येक शरीरके हृदयमें। हृदय माने जहाँ संस्कारोंका अपहरण होता है। दुनियाको जान-जानकर जहाँ हम संस्कारोंका संचय करते हैं वह हृदय है। यह शरीर संस्कारोंका खजाना इस हृदयको नहीं जानता, हृदय शरीरको जानता है। मालिककी कुछ बातें ऐसी होनी चाहिए जो नौकरको मालूम नहीं होतीं, नहीं तो वह मालिककी सारी पोल-पट्टी खोल देगा। तुम समूचे रूपसे अपनेको शरीरके प्रति अर्पित मत करो। इसके लिए भी जो रहस्य हृदय है वहाँ तुम हो।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा

हृदयके परिमाणसे इसको अंगुष्ठ-मात्र बोलते हैं।

हृदयकी उपाधिसे ही अणु और विभु दोनोंको अंगुष्ठ-मात्र कहा गया है। श्रुति कहती है—

'त्वं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत्'

उस अंगूठेके बराबरको पहले शरीरसे अलग करो।

'तं अंगुष्ठमात्रपुरुषं शुक्र—शुक्रं अमृतं विद्यात्।'

उस अंगुष्ठमात्र पुरुषको माया-मल, अविद्या, कर्म, भोग आदिके मलसे विनिर्मुक्त और अमृत माने सत्-चित्-आनन्दघन, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्नको जाने! अब तुम निर्णय करो कि यहाँ अणुका अंगुष्ठमात्र वर्णन है या विभुका! क्योंकि अन्ततोगत्वा तो वह शुक्रं अमृतम् है। तब यहाँ शुक्र-अमृतका ही अंगुष्ठमात्र करके वर्णन है।

मात्र = परिमाण अर्थमें 'मात्र'का प्रयोग है। अंगुष्ठ ही मात्रा = परिमाण है जिसका। वह क्या जड़ है? अंगूठे बराबरका होगा तो जड़ होगा। नहीं, वह चेतन है। तो कोई दूसरा पुरुष चेतन होगा! अन्तर्यामी पुरुषको भी चेतन बोलते हैं। नहीं, वह अपना आत्मा-स्व ही है। वह अंगूठेके बराबर है, पुरुष-चैतन्य है और अपना आपा है। कहाँ रहता है? जितने भी जन्मवाले पदार्थ हैं उन सबके हृदयमें वही सन्निविष्ट रहता है।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत्।

उसका इस शरीरसे विवेक करना चाहिए—पृथक्करण करना चाहिए। गाँवमें एकप्रकारकी घास—सर्पक होती है। उसमें-से मूंजको अलग कर लेते हैं और भीतरसे सरकंडा निकल आता है। इसमें

जल्दी नहीं करना चाहिए, धैर्यसे काम लेना चाहिए। अज्ञात-अनादि कालसे अपनेको देह होनेका, अभ्यास पड़ा हुआ है इसलिए वह तत्काल विविक्त नहीं होता है।

जैसे आकाश है। घड़ेके भीतर एक पोल है—अवकाश रहता है। पोल न हो तो पानी कहाँ रहे? ऐसा मालूम पड़ता है कि एक फुट लम्बा-चौड़ा, गोल-गोल घड़ेके भीतर आकाश है, तो हम कहेंगे कि यह एक फुटका आकाश है। यह शरीर साढ़े-तीन हाथका है तो उसके भीतर साढ़े-तीन हाथका चैतन्य है। घड़ेकी उपाधिसे, उसके सान्निध्यसे एक फुटका आकाश मालूम पड़ता है, आकाशके साथ घड़की गोलाईका कोई सम्बन्ध नहीं है। विवेक करने पर जानेंगे कि आकाश तो घड़ा बननेके पहले भी था और घड़ा फूटनेके बाद भी रहेगा। आकाश घड़ेके भीतर भी है और बाहर भी। घड़ा भी घड़ा बननेके पहले मिट्टी था, मिट्टी बननेके पहले जल-आग-वायु-आकाश ही था। घड़ा आकाशका आधेय होनेके कारण भी, कल्पित होनेके कारण भी, आकाशका कार्य होनेके कारण भी आकाशको छोटा बनानेवाला नहीं है।

यह अंगूठेके बराबर हृदय वासनाओंके द्वारा गढ़ा हुआ है। उसके भीतर जो चैतन्य है वह भी अंगूठेके बराबर ही मालूम पड़ता है। वह चैतन्य है और अपना आपा है। घड़ेका विवेक करनेसे मालूम पड़ेगा कि चैतन्यमें देश-काल-वस्तु तीनों आधेय हैं माने सम्पूर्ण विश्वमें लम्बाई-चौड़ाईकी जो कल्पना होती है, अनादि-नित्यकी कल्पना होती है या किसी भी प्रकारकी—पृथ्वी, जल, अग्नि आदिकी कल्पना होती है, वह सब कल्पनाके द्वारा ही मालूम पड़ती है—क्लृप्त है। वह अपने आधारको—प्रकाशकका खण्ड-खण्ड नहीं

कर सकता, वह अपने कारणको खण्ड-खण्ड नहीं कर सकता। यह हृदयकी दीवार चैतन्यको टुकड़ा करनेमें समर्थ नहीं है। इसलिए 'स्वात् शरीरात्'-यह शरीर जो आत्मीय बना बैठा हुआ है, उस सड़नेवाली चीजसे आत्माको अलग कर लो। हृदयके परिमाण-से आत्माको अलग कर लो। वह अपना आपा है और सबके हृदयमें है। अँगूठेके बराबर और पुरुष होने से वह इसीमें शयन करता है। जैसे हजार घड़ेमें आकाश अलग-अलग दिखायी पड़ता है परन्तु उनमें वह एक है। इसी प्रकार शरीररूपी घड़ोंमें अलग-अलग दिखायी पड़नेवाला चिदाकाश एक है। धर्यपूर्वक विवेक करना आवश्यक है।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेत् में श्रवण-मनन-निदिध्यासन-अन्तरङ्ग साधन विवक्षित है। धैर्येणमें सम्पूर्ण शमदमादि बहिरङ्ग साधन विवक्षित हैं। अन्तःशुद्धि बन्दूककी नली साफ करने-जैसा है। शमदमादि साधन सम्पत्ति, विवेक-वैराग्य बहिरंग साधन हैं, इसमें हृदयकी शुद्धिके लिए भीतर भरी अन्य चीजोंको निकालना अन्य चीजों परसे दृष्टि हटाना आवश्यक है। बाहरके धर्मानुष्ठान, उपासना, प्राणायामादि योगाभ्यास ये न अतरङ्ग साधन हैं— न बहिरङ्ग। ये परम्परा साधन हैं। अन्तःकरणकी शुद्धि सब कुछ नहीं है। लक्ष्यका ज्ञान करावे सो श्रवणादि अन्तरङ्ग साधन हैं। वह नेत्रज्योतिको लक्ष्यके सामने कर देता है—वस्तुके स्वरूपका ज्ञान कराता है।

तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्ति मूलाविद्याको निवृत्त करने-वाली (मिथ्या बतानेवाली) है। जो न थी, न है न होगी, ऐसी अविद्या बाधित हो जाती है। तत्त्वका साक्षात्कार करानेवाली

वृत्तिको साक्षात्-वृत्ति बोलते हैं। इसप्रकार वृत्तिभेदयोंके तीन हो जाते हैं—

१. साक्षात्कारमयी वृत्ति—तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य वृत्ति जो साक्षात्कार करानेवाली है।

२. पदार्थशोधिनी वृत्ति--अन्तरङ्ग साधनमें है।

३. करणशोधिनी वृत्ति--वहिरंग साधनमें है।

इसमें जो उपकारी है वह परम्परा साधन है। क्रिया हृदयका निर्माण करनेमें उपकारी है। अच्छा काम करने पर हृदय निर्मल-प्रसन्न हो गया। अब निर्मल चित्तमें सुख प्रतिबिम्बित होता है। प्रसन्न चित्तमें परमात्माके ज्ञानकी योग्यता आती है।

तं विद्याच्छुक्रममृतं अर्थात् अंगुष्ठमात्रम् पुरुषम् अन्तरात्मानम् एवं शुक्रं-अमृतं विद्यात्।

यह महावाक्य हो गया। वह जो अंगूठेभरका हृदयमें बैठा हुआ है वही अमृत है। घड़ेके परिमाण बराबरका घटाकाश है, उस घटाकाशको ही मन्त्र समझो। इस हृदयमें विद्यमान जो चेतन है, उसको चिदाकाश-ब्रह्माकाश समझो। यह जीवाकाश नहीं है। ब्रह्माकाश है। शुक्रम् माने द्वैतशून्यम्, शुद्धम्— इसमें द्वैत नहीं है, न माया है—न मायाका कार्य है। अमृत इसमें मृत्यु नहीं है—मृत्यु, जड़ता, दु:ख तीनों नहीं हैं अर्थात् सत्-चित्-आनन्दके विपरीत नहीं है।

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति।

उपनिषद्के अन्तमें यह बात दुहराई गयी है। दुहराना समाप्तिका सूचक है।

जहाँ अभिमान निवृत्त हो गया वहाँ सुख-दुःखकी भी निवृति हो गयी। ऐसा मानता है।

मेरा नहीं है तो कुछ मेरा नहीं और है तो सब मेरा ही है। संसारी मनुष्य कहता है, 'यह मेरा घर है, मेरा धन है, मेरा अन्न है, मेरा परिवार है।' वह रागके कारण अहंकार करता है, और वह अहंकार है अज्ञान। सत्की कक्षामें अज्ञान, चित्की कक्षामें अहंकार और आनन्दकी कक्षामें रागने पहुँचकर जगह घेर ली है। परन्तु तत्त्वज्ञानके जिस मार्ग पर जिज्ञासु चल रहा है वह तो 'मेरा तेरा' एक कर देनेका मार्ग है सम्पूर्ण विश्वसृष्टिसे एक होने का मार्ग है।

रास्तेमें होली खेले तो रङ्ग उड़ा, कपड़ा बिगड़ा तो बदल दिया, स्नान किया। लेकिन क्या हम उससे सचमुच अशुद्ध हो गये? ब्राह्मणत्व, हिन्दुत्व, मनुष्यत्व, जीवत्व कहीं चला जाता है या नष्ट हो जाता है? सभी ज्योंके-त्यों ही रहते हैं। मल आया तो प्रक्षालन कर दिया। आत्माकी स्थिति भी ऐसी ही है। शरीर चाहे जन्मे या मरे बालक, जवान, अधेड़, बूढ़ा कुछ हो वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

(एव नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य नो कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।

वह अक्रतु पुरुष अपने मन-इन्द्रियोंकी निर्मलता से अपनी महिमाको जानकर निष्काम हो जाता है। कामना-लोभ, कर्मफल से मुक्त होकर वीतशोक हो जाता है। यह वीतरागता भी स्वरूप-ज्ञानमें ही होती है। यह बीतशोकता जीवनमें आनी चाहिए। यह

आवसस्थ्याग्नि, तद्धयाग्नि—इन अग्नियोंके उपासक गृहस्थ भी कहते हैं, जिन्होंने विपुल अग्निचयन या अग्निहोत्र किया है। ऐसे कर्मी लोग और निवृत्तिपरायण ब्रह्मनिष्ठ सभी कहते हैं कि इस शरीरके भीतर छाया-आतपके समान जीव और परमेश्वर रहते हैं। कितनी सुगम बात है! जिस ईश्वरको हम अपनेसे दूर समझकर सोचते हैं कि ईश्वरसे बिछुड़ गये, वह हमारे हृदयमें ही बैठा है। फिर भी आश्चर्य है कि कोई-कोई ईश्वरको मानते ही नहीं। कहते हैं कि 'ईश्वर न बाहर है, न भीतर'। कोई कहते हैं : 'ईश्वर वैकुण्ठमें है' तो कोई कहते हैं : 'पता नहीं, वह होगा या नहीं?' कोई कहता है : 'ईश्वर है, पर बड़ा दुर्लभ है।' किन्तु वही ईश्वर जिसके बारेमें ना-हाँ, दूर-निकट, यहाँ-वहाँ, अब-तब जैसी बीसों बातें कही जाती हैं, ठीक हमारे हृदयमें रहता है।

हमने ऐसा भक्त देखा है, जो—कोई उसके सामने कह दे कि 'ईश्वर हृदयमें है' तो—हृदय-शरीरको नोचने लगता है। कहता है : "अच्छा, इसके भीतर ईश्वर छिपा है, तो हम चाम फाड़ देंगे, हड्डी तोड़ देंगे और देखेंगे कि हृदयमें ईश्वर कहाँ छिपा है? इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु हमारे शरीरमें छिपी है और हम उससे मिले बिना, देखे-जाने बिना रह जाते हैं? हम तो उसे पाँच पैसेके बराबर भी कीमती नहीं समझते!"

वेदान्ती कहता है : 'शरीरमें एक छाया है तो एक आतप है। इसी शरीरमें परब्रह्मकी उपलब्धि होती है। गृहस्थ, भक्त और वेदान्ती सब छाया-आतपके सिद्धान्तको मानते हैं।

'ऋतं पिबन्तौ' यानी वह कर्मफलका भोक्ता है। वाचस्पति मिश्रने कहा है : असलमें 'अपिबन्' और 'पिबन्' दोनोंका यह समास है। एक कर्मफलको नहीं पीता तो दूसरा पीता है।

संस्कृतमें जैसे 'माता च पिता च' कहनेकी जगह 'पितरौ' कहनेसे चल जाता है। इसका कारण है माताका पिताके साथ द्वितीयत्व। दो-तीन व्यक्तियोंको कोई 'पिता' नहीं बोलता। माता पितासे नित्य संबद्ध होनेके कारण 'पितरौ' प्रयोग होता है। ठीक इसी तरह 'पिबन्तौ'में जीवके लिए 'पिबन्' और परमात्माके लिए 'अपिबन्'का प्रयोग है। अर्थात् एक ही परमात्मा जबतक अविद्याके साथ रहता है, तबतक कर्मफलका पान करता है और अविद्याको छोड़ देनेपर नहीं करता; क्योंकि विद्या द्वारा वह अविद्यासे मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवतके ११वें स्कंधमें कहा गया है : "यह न बुद्धि और जीवका वर्णन है, न जीव और परमेश्वरका। इस श्रुतिमें जगह-जगह ऐसे उद्धरण आते हैं कि एक बद्ध जीवका वर्णन है, एक मुक्त जीवका। बद्धजीव अभिमानके कारण कर्मफलका भोक्ता बना है, मुक्तजीव अन्तःकरणमें अभिमान न होनेके कारण मुक्त है; कर्मफलके साथ उसका कोई संबंध नहीं है।

श्री चैतन्यमहाप्रभुसे किसीने पूछा : "आप उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या क्यों नहीं करते ? इनकी व्याख्याके बिना तो कोई सम्प्रदाय चलता ही नहीं ?"

उन्होंने कहा : "हमारे मतमें उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रका व्याख्यान श्रीमद्भागवत ही है। श्रीमद्भागवत जैसी व्याख्याके रहते हम दूसरी व्याख्या क्यों करें ?"

'छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन।' भाष्यकार लिखते हैं : एक संसारी है तो दूसरा असंसारी। इसमें व्याख्याका बीज निकल आया। छाया यानी अन्तःकरणमें जो आभास, प्रतिबिम्ब है वह भोगता है। प्रश्न है कि फिर 'पिबन्तौ' यह द्विवचन

क्यों ?' दस लोग जाते हों और उनमें चारके पास छाते हों, छहके पास न हों तो भी बोलते ही हैं : 'छत्रिणो यान्ति' (छातेवाले जा रहे हैं)। राजाके साथ दस आदमी जा रहे हों तो भी कहते हैं : 'राजा गच्छति' (राजा जा रहा है)। अर्थात् एकका ग्रहण होनेपर दूसरे सभीका ग्रहण हो जाता है।

यहाँ संसारी-असंसारी दोनोंका वर्णन है। जो देहमें मैं करके बैठ गया, संसारकी वस्तुओंमें 'मेरा' करके लिपट गया, अन्तः-करणमें चैतन्यका आभास, कर्तापन-भोक्तापनसे तादात्म्यापन्न होकर मैं करके बैठ गया, वह शुद्ध परमात्मस्वरूप होनेपर भी केवल परछाईं ही रह जाता है।

इस मन्त्रकी दूसरी व्याख्या है, विज्ञानभिक्षुकी। ये योग, सांख्य और वेदान्त-ब्रह्मसूत्रके भी व्याख्याकार हैं। शाङ्कर-सम्प्रदायमें यह व्याख्या परिगृहीत नहीं है। वे कहते हैं : "छायातपौ'में एक जीव है और दूसरा ईश्वर। दोनों भोक्ता हैं। चित्तका निरोध होनेपर शान्ति किसे मिलती है ? आत्मा कर्ता तो नहीं है, पर भोक्ता है, मजा-आनन्द जो आता है।"

प्रश्न होगा : 'जीव और ईश्वरके आनन्दमें अन्तर क्या है ?' जीवको खानेमें आनन्द आता है, तो ईश्वरको खिलानेमें। आपके घरमें कोई उत्तम भोजन बने और उसी समय कोई अतिथि आ जाय तो उसके सामने उस उत्तम भोजनकी थाल परस दी जाय और आपके मनमें ग्लानि हो जाय कि 'हमने अपने लिए उत्तम थाली मँगवायी और यह न जाने कहाँसे टपक पड़ा ?' तो कहना होगा कि आपका यह जीवभाव अत्यंत गाढ़ताको प्राप्त हो गया। यदि आपके अतिथिको उत्तम भोजन मिले और आपको मामूली भी खानेको मिले या न मिले, आप समझें कि 'एक दिन भूखे

रहनेसे मर थोड़े ही जाते हैं' और प्रसन्न हो जायँ कि 'अहा, हमारे घर आज अतिथिरूपमें ईश्वर आ गया' तो उस समय आप ईश्वरकी कोटिमें पहुँच जाते हैं।

विज्ञानभिक्षुकी व्याख्याके ये शब्द हैं: 'यः करोति, यश्च कारयति।' अर्थात् जीव कर्ता है और ईश्वर कारयिता, करानेवाला। जीव पीता है और ईश्वर पिलानेवाला। संसारमें करानेवालेको भी कर्ता ही बोलते हैं। यहाँ छाया-आतप यानी जीवको आनन्द मिल रहा है, ईश्वर उसे आनन्द दे रहा है। जैसे नौकर काम करता है तो वह काम मालिकपर जाता है। सेनाकी हार-जीत राजाकी हार-जीत होती है। सेना नौकर है, सौ-सौ रुपया लेकर वह तो अपनी छातीको बंदूककी गोलीके सामने कर देती है, लेकिन उसकी हार-जीत राजाकी ही हार-जीत है।

छायारूप बुद्धि तो 'पिबन्ती'—संसारके सुख-दुःख, कर्मफलका ग्रहण करती है। किसके प्रकाशमें छाया काम करती है? प्रकाश न हो तो छाया नामकी कोई चीज नहीं। वर्णन है कि भगवान् रामचन्द्रके राज्यमें एकबार विभीषणसे अपराध हो गया। विभीषण जम्बूकेश्वर महादेवकी पूजा करनेके लिए श्रीरंगक्षेत्रमें आये थे। उनका पाँव लगा और एक तपस्वी मर गया। तब ब्राह्मणोंने विभीषणको पकड़ा और कहा: 'इसे प्राणदण्ड दो।'

रामके राज्यमें तो ब्राह्मणोंकी महिमा थी। लेकिन मारनेपर भी विभीषण मरते ही नहीं थे, उन्हें कल्पान्त राज्य जो प्राप्त था! तब विवशतः लोगोंने उन्हें कैदकर गुफामें डाल दिया, उनका खाना-पीना बन्द कर दिया!

इधर विभीषण नहीं मिले तो उनकी खोज हुई। अयोध्यामें शिवशर्माने ध्यानकर बताया (इस रूपमें वहाँ शंकरजी थे)

श्रीरंगक्षेत्रमें विभीषण कैदमें हैं। तब श्रीरामचन्द्रजी रंगक्षेत्र गये।

ब्राह्मणोंने कहा : "इसे दण्ड दें।"

श्रीरामचन्द्रजी : "हमारा संविधान तो देखो। हमारे संविधानमें नियम है :

भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड उच्यते।

यदि सेवकसे अपराध हो जाय तो स्वामीको दण्ड मिलना चाहिए। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है :

यन्नामानि च गृह्णाति पुमान् भृत्ये कृतागसि।

सेवकसे अपराध हो जाय तो सेवकको कौन जानता है? कहा जायगा कि 'अमुकके सेवकने यह अपराध किया, बदनामी तो मालिककी होती है। इसलिए—

वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।

विभीषणको दण्ड मत दो, उसके मालिक हमें दण्ड दो।"

सारांश, सेवकका दायित्व स्वामीपर चला जाता है और छायाका आतपपर। छायाका स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं।

प्रश्न होगा : क्या प्रकाशक परिणामी होकर छाया बनी है? जैसे सोनेसे आभूषण बनते हैं वैसे ही प्रकाशसे छाया बनी है? दूधसे दहीकी तरह अथवा परमाणुओंके संयोगसे बने कण घटादिकी तरह घनीभूत प्रकाशसे छाया बनी है?

छाया प्रकाशके अतिरिक्त किसी काल, किसी देश या किसी वस्तुमें नहीं है। वह न प्रकाशका परिणाम है, न विकार। न आरंभ है और न वजन। उसमें लम्बाई-चौड़ाई दीखती है, पर वास्तवमें है नहीं। छायामें कर्तृत्व भी नहीं है। छायामें जाकर

खड़े हो जायँ तो धूप नहीं लगेगी, पर क्या जानबूझकर छायाने हमारे दु:खको मिटाया ? उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। छाया मृषा होती है। अज्ञानवश लोग कहते हैं "छायामें अमुक लम्बाई-चौड़ाई है। वह हमारी गरमीको दूर करती है ! अमुक समयतक रहती है।" तात्त्विक दृष्टिसे छायामें कुछ न होनेपर भी उसमें अस्तित्वकी कल्पना कर लेते हैं। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें बुद्धि छायारूप है। बुद्धि कर्मफलका पान करती है और उसके अधिष्ठाता स्वयंप्रकाश आत्मदेवपर उसका अध्यारोप होता है। उसका ज्ञान हो जानेपर कुछ नहीं रहता !

'लोके' यानी इस शरीरमें। 'लोक्यते इति लोक:' : जो सबके देखनेमें आता है वह लोक। 'परमे परार्धे'=शरीरके भीतर जो है। 'पर' यानी परमात्माका आधार-स्थान, हृदय परमाकाश है। उसमें 'सुकृतस्य ऋतं पिबन्तौ' अर्थात् कर्मका धन पा रहे हैं। परमात्मा आधा तो सारी सृष्टिमें है, पर आधा यहीं हृदयमें है।

'पंचाग्नि' : छांदोग्यकी रीतिसे द्युलोक, पर्जन्य, पृथ्वी, पुरुष, योषित्—इन पाँचोंमें अग्निदृष्टि करके गृहस्थ अग्निकी उपासना करते हैं। बृहदारण्यकमें भी इस प्रसंगका वर्णन है।

छायाके रूपमें परमात्मा कर्ता-भोक्ता जीव बना है। आतपके रूपमें वह स्वयंशुद्ध बिम्बस्थानीय, स्वयंप्रकाश साक्षीके रूपमें विराजमान है। इसलिए परमात्माको कहीं ढूँढ़ना हो तो इस साढ़े तीन हाथके शरीरमें ही ढूँढो।

पुराने पंडितोंकी विचारशैलीसे इस मंत्रमें विषय पर-संशय है। यहाँ दो वस्तुओंका वर्णन है : बुद्धि और परमात्मा, बुद्धि और जीव या जीव और परमात्माका वर्णन है ?

यदि बुद्धि और जीवका वर्णन है तो क्या फल निकलेगा ? बुद्धि-प्रधान कार्य-कारणसंघातरूप स्थूल और सूक्ष्मशरीरसे विलक्षण जीव है, यह फल निकलेगा; क्योंकि :

ह्येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ।

बुद्धि और जीव मिलकर कर्मफलका भोग कर रहे हैं। यह बात निकालनेसे जीव बुद्धिसे विलक्षण है, यह फल निकलता है। आगे इस उपनिषद्में यह बात आ गयी है। यदि इस मन्त्रमें जीवात्मा-परमात्माका वर्णन है तो

जीवात् विलक्षणः परमात्मा ।

यह भी उपनिषद्में बताना है; क्योंकि :

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥

यहाँ परमात्माके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा की गयी है। प्रश्न तो किया ही गया है। अब प्रश्न यह है कि यहाँ बुद्धि और जीव या जीव और परमात्मा, दोनोंमेंसे किसका प्रतिपादन किया गया है ? इस पर आक्षेप करनेवाला, पूर्वपक्ष क्या निकलता है ? :

उभावप्येतौ पक्षौ न संभवतः ।

ये दोनों बातें गलत हैं। ये दोनों पक्ष संभव नहीं है। 'कस्मात्'=क्यों ? आपके मनमें यह प्रश्न उठा या नहीं ?

ऋतं पिबन्तौ = कर्मफलका उपभोग। क्षेत्रज्ञ = चेतन जीव कर्मफलका उपभोग कर सकता है, किन्तु अचेतन द्रव्य बुद्धि नहीं कर सकती। यहाँ 'पिबन्तौ' द्विवचनमें है। वह कहता है : "दोनों कर्मफलका उपभोग करते हैं। अतः यहाँ बुद्धि नहीं हो सकती।

केवल जीव रहेगा तो द्विवचन व्यर्थ हो जायगा। बुद्धि=जीव नहीं होना चाहिए।

आक्षेप करनेवालेने कहा : 'यही कारण है कि जीव और परमात्मा यह अर्थ भी संभव नहीं। क्योंकि जीव तो कर्मफलका भोग करता है, यह बात सही है; लेकिन परमात्मा भोग नहीं करता और 'पिबन्तौ'में द्विवचन है। परमात्मा तो—

अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति।

वह तो किसी भी कर्मफलका भोग नहीं करता। वह तो—

न किञ्चन अत्ति, न केनचित् अत्यते।

न तो परमात्माको कोई भोग सकता है, न परमात्मा किसीको भोगता है।

न तदश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन।

बृहदारण्यकमें भी कहा गया है : 'परमात्मा न किसीको भोगता है, न कोई परमात्माको भोगता है। उसमें भोक्ता-भोग्य-भाव है ही नहीं। ऐसी स्थितिमें 'पिबन्तौ' द्विवचनकी संगति न बुद्धि-जीवपक्षमें लगती है, न जीव-परमात्मापक्षमें। बुद्धि भोक्त्री नहीं हो सकती, जीव भोक्ता है। यहाँ भी परमात्मा नहीं, जीव भोक्ता है। इसलिए दोनों पक्ष गलत हैं।

उत्तरपक्ष है : 'नैष दोषः।' इसमें कोई दोष नहीं। क्यों? 'छत्रिणो गच्छन्ति इति एकेनापि छत्रिणा बहूनां छत्रित्वोपचार-दर्शनात्।' संसारमें देखनेमें आता है कि एक भी व्यक्ति छाता लेकर जा रहा हो तो कहा जाता है कि "छातावाले जा रहे हैं।" इसलिए दोनोंका ही भोक्ता होना आवश्यक नहीं। एकके भोक्ता होनेसे भी काम चल जायगा। एकमें भोक्तृत्व गौण है, तो एकमें

भी हृदयमें उसकी उपलब्धि होती है। परमात्माका किसी एक देशमें रहना बताना कोई विरोधी बात नहीं है। इसका समाधान पहले कर चुके हैं। इसलिए 'छायातपौ इति अविरुद्धम्।' यहाँ छाया यानी उपाधिके द्वारा आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्व आरोपित है :

आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।

आगे इन्द्रिय और अन्तःकरणसहित आत्माको भोक्ता (छाया) कहा गया है और शुद्ध आत्माको आतप माने (प्रकाश) इसका अभिप्राय छायाको संसारी बताना है। आतप यानी असंसारी। स्वयंप्रकाश परमात्मा न कहीं आता-जाता है, न सुखी-दुःखी होता है, न राग-द्वेष करता है, न पापी-पुण्यात्मा बनता है। बुद्धिगुहामें उसकी जो छाया पड़ती है, वही पापी-पुण्यात्मा होती है क्योंकि आत्मामें संसारीपना माना हुआ है।

अविद्याकृतत्वात् संसारित्वम् । पारमार्थिकत्वाद् असंसारित्वम् ।

क्योंकि प्रकाशरूप आत्मा परमार्थ है। उसमें न पाप-पुण्य है न राग-द्वेष; न आना-जाना, न नरक-स्वर्ग न पुनर्जन्म। वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्धमुक्त स्वभाव है। जो अपनेको बद्ध और अन्तःकरण-वाला मानकर अन्तःकरणमें छाया यानी आभास या प्रतिबिम्ब बनकर बैठ गया है, उसको 'मैं' मानना अविद्याके कारण है। उसीमें सारा संसारीपन है।

इसलिए इस मन्त्रमें विज्ञानार्थ—**गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे** । मुक्त आत्माको आतप कहा गया है। वह विद्याके कारण मुक्त है। पुराने महात्मा लोग मंत्रके अर्थपर इस शैलीसे विचार करते थे। व्यासजी कहते हैं : **प्रकरणविशेषणाच्च** । विशेषण पर ध्यान दो।

२. नाचिकेत अग्नि और अक्षर-ब्रह्म-निरूपण

संगति :

प्रथम मंत्रमें छाया और आतपके स्वरूपका विवेक करके अन्तमें निर्णय किया गया कि 'छाया' अविद्याके कारण बद्ध संसारी जीव है और 'आतप' विद्याके कारण नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त परमात्मा। अब द्वितीय मन्त्रमें यजन करनेवालोंके लिए सेतुके समान नाचिकेत-अग्नि तथा भवसागर पार करनेवाले जिज्ञासुओंके लिए अक्षर-ब्रह्मका निरूपण प्रारंभ किया जा रहा है :

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ २ ॥

यः सेतुरीजानानाम्। ईजान् = यजमान। ईड्य = यजन करने योग्य। यज्ञ करनेवाला यजमान यजन करेगा। जिसका यजन किया जाय, वह होगा 'ईड्य'।

जो लोग यज्ञ करते हैं, वे दुःखरूपी संसारसे कैसे पार हो सकते हैं? जैसे कर्मरूप यज्ञ किया जाता है वैसे उपासना, योग, ज्ञान-रूप भी यज्ञ किया जाय तो? वे यज्ञ करके किसके सहारे अपने गन्तव्यको प्राप्त करेंगे?

फलमत उपपत्तेः । जो कर्म करता है, उसका फल देनेवाला ईश्वर होता है। कई लोग मानते हैं कि कर्म करनेसे एक ऐसी शक्ति पैदा होती है जो पहले नहीं रहती। वही शक्ति कर्ताके अन्तःकरणमें बीजरूपसे बैठ जाती है। उसे कोई 'अपूर्व' बोलते हैं, तो कोई 'अदृष्ट'। हम जितने भी काम करते हैं, उनमें 'हमने यह काम किया' ऐसा अभिमानका भाव होगा, तभी अपूर्वकी उत्पत्ति होगी। अपने लाभके लिए श्रद्धा, कामना या भावनासे कोई कर्म करते हैं, तो उसी समय अन्तःकरणमें ऐसी छाप, ऐसा संस्कार बैठ जाता है कि समय-समयपर वह उभरता दिखाई पड़ता है। कोई भी कर्म करते हैं तो अपने कर्तापनका अभिमान जाग्रत होता है कि 'हमने यह किया!'

कभी-कभी जो सपने आते हैं, वे कहाँ रहते हैं? कर्ताके अन्तःकरणमें ही वे संस्काररूपसे बैठे रहते हैं और समयपर उदित होते हैं, जब कि अन्तःकरण अनियंत्रित होता है। इसी तरह बचपनकी स्मृतियाँ भी आती हैं! किसीने बचपनमें चूहा मार दिया और बुढ़ापेमें रोने लगा! बचपनमें मारा चूहा बुढ़ापेमें क्यों रुलाता है? जानबूझकर किया होनेके कारण। उसमें कर्तापनका संस्कार था। उस संस्कारसे स्मृतिका उदय हुआ। मनुष्यको करते समय नहीं मालूम पड़ता कि मैं क्या कर रहा हूँ, किन्तु उसी समय वह हृदयमें रिकार्ड हो जाता है। जिस पट्टीपर रिकार्ड होता है, उसे लेकर आँखोंसे ढूँढिये कि कहाँ वे शब्द, वाक्य, ध्वनि हैं? भले ही आँखोंसे ध्वनिका अंकन न मालूम पड़े, पर वह रिकार्ड अवश्य हो जाती है। इसी प्रकार जीवनमें जानबूझकर कर्तृत्वपूर्वक किये कर्म अंकित हो जाते हैं और भीतर ही भीतर उसे स्वीकृति देते हैं—"हमने अमुक काम किया।"

एक देवतासे बोल दिया कि 'पाँच रुपयेका भोग लगायेंगे', पर काम हो जानेपर भी भोग नहीं लगाया; क्योंकि हम मानने लगे कि वह काम तो अपने आप ही हो गया, अब हम भोग नहीं लगायेंगे। इस मनोवृत्तिमें प्रथम तो कर्तृत्वपूर्वक ही देवताको भोग लगानेका प्रण किया था। इसलिए मरते समय उसकी ऐसी स्मृति आयेगी कि 'हमने अपनी बात पूरी नहीं की।' रोग होगा, दुःख आयेगा तब भीतर बैठा निकलेगा। देवी आकर कहेगी कि 'तुमने हमें भोग नहीं लगाया!' हनुमान्जी गदा लेकर पूछेंगे कि 'तुमने हमसे वादा किया था, वह क्यों पूरा नहीं किया?' इस तरह स्पष्ट है कि जानबूझकर बोले वचनका चित्तमें स्थित संस्कार ही अपूर्व फल देता है।

कोई कहते हैं: 'इसमें अपूर्व माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। सबके हृदयमें ईश्वर रहता है। अपने हृदयमें जितनी बातें आती हैं, उन्हें ईश्वर नोट कर लेता है। समय-समयपर अपनी ही मान्यतासे यानी अपनी ही तराजूपर तौले, अपने ही स्वीकार किये जो कर्म हैं, उनका फल ईश्वर देता है।' कर्म तो आज किया, उसका फल पाँच-पचास वर्ष बाद मिलेगा। कैसे? होम आज किया और नष्ट हुआ। इसका अपूर्व रहता है अन्तःकरणमें। ईश्वर सर्वज्ञ होता है, वह तुम्हारे किये कर्मका फल देता है।

सेतु = मेड़। ईजानां सेतुः।

दो खेतोंके बीच मर्यादा बनानेवाली—कर्म और फलके बीच मेड़ कौन बना है? आज किये कर्मका कल फल किसने दिया? जो सुषुप्तिमें रहता है उसने। यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि एक ही वस्तुसे अनेक वस्तुएँ बनती हैं। एक सोनेसे कंगन,

कुंडल, हार आदि बनते हैं तो उसे कोई गढ़नेवाला होता है, यह मानना पड़ेगा। कारण एक सोनेमें व्यवस्थापूर्वक, प्रयोजनानुसार रचना बन रही है। एक किसान गेहूँ, चना, मटरके अलग-अलग बीज खेतमें बोता है। एक ही पानीमें अनेक तरंगें उठती हैं। क्यों? उसमें हवाका धक्का लगता है। उसमें एक आकर्षण है जो खींचता है। एक विकर्षण है जो फेंकता है। आकर्षण-विकर्षण की उपस्थितिसे ही वायुके दबावसे समुद्रमें ज्वार-भाटा आता है इसी प्रकार यदि कहीं भी एक वस्तु अनेक रूपोंमें दिखाई पड़ती है तो उसके मूलमें कोई विभाजक-शक्ति है और यदि वह व्यवस्थापूर्वक विभाजन करती है तो उसका नाम 'ईश्वर' है। वह शक्ति विषमता क्यों करती है? कर्मानुसार पंचभूतोंसे व्यवस्थापूर्वक इतने जीवोंको गढ़नेवाला ईश्वर है। उस ईश्वरको कहते हैं 'सेतु'। वह कर्म और कर्मफलके बीच काम करनेवाला 'विधरण:' (पकड़ रखनेवाला) है, ऐसा श्रुतिने कहा है।

तुम कहते हो कि "हम दु:खके समुद्रमें डूब रहे हैं। इसमेंसे कैसे निकलें?' तो भगवान्‌का नाम लो, ध्यान करो, ज्ञान प्राप्त करो, आश्रय लो, उसके साथ अपनेको जोड़ो, तो वही पकड़कर तुम्हें पार कर देगा। जब वह तुम्हें पार कर देगा तो वह तुम्हारा आत्मा है। उसका ध्यान करोगे तो वही तुम्हारा ध्येय होगा। योगाभ्यास करोगे, तो वही तुम्हारे हृदय में 'समाधि' रूपमें प्रकट होगा। धर्मानुष्ठान करोगे तो वही 'फल'के रूपमें और जब तुम ऐन्द्रियक भोगमें लगोगे तो वह 'विषयानन्द'के रूपमें तुम्हारे सम्मुख आयेगा।

कर्मी और ब्रह्मवेत्ता दोनों परस्पर ब्रह्मका आश्रय लेते हैं।

अपर ब्रह्म कर्मियोंका आश्रय है, तो परब्रह्म ब्रह्मवेत्ताओंका। कर्मके दो विभाग हैं : निषिद्ध और विहित। समाजशास्त्र और लोकहितकी दृष्टिसे निषिद्ध कर्म नहीं करने चाहिए, क्योंकि उनके करनेसे कभी-न-कभी हमारे चित्तमें ग्लानि आयेगी ही। लगेगा कि 'हमने बुरा काम किया'।

कोई कह सकता है कि 'हम अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य कुछ नहीं मानते।' ठीक है, पर यह बात तुम तभीतक कहते हो जबतक तुम्हारे अहंकारमें लौकिकताका पुट, बल है। जब बीमार पड़ोगे, अपनेमें दैन्य मालूम पड़ेगा, तुम्हारी मदद करनेवाला कोई नहीं दीखेगा तब तुम्हारा मन निर्बल पड़ेगा और भीतर ही भीतर यह स्वीकार करेगा कि 'हमें यह काम नहीं करना चाहिए था, किया सो गलत किया ! इन्द्रियोंके वशमें होकर, विषयलोलुपता-से, दूसरोंको नीचा दिखानें और अपने अहंकारकी पूजा-प्रतिष्ठाके लिए किया।"

दूसरी बात है : विहितका अकरण, उल्लंघन। विहित यानी 'प्रत्येक मनुष्यको सत्य बोलना चाहिए।' सच बोलना ही चाहिए, यह विधान नहीं है ! कमसे कम मनुष्यको झूठ नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि सबकी सब बातें सबको बतानेकी नहीं होतीं। आवश्यक हो, उपयोगी हो, मिठास हो, दूसरेको सुख मिलता हो, समयोचित भी हो, तब कुछ बोलना चाहिए।

बोलिये तो तब जब बोलिबेकी रीति जानो।
पद छन्द-अर्थ अनूप जानि लइये, गाईये।
गाईये तो तब जब गाईबेकी रीति जानो।

गाना तो तब चाहिए, जब राग-रागिनी, ताल-मूर्छना मालूम हो। राग-रागिनीका अंग-भंग करनेके लिए नहीं गाया जाता।

विहित संध्यावंदनादि अनुष्ठान न करने, विधिका उल्लंघन करने और निषिद्धका आचरण करनेसे मनुष्यको प्रत्यवाय लगता है। 'प्रति+अव+अय' = लक्ष्यको विपरीत दिशामें अधोगमन होता है। विहित कर्मका अनुष्ठान ओर निषिद्धका परिवर्जन करनेसे अभ्युदय होता है : 'अभि+उत्+अय' = सर्वतोमुखो उन्नति+प्रगति।

विहित कर्मोंमें दो प्रकारके विधान है :

(१) **लौकिक पूर्तकर्म** : कुँआ खुदवाना, बगीचा बनवाना, सड़क बँधवाना, अस्पताल-पाठशाला खुलवाना, तालाब-बावड़ी खुदवाना। इन कर्मोंके संबंधसे इनके पूर्त चान्द्रमस गतिको प्राप्त कराते हैं, ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है। त्रिलोक यानी उत्तम लोकोंमें जाना चान्द्रमस-गति प्राप्त करना है। वहाँसे नीचे आकर भी धरतीपर ब्राह्मण, विद्वान्, धनी या सुखो होना।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डाल योनिं वा। (छान्दोग्य० ५.१०.७)

यदि निषिद्ध कर्म करोगे, विहितका उल्लंघन करोगे तो तुम्हें कुत्तेकी, शूकरकी योनि मिलेगो, चाण्डालकी योनि मिलेगी और उत्तम कर्म करोगे तो धर्मके प्रभावसे चान्द्रमस ज्योतिसे पितृलोकमें जाओगे। फिर उत्तम-उत्तम स्वर्गसुख भोगकर लौट आओगे।

जो लोग उपनिषद्‌में कहो रीतिसे नचिकेत अग्निका चयन करते हैं, निष्काम कर्मका अनुभव करते हैं, उनकी कर्ममें ले चलनेकी शक्ति होतो है। कर्म रथ है, संकल्प सारथी है।

यदि सत्-संकल्पसे हम सत्कर्म करें तो वह हमें संकल्पकी पूर्तिकी दिशामें ले जाता है। यदि निष्काम हो तो यहीं-के-यहीं हृदयकी शुद्धि होकर वासनाओंके परत-पर-परत कट जाते हैं और अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है।

एकने कहा : "निष्काम कर्म करनेसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है।" इन विचारोंमें ऊपरसे देखनेमें बड़ा विरोध मालूम पड़ता है; किन्तु निष्कामता ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। जबतक कामना रहेगी, विषयसे अन्तःकरणका सम्बन्ध भी बना रहेगा, विषयाकार अन्तःकरण बना रहेगा। कामना न होनेपर विषयसे अन्तःकरणका सम्पर्क छूट जायगा।

क्रम-मुक्तिका मार्ग है निष्काम कर्म, उपासना और योग। इससे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करते-करते ही हमें ब्रह्मलोकका अनुभव होने लगता है। ब्रह्मलोकमें पहुँचनेपर देश-काल-वस्तु क्या है, इनका अधिष्ठान क्या है, इनका प्रकाशक क्या है, यह बोध पानेसे अपने स्वरूपको जाननेमें बहुत बड़ी सहायता मिलती है। इसलिए जो लोग इस दुःखरूप संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं, नरक-स्वर्ग, जन्म-मृत्युसे छूटना चाहते हैं, उन्हें अपरबुद्धि या परबुद्धिसे ब्रह्मोपासना करनी चाहिए। अपरब्रह्मकी उपासनाका अर्थ है अग्निकी उपासना।

अग्निमें यह विशेषता है कि पार्थिव और आप्य पदार्थ (मिट्टी-पानीसे बनी सब वस्तुएँ) उसमें भस्म हो जाती हैं। चाँदी, ताँबा, लोहा भी अग्निमें जलकर भस्म हो जाते हैं। अग्निकी उपासना या ध्यान करोगे कि 'सम्पूर्ण विश्वमें आग परिपूर्ण है', तो पृथ्वीका कारण जल और जलका कारण अग्निमें ये सारे पार्थिव पदार्थ भस्मसात् हो जायँगे। इसीको 'अग्नि-उपासना' कहते हैं।

एक है उपास्य अग्नि और एक है सेव्य अग्नि। उपास्य अग्नि भी प्रपंचासक्तिको मिटानेवाला है। उपास्य-अग्निकी उपासनासे हम अपने चित्तकी रसिकता और भौतिकता निर्मूल कर देते हैं। अध्यात्मविद्या हमारे अन्तरंगमें उन्नति करनेकी, बाहरसे भीतर आनेकी आत्मामें परमात्माका साक्षात्कार करनेकी विद्या है। दस आदमियोंका मन-स्तर एक-सा हो जाय, यह अध्यात्म-विद्यामें कभी संभव नहीं। सामूहिक रूपसे होनेवाले जप, पाठ, संकीर्तन, उपासनामें भी ताल, लय, भाव और पाठसे भगवान्का नाम यदि लिया जाय तो थोड़ी देरके लिए सबका मन एक स्तरपर आता है; फिर वे अपनी-अपनी जगहपर लौट जाते हैं। आध्यात्मिक उन्नतिके लिए एक व्यक्तिका अपना मन ही अपनी कक्षामें अन्तर्मुख होता है, कई व्यक्तियोंका मन लिये नहीं, संगठन चाहे कितने भी पवित्रभावसे बने! इसी कारण फक्कड़ स्वभावके अन्तर्मुख व्यक्ति, फकीरी-वृत्तिके लोग व्यक्तिगत उत्कर्षके लिए अध्यात्मविद्याका, जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख पानेके लिए आनन्दकी ओर अग्रसर होते हैं।

अरे ओ प्रतिभाशाली पुरुषो! उठो, उठो, जागो! अग्निकी इच्छा करो। अग्निका आह्वान करो। प्रकाशका आह्वान करो जिसमें नामरूप छूट जाय। अध्यात्म-अग्नि वह अग्नि है, जिसमें भौतिकदृष्टि भस्म हो जाती है।

जो लोग दुःखरूप संसारसे मुक्त होना चाहते हैं, अभयपदकी प्राप्ति करना चाहते हैं, वे लोग निष्काम कर्म या उपासना द्वारा, अग्निका आह्वान कर, हृदयमें अग्निकी आराधना कर विषय-वासनाको भस्म कर देते हैं और क्रमशः परमात्माको प्राप्त करते हैं। कर्मयोग या ज्ञानयोग द्वारा ज्ञानाग्निमें वध नहीं, बाध है। बाध विषयका, इन्द्रियों, मनोवृत्तियों और संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात

समाधि आदि स्थितियोंका भी है। अग्निको उपासना वध-प्रधान है। ज्ञानाग्नि-परब्रह्म 'बाध'-प्रधान है। इसीसे यज्ञमें वध होता है। अपर-ब्रह्मविद्या 'लय'-प्रधान है। क्या आप दुःखसे संसारसे छूटना चाहते हैं? शोक मिटाना चाहते हैं?

अभयं तितीर्षतां पारम्।

वे वैदिक-कर्मी जो दुःख-समुद्रके पार जाकर अभयपद प्राप्त करना चाहते हैं, उनके सेतुरूप अपरब्रह्म और अक्षर-परब्रह्म इन दोनोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए : **सेतुं ज्ञातुं च शकेमहि।** इसीसे पर-अपर ब्रह्म, जीव और ईश्वरका वर्णन किया।

जीवनमें आलसी नहीं बनना चाहिए। आलस्य, तन्द्रा, प्रमाद, मोह—ये सब तमोगुण हैं। जीवनमें उत्साह होना चाहिए। सफाई देनेमें भी नहीं लगना चाहिए। एक महात्माने बताया : 'पैरके नीचे कौन आया, कौन दबा-पिसा, यह न देखकर आगे बढ़ना है तो आगे देखो, बढ़ते जाओ! क्या टूटा-फूटा, गिरा-छूटा, कौन आगे मिलेगा, यह खयाल मत करो। अपने लक्ष्यपर दृष्टि रखो और शेरकी तरह आगे बढ़ते जाओ! जीवनमें आगे बढ़नेके लिए हृदयमें आशा, उत्साह, आकांक्षा चाहिए। प्रतीक्षा और प्रयत्न होनेपर जीवन आगे बढ़ता है। साबुन लगानेमें ही सारा दिन बीत जायगा तो अपने कर्तव्यको पूरा कब करोगे?'

हाथपर हाथ धरकर बैठ गये तो कहीं नहीं जा सकते। मनुष्य रथीकी तरह है। रथी पुरुष रथ-मोटरपर बैठकर अपना सारा जीवन नहीं बिता सकता। यदि वह मोटरको कहीं न चलाये, उसीमें बैठे, खाये, पिये तो अन्ततोगत्वा मोटर भी खराब हो जायगी और अपने लक्ष्यको प्राप्त भी नहीं कर सकेगा। यह शरीर रथकी स्थितिमें है। अतः आगे बढ़ो।' ●

३. विज्ञानात्मा जीव रथी

संगति :

द्वितीय मन्त्रमें कर्म और फलके बीच सेतुके समान नाचिकेत अग्नि तथा अभयपद देनेवाली ज्ञानाग्निका वर्णन किया गया। तृतीय मंत्र में एक विज्ञानात्माका वर्णन है और रथपर चढ़कर जिसे मिलने जाना है, वह परमात्मा है। विज्ञानात्मा जीव रथी है। अगले मंत्रोंमें उसका वर्णन है। उसीका गन्तव्य पद है।

सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।

वह मार्गके पार पहुँचता है, वह विष्णुका परमपद है। यहाँ जीवको अन्तःकरण, देह आदिमें जो तादात्म्य या ममता है, उसे छोड़कर अर्थात् अपने भोक्तापनका बाधकर परमात्मासे एक होना है। यहाँ जो छाया है, वह तो चलनेवाली है, जहाँ जाना है, जिससे मिलकर एक होना है, वह है आतप या प्रकाश।

मनन करनेवाला विज्ञानात्मा छाया है और जिसका मनन किया जाता है, वह परमात्मा है आतप। इसलिए पहले प्रकरण में भी इसीका वर्णन है और ब्रह्मवेत्ता लोग इसका वर्णन करते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया इस मन्त्रका दूसरे ब्राह्मणों और उपनिषदोंमें जो अर्थ दिये हैं उसका भी यही अभिप्राय है। इसका तात्पर्य है : **गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ**। यहाँ—**छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति**—अपनेको भोक्ता मानकर आभास हो गया। **माया आभासेन जीवेशौ करोति** (पंचदशी) मायाने आभाससे जीव और ईश्वरका भेद बना दिया। वह जिसका आभास है, वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा है और जो आभास हुआ, वह बन गया विज्ञानात्मा; क्योंकि वह बुद्धि आदिके साथ तादात्म्यापन्न हो गया।

इस परमात्माको ढूँढ़ना हो तो कहीं दूर देशमें जानेकी आवश्यकता नहीं। एक देशके भीतर वह ज्यों-का-त्यों है। वह शरीरके साथ चलता-फिरता नहीं, उसके भीतरका हार्दाकाश है। वह परमव्योम है अर्थात् वह आत्माका स्वरूप है। उसमें देश-काल-वस्तु कल्पित हैं अर्थात् उसमें न आना-जाना है, न जन्मना-मरना और न देह-पंचभूत या प्रपंच है। फिर उसमें रोग-मोह-शोक कहाँसे होगा ? उसका किसीके साथ संबंध कैसे होगा ? ऐसा वह परमात्मा है, जिसका विवेकके साथ वर्णन किया गया है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

तू आत्माको रथी जान, शरीरको रथ समझ, बुद्धिको सारथि जान और मनको लगाम समझ ॥ ३ ॥

बुद्धि सारथी है, मन बागडोर है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। तुम रथपर तो बैठे हो, घोड़े जुते हैं, हाथमें बागडोर है, पर तुम रथी हो। रथ तुम्हारा चलता है या नहीं, चलता है तो किधर—गड्ढेकी ओर खराब रास्तेपर जा रहा है या जहाँ तुम्हें जाना है उस ओर ? यह तो तुम्हें मालूम होना ही चाहिए न ?

आत्मानं रथिनम् विद्धि । यह उपाधिकृत संसारी जीव शरीर, मन और इन्द्रियको अपना आपा मानकर रथी बन बैठा है। जाना-आना इसीलिए कि तुम रथपर बैठे हो !

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि । बुद्धि है सारथि, मन है लगाम जो इन्द्रियरूपी घोड़ोंको काबूमें रखता है और शरीर है रथ। सारथि यानी जो रथीको साथ दे। पहले बुद्धि निश्चय करे कि इस वस्तुको पाना उचित है या छोड़ना। फिर मन संकल्प करे कि इसे छोड़ो या पाओ। फिर सारथिके हाथमें मनरूपी लगाम रखकर इन्द्रियरूप घोड़ोंको अपने काबूमें कर लें। फिर इन्द्रियाँ सारथिकी प्रेरणासे रथीको उसके इष्टदेशमें ले जायँ। ऐसा हो तो आप ठीक-ठीक पहुँचेंगे। किन्तु यदि कहीं हरी-हरी घाससे लुभाकर घोड़े वहीं चरने चले गये, लगाम ढीली पड़ गयी और सारथिने छूट दे दी, तो रथी महाराजका क्या होगा ? घोड़े रथको घसीटकर गड्ढेमें ले जायँगे।

आप अपने जीवनकी ओर देखें ! पहले आप घरमें सलाह करते हैं कि आपको कितने वस्त्रकी आवश्यकता है, जिससे ठंड कटे और समाजमें प्रतिष्ठा बनी रहे ? फिर संकल्प किया कि चलकर वह वस्त्र लेंगे। पाँवसे चलकर बाजार गये और हाथसे पसंद करके वस्त्र घर ले आये। एक तो यह 'गति' हुई। दूसरी 'गति' है—रास्ते चलते, सिनेमा-क्लबमें या किसीके घर गये तो देखा कि अमुक स्त्रीने ऐसी साड़ी पहनी है और मनने कहा : 'यह तो बढ़िया है, ऐसी हमारे घरमें होनी चाहिए।'

बुद्धिने समझाया : 'पैसा तो पासमें है नहीं, घरमें तो सैकड़ों साड़ियाँ पड़ी हैं, इसके बिना भी कट जायगी, प्रतिष्ठामें कोई बट्टा

भी नहीं लगेगा।' लेकिन मनने कहा : 'हमारी आँखोंको वह साड़ी भा गयी, हम तो वही लेकर रहेंगे।'

बुद्धिने कहा : 'पैसा नहीं है तो मनने कहा : 'पतिदेवको जेबमेंसे निकाल लो!'

इस प्रकार इन्द्रियोंके कहनेके अनुसार मनको और मनके कहनेके अनुसार बुद्धिको बनाना बुद्धि-मन-इन्द्रियोंको कामके अधीन कर देना है।

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

—गीता

काम कहाँ रहता है? वह है तो शत्रु। उसकी न कोई राजधानी है, न कोई किला। वह तुम्हारे घरमें रहता है। कैसे? इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिको रिश्वत देकर, चाट खिलाकर उन्हें वशमें कर लिया है उसने। मनको पीछे ढकेल दिया, बुद्धिको इन्द्रियोंके साथ मिलाकर अपने पीछे-पीछे वह घसीटे ले जाता है। तब तुम्हारा जीवन कामके अनुसार चलने लगता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

—गीता

पहले इन्द्रियाँ बाजारमें चरने गयीं। मनमें इच्छाकी प्रबलता रही तो बुद्धिको मजबूर होकर उनका साथ देना पड़ा। 'तदस्य हरति प्रज्ञाम्'—डाकू लूट ले गये! तुम्हारे घरमें चोरी हो गय; क्योंकि तुम चोर यानी मनके पीछे-पीछे चले। तुमने अपनी समझ-दारीको खो दिया। ●

४. ज्ञान-कर्म-समुच्चय

संगति :

तृतीय मंत्रमें कहा गया है कि 'संसार-गमनाय' और 'मोक्ष-गमनाय' दोनोंमें साधन शरीररूप रथ है। इसीकी कल्पना करते हैं। जो विज्ञानात्मा है वह 'ऋतप' यानी कर्मका फल भोगता है, संसारी है। वही इस रथका स्वामी है। इन्द्रियाँ इस शरीररूपी रथको खींचती है; पाँव चलते हैं, आँखें देखती हैं। यह अंध-पंगुन्याय है। कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं तो ज्ञानेन्द्रियाँ आँखवाली होकर भी पंगु हैं। अन्धे-पंगुकी कहानीमें बताया ही है कि दोनोंकी ऐसी दोस्ती थी कि दोनोंने परस्पर सहयोगसे सैकड़ों मीलका रास्ता तय कर लिया। चतुर्थ मन्त्र-में इसी अन्ध-पंगु-न्यायका वर्णन है :

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बतलाते हैं तथा उनके घोड़े-रूपसे कल्पित किये जानेपर विषयोंको उनके मार्ग बतलाते हैं और शरीर, इन्द्रिय एवं मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं ॥ ४ ॥

पहले हमारे चित्तमें ज्ञान होता है कि कौन-सी वस्तु हमें दुःख देती है और कौन-सी वस्तु सुख। तब दुःख देनेवाली वस्तुको छोड़ने और सुख देनेवाली वस्तुको पानेका निश्चय होता है। यह मन हुआ। इसके बाद हाथ-पाँवसे कर्म होता है, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके सहयोगसे हम उस वस्तुके पास चले जाते हैं। इस प्रकार प्रयत्नके मूलमें इच्छा रहती है और इच्छाके मूलमें जानकारी।

यदि आपकी जानकारी विषय-भोगकी वासनासे प्रभावित होकर काम करती है तो कहना होगा कि आपका सारथि शत्रुके साथ मिल गया। यह व्यक्तिगत जीवनमें विचार करनेकी बात है कि आपका मन और बुद्धि इन्द्रियोंके कहनेके अनुसार काम करते हैं या इन्द्रियाँ और मन बुद्धिके कहनेके अनुसार? ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न यह वैदिक मनोविज्ञानकी शैली है।

अनजान वस्तुको न पानेकी इच्छा होती है और न छोड़नेकी। इच्छा होती है ज्ञानपूर्वक और इच्छाके बाद ही पाने-छोड़नेका प्रयत्न होता है। आपका सारा जीवन ज्ञानपर लटक रहा है। ईश्वरप्राप्ति उत्तम है, इस ज्ञानसे भक्तिकी इच्छा होगी तो भोग उत्तम है, यह जाननेसे भोगकी। यदि यह ज्ञान हुआ कि ईश्वर तो अपना आपा, अपना स्वरूप आत्मा है; उसमें बढ़िया-घटिया विशेषण क्यों लगाये? हम स्वयं ज्ञानमात्र, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप हैं, तो उसमें प्रयत्नकी, पकड़नेकी क्या आवश्यकता?

ज्ञान-इच्छाको प्रयत्नमें ले जाना अनावश्यक है; फिर भी ज्ञान-इच्छाको क्यों प्रयत्नमें ले जाते हैं? विषयमें महत्त्वबुद्धि होनेके कारण, विषयपर श्रद्धा होनेके कारण। दुःखीत्व और सुखीत्वकी सामर्थ्य विषयसे जोड़ना उसमें श्रद्धा है। यह मान्यता

है, स्वीकृति है। एक ही विषयको कोई सुख देनेवाला मानता है तो कोई दुःख देनेवाला। वास्तवमें विषयमें दुःख या सुख कुछ नहीं है, गलत जानकारीके कारण उसमें सुख-दुःखोंका आरोप कर लिया जाता है।

यह आरोप न कर, विषयगत दुःखका अनुसंधान न कर अपने ज्ञान-स्वरूपका अनुसंधान करें। तब विशेष ज्ञान न होनेके कारण इच्छाका उदय नहीं होगा। स्वरूपज्ञान न होनेपर असंख्य इच्छाओंका उदय होता है। दूसरेको जाननेसे दोस्ती-दुश्मनी-का खयाल बनता है, अपनेको जाननेसे नहीं। वह तो अपना आपा ही है। इसलिए स्वरूप-ज्ञानमें त्याग-संग्रह, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग-द्वेष, सुख-दुःख, पाप-पुण्य भी नहीं है। शुद्धज्ञान न इनका जनक है और न इनसे वह जन्य ही है।

जबतक आप अपनेको रथी, संसारी मान बैठे हैं और इन्द्रियों-से सुख पानेकी मनमें इच्छा है, तबतक स्वरूपज्ञान नहीं होता। संसारी सत्यकी प्रशंसा या निन्दा करनेवालेकी सलाह नहीं मानता, 'भज कलदारम्' आये तो उसकी सलाह मानता है। इसलिए उसे अपनी जगहसे सरकना पड़ेगा। उसे पुलिसका डर, टैक्सका डर, घाटेका डर रहेगा, क्योंकि घोड़े स्वतंत्र हैं, लगाम टूटी है। सारथि दुश्मनसे मिला है और रथी शराब पिये है; तब यह गाड़ी कहाँ जायगी?

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

शुद्धस्वरूप भोक्ता नहीं होता। इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयदेशमें जानेवाला, इन्द्रिय-मनसे युक्त आत्मा भोक्ता है। यदि विवेककर अपने आपको इन्द्रिय-मनसे अलग कर लो तो भोक्ता-पन चला जाय। ●

५. अविज्ञानवान् रथी

संगति :

शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न, मन-बुद्धि और इन्द्रियोंसे युक्त भोक्ता आत्माका चतुर्थ मन्त्रमें वर्णन करनेके बाद अब पञ्चम मन्त्रमें बताते हैं कि दुष्ट घोड़ोंकी तरह अनियंत्रित इन्द्रियाँ अविवेकी और असंयमी बुद्धिके नियन्त्रणमें नहीं रहतीं :

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

किंतु जो [बुद्धिरूप सारथि] सर्वदा अविवेकी एवं असंयत चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इसी प्रकार नहीं रहतीं जिस प्रकार सारथिके अधीन दुष्ट घोड़े ।। ५ ।।

अपना आत्मा है, इसमें दो बातें हैं : १. मैं हूँ, क्योंकि मैं मालूम पड़ता हूँ और २. मैं मालूम पड़ता हूँ, क्योंकि मैं हूँ। इसका अभिप्राय यह कि 'अस्ति-भाति' यानी आत्माका सत्स्वरूप और ज्ञानस्वरूप दोनों एक हैं, अलग-अलग नहीं। यह अस्तिरूप कभी बाधित नहीं होता।

अनादि कालसे अनन्त कालतक, विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक और विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारमें 'मैं नहीं हूँ' और 'मैं अज्ञानरूप हूँ, जड़ हूँ' यह अनुभव किसीको भी नहीं हो सकता; क्योंकि जो जड़को जानेगा वह तो चेतन ही होगा। यह अस्तिभातिकी एकता है।

'भवति' : कोई चीज हो रही है। 'अस्ति' ज्ञान है, ज्ञान अस्ति है, किन्तु जो चीज होती है, उसमें परिवर्तन है। परिवर्तन 'अस्ति-भाति'में नहीं, 'भवति'में है परन्तु प्रयत्न नहीं है, हो रही है।

३. 'करोति' में कर्तापनका अभिमान और प्रयत्न भी है।

४. 'भुङ्क्ते' में है, करेगा तो भोगेगा। तुम किसीको एक गाली दोगे, क्योंकि तुमने जिसे अन्य या पराया समझ गाली दी है वह भी तुम्हीं हो; इसलिए यह गाली चाहे सामनेवालेको लगे या न लगे, तुम्हें अवश्य लगेगी। तुम जब किसीको 'हरामी' बोलोगे तो वह 'हरामी' आकाशसे, परमात्मासे टकराकर लौटेगा और तुमसे कहेगा : 'तुम हरामी हो।' जो काम या शब्दप्रयोग दूसरेके लिए किया जायगा, वह लौटकर तुम्हारे पास अवश्य आयेगा। तुम

उससे बच नहीं सकते। जो करता है, सो भोगता है तो उससे छूटे कैसे ?

जब भोगना, करना और होना तीनोंका द्रष्टा अपनेको जानकर सन्मात्र यानी कालसे अपरिच्छिन्न, चिन्मात्र यानी जड़से अपरिच्छिन्न और लंबाई-चौड़ाईसे अपरिच्छिन्न सन्मात्र-चिन्मात्र इस आत्मासे तुम एक हो जाओगे, तब सबके आत्मा बन जाओगे। तब इन्द्रका, सम्राट्का या ब्रह्माका सुख तुम्हारा सुख है।

एक महात्मासे किसीने पूछा : "ईश्वर हमपर खुश है, यह हम कैसे जानें ?"

उन्होंने कहा : "तुम अपनेपर खुश हो या नहीं ? अपनी रहनी-सहनी या बोलने-चलनेसे खुश हो या नहीं ?"

वह बोला : "हाँ, हम तो अपनेपर संतुष्ट हैं।"

महात्मा : "तो तुमपर परमेश्वर खुश हैं।"

यदि हम खुद अपनेसे असंतुष्ट और नाराज हैं तो दूसरा हम-पर कैसे खुश हो सकता है ? हम अपनेसे, अपने काम, भाव और स्थितिसे, ज्ञानसे असंतुष्ट होते हैं, तो दूसरा भी हमसे असंतुष्ट होगा। दूसरेका हमसे पृथक् कोई अस्तित्व ही नहीं है।

हम भोक्ता कब होते हैं ?

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

मनीषि लोगोंका कहता है कि जब तुम देह, मन और इन्द्रियको 'मैं' मानोगे तो निश्चय ही पापी-पुण्यात्मा, कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी हो जाओगे और जब अपने आपको उनसे विलक्षण जान लोगे तो उससे मुक्त होनेका अनुभव करोगे। क्योंकि श्रुतिने बताया है कि शुद्ध आत्मा 'ध्यायति इव, लेलायति इव।' यानी वह किसीका ध्यान नहीं करता, करता-सा है। वह प्राणके साथ कभी चंचल

नहीं होता, चंचल होता-सा है। यदि कर्तापन, भोक्तापन आत्माका स्वभाव होता तब तो कभी उसकी निवृत्ति नहीं होती। यह तो केवल आभिमानिक है। हम देहवाले, मनवाले या इन्द्रियवाले हैं, यह मात्र अभिमान है।

जब तुम्हारी जीभसे किसीकी निन्दा निकले तो समझो कि घोड़ा काबूमें नहीं है। मोटरकी ब्रेक खराब हो गयी; क्योंकि जीभ मन-बुद्धि अपने काबूमें नहीं है। एक परमात्मामें भ्रष्टताका दर्शन कर वह स्वयं भ्रष्ट हो गयी।

यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवान् अनिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति।

अविज्ञानवान्, अनिपुण, अविवेकी सारथि हो, तो उसे लक्ष्यसे भ्रष्ट होना ही पड़ता है। बुद्धि-सारथिको मालूम होना चाहिए कि इन्द्रियोंका संचालन कैसे करना चाहिए और मन युक्त होना चाहिए। नहीं तो यह जीवन-रथ मार्ग भूलकर भटक जायगा।

तुम साधनके मार्गपर चलते हो और इतना भी मालूम नहीं है कि हम अपने दिलको बना रहे हैं या बिगाड़ रहे हैं। भक्तका दिल तब बनेगा, जब उसके दिलमें भगवान् रहेंगे। दिलमें दुश्मन आयेगा तो दिलको बिगाड़ देगा। जिज्ञासुका दिल तब बनेगा जब उसकी वृत्ति ब्रह्माकार होगी, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करेगी। यदि वह विषय-भोगका, शत्रुका, गुण-दोषका चिंतन करेगा तो उसके दिलका निर्माण नहीं होगा। साधकको इतना विवेक होना चाहिए कि क्या करनेसे उसके हृदयमें शान्ति, संतोष, रस, प्रकाश, आनन्द, ज्ञान आते हैं और प्रवृत्ति-निवृत्तिका क्या अर्थ है। यदि मन वशमें नहीं है, अयुक्त है तो इन्द्रियाँ भी वशमें नहीं रहेंगी, तब दुर्गतिका होना अवश्यंभावी है ●

६. विज्ञानवान् रथी

संगति :

लक्ष्यप्राप्तिके लिए विज्ञानवान्, निपुण, विवेकी बुद्धिरूप सारथि होनेपर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान होता है और तब परमात्मासे एकता प्राप्त होती है; यह निम्नलिखित षष्ठ मन्त्रमें समझाया जा रहा है :

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

परंतु जो (बुद्धिरूप सारथि) कुशल और सर्वदा समाहित चित्तसे युक्त होता है उसके अधीन इन्द्रियाँ इस प्रकार रहती हैं जिस प्रकार सारथिके अधीन अच्छे घोड़े ॥ ६ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति । जो विशेष ज्ञानवाला है । एक होता है सामान्य-ज्ञान और एक होता है विशेष ज्ञान । यह मालूम पड़ना कि 'सब सड़कें हैं, चौराहे हैं' यह सामान्य-ज्ञान है, किन्तु हमें किस सड़कसे जाना है, यह विशेष-ज्ञान है। यदि आप साधनके मार्गपर चल रहे हैं तो आपको ज्ञान होना चाहिए कि आप किस मार्गपर चल रहे हैं । यदि आप भक्त हैं तो दृश्यमें भगवद्बुद्धि होनी चाहिए । ज्ञान-मार्गपर चल रहे हैं तो द्रष्टाके ब्रह्मत्वका ज्ञान होना चाहिए । वास्तवमें द्रष्टा और दृश्य दोनों

भगवान् हैं। भक्त हृदयका निर्माण करता है। ज्ञानी दृश्यसे निवृत्त हो जाता है। अन्ततोगत्वा दोनों एक हो जाते हैं। लेकिन विज्ञानके अभावमें तुम शत्रुता-प्रेम, निन्दा-स्तुति में फँसते हो। भगवान् तो बेचारे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं और तुम रास्ते-में अपने शत्रुको साध रहे हो, मित्रसे गवाहियाँ डाले हो! आत्मा अपने स्वरूपको भूलकर दृश्यमें लग गया है। अतः तुम्हें विज्ञानवान् होना चाहिए।

युक्तेन मनसा सदा। मनमें युक्तपना होना चाहिए। गीतामें 'युक्त'के सुन्दर-सुन्दर अर्थ बताये हैं:

> **शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।**
> **कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥**

युक्त कौन है? जो युक्त होता है, वही सुखी होता है। इसी जीवनमें जो कामके वेगमें आकर भोग और क्रोधके वेगमें आकर हिंसामें प्रवृत्त नहीं होता, कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों स्तरोंपर जो काम और क्रोधसे ग्रस्त नहीं होता, वह युक्त है। जीवनमें सहिष्णुता आनी चाहिए:

> **यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।**
> **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥**

जो चित्तकी ज्योति भीतर प्रज्वलित हो रही है, वह हृदय-मंदिरमें ही प्रज्वलित हो। हवा लगानेके लिए ज्योतिको बाहर न ले जायँ, नहीं तो वह लड़खडा जायगी।

एक मिनट खयाल करें, आपका मन भारतके बाहर न जाय। फिर देखें, बम्बईके बाहर न जाय! फिर प्रेमकुटीरके बाहर न जाय और अन्तमें आपका मन आपके हृदयसे बाहर न

जाय। हृदयमें भी किसी दूसरी चीजका खयाल न आये तब आप 'युक्त' हो जायँगे। यह निवृत्ति है, किन्तु वैराग्य तो होता ही नहीं! बीस-बीस वर्षतक भजन करते रहनेपर भी अपने भजनमें निष्ठा नहीं होती। श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते हुए भी उसमें निष्ठा न होना बहुत बड़ा आश्चर्य है। जप-तप, साधन-भजन हमारे जीवनमें इतने स्वाभाविक बन जायँ कि हमारी रहनी ही वैसी हो जाय! मरनेतक वैसे रहें। अपनेको ब्रह्म समझते हुए रहना चाहते हैं या नहीं? भगवत्-प्रेमसे हृदयको भरे रखना चाहते हैं या नहीं? निष्ठाका अर्थ है, जबतक यह जीवन है और यदि इस जीवनके बाद भी जन्म हो तो उसमें भी यही भाव हो :

जनम-जनम लगि रगर हमारी।
बरौं सम्भु न तु रहौं कुँआरी।

यदि आपने जप, पूजा, ध्यान, मौन, श्रवण चार-चार दिनोंतक किया और छोड़ा, फिर दूसरेको पकड़ा तो भक्ति या ज्ञान किसीमें स्थिर नहीं हो पाये। परमेश्वर पीछे पड़ गया, गुण-दोष, राग-द्वेष, पार्टीबंदीमें फँस गये। अपने जीवनमें इस निष्ठाको ढूँढ़ें।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

—गीता

आपका ज्ञान-विज्ञान कहाँ तृप्त होता है? नोटके बण्डलमें, कुर्सीमें, खाने-पीनेमें या दुनियामें अमुक परिवर्तन हो तब?

मैंने एकबार एक महात्मासे पूछा : 'दुनियामें क्या-क्या परिवर्तन कर दिया जाय, तब आप उसे पसंद करेंगे?'

आगमें न जलें, ऐसे वे नहीं, सिद्ध सच्चे-महात्मा थे। जिसने परब्रह्म-परमात्माको अपने आत्माके रूपमें जान लिया, वही सिद्ध

है। बाकी सब सपनेके खेल हैं। कितने सिद्ध पैदा हुए और मर-गये, कितनी सिद्धियाँ आयीं और चली गयीं। सिद्ध है एकमात्र परमात्मा। परमात्माके सिवा और कोई सिद्ध है ही नहीं! यदि तुम उससे एक हो गये तो सिद्ध हो गये। मेरा उनसे प्रश्न था : "राजा, कानून, सामाजिक स्थिति, लोगोंका शरीर, खाना-पीना सब कैसा होना आप पसंद करते हैं?'

वे सिद्ध तो हँस दिये और बोले : "राम-राम, दुनिया सोनेकी हो जाय या दिव्य बन जाय तो क्या उसको किसी अवस्थाको हम पसन्द करेंगे? आत्मरूपमें तो हमारे लिए वह ठीक है। उसके बने रूपमें हम उसे पसन्द नहीं करते और बिगड़े रूपसे उससे नाराज भी नहीं होते। दुनियाके परिवर्तित रूपमें हमारी कोई दिलचस्पी नहीं कि ऐसी हो जाय तो दुनिया बिगाड़ गयी या बन गयी!"

बिगड़ना-बनना दोनों सपनेका खेल है। अपने आत्मामें यह नितान्त अनहुआ भास रहा है। पसंद और नफरत, राग और द्वेषको हम दिलमें क्यों बैठायें? क्या हमारा आत्मा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं, जो हम दूसरेसे प्रेम करने जायँ?

गीता कहती है :

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

ऐसे युक्तात्मा होनेके लिए :

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।

जैसे अच्छे घोड़े सारथिके वशमें रहते हैं, वैसे ही उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें रहती हैं। जिसका मन युक्त नहीं है, जिसकी बुद्धिमें विज्ञान-नैपुण्य नहीं है, उसकी स्थिति उस रथी-सी होती है, जिसके घोड़े सारथिके वशमें नहीं रहते। ●

७. अविज्ञानवान्‌को संसारप्राप्ति

संगति :

षष्ठ मन्त्रमें साधकके लिए दो बातें कही गयीं : १. यदि विज्ञान-रहित, अयुक्त मनसे इन्द्रियोंको उच्छृङ्खल छोड़ दोगे तो साधन-पथसे गिर जाओगे। और २. यदि नैपुण्य-युक्त मनसे इन्द्रियोंको वशमें कर आगे बढ़ोगे तो जैसे निपुण सारथि सधे घोड़ोंको आगे बढ़ाता है, वैसे तुम आगे बढ़ोगे। अब आगे फलके संबंधमें तीन मंत्र हैं :

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

किंतु जो अविज्ञानवान्, अनिगृहीतचित्त और सदा अपवित्र

रहनेवाला होता है, वह उस पदको प्राप्त नहीं कर सकता; प्रत्युत संसारको ही प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

'अविज्ञानवत् संसारगतिः' = अविज्ञानवान्, अनिपुण, जिसकी बुद्धिमें पत्थर पड़ा है, बेवकूफ, मूर्ख, अज्ञानी, नासमझ ! उल्टी समझ नहीं; उल्टी समझवालेका तो कभी कल्याण ही नहीं होता। यदि कोई चौराहेपर खड़ा हो और उसे रास्ता न मालूम हो, वह किसीसे पूछे तो उसे रास्ता मालूम पड़ जायगा। किन्तु यदि उसकी समझ उल्टी हो, वह पूरबको पश्चिम समझकर किसीसे पूछे नहीं और निश्चय पक्का कर ले कि हम तो इधर ही चलेंगे, उसे रास्ता मिलना संभव नहीं। नासमझके लिए मार्ग निकल आता है।

यस्त्वविज्ञान् भवति। जिसके चित्तमें नैपुण्य नहीं है। हम काम किसलिए करते हैं, कुछ छोड़नेके लिए या कुछ पकड़नेके लिए ? इष्टके साधनके लिए किये गये कर्म और इच्छाएँ अच्छी हैं। यदि वे अनिष्टप्राप्तिके लिए हों तो बुरी हैं। अन्तमें हमारी बुद्धि सबसे बड़ी चीज है। यदि वह अहंकारकी दी हुई हो तो गलत रास्तेपर ले जायगी। गुरु, ईश्वर या शास्त्रकी दी हुई बुद्धि ही सही रास्तेपर ले जाती है। आखिर बुद्धिकी ही पकड़ है न ?

भोग चाहनेवाले देश रूस, चीनमें जाकर कहो कि "हमारी बुद्धि बहुत अच्छी है; क्योंकि ब्रह्मकी ओर चलती है" तो वे तुम्हें 'बुर्जुआ' कहकर शस्त्र-क्रान्तिका शिकार बना देंगे। कहेंगे : 'तुम पिछड़े हुए हो !

सब लोग किसीको अच्छा-बुरा कहें, तब वह अच्छा-बुरा है—यह बात वेदान्तमें नहीं चलती। यह वोटोंसे तय होनेवाली

बात नहीं, बुद्धिकी कसौटी होती है। गुरु और शास्त्र उसकी कसौटी हैं। क्या तुम्हारे हृदयमें शान्तिका, रसोल्लासका, आनन्दस्वरूप भगवान्‌के प्रकट होनेका अनुभव हो रहा है? यदि नहीं तो तुम गलत रास्तेपर जा रहे हो!

सारांश, बुद्धिको विज्ञानरहित मत रहने दो। किस रास्तेपर चलना है और क्या पाना है, इसका निर्णय कर लो।

अमनस्कः। तुम्हारा दिल खराब होगा तो तुम कहीं होओगे और तुम्हारा दिल किसी और जगह होगा। कालेजके लड़के-लड़कियाँ तब अनुत्तीर्ण होते हैं, जब वे अपना दिल कहीं और जगहपर लगा देते हैं। ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करना है, जीवनको उन्नत करना है, ठीक रास्तेपर चलना है तो दिलको स्वस्थ रखना होगा। अन्यथा 'अमनस्कः'—यदि तुम्हारा दिल हाथसे छूटकर गिर गया, इधर उधर बहक गया तो तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

सदा शुचिः। इसमें चार बातें बतायी हैं:

(१) शरीरसे होनेवाले दुश्चरित्रको छोड़ना।

(२) मनमें आनेवाले काम-क्रोधको स्थान न देना।

(३) चित्तमें आनेवाले विक्षेपको मिटाकर मनको एकाग्र करना। मनको एकाग्र करनेपर ज्ञानकी किरणोंका जो वक्रीभवन होता है, उससे नये-नये लोक, दृश्य दीखते हैं। शक्तिका संचय होता है, उससे एक विलक्षण शक्ति आती है।

(४) चित्तको एकाग्र करनेपर प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंको महत्त्वपूर्ण न समझना।

एक आदमीने बारह वर्ष तप किया तो उसकी खड़ाऊँ सिद्ध हो गयीं। वह उसे पहनकर नदी पार हो जाय!

घर लौटकर उसने बापको बताया : "बारह वर्षकी तपस्याके बाद मुझे यह सिद्धि मिली।"

बापने कहा : 'हम तो मल्लाहको दो पैसा देते हैं और नदी पार करके चले जाते हैं। जो लाभ हमें यों ही हो जाता है, वह बारह वर्ष तपस्या कर तुमने पाया ?"

दुनियामें कुछ भी पा लेना योगका फल नहीं है। सिद्धिसे निरपेक्ष रहना चाहिए। मनुष्य योगाभ्यास करता है तो देवता लोग आकर आमंत्रण देते हैं। दिक्देवता कहते हैं : 'चलो, हम तुम्हें विलायतमें क्या बात हो रही है, वह सुनाकर ले आयें।

रूस-अमेरिकामें अभी इसके प्रयोग किये गये हैं। दो-दो सौ मील दूरकी बात सुनने-देखनेका अभ्यास किया जाता है। वहाँ-का वैज्ञानिक इधर आयेगा तो हमारे देशके लोग उसका आदर करेंगे। किन्तु परमार्थके साथ इसका कोई संबंध नहीं। यह बिलकुल लौकिक वस्तु है। इससे संसार ही दीखता है।

तीन बातें आवश्यक हैं : (१) बुद्धिमें नैपुण्य हो कि वह आत्मा परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुको न चाहे। (२) मन अपने वशमें हो, वह कहीं हाथसे गिर न जाय। और (३) सदा शुचिः—हमेशा पवित्र रहो, कभी अपवित्र मत रहो।

जो काम करनेके प्रारंभमें मनमें वासना रखते हैं, करते समय अभिमानका आवेश रहता है और करनेके बाद ग्लानि और थकान होती है तो वह अपवित्र है। क्योंकि वासना, आवेश और ग्लानि तीनों अभिमानके बच्चे हैं। पवित्रका अर्थ है बिलकुल शुद्ध, खालिस। गेहूँ शुद्ध नहीं जब उसमें मटर मिली हो। अपना आत्मा जब जड़ताके मिश्रणसे रहित होता है, तब वह शुद्ध है और तभी परमात्माकी प्राप्ति होती है। अतः जड़ताको निकाल दो। ●

८. विवेकीकी परमपद-प्राप्ति

संगति :

जिसका चरित्र पवित्र नहीं, जिसका मन सद्भावनाशून्य है, जिसका विवेक ढीला है, उसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती : न स तत्पदमाप्नोति । तब उसके जीवनका क्रम होता है : 'जायस्व, म्रियस्व'

पैदा होओ, बेटा पैदा करो और मरो, यही मिलेगा। सप्तम मंत्रमें यह बात बताकर अष्टम मंत्रमें कहा जा रहा है कि 'यदि मनुष्यका चरित्र पवित्र होगा, मन हाथमें होगा और विवेकमें निपुणता होगी तो उसे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य होगी :

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचि ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

किंतु जो विज्ञानवान्, संयतचित्त और सदा पवित्र रहनेवाला होता है, वह तो उस पदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर उत्पन्न नहीं होता ॥ ८ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति । विज्ञानवान्=विवेक और बुद्धि किसी-के प्रति क्रूरता, पक्षपात, राग-द्वेषसे रहित, दृश्यको दृश्य, द्रष्टाको द्रष्टा बता दे, बिलकुल निर्णय कर दे। विवेक=दो मिली वस्तुओंको अलग-अलग करनेवाली विद्या। 'विचिद पृथग्भावे', जव और गेहूँ एकमें मिल जाय तो उन दोनोंको अलग-अलग करना उनका विवेक है। इसी प्रकार दृश्यका द्रष्टामें और द्रष्टाका दृश्यमें जो अध्यास हो गया है, उनका विवेक करनेमें जिसकी बुद्धि निपुण होती है उसे 'विज्ञानवान्' कहते हैं। यदि बुद्धि रागग्रस्त होगी तो जिससे प्रेम होगा, उसीके बारेमें विचार करेगी और द्वेषग्रस्त बुद्धि होगी तो शत्रुताका ही विचार करेगी। वैराग्यवती बुद्धिमें ही शुद्ध विवेकका उदय होता है। इसलिए तत्त्वज्ञानमें यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस नामरूपात्मक प्रपंचमें कहीं राग-द्वेष न हो। अन्तःकरणके शोधक-साधनको वैराग्य, विवेक, समाधि-संपत्ति कहते हैं। ये बहिरंग साधन हैं। यही जिज्ञासुके जीवनका सारथि है, मार्गदर्शक है।

'सारयति अश्वान् इति सारथिः' : जो इन्द्रियरूपी घोड़ोंका ठीक-ठीक संचालन करे, उसे 'सारथि' कहते हैं।

मन वशमें रहे, विवेक ठीक हो, इसके लिए क्या करना चाहिए ? एतदर्थ सदैव पवित्र रहना चाहिए। दो वस्तुएँ जब एकमें मिल जाती है, तो उसे 'मिलावटी' कहते हैं। दोनों अलग-अलग हों तभी वे शुद्ध हैं। जब यह चेतन जड़के साथ तादात्म्य करता है—'अहं जड़ः, जडो मम' (ये दृश्य वस्तुएँ मैं हूँ, ये मेरी हैं) ऐसा देह और देहके संबंधियोंमें भाव बनाता है तब अन्यके गुणधर्मका अन्यमें मिश्रण हो जानेके कारण उसमें अशुद्धि आ जाती है। सदैव पवित्र रहना चाहिए।

मन कैसे पवित्र रहे, इसके लिए श्रुतियोंमें विभिन्न उपाय बताये गये हैं :

(१) **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः**। तुम्हारा भोजन शुद्ध रहना चाहिए। अर्थात् सब इन्द्रियोंका भोजन शुद्ध रहे। शुद्ध बोलो, शुद्ध सुनो, शुद्ध खाओ, शुद्ध सूँघो, शुद्ध छुओ, शुद्ध चलो, शुद्ध करो, शुद्ध सोचो। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने 'आहार' का अर्थ बताया है : "अपनी सभी इन्द्रियों और मनको पवित्र भोग ही दो, अपवित्र भोग मत दो।"

श्रीरामानुजने बताया है : निमित्तसे अशुद्ध–निमित्त यानी आश्रयदोष, जातिदोष नहीं; जैसे कि बर्तन, स्थान, बनानेवाला, कोई गंदी चीज पड़ गयी, जन्मसे अशुद्ध वस्तु–मांस आदि, अन्यायो-पार्जित धन अपवित्रताकी जड़ है। कोई व्यभिचारसे संतान उत्पन्न करे और उससे ब्रह्मचारी होनेकी आशा रखे, तो गलत है। कोई चोरी-बेईमानी कर धन कमाये और आशा करे कि 'हमारे मनमें

निर्लोभता, निष्कामता, शान्ति आ जाय तो कभी नहीं आ सकती। चोरीका धन देकर कोई सनत्कुमार, शुकदेव नारद, वशिष्ठ बने तो कैसे बनेगा? जो वस्तु हमारे हककी बिलकुल नहीं, उसके भोग द्वारा मनको पवित्र करनेकी बात ही गलत है। आहारशुद्धि मनको पवित्र रखनेके लिए आवश्यक है।

(२) **कर्मशुद्धि : यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन**। जो कर्म करनेमें वासना, आवेश, ग्लानि न हो, सहज-सरलभावसे जो कर्म हो, शात्रोक्त हो शास्त्रसे प्रतिसिद्ध न हो, वह कर्म मनुष्यको करना चाहिए। वह विहितका परित्याग भी न करे।

(३) **भावशुद्धि : यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ**। सबके प्रति मनमें सद्भावना हो : 'इसमें भी ईश्वर है, इसमें भी ईश्वर है, इसमें भी ईश्वर है।' 'अमुं यज, अमुं यज।'

(४) **विचारशुद्धि :** नीर-क्षीर-विवेक हो, जो दृश्यको सर्वथा छोड़ दे।

(५) **दृष्टिशुद्धि :** जो तुम्हारी दृष्टिमें शुद्ध है, केवल उसीका चिन्तन करो! अशुद्धका चिन्तन ही मत करो।

इन नियमोंका पालन करनेपर तुम सदा शुचि रहोगे। तुम्हारा मन पवित्र रहेगा और विवेक जागृत रहेगा।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्मात् भूयो न जायते। उसे उस पदकी प्राप्ति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि अज्ञानमात्रसे ही पद अप्राप्त-सा मालूम हो रहा है। जो सर्वदेशका प्रकाशक और अधिष्ठान है, जो सर्व नामरूपका प्रकाशक और अधिष्ठान है और जिसमें कल्पनाके कारण तीनों बिना हुए ही भास रही हैं, वह

अपना प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मपद कभी अप्राप्त नहीं। उसकी अप्राप्तिका भ्रम हो गया है। केवल अविद्यासे वह अप्राप्त-सा लग रहा है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य वृत्ति द्वरा अखण्डार्थके साक्षात्कारसे मात्र उस अविद्याकी निवृत्ति होती है; फिर वह तो मिला ही मिला है।

अविद्याकी निवृत्ति और परमपदकी वह है, यानी जहाँसे फिर आना-जाना नहीं पड़ता।

यस्मात् भूयो न जायते। आने-जानेकी क्रिया शारीरिक मानसिक होगी या दैशिक होगी। ब्रह्म तो यहीं है, उसे आने जानेकी आवश्यकता नहीं। यहाँ-वहाँका अधिष्ठान, दोनोंकी कल्पनासे अवच्छिन्न चैतन्य जो स्वयंद्रष्टा है, वह तो ब्रह्म ही है। उसमें देशकी कोई सत्ता ही नहीं।

आने-जानेमें काल भी होता है। एक कदमके वाद दूसरा कदम रखते हैं। यह पहले-पीछे कालमें होता है। स्थूल-सूक्ष्मशरीर उसमें क्रिया करनेके लिए द्रव्यरूप रहेगा। परब्रह्म परमात्मामें न देशान्तर है, न कालान्तर और न विषयान्तर। उसमें देश-काल वस्तु और क्रियाकी सत्ता ही नहीं है।

'अस्ति, भवति, करोति' जब किसी द्रष्टा द्वारा दृश्य प्रकाशित होता है तो वह प्रकाशित 'अस्ति' ही परिवर्तनशील होता है और उसीमें क्रिया मालूम पड़ती है। किन्तु जो दृङ्मात्र वस्तु है, वही सन्मात्र है अर्थात् चिन्मात्र ही सन्मात्र है। उसमें 'अस्ति, भवति, करोति' ये प्रत्यय केवल भासमान हैं, तत्त्वदृष्टिसे सर्वथा नहीं हैं। वेदोंमें मंत्र आते हैं :

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

एक-एक वस्तुका ठीक-ठीक विवेककर, विवेकबुद्धि जिसकी सारथि है और मन जिसका प्रग्रह है, जो समाहित-चित्त है, उसे रास्तेका दूसरा छोर मिल जाता है ।

इसका क्या अर्थ है ? रास्ता है किसके लिए ?

यदि हम पराये घरमें हैं तो अपने घर आनेके लिए अर्थात् निवृत्तिमार्गपर चलनेके लिए रास्ता चाहिए । अथवा अपने घरमें हैं, पर पराये घर जाना है अर्थात् प्रवृत्तिमार्गपर चलनेके लिए रास्ता चाहिए । परमात्मा सातवें आसमानमें हों तो हमें अपना घर छोड़कर जाना पड़े और हम पराये घरमें हों तो आना पड़े ।

एक आदमी था । शायद वह बड़ा अफीमची था । उसने एक-बार भारी नशा ले लिया । जब नशा चढ़ा तो वह समझने लगा : 'हम नदीके पार आ गये और घर नदीके उस पार छूट गया !

वह बोला : "हमें नाव चाहिए, नाव चाहिए । बिना नावके घर कैसे पहुँचेंगे ?"

मित्रोंने देखा कि यह तो अपने ही घरमें है और उसे नदी-पार होनेका भ्रम हो गया है ।

वह पागल आदमी बहकने लगा : "मैं शत्रुके घरमें हूँ, मैं जेलखानेमें हूँ, मुझे मेरे घर जाना है !"

मित्रोंने, घरवालोंने उसे बहुत समझाया : "तुम अपने ही घरमें हो", फिर भी वह नहीं समझता था । नावके लिए ही जिद

कर रहा था कि "हम नदी पार करके अपने घर जायँगे शत्रुके घरमें नहीं रहेंगे।" उसे रास्ता ही रास्ता दीखता था।

अब घरवाले क्या करें? उसे नावपर बिठाकर उस पार ले जायँ? नहीं, यह तरीका नहीं। उसका नशा उतार दिया जाय तो न उसे नाव लगेगी और न शत्रुका भय रहेगा। उसे न जेलका बंधन, न नदीका व्यवधान और न रास्तेकी खोज करनी पड़ेगी। वह तो अपने ही घरमें है।

कार्य-कारणकल्पनाका आधार 'सत्तया', द्रष्टा-दृश्यकी कल्पना का आधार 'चित्तया,' भोक्ता-भोग्यकी कल्पनाका आधार 'आनंद-तया' विवर्तमान हो रहा है। स्वयं ज्यों-का-त्यों सच्चिदानंद एक-रस अखण्ड आत्मवस्तु होनेपर भी अन्य रूपमें भास रहा है! तो रास्तेका अन्त क्या होगा? गन्तव्यका बाध हो जायगा या गमन-क्रियाका? कहीं जाना नहीं है तो बाध कैसे?

स्वमें आरोपित गन्तृत्वका बाध हो जायगा तो गन्ता या गमन करनेवाले अहम्‌को, जो दृश्यसे तादात्म्यापन्न है, अपने स्वरूपकी अखण्डताका बोध हो जायगा। गन्तव्य और गमन-क्रियामें देश-काल-वस्तुका व्यवधान है, वह नहीं रहेगा। जिसकी निष्ठा पक्की है, उसपर देश-काल-वस्तु यानी परिस्थितियोंके परिवर्तनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किसीने कसौटीके हेतु एकबार हिला दिया तो अच्छा ही हुआ। यदि खूँटा हिल गया तो फिरसे ठोंकनेका काम सम्भालकर करना चाहिए। स्थाणु-निखननके न्यायसे उसे एकदम पक्का कर लेना चाहिए। निष्ठा पक्की होगी तो बिना चले ही उसे रास्तेका पार मिल जायगा।

परम पद यानी अधिष्ठानसत्ता, स्वयंप्रकाश। साक्षात्कार होते ही उस पदकी प्राप्ति हो जाती है। ●

६. विवेकीकी योग्यताका वर्णन

संगति :

पञ्चम और षष्ठ मन्त्रका अभिप्राय है, अविज्ञानवान् और विज्ञानवान्का अन्तर स्पष्ट करना। मनुष्य द्वारा बुद्धिसे परहेज करनेके कारण मन बेकाबू हो दूसरेको धक्का मार, पछाड़कर स्वयं आगे जानेकी इच्छा करता है। यह अविज्ञानवान्का लक्षण है। जिसे यह मालूम नहीं कि ईश्वरने इस दुनियाकी कारीगरी किस नियमसे बनायी है, वह अविज्ञानवान् हैं।

विज्ञान यानी कर्म और फलका बोध। 'अमुक रसायनमें अमुक दवा डालने पर यह गुण पैदा कर देता है' यह मिश्रणका विज्ञान है, कारीगरी है। सब चीजोंको एकमें ले जाकर मिला देना और द्वैत भ्रमका नाश हो जाना ज्ञान है। जिस मशीनसे बुरे और भले काम होते हैं, उसीसे अपनेको असंग बनाना पड़ेगा। यही ज्ञानका सच्चा रूप है।

सप्तम और अष्टम मन्त्रमें आनन्दके साथ यह बात बतायी कि जिसके मनमें पाप और अमंगल-भावनाएँ आ गयीं उसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, संसारकी प्राप्ति होती है। संसारकी प्राप्ति होनेका अर्थ है, अपना रहनेका घर न होना, तब मनुष्य भटकता फिरता है, उसे अपने बिस्तरकी जगह बदलनी पड़ती है। संसार यानी बहती सड़क, जेलका तबादला जिसमें विवश होकर जाना पड़ता है। जहांतक जगह पाइये, खिसकते चले जाइये।

आगे मंत्रमें कहा है : **यस्तु विज्ञानवान् भवति**। एक बैलको भी जब एक खूंटेसे दूसरे घरपर–दूसरे खूँटेपर ले जाते हैं तो वहाँसे वह रस्सी तुड़ाकर भाग जाता है। घोड़ा भी अपने मालिकके घर भाग आता है। ऐसे ही ये इन्द्रियाँ भी हैं। बाहरके किसी विषयके साथ ले जाकर इन्हें बाँधनेपर भी ये नहीं रह सकतीं। ये तो लौटकर आयेंगी अपनी जगहपर। क्या तुम चौबीस घंटे लगातार किसीको देखते रह सकते हो? आँखें ऐसी बनायी ही नहीं गयी हैं। वे बिना पलक गिराये रह ही नहीं सकतीं। यह तो एक तनावकी स्थिति है। आँखोंको विषयमें लगा देना तनावकी स्थिति है। आँखोंको बंद रखना हो तो घण्टेभर बंद रख सकते हैं। विश्राम अपने स्वरूपमें स्थित होनेमे है। दूसरेके प्रेममें पड़कर यहाँ-वहाँ भटकनेमें शान्ति-विश्रान्ति नहीं है। यही जीभ, आँख, नाक, त्वचा, कान, मन, बुद्धिका विज्ञान है। ये कहीं बँधकर नहीं रह सकते और संसारका विज्ञान यह है कि बिना आत्मनिष्ठ हुए शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अपने आपको ब्रह्म जान लेनेपर भ्रमकी निवृत्ति हो गयी तो सुख-दुःख मिथ्या हो गये। फिर न शत्रु-मित्र रहे, न आना-जाना रहा न अपना-पराया।

समनस्कः। अपने मनको अपने हाथमें रखो।

सदा शुचिः । दूसरेका मिश्रण अपने साथ मत होने दो। घी-तेल, पानी-माटी तो क्या, मायाको भी अपने साथ मत मिलाओ। तब तुम पवित्र होगे। यथार्थमें तुम अद्वितीय हो तो पवित्र ही हो। अद्वितीयताका बोध होते ही तुम पवित्र हो जाओगे।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते । उस पदकी प्राप्ति हो जानेपर वहाँसे आना-जाना नहीं पड़ता। पोशाक बदलनी नहीं पड़ती। आजका वैज्ञानिक ऐसे कपड़ेकी खोजमें है जिसमें मैल न लगे, जल्दी फटे नहीं, मल न पड़े। तुम स्वयं ही ऐसे हो। तुम अपने गाँवमें ही आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी हो।

मनकी बागडोर जिसके वशमें है वही मार्गकी अन्तिम मंजिल पहुँचता है : **सोऽध्वनः परमाप्नोति** । कोई रास्ता नहीं रहेगा। मार्गका तार वह नहीं है जहाँ हमें पहुँचना है। मार्गका तार वहाँ है जहाँसे हम चलते हैं। संकल्प जिसके लिए होता है वहाँ नहीं पहुँचना है, वहाँ पहुँचना है जहाँ संकल्प उठता है। मार्गका अन्त कहाँ? जहाँसे वह शुरू होता है।

पानी पीनेकी तृप्ति होनेपर मनुष्य कहाँ पहुँचा? जिसे पीनेकी इच्छा नहीं है और जो शान्तिसे बैठा है वहाँ। प्यास लगी तो लोटा डोर, कुएंसे पानी निकालना-पीना, यह सारा बखेड़ा रहेगा। प्यास न हो तो कुछ नहीं करना होगा।

जहाँ चलकर फिर चलना शेष नहीं रहता, वह स्थान विचारपूर्वक अपनी यात्रा करनेवाले विज्ञानवान् सारथीको मिलता है। रास्तेका परला पार वह है जहाँ, जिस अधिष्ठानपर विष्णु भगवान् सोते हैं। वह विष्णु भगवान्‌को छोड़कर कहीं आता-जाता नहीं; वही परम-पद है।

अब इस ९वें मन्त्रमें संसारको पारकर विष्णुके परमपदको

प्राप्त करनेवाले विज्ञानवान् पुरुषकी योग्यताका वर्णन किया जा रहा है :

> विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
> सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धि-सारथिसे युक्त और मनको वशमें रखनेवाला होता है, वह संसारमार्गसे पार होकर उस विष्णु (व्यापक परमात्मा) के परमपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

विज्ञान = बुद्धिको अपने जीवनका सारथि बनाओ। मूर्खतापूर्ण काम मत करो। मूर्खता यानी अपनेको किसी स्थान, वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिसे बाँध देना। एक आदमीको बुखार आया तो वह बोला : 'अब नहीं सह सकते, नहीं बच सकते।'

महात्माने कहा : 'बचे हुए हो, तभी तो बोल रहे हो !'

यह बात बिलकुल प्रत्यक्ष है। अपने मनको क्यों कमजोर करते हो ?

श्रीरामानुजाचार्यने एक जगहपर कहा है : "ऐसी परिस्थिति सृष्टिमें कोई नहीं है, जिसे देखकर हमने सह न लिया हो। हमने जन्म-मृत्यु, नरक, कीड़े-मकोड़ेकी योनियाँ सही हैं। पति-पत्नी, बेटोंको मरते देखा है, धनको जाते और मित्रोंको बिछुड़ते देखा है।" यही विज्ञान है। इससे लाभ उठाओ। किसीसे अपनेको बाँध रखनेका आग्रह मत करो : **मनः प्रग्रहवान्नरः।**

विष्णुके चार पाद हैं विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। परला पाद = तुरीय। विष्णु सारी दुनियाको घेरे हुए है, वेष्टन किये हुए हैं। दृश्य-प्रपंचको जिसने अपने भीतर पुड़ियाकी भाँति लपेटकर रख छोड़ा है। जैसे घड़ेको मिट्टी, तरंगको पानी,

लपटको आग, साँसको हवा, घटाकाशको महाकाश, दृश्यको द्रष्टा, सान्तको अनन्त या सादिको अनादि घेरे है, वैसे ही अपना स्वरूप वह है जिसके बाहर कोई वस्तु है ही नहीं। विष्णुके परम-पदकी प्राप्ति होनेपर न आना-जाना रहता है, न अपना-पराया।

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।

जागृवांसः=जाननेवाला। जागो, फकीरके बालको! जागो! देखो, देखो! क्या देखें? तद् विप्रासो = उसे जानो। क्या जानें? लोग जैसे अपने प्रीतमका वर्णन करते हैं: "यह जो लाखोंमें, हजारोंमें एक है।" यह 'तत्' वह है जो लाखों, करोड़ोंमें एक है, सबमें एक ही है। वह कैसे दिखाई पड़ता है? विपन्यवः = जिसका मन काम-धंधेमें जाता है उनको उसका पता नहीं चलता। जरा उस एकताकी ओर अपनी आँख ले चलो तब मालूम पड़े।

तद् विष्णोः परमं पदम् : विष्णुके इस परमपदकी प्राप्तिकी, अनुभवकी प्रणाली क्या है? किस ढंगसे अनुभव करें? उसे ढूँढने, देखने, पानेके लिए वैकुण्ठ, गोलोक, कैलास या साकेतमें जायँ? समाधि लगायें?

वैकुण्ठ आदि देश-परिच्छिन्न और समाधि काल-परिच्छिन्न है। स्वर्ग-नरकादि क्रिया परिच्छिन्न है। प्रपंचके कालसे समाधिका और नरकसे स्वर्गका अलगाव है। परमात्माको कहाँ ढूँढे?

परमात्माके अनुभवकी प्रणाली है—आँखके भीतर अर्थ है, अर्थके भीतर मन है, मनके भीतर बुद्धि है, बुद्धिके भीतर महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वके भीतर अव्यक्त परम-सत्ता है और उसके परे प्रत्यगात्मा—उससे विलक्षण अपना आपा यानी विष्णुका परम-पद है। ●

२०. विष्णुका परमपद : आत्मा

संगति :

नवम मन्त्र में विष्णुके परमपदकी प्राप्तिके लिए आत्मसाक्षात्कार-की प्रक्रिया, प्रणाली निरूपित की गयी। अब दशम मन्त्र में इन्द्रिय, विषय, मन और बुद्धिसे भी महान् आत्माकी उत्कृष्टताका वर्णन किया जाता है, जो विष्णुका परम पद है :

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन उत्कृष्ट है, मनसे बुद्धि पर है और बुद्धिसे भी महान् आत्मा (महत्तत्त्व) उत्कृष्ट है ॥ १० ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः। यहाँ 'पर' का अर्थ है—सूक्ष्म कारण, प्रत्यक्‌ता, अन्तरंग, प्रकाशक। 'पिबर्ति इति परः'—जो सामनेवालेका पालन-पोषण करे, उसे पूर्ण करे, वह है पर।

इन्द्रियोंके गोलकोंकी ओर ध्यान दो। यह आँख है। एक बीजको धरतीमें डाल दो तो उसमेंसे गुलाबका फूल उगेगा। वह बीज गुलाबका होना चाहिए। यह शरीर धरती है। इसमें कान-नाक, आँख आदि फूल हैं। कनेरके फूलकी तरह कान हैं, कमलके फूलकी तरह आँख हैं। ये किस धातुसे हैं? धातु यानी अर्थ, तत्त्व, पंचभूत। उस पंचभूतको देखो जिनमें ये फूल खिलते हैं। पाँचों भूतोंकी शब्दादिसे प्रधानता है। रूपप्रधान तेज है, तो शब्दप्रधान है आकाश। इसके दो भेद हैं: १. ग्राह्य और २. ग्राहक। ज्ञानप्रधान ग्राहक है तो जड़प्रधान ग्राह्य, अर्थात् जड़-शब्द ज्ञानशब्द द्वारा ग्राह्य है। जिसमें चैतन्य आरूढ़ हो गया, वह ग्राहक है। आकाश कान बन गया। ग्राह्याकार और ग्राहकाकार दोनों रूपोंसे चैतन्य स्फुरित हो रहा है। एक शब्द है तो एक अर्थ। कानके द्वारा शब्द सुना जाता है। कानमें शब्द सुननेकी शक्ति और शब्दमें सुनायी पड़नेकी शक्ति दोनों चैतन्य युक्त हैं, यानी आभासयुक्त आकाशमें हैं। यही जीव है।

इन्द्रियोंसे परे 'अर्थ' है तो अर्थसे परे मन। 'अर्थ'के दो अर्थ हैं : १. अर्थशास्त्र या पैसा। 'अर्थ्यते इति अर्थः' यानी वांछाका विषय। अर्थनीय—'येन वस्तुना मनुष्यः अर्थी भवति'—जिस वस्तुको देखकर मनुष्य अर्थी या प्रार्थी हो जाता है कि 'हमें यह मिले, वह मिले।

ह्री=गतौ, ह्यर्थी इति अर्थः। जो बदलता रहे। वास्तवमें अर्थशास्त्रकी मर्यादा भी 'अर्थ'शब्दके इसी अर्थमें है। जो चलता-फिरता रहे सो अर्थ। जो घरमें गड़ा रहे वह अर्थ नहीं है। बैंक में रहे और चले, कारखाना-दूकानमें रहे और जाय। यदि उसे धरतीमें गाड़ दिया, तिजोरीमें जमा रख दिया तो वह 'अनर्थ' हो गया। एक जगहपर रहनेसे जो अनर्थका कारण बने, वही चलता-फिरता रहे तो भोग और धर्मका कारण बने, तब वह 'अर्थ' होगा। अर्थ यानी जिससे इन्द्रियोंके अंकुर निकलते हैं वह बीज, समष्टि।

श्री शंकराचार्य लिखते हैं :

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः।

जिन उपादानोंसे अपनेको प्रकाशित करनेके लिए इन्द्रियाँ घोषित हुई हैं, उन अपने इन्द्रियरूप कार्यसे अर्थ परे हैं। विषय वे हैं जो बाहर हमें शब्दादि रूपोंमें दिखाई पड़ते हैं। इन्द्रिय वह है, जिससे विषय दिखाई पड़ता है। इन्द्रियाँ जिस मसालेसे बनी हैं, उस मसालेका नाम 'अर्थ' है। इन्द्रियोंसे जो दीखता है उसका नाम अर्थ नहीं है : **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः।**

किसी भी एक धातुमें अनेक नामवाले अनेक रूप मिलते और वे अनेक कार्य करते हैं। तब उनके बारेमें सोचना पड़ता

है कि ये अकस्मात् बन गये हैं या बनाये गये हैं ? एक ही शरीरमें नाक, आँख आदि विविध ज्ञान देते हैं।

जो एक ही सत्ता मानते हैं, उन लोगोंसे पूछिये कि उनके मतमें सृष्टिमें चाहे जड़रूप हो या चेतनरूप, ज्ञानके ये पाँच प्रकार कैसे पैदा हो गये ? क्या अपने आप ही ? तब सब मनुष्योंके पाँच ही ज्ञान क्यों ? चार या छह क्यों नहीं ? इसीके लिए 'इन्द्रिय' शब्द है। यह इन्द्रकी माया है, इसलिए इसका नाम 'इन्द्रिय' है :

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

अर्थात् इन्द्र अपनी मायासे अनेक रूप दीखता है। जैसे कोई जादूगर मंचपर आकर शेरके रूपमें प्रकट हो जाय। जादूगरने जैसे शेरकी पोशाक पहन रखी है वैसे ही इन्द्र यानी परमात्मा मायाका पँचरंगा चोला पहनकर हृदयमंचपर प्रकट हो गया है।

जब एक सोनेसे अनेक जेवर बनाते हैं तो सुनारका कर्म उसमें हेतु होता है। एक ही साँचेमें सोना ढालते जाओ तो कंगन, कुण्डल, हार निकलते आयेंगे। उसमें सुनारका प्रयत्न है या नहीं ? कुम्हारके प्रयत्नसे एक ही माटीसे अनेक खिलौने, अनेक बर्तन निकलते हैं। लोहारके प्रयत्नसे एक ही लोहेसे अनेक औजार निकलते हैं। ऐसे ही यह इन्द्रका प्रयत्न है कि हमारी तरह-तरहकी इन्द्रियाँ बनी हैं।

हाथसे कर्म होता है। उसका देवता इन्द्र है। कर्मोंके अनुसार इन्द्रियाँ बनीं। देखनेकी इच्छा पूरी करनेके प्रयत्नसे पंचभूतमें आँख बनी; सुननेके लिए कान, छूनेके लिए त्वचा, सूँघनेके लिए नाक और स्वादके लिए जीभ बनी। बिना प्रयत्नके पंचभूतसे पाँच प्रकारके गोलक नहीं बन सकते।

ये तरह-तरहकी इच्छाएँ कहाँसे आयीं ? पहलेसे संस्कार हो, तभी इच्छाका उदय होता है। पहलेके संस्कारका अर्थ क्या है ? आदिम संस्कार तो किस समयके ? प्रथम-कालका विचार करें। प्रथम काल पकड़ लेंगे तब प्रथम देश और प्रथम वस्तु भी पकड़में आ जायगी। कालका भूत यानी आदि पकड़में नहीं आता। संस्कार, इच्छा और कर्म ये ही इन्द्रियोंके निर्माणके हेतु हैं। इसीलिए इन्द्रियपदकी व्युत्पत्ति व्याकरणकी रीतिसे होती है **इन्द्र सृष्टं दत्तं युष्टं इन्द्रियम्।** कर्मके देवताने जिसे बनाया, दिया, जुड़ गया वह।

विषय जिससे मालूम पड़ते हैं, वे इन्द्रियाँ हैं और विषयोंमें जिससे परिवर्तन करते हैं उसका भी नाम है 'इन्द्र'। हाथसे पकड़ लिया, इधरसे उधर रखा। गणेशका चित्र दीखता है, उसे हाथसे उलट दिया तो दीखना बंद हो गया; फिर सीधा किया तो दीखने लगा। पाँवसे चलना, हाथसे पकड़ना, जीभसे बोलना भी इन्द्रिय हैं। ये जिनसे बनती हैं, उनकी ओर दृष्टि डालें।

स्थूल पंचभूतोंसे तो ये नहीं बनतीं। स्थूल पंचभूतोंमें जो शब्दादि पाँच गुण हैं, उन्हें तो इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं। लेकिन जिनमें शब्दादि मालूम पड़ते हैं, उन्हीं भूतोंके दो भेद हैं : ग्राह्य यानी आश्रित विषय और ग्राहक यानी इन्द्रिय। ग्राहक इन्द्रियका अर्थ है 'पंचतन्मात्र'। 'तदेव इति तन्मात्रम्'—केवल वही-का-वही।

हम यह कागज देखते हैं। इस कागजमें तो स्पर्श, गंध, रूप, स्वाद, शब्द पाँचों हैं। लेकिन इन्द्रियाँ तो एक-एक विषयको ही चखती हैं। ग्राहक इन्द्रियमें केवल ज्ञानात्मक रस है। घ्राणात्मक ज्ञान यानी नासिका। पाँचोंकी परख एक साथ एकमें नहीं होती। क्यों ? इन्द्रियमें एक-एक भूत है और चित्तमें पाँच क्यों है ? जीभ गंध क्यों नहीं बताती ? नाक स्वाद क्यों नहीं बताती ? आँखें

स्पर्श क्यों नहीं बताती ? त्वचा रूप क्यों नहीं बताती ? विषयमें तो पाँचों मिले हैं। यह चित्र पंचीकृत भूतसे बना हुआ है, जब कि इन्द्रियाँ अपंचीकृत पंचमहाभूतसे बनी हैं।

तन्मात्र=जहाँ पृथ्वी पंचीकृत न हो, अपंचीकृत हो। उसमें भी तीन अंश हैं; सात्त्विक, राजस और तामस। सात्त्विक पृथ्वी तन्मात्रसे 'ज्ञानात्मक' इन्द्रियाँ बनतीं हैं, राजस पृथ्वी-तन्मात्रसे 'कर्मात्मक' इन्द्रियाँ बनती हैं और तामस पृथ्वी-तन्मात्रसे यह 'द्रव्यात्मक' शरीर बनता है। पंचीकृत पृथ्वीसे यह शरीर बना है और पंचीकृत पृथ्वीसे ये गंधादि विषय बने हैं। अपंचीकृत पृथ्वीके सात्त्विक अंशसे 'मन'-इन्द्रिय बनी हैं। उसमें भी कर्मेन्द्रियमें भेद होता है।

मन भी अपंचीकृत भूतसूक्ष्मसे ही बनता है। इन्द्रियोंमें अपंचीकृत पंचभूतका एक-एक सात्त्विक अंश रहता है: पृथ्वीका नाकमें, जलका जिह्वामें, लेकिन मनमें पाँचोंके सात्त्विक अंश हैं। इसीलिए मन पांचोंसे प्रेम करता है और उनके बिना सो जाता है, यह मनकी स्थिति है।

'पर'का अर्थ है इन्द्रियोंसे परे—इनके जो उपादानभूत अपंचीकृत पंचभूत हैं। इन्द्रियोंकी अपेक्षा ये अर्थ सूक्ष्म हैं। विभु = महान्, बड़ा। प्रत्यगात्मभूत = अंतरंग होते हैं, वैसे ये पंचभूत–अर्थ इन्द्रियोंसे अन्तरंग हैं।

अपंचीकृत पंचभूतके स्थूलांशमें इन्द्रियोंके तामस-गोलक हैं, सूक्ष्मांशमें राजस-क्रिया और सात्त्विकांशमें ज्ञान। मनमें केवल सात्त्विकांश है और बारी-बारीसे पाँचों आते-जाते रहते हैं। मन ज्ञान ही है। विषयभेदसे ज्ञानग्रहणके लिए पाँच प्रकारका हो रहा है।

अर्थेभ्यश्च परं मनः। इन अर्थोंसे परे मन है। मन संकल्पात्मक है। महान्‌में, प्रत्यगात्मामें चलो। इन्द्रियोंसे बड़ी चीज और उनके भीतर 'अर्थ' है, अर्थसे बड़ी चीज और उसके भीतर 'मन' है। विषयोंके पास इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंके पास अर्थ तो अर्थके पास है मन। इसलिए यह 'प्रत्यगात्मा' है। इसी देशमें हमें विष्णुके परमपदकी प्राप्ति हो जाय, इसलिए यह प्रसंग है।

मनसस्तु परा बुद्धिः। मन क्या है? मन कहीं आता-जाता नहीं। मन वृंदावन चला गया? नहीं तो क्या वृन्दावन मनमें आ गया? नहीं! फिर क्या हो गया वृन्दावनकी याद आनेमें? जैसे बीजसे पेड़ प्रकट हो जाता है, वैसे ही मनमें जो वृन्दावनका संस्कार था वह प्रकट हो गया। पहलेसे भरे संस्कारोंके प्रकटन-स्थानको 'मन' कहते हैं। संस्कारसहित ज्ञानसे संस्कारानुसार स्फुरणाएँ होती रहती हैं, जैसे बीजसे अंकुर निकलते रहते हैं।

'वुद्धि' क्या है? वह तो और भी सूक्ष्म है। वह मनसे भी परे, भीतर और प्रत्यगात्माके पास है। यह कैसे? आपके मनमें जितनी भी बातें आती हैं, सब पहलेसे जानी हुई ही आती हैं या अनजानी? न तो वृन्दावन मनमें आया और न मन वृन्दावनमें गया। पहलेसे विद्यमान वृन्दावनका संस्कार ही प्रकट हुआ।

मनमें वेश्यालय, चण्डूखाना, जूआ, दूकानका संस्कार क्यों आता है? इसीलिए कि पहलेसे वह भरा हुआ था। मनके दोनों काम हैं—दूकानको प्रकट करना और वृन्दावनको प्रकट करना। हमें कहाँ चलना है, वृन्दावन या दूकान? इसीके निर्णयको आवश्यकता है। मनमें तो अच्छी और वुरी, घटिया और बढ़िया, चण्डूखाने और वृन्दावन दोनोंकी याद आती है।

अदृष्टादश्रुतात् भानात्व भाव उपजायते।

जो वस्तु कभी देखी-सुनी नहीं गयी, उसके बारेमें कोई भाव मनमें कभी उदित नहीं हो सकता। वृन्दावनकी खूब याद आये तो समझना चाहिए कि आप पूर्व-जन्ममें वृन्दावन गये हैं और उसके संस्कार आपके मनमें बैठे हैं। इसी तरह चण्डूखानेकी बात भी समझनी चाहिए। कालिदासने कहा है :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुखी भवति चेत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

किसीको सुन्दर देखकर अथवा किसीके मीठे शब्द सुनकर यदि सुखी प्राणीके हृदयमें भी यह उत्सुकता जाग उठे कि यह वस्तु हमें न मिले तो बात क्या है? तुम तो सुखी हो, मजे में हो! अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपमें मस्त हो, फिर तुम्हें किसीको देखने-सुनने मिलनेकी इच्छा क्यों है? स्पष्ट है कि अनजानमें ही उस व्यक्ति, वस्तुका सस्कार भीतर बैठा है। दूसरे जन्ममें हमारा-तुम्हारा जो प्रेम था, उनके संस्कार चित्तमें बैठे हैं और वे ही उदित होते हैं, हम उन्हें छोड़ नहीं पाते।

अब निर्णयकी आवश्यकता हुई। स्थिर ज्ञान तभी होता है, जब कि निर्णय होता है। मनमें उठनेवाली वस्तुओंके बारेमें हमारी बुद्धिमें बोध है। व्यष्टिमें विषयोंका ज्ञान होता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं, उनके भीतर अर्थ, अर्थके भीतर मन और मनके भीतर बुद्धि होती है। यह सब तो शरीरके भीतर ही है। अब उसके ऊपर उठो।

बुद्धेरात्मा महान् परः। सबको यह बुद्धि हड्डी-मांस-चामके पिंजड़ेमें बंद है। जरा इसके बाहर निकलो। पिंजड़ेमें चिड़िया फँस गयी है। महात्मा लोग स्वतन्त्र होनेकी शिक्षा देते हैं,

जिससे तुम्हारी दीनता और बंधन छूट जायँ। यह बुद्धिकी भी एक समष्टि ही है। भूत-सूक्ष्मका जो सात्त्विक अंश है, उसमें जहाँ-जहाँतक व्यष्टि-इन्द्रियोंका सम्पर्क है, वहाँतक उसे अलग-अलग 'मन' और अलग-अलग 'बुद्धि' कहा जाता हैं। व्यष्टि इन्द्रिय और मनका देहाभिमान छोड़कर बुद्धिकी ओर दृष्टि डालें तो वह महान् सूक्ष्म और प्रत्यगात्मा भी है। वह बुद्धि, जिसमें अपने-परायेका कोई भेद नहीं है। इसे दैवत दृष्टिसे चैतन्यकी प्रधानताके कारण 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं, आराध्य-दृष्टिसे 'ईश्वर' तो भौतिक दृष्टिसे जड़की प्रधानतासे 'महत्तत्त्व' कहते हैं। वही एक-एक ब्रह्माण्डमें देवतावादीके लिए अलग-अलग होनेपर 'ब्रह्मा' है और वही एक-एक शरीरमें बुद्धि है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी समष्टिमें वही महत्-तत्त्व व्याप्त है। उस समष्टिमें स्थित चैतन्य है हिरण्यगर्भ। उसीके बच्चे ब्रह्माण्ड यानी एक-एक अण्डेमें पैदा होनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं। हिरण्यगर्भमें ऐसे अनगिनत, करोड़ों अंडे हैं। महत्तत्त्वके संयोगसे प्रकृतिकी बेटी महत्तत्त्वरूपा समष्टि बुद्धि तो उसमें प्रतिबिम्बित आत्मचैतन्यका नाम है 'हिरण्यगर्भ'। हिरण्यगर्भ बुद्धिके संयोगसे कोटि-कोटि अण्डे देता है। उन अण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ये तीनों हैं। प्रत्येक शरीरमें एक-एक जीवात्मा है। वास्तवमें न तो प्रतिशरीरमें अलग-अलग जीवात्मा का चैतन्य है, और न अलग-अलग ब्रह्माण्डका चैतन्य है। न ब्रह्माण्डमें अलग-अलग ब्रह्मा, विष्णु-महेशका चैतन्य है और न महत्तत्त्वमें हिरण्यगर्भका चैतन्य। उससे परे अव्यक्त यानी माया है। अव्यक्त महत्-तत्त्वसे बड़ा और सूक्ष्म भी है तथा प्रत्यगात्मा भी है। उसमें महत्तत्त्व कभी डूब जाता है कभी प्रकट होता है।

महत्तत्त्वकी कारण अव्यक्त प्रकृति है और हिरण्यगर्भकी कारणताको 'ईश्वर' कहते हैं। उस अव्यक्तमें स्थित जड़ता और कार्य-कारणता को काट देनेपर नित्य-शुद्ध-मुक्त ब्रह्ममें न अव्यक्त जड़ है, न अव्यक्तावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर। न महत् तत्त्व है, न हिरण्यगर्भ। न कोटि-कोटि अंडे हैं, न ब्रह्मा-विष्णु-महेश और न उनमें रहनेवाले कोटि-कोटि शरीररूप कीटाणु हैं जिनमें ये जीव हैं। अनंत, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त। **अव्यक्तात्पुरुषः परः**—अव्यक्त बीजात्मक है, उसे वेदान्तकी भाषामें भूतसूक्ष्म कहते हैं।

न विद्यते केनापि प्रमाणेन। सांख्यमें जिस प्रकृतिका वर्णन है वह यह अविद्या, माया, अज्ञान नहीं है। वेदान्तमें प्रतिपादित यह बीजात्मक सत् है। यह सचैतन्य होनेके कारण ईश्वररूप है। ईश्वर और ईश्वरका शरीर अव्यक्त है। हिरण्यगर्भ और उसका शरीर महत्तत्त्व है। त्रिगुण और उसका अभिमानी अहंकार है।

इसके बाद विराट् आता है। इसके विचारकी पद्धति है: विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वर। बीजसहित जो सच्चिदानन्द है, वह ईश्वर है। महत्तत्त्व सहित जो सच्चिदानन्द है, वह है हिरण्यगर्भ। त्रिगुणकी अभिव्यक्ति होनेपर जो सच्चिदानन्द है वह विराट् है। फिर उस विराट्में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और उनमें अनन्तकोटि ब्रह्मा-विष्णु-महेश! फिर उनमें अनन्त कोटि शरीर। असलमें जो चैतन्य मूल कारणमें (अविद्या-माया-अव्यक्तमें) है, वही इस शरीरमें भी है। उस अखण्ड चैतन्यकी दृष्टिसे मायासे लेकर इस शरीरपर्यन्त सब बाधित हैं, मिथ्या हैं। उस अखण्ड, चैतन्य-ब्रह्ममें यह सब कुछ है ही नहीं। ●

२२. पुराण ही परा गति

संगति :

दशम मंत्रमें इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि और महत्तत्त्वकी उत्तरोत्तर अन्तरंगता बतायी गयी। इसी शैलीमें अब महत्तत्त्वसे अव्यक्त और अव्यक्तसे भी परे पुरुष और वही परागति है; यह समझाया जाता है :

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥११॥

महत्तत्त्वसे अव्यक्त (मूलप्रकृति) पर है और अव्यक्तसे भी पुरुष पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही [सूक्ष्मत्वकी] पराकाष्ठा (हद) है, वही परा (उत्कृष्ट) गति है ॥ ११ ॥

यह पुरुष आत्मा है। उपनिषद्में बताया है कि आत्माका न कोई पर है, न अपर। उससे कोई बड़ा भी नहीं है और छोटा भी नहीं। उससे कोई बाहर भी नहीं है और भीतर भी नहीं। उससे न कोई पहले है और न पीछे। उससे न कोई स्थूल है, न सूक्ष्म। यह पुरुष ही अखण्ड वस्तु है, अपरिच्छिन्न है, यही पराकाष्ठा, परागति, विष्णुका परम पद है। इसकी प्राप्ति होनेके बाद

न आना-जाना है, न नरक-स्वर्ग है। न ब्रह्मलोकमें जाना है, न जन्मान्तर है। सर्वथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्मपनमें जो अवस्थान है, वही अपने स्वरूपका ज्ञान है। अर्थात् अपने स्वरूपको विष्णुके परम-पदके रूपमें जानना। विष्णुका परमपद तत्-पदार्थ है, पुरुष त्वं-पदार्थ है। दोनोंकी जो एकता श्रुतिने बतायी, वही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यका अर्थ है।

जो महान् आत्मा है, वह कौन है? ब्रह्मसूत्रके महाभाष्यमें जिसको 'जीव' कहा गया है और यहाँ जिसे 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं और संपूर्ण बुद्धियोंके उपादान भूततत्त्वमें जो आरूढ़ चैतन्य है, वह **महतः परमव्यक्तम्** = 'माहानात्मा बुद्धेः परमुच्यते।' क्योंकि अव्यक्तसे, सबसे पहले ईश्वरसे हिरण्यगर्भ और हिरण्यगर्भसे विराट् इसी प्रकार ईश्वरमें माया, मायामें महत्प्रकृति है। उस मायासे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहंकारतत्त्व प्रकट होता है। इसी विराट्के तीन भेद हैं: ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें बैठते हैं। अहंकारकी प्रधानतासे रुद्र, महत्तत्त्वकी प्रधानतासे ब्रह्मा औरअव्यक्त प्रकृति-मायाकी प्रधानतासे विष्णु हैं।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। इस महत्-तत्त्वसे परे क्या है? अव्यक्त है, जिसमें सारे जगत्का बीज है। अर्थात् उसमें नाम-रूपका व्याकरण नहीं बना है। व्याकरण यानी विशेष आकार-को प्राप्त करानेकी रीति। 'व्याक्रियन्ते = विशिष्टं आकारम् आपाद्यन्ते शब्दा अनेन इति व्याकरणम्'—व्याकरण वह है जो शब्दोंको विशिष्ट आकार प्रदान करे। व्याकरणकी रीतिसे 'भू' धातुको विशिष्ट आकार दिया गया तो बन गया: 'भवति, भवतः, भवन्ति, भूतम्, भवान्, भव, भव्यम्, भवनम्, भाव्यमानः, भाव्यते, बभूव, अभवत्।' ये सब रूप कहाँसे बनेंगे? व्याकरण

विचित्र रूप दे देता है। यदि व्याकरणके पहले इतने शब्द नहीं निकले हैं तो क्या है? 'भू' धातु है।

इसी प्रकार भू-धातुके समान जगत्की जो मूल धातु है, उस मूलधातु प्रकृतिमें, मायामें व्याकरण लगता है, व्याकरणसे सूत्र-सूत्रात्मा बनते हैं (सूत्रात्मासे फिर वृत्ति बनती है) लेकिन व्याकरण बननेसे पहले सबकी मूलधातु एक ही होती है और उसमें सारे शब्द समाये रहते हैं।

रम् धातुमें 'रामः, रामौ, रामाः' भी और 'रमणम्, रमणे, रमणानि, रन्तव्यम्, रममाणः' भी समाया है। तद्धित, कृदन्त व्याकरण लगकर फिर धातुको फैलाते हैं। इसी प्रकार इस जगत्में जो पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष हैं वे सब मूलधातुमें हैं।

जब व्याकरण लगता है—भगवान् जब संकल्प करता है, तब उसके नाम-रूप अलग-अलग हो जाते हैं। वास्तवमें 'व्याकरण' शब्द आया कहाँसे? श्रुतिमें जो 'व्याकरणानि' क्रियापद है, उसीसे व्याकरण निकला। जगत्की मूलधातुको कहते हैं अव्यक्त। संपूर्ण जगत्के जितने नाम-रूप हैं वे सब उसीसे निकलते हैं। विशेष-विशेष नाम-रूप (व्याकरण) लगनेके पूर्व जो तत्त्वरूप है और सम्पूर्ण कार्य-कारणशक्तिका जिसमें समाहार है, उस शास्त्रमें कहीं अव्यक्त, अव्याकृत, आकाश, अज्ञान, प्रधान आदि कहते हैं। संपूर्ण जगत्का वह बीज परमात्मामें ओतप्रोतभावसे स्थित है, जैसे घड़ेमें मिट्टी और मिट्टीमें घड़ा। कपड़ेमें सूत और सूतमें कपड़ा। वटबीज बहुत ही छोटा, पोस्तेके दाने जैसा होता है। पोस्ताका दाना यानी खसखस। खसखससे इत्र बनता है, हलुवा और मोहनभोगमें उसे डालते हैं।

यदि खसखसके समान छोटेसे एक वटबीजको देखकर कोई

यह निर्णय करे कि इसमें बड़का तना, बड़की जड़, जटा, डालियाँ, पत्ते, लाल फूल, फल ये सब अलग-अलग कहाँ हैं तो क्या मालूम हो सकेगा ? नहीं, तीन-तीन फर्लांग तक फैले बड़के पेड़को हमने देखा है। 'कबीर-वट' तो उससे भी बड़ा है। एक छोटेसे वटबीजमें इतना बड़ा विस्तार कहाँ छिपा रहता है और कैसे उसके ये सारे अंग निकल आते हैं, यह हमें मालूम नहीं पड़ता। इसी प्रकार देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न परमात्माके एक कल्पित देशमें वटबीजकी तरह इस जगत्का विस्तार है; वस्तुतः है नहीं। अव्यक्तमें कितने प्रकारके नाम-रूप, अनन्त कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं। इसीलिए 'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग परमात्मा और प्रकृति दोनोंके लिए है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः।

तस्मात् अव्यक्तात् परः अव्यक्तो भावः। प्रकृतिरूप अव्यक्तसे परे है परमात्मभाव : (१) बीजसहित अव्यक्त और (२) बीजरहित अव्यक्त। बीजसाहित्य-कल्पनासे युक्त अव्यक्त यानी माया, प्रकृति और बीजराहित्य-कल्पनासे युक्त अव्यक्त ब्रह्मवस्तु। उसे 'प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्म' कहते हैं। वास्तवमें यह साहित्य-राहित्य दोनों कल्पित हैं, औपाधिक हैं। इसलिए जिसकी दृष्टिमें एक अद्वितीय तत्त्व है, उसमें न बीजका साहित्य है, न राहित्य। यदि बीजका राहित्य ही परमात्मा हो तो निरन्तर समाधि लगानी पड़ेगी और यदि बीजका साहित्य ही परमात्मा हो तो निरन्तर विक्षिप्त रहना पड़ेगा। किन्तु न समाधि है, न विक्षेप; न स्वर्ग, न वैकुण्ठ और न नरक है। न चींटी है न ब्रह्मा! जिसमें सब कुछ भास रहा है वह है :

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

अव्यक्त शब्द आत्माके लिए भी है :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।

अव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः में अव्यक्त एक प्रकृति और एक परमात्माके लिए है। अव्यक्त यानी आत्मा, परमात्मा, प्रकृति। प्रकृतिमें बीजरूपता है, जीवमें बीजवत्त्व है और दोनोंके अभावसे उपलक्षित परमात्मा है।

'सारी सृष्टिको जो जान रहा है वह कौन है? सारी सृष्टिके कर्ताको जान रहा है वह कौन है?' —एक जिज्ञासुने पूछा।

महात्मा हँसे और बोले : 'वह तो तू ही है।'

जिज्ञासु : 'हम हैं?'

महात्मा : 'अरे भाई, तू नहीं तो मैं हूँ।'

जिज्ञासु : 'क्या आपको मालूम है?'

महात्मा : 'इतना भी विश्वास नहीं? पहले तो हमने तुम्हें बताया, न माना तो हमें बताया। वह भी न मानो तो? तब तो 'वह'! वास्तवमें जिसको 'तुम' कहा था, उसीको 'मैं' और 'वह' भी कहा। पहले ही समझ जाते तो तुम्हींको बोलते। न समझो तो प्रत्यक्ष गुरुको मानो। वह भी न समझो तो परोक्ष ईश्वरको मानो।

पुरुष कैसा है? पर है। यहाँ जितना 'पर' शब्दका प्रयोग किया गया—इन्द्रियसे परे अर्थ यानी इन्द्रियसे विशाल, सूक्ष्म और इन्द्रियका प्रत्यगात्मा अर्थ; अर्थसे परे मन यानी अर्थसे महान्, सूक्ष्म और अर्थका प्रत्यगात्मा मन; मनसे परे बुद्धि यानी मनसे महान्, विशाल, सूक्ष्म और मनका प्रत्यगात्मा बुद्धि; बुद्धिसे

परे महत्तत्त्व यानी बुद्धिसे विशाल, महान्, सूक्ष्म और बुद्धिका प्रत्यगात्मा महत्तत्त्व; उससे परे प्रकृति (वेदान्तमें 'प्रकृति'का कम प्रयोग होता है, 'भूतसूक्ष्म'का प्रयोग होता है)—उससे भी अन्तरंग बीजात्मक महान्, विशाल; सूक्ष्म प्रत्यगात्मा अपना स्वरूप है पुरुष !

पुरुषको पुरुष क्यों कहते हैं ? पुरिशयत्वात् = नवद्वारवती पुरीमें शयन करनेके कारण। इसका असली घर यही है। परमात्मासे मिलना हो तो कहाँ जायँ ? उनकी बैठक कहाँ है ? हृदयपुरी, जैसे भारतवर्षकी सरकार दिल्लीमें है। वह जहाँ-जहाँ कानून, फौज, पुलिस, संविधान है वहाँ-वहाँ रहती है। यदि सरकारसे मिलना हो तो दिल्ली जाना पड़ेगा—वह उपलक्षित स्थान हो गया। इसी प्रकार परमात्मा सर्वदेश, काल और वस्तुमें है। किन्तु उसका उपलक्षित स्थान हृदय होनेके कारण उसकी प्राप्ति हृदयमें ही हो सकती है।

छांदोग्य-उपनिषद्में हृदयके लिए 'ब्रह्मपुर' नाम प्रयुक्त है : **ब्रह्मपुरं वेश्म**। कहाँ है ब्रह्मपुरी ? कहाँ है रामपुरी, साकेत-अयोध्या ? कहाँ है कृष्णपुरी, गोलोक-वृन्दावन ? कहाँ है विष्णु-पुरी-वैकुंठ ? ब्रह्मपुरी मेरुशिखर पर है, शंकरपुरी कैलासशिखर-पर है, पर ब्रह्मपुरी तो यहीं है अपने हृदयमें। ब्रह्मकी क्या कोई जन्मतिथि है ? नहीं, प्रत्येक क्षण ही ब्रह्मकी जयन्ती है। 'मैं' आत्मा-ब्रह्म ही है। जिस क्षण ज्ञानका जन्म होगा वही उसकी जयन्ती होगी। असलमें जन्म ब्रह्मका नहीं, अविद्याकी निवृत्तिके लिए ज्ञानका जन्म होता है।

'पूर्णत्वात् वा पुरुषः।' पुरुषको पुरुष इसलिए कहते हैं कि

वह पूण है। ऐसी कोई वस्तु नही, जिसमे वह अनुगत न हो, व्यतिरिक्त न हो। उसमे अन्वय-व्यतिरेक कल्पित है यानी अननुगत और अव्यतिरिक्त है। अनुगत होता है कारण। घडेमे मिट्टी अनुगत है और घडेसे मिट्टी व्यतिरिक्त है। कार्य-कारण-भावापन्न वस्तुमे अन्वय-व्यतिरेक होता है, किन्तु जो पूववस्तु होती है उसमे न अन्वय रहता है, न व्यतिरेक। घडा उत्तरावस्था है, तो मिट्टी पूर्वावस्था। कालका ऐसा सबध ब्रह्ममे है ही नही। देश-काल-वस्तु तीनोमे अनुगत रहकर, तीनोसे व्यतिरिक्त रहकर, जिसम य तीनो, कल्पित हैं, उसीको पुरुष कहते है।

'पुरूनि बहूनि नद्यति'—जो बहुतोको नष्ट कर देता है, उसका नाम पुरुप है। पुरुष वही है जो अकेला है। जिसको सहारा लेनेकी आवश्यकता पडती है, वह लगडा है। आँखकी कमजोरीके कारण चश्मा लगाना पडता है। जिसको अपने रहने-जाननेके लिए दूसरेकी मदद लेनी पडती है, वह पूण कहाँ ? परमात्माको अनन्तकालतक जीवित रहनेके लिए कालकी अपेक्षा नही है। सब जगह भरे रहनेके लिए देशकी भी जरूरत नही। उसे सत् होनेके लिए किसी धातु या उपादानकी अपेक्षा नही। जाननेके लिए किसी कारणकी आवश्यकता नही। उसको होनेके लिए किसी आश्रयकी आवश्यकता नही है। अतएव परमात्माका अखण्ड स्वरूप है।

विषय और इन्द्रियसे लेकर पुरुषतक 'परे-परे' बताया। अब बताओ, पुरुषसे परे क्या है ?

पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ।

हमसे अलग कोई यदि हो तो दो तरहसे हो सकता है सामने या पीछे, दाहिने या बाँये, ऊपर या नीचे। परमात्मा हमारे सामने

आ जाय तो वह दृश्य हो जायगा। साक्षीभास्य होगा तब भी वह दृश्य हो जायगा। सुषुप्ति भी हमारी साक्षीभास्य ही है। स्वप्न अस्थिर और चंचल है, सुषुप्ति अभावात्मक, अंधी है। क्या आप परमात्माको ऐसे ही जाग्रत्की तरह जड़, स्वप्नकी तरह चचल या सुषुप्तिकी तरह अंधा देखना चाहते हैं? परन्तु परमात्मा सामने तो रहा नहीं।

पीठ पीछे परमात्मा दीखेगा? नहीं; हम जहाँ हैं उससे और भीतर अन्तरंग, पीछे आओ तो वही दशा होगी। कभी दीखता है या नहीं? न दीखता हो तो केवल कल्पना ही रहेगी या कोई हमारी पीठ पीछे है। वह हमेशा परोक्ष ही रहेगा। परोक्ष वस्तुमें क्या प्रमाण, क्योंकि अनुभवमें तो है नहीं? यदि ईश्वर है तो वह हमारे अनुभवका विषय बने और अनुभवका विषय बना तो जड़ हो जायगा। परिच्छिन्न, चंचल, अंधा हो जायगा। यदि वह अनुभवका विषय न हुआ, हमेशा परोक्ष रहा तो कल्पित रह जायगा।

वह दाहिने या बाँये होगा तब भी दृश्य होगा। तब वह बराबरीका, समसत्ताक होगा, पूज्य कहाँ रहा? उसमे उपास्यत्व कहाँसे आयेगा?

तो फिर ईश्वर कहाँ रहता है? ईश्वरके रहनेकी एक ही जगह है।

एक नास्तिकने पूछा : "ईश्वर है?"

मैंने कहाँ : "हाँ।"

नास्तिक : "तो बताओ।"

मै : "यह मैं ईश्वर हूँ।"

वह : "तुम कैसे ईश्वर हो?"

मै "मै ही ईश्वर हूँ।"

वह "तो सृष्टि बनाकर दिखाओ।"

मै "तुमसे किसने कहा कि ईश्वर सृष्टि बनाता है? पहले तुम सिद्ध करो कि ईश्वर सृष्टि बनाता है तब मै सिद्ध करूँगा कि म ईश्वर हूँ, मैने सृष्टि बनायी, तुम्हे मालूम है कि ईश्वर सृष्टि बनाता है, तो ईश्वर सिद्ध ही है। यदि तुम्हे मालूम नही तो क्यो कल्पना करते हो? मुझ साक्षीका, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तका ही नाम ईश्वर है। तुम क्यो ईश्वरकी कल्पना करते हो?"

आत्मा ईश्वर है यह बिल्कुल अकाट्य है।

श्रीविनोबाजीने सेठ गोविन्ददाससे और काका कालेलकरसे एक प्रश्न पूछा था, जिसका दोनोने एक ही उत्तर दिया। हमे भी दिखाया। हमारे पास भी वे ही प्रश्न थे। दोनोने उत्तर दिया कि आत्माके रूपमे ईश्वरकी सत्ता स्वत सिद्ध है, अकाट्य है। इसे कोई किसी प्रमाणसे काट नही सकता। यदि ईश्वर है तो आत्माके रूपम है।

पुरुषात् न पर किञ्चित्। पुरुषके पहल कुछ नही है, बादमे कुछ नही है, क्योकि पहले-बाद काल है और वह विषयको देखकर बुद्धिमे कल्पित होता है। लम्बाई-चौडाई और वजन भी वस्तुको देखकर बुद्धिम कल्पित हाता ह। परमात्मामे देश-काल-वस्तु तीनो नही हैं। पुरुषसे, परमात्मासे परे कोई चीज नही है, वह बिलकुल अद्वितीय है **सा काष्ठा सा परा गति**। यही आखिरी चीज है।

तद्विष्णो परम पदम्। परा गति = अध्वन पारम्। पदम् = पराकाष्ठा। विष्णुका परम पद = पराकाष्ठा कौन? आत्मा।

इसके बाद न कुछ लेना-देना है, न कही आना-जाना है, सवत्र आत्मा ही आत्मा, ब्रह्म ही ब्रह्म, असग ही असग है। ●

१२. आत्मान्वेषणकी शैली

सगति :

ग्यारहवें मन्त्रमें वर्णन किया गया कि परमात्मा यानी पुरुषसे परे कुछ है ही नहीं। पुरुष ही सबसे परे है

नापर नापरमस्ति किञ्चित् ।

श्वेताश्वतरउपनिषद्में कहा गया है :

नासतः परं नापरमस्ति किञ्चित्।

परमात्मासे न कुछ परे है, न उरे। वह न पर है, न अवर। सबसे परे भी वह है और उरे भी वह।

हस्तग्राह्यवत् आत्मानं दर्शयति। आत्मा-परमात्मा तो ऐसा है कि उसको हाथसे मुट्ठीमें पकड़ लें, हृदयसे लगा लें, जीभसे चाट लें, आँखोंसे देख लें; क्योंकि उसके सिवा कुछ है ही नहीं। फिर मिलता क्यों नहीं? जान-पहचान न होनेके कारण। परमात्मा तो एक क्षणके लिए भी तुम्हें नहीं छोड़ता। वह अपने दोनों हाथ फैलाये तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है कि 'आओ।'

प्रेमका स्वरूप परमात्मा है। ज्ञानका स्वरूप परमात्मा है। अस्तित्व-सत्ता परमात्मा है। प्रेम और प्रकाश भी उसीमें है।

कटुक वचन मत बोल रे
तोहे पिउ मिलेंगे।
जीति बाजी मत हार रे
अब पकड़ हरि।
घूँघटके पट खोल रे
तोहि पिउ मिलेंगे।

यह पर्दा फाड़ दो। यह आवरण भंग कर दो! यह दुराव मिटा दो। वह तो जने-जने है। वने-वने, रणे-रणे, कणे-कणे वही वह है, पर छिप गया है। १२वें मन्त्रमें उसको ढूँढने-देखने, जाननेकी शैलीका निरूपण किया गया है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥१२॥

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्मबुद्धिसे ही देखा जाता है ॥ १२ ॥

एष आत्मा सर्वेषु भूतेषु गूढः। जो नाना आकृतियाँ, प्रकृतियाँ विकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं, उन चिड़िया, चींटी आदिमें परमात्मा छिपा है; किन्तु तुम चींटीको देखते हो, परमात्माको नहीं। जैसे बच्चा मिठाईकी शक्लको देखता है, शक्करको नहीं। दीवालीमें खांडके खिलौने घरमें आते हैं। हाथी, घोड़ा, गधा, स्त्री-पुरुष, पनिहारिन, कहारिन भाँति-भाँतिकी उसमें आकृतियाँ बनती हैं। बच्चोंमें लड़ाई होती है कि "हम हाथी लेंगे, गधा नहीं।" तो गधेकी, हाथी-घोड़ेकी शक्लमें खांड छिप गयी न? यह वेदान्तका सार है। तुम शक्लके साथ अपवाद करके खांड़को नहीं पकड़ते। शक्करको जानोगे तो शक्लका बाध हो जायगा। खांड सम-झनेसे खिलौने टूटते नही। यह मत समझना कि ब्रह्मज्ञान होगा तो सब स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी बिलकुल पीसकर चटनीकी तरह बना दिये जायेंगे। यह तो वेदान्तके विरोधियोंका 'स्टंट' है। व्यवहारको स्वतन्त्र सिद्ध करनेवाली अगर कोई वस्तु है तो वह वेदान्त ही है, जो प्राणिमात्रको स्वातन्त्र्य देनेवाला है। शक्करको खिलौने जाननेके बाद भी वे खानेके ही काम आते हैं।

सब आकृतियोंमें चैतन्य छिप गया है। सपनेकी आकृतिमें अपना आत्मा छिप जाता है या नहीं? मैंने सपनेमें देखा कि कुंभके मेलेमें हजारों-लाखों आदमी गंगास्नान कर रहे हैं और उनमें एक मै भी था। जब मैं स्नान करनेवाला बना तो त्रिवेणी-प्रयागराजका निर्माता, प्रकाशक अपनेको भूल गया और अपनेको नहानेवाला मानने लगा।

नाई कहे 'वाल बना दें।'

ब्राह्मण कहे "भिक्षा दो।"

भीडका धक्का लगे, उनसे राग-द्वेष हो। यह कब हुआ? देखनेवाला कहाँ छिप गया? दीखनेवाले मे

बिन्दुमे सिन्धु समान यह सुनि अचरज ना करो।
हेरन मे हेरनहार हिरान रहिमन आपुन आपमे॥

परमात्मा चीटी, चिडिया, स्त्री-पुरुषकी शक्लमे छिपा है। मिट्टी दीखती है, वह नही दीखता, मिट्टीके नाम-रूपका अपवाद करके देखो, तो एकदम वही सत्ता है। जल, अग्नि, वायु, आकाशमे वही छिपा है। उसने हमारे साथ आँखमिचौनीका खेल खेलनेके लिए ये शक्ल बनायी है

हमको क्या तू ढूढे बंदे, मैं तो तेरे पासमे।

'एप सर्वेपु भूतेषु' इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, निराकार सब छिपनेकी शकल है। समाधि और विक्षेप भाव और अभाव भी छिपनेकी शकल हैं।

'भवन्ति इति भूतेषु उत्पद्यमानेषु।' जिनकी उत्पत्ति, प्रलय-भावाभाव लक्षित होता है, उनमे गूढ आत्मा है।

'गूढोत्मा' पाणिनीय व्याकरणकी रीतिसे इसकी सधि नही होती। 'आ' हो तो गूढ+आत्मा होगा, 'ओ' नही, परन्तु वेदपर पाणिनीय व्याकरण लगता ही नही। वह तो छान्दस है। वेदके मंत्र लक्षणानुसारी नही होते। जैसा प्रयोग कर दिया वैसा मानो। यदि ऐसी सधि नही है तो यह पाणिनीय व्याकरणकी कमी है। **छन्दसि दृष्टानुविधि सर्वे।** "हमने जो लिखा है वह वेदपर लागू नही होता, जैसा लिखा है वैसा ही मानना पडता है।

महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमारशास्त्रीके शिष्य बडे विद्वान् थे। उन्होने वेदमेंसे विज्ञान निकालनेका काम किया। उन्होने कहा 'आत्मा' नही, 'अत्मा' ही रहने दो। क्यों? 'त्मा' धातु है 'न ताम्यति इति आत्मा।' अर्थात् जो जडभावसे कभी युक्त न हो, सदैव चमचम, चमचम, स्वयप्रकाश हो न ताम्यति। यह किसे दिखाई पडता है? जो ईश्वरानुग्रही, आचार्यप्रसाद-सम्पन्न हो, जन्म-जन्मके सत्कर्मोंसे जिसकी बुद्धि परिपूत हो, जिसे सद्गुरु प्रसन्न होकर लखा दे, वही उसे देख सकता है। तब उसके सारे दु खोका नाश हो जाता है, सारी अशाति मिट जाती है।

जब हम वस्तुको पकडकर, जिदकर बैठ जाते हैं तभी दु खी होते है। वस्तुमें दु ख नही है। किसी चीजको छोडना नहीं चाहते और पाना चाहते हैं तभी दु ख होता है।

तत्त्वानुग्राहिणी बुद्धिद्वारा अनारोपित वस्तु, जिसमें दुनियाके नाम-रूपोका आरोप नही है ऐसी, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न मूल धातुको पकडो।

सब शरीरमें सबके भीतर जो आत्मा है। उसीका नाम परमात्मा है। आपने किसीका नाम सुन रखा हो कि 'वह बडा महात्मा है, विद्वान् है, ऐसा है, वैसा है' और वही यहाँ बैठा हो, आप उसे देख रहे हैं पर पहचान नही रहे हैं। उसे कैसे बताना होगा? जब कोई बतायेगा कि 'अरे, इसीका यह नाम है, यह नामवाला यही है' तब उसे जान लोगे। आपने वणनसे आजतक सुन रखा है कि 'एक परमात्मा है, आत्मा है, सत्य है, ब्रह्म है, परमार्थ है', किन्तु वह कौन है, कहाँ है, यह पहचाना नही है। श्रुति बताती है "वह सबके भीतर जो शुद्ध आत्मा है वही परमात्मा है। शरीर अनगिनत हैं, उनमें परमात्मा एक है।"

श्रीशकराचार्य प्रश्न उठाकर इस श्रुतिको समझाते है। पहले यह प्रश्न उठाया

तद् विष्णो परम पदम् ।

विष्णुका परम पद यानी 'तत्' पदाथका शुद्धस्वरूप। जैसे लयकी प्रक्रियाके क्रममें हम उत्तरोत्तर पृथ्वीका जलमें, जलको अग्निमे, अग्निको वायुमे, वायुको आकाशमे, आकाशको मनमें मनको महत्तत्त्वमे, महत्तत्त्वको अव्यक्तमें और अव्यक्तको परमात्मा-मे लीन करते हैं, वैसे ही जिस तत्-पदाथके सबधमें विचार करते ह, उसमें यह बताया गया कि विषयके भीतर इन्द्रिय, इन्द्रियके भीतर अथ, अर्थके भीतर मन, मनके भीतर बुद्धि-बुद्धिके भीतर महत्तत्त्व, महत्तत्त्वके भीतर अव्यक्त, अव्यक्तके भीतर आत्मा यानी परमात्मा है। इसका अभिप्राय यह है कि तुम्ही तो हो विष्णुका परम पद। यदि तुमने इसे जान लिया तो **यस्माद् भूयो न जायते।** जन्म-मृत्युके चक्करमें कभी पडना नही पडेगा।

अपनेको देह मान लिया तो जन्म-मरणवाला मान लिया। प्राण मान लिया तो जाने-आनेवाला मान लिया। मन मान लिया तो सुखी-दु खी माना। बुद्धि मान लिया तो बेवकूफ या समझदार मान लिया। सुषुप्ति या शाति मान लिया तो विक्षिप्त हो गये। दुनियामें जितना दु ख हैं वे सब तुम्हारी मान्यताका ही खेल है, कही बाहरसे नही आते हैं। जहाँ गति है, वहाँ आगति भी है। यह तो ऐसा पद है कि वहाँ जाना ही नही है तो आना कैसे होगा ?

फिर 'गति' शब्दका प्रयोग क्यो किया गया है, यह प्रश्न है **सा काष्ठा सा परा गति।** उसे परागति क्यो कहा ? इसके उत्तरमें

बताते हैं कि गतिका अर्थ यहाँ गति नहीं है, अवगति है। अव-गति = ज्ञानस्वरूप है। संस्कृतमें गतिके चार अर्थ हैं

गमनेर्ज्ञानमोक्षेषु प्राप्तै'चापि गतिर्मता। गति यानी गमन, ज्ञान, मुक्ति और प्राप्ति। तात्पर्य यह है कि पाँवसे चलकर यदि हम किसीके पास जाते हैं या सूक्ष्मशरीरसे उत्क्रमणकर हम किसीके पास पहुँचते हैं तो जहाँ पहुँचेंगे, वहाँसे लौटना होगा। लेकिन जब यह जानेंगे कि पहलेसे हम नहीं हैं, तो भ्रान्तिसे अपनेको जाने-आनेवाला मान रहे थे और समझ गये कि हम जानेवाले नहीं है तो जाना-आना छूट गया।

'प्रत्यगात्मभूतं सर्वमस्तर इन्द्रियमनोबुद्धि परत्वेन।' इन्द्रियसे परे, मन-बुद्धिसे परे यह तो प्रत्यगात्मा ही है।

प्रत्यगात्मा='प्रति प्रतीतिम् अञ्चति इति प्रत्यक्।' अर्थात् जैसे आँख है तो आँखसे सीधे कौन-सी चीज दीखती है? फूल। तो फूल पराक् हुआ। प्राक् = पूरब, आँखके सामने। महात्मा लोग रोज सुबह उठकर सूर्यके सामने खडे होते हैं। जो दाहिने है उसे दक्षिण, जो बाँये है उसे उदीची यानी उत्तर और जो पीछे है उसे प्रतीची या पश्चिम कहते हैं। प्रतीतम् = आँखके पीछे बैठकर जो देख रहा है, वह प्रत्यगात्मा है। कौन? मैं ही देख रहा हूँ। आँखका चश्मा छोडकर देखो, वह कौन है? वही विष्णुका परम पद है।

गन्ता च आगति प्रत्यग्रूप गच्छति अनात्मभूता।

जो कहीं जाता है वह किसी अनजाने, पराक्, अनात्म पदार्थके पास जाता है, परन्तु जो आँखोके पीछे बैठकर देख रहा है वह कहीं नहीं जाता। **अनावृगत अवृगत पारमिष्व।** एक

क़दम तो चलो नहीं और रास्तेका अन्त मिल जाय! क्या आश्चर्य है!

तुम परमात्माको ढूंढने कहाँ जा रहे हो? वनमें? हिमालयमें? मंदिर-मसजिदमें?

देहो देवालयः श्रेष्ठः स जीवः परमः शिवः।

मंदिर है तुम्हारे पास यह हाथ-पांववाला शरीर और भीतर जो 'मैं-मैं' स्फुर रहा है वह है, प्रज्वलित अग्नि, अनन्त अग्नि साक्षात् परमात्मा!

इस मन्त्रके भाष्यमें भगवान् श्रीशंकराचार्य लिखते है:

एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्मा विद्यामायाच्छन्नोऽत एवात्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित्।

यह जो परमात्मा है, क्या ब्रह्मा, क्या इन्द्र, क्या पंचभूत, क्या मैं, तू, यह-वह, सबमें वह छिपा हुआ है। कानके भीतर बैठकर वही सुन रहा है, जीभके भीतर बैठकर वही बोल रहा है, आँखोंके भीतर बैठ वही देख रहा है। अविद्या-मायासे यह ढँका हुआ है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मनमें अभिमान करके बैठा हुआ है, इसका आँखसे देखना, कानसे सुनना, मनसे चिन्तन करना प्रातीतिक है, अर्थात् ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं कानसे सुन रहा हूँ, आँखसे देख रहा हूँ। जीभ, आँख, कान रहे या न रहे, पारमार्थिक स्वरूप साक्षी है। अनात्मा-आत्माका अविवेक तो अविद्या है। शरीरकी मशीनमें बैठकर शरीरका देखा-सुना हुआ वह अपना मानता है, यही अविद्या है। जो नाम-रूप मालूम पड़ता है वह मिथ्या है, माया है। शरीरको अपना मैं मानना अविद्या है। इन दोनोंमें ही आदमी फँस गया है।

वेदान्तमें दो तरहसे कहा गया है (१) माया तत् पदार्थकी उपाधि है, क्योंकि जगत्में नाम-रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं। यह परमात्माकी उपाधि है। अविद्या आत्माकी उपाधि है। दोनों उपाधियोंको अलग कर दो तो जो आत्मा सो परमात्मा। वेदान्तमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यो का यही अर्थ है।

कोई कहते हैं पहले मनुष्य अविद्याके कारण देहको 'मैं' मानकर उसके द्वारा जगत्के सारे पदार्थोंको देखकर इन्हें सत् समझता है। यदि अविद्या कट जाय, यन्त्रमें मैं-पना है यह यदि मिट जाय तो इसके द्वारा जो बाजीगरी–जादूका खेल दीख रहा है वह अपने आप ही कट जाय। इसलिए अविद्याको मिटाओ।

'अविद्या विद्यानिरास्या' अज्ञानको ज्ञानसे काट दो। जबतक अविद्या रहेगी, नाम-रूपात्मक प्रपचकी निखिल प्रतीति—यावद् यन्त्रभावी प्रतीति भी बनी रहेगी। अविद्या विद्या-निरास्य है। ज्ञान द्वारा अज्ञानको मिटाया जाता है। जैसे अविद्यागम्य सपूर्ण यन्त्रसहित पदार्थोंकी प्रतीति है, वैसे मालूम पडता है हम सुन रहे हैं, बोल रहे हैं, सोच रहे हैं, हम विचारवान् हैं, हम समाधिस्थ हैं। ये असलमें परायेको पकडकर प्रतीतिके विषयको मैं-मेरा मानकर इसका जो पसारा है, उसे सच्चा मानकर उसमें फँसे हुए हैं।

अत एवात्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन।

इसीलिए मैं ही परमात्मा, ब्रह्म, परमार्थ हूँ, यह बात किसीको मालूम नहीं पडती।

अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा च अय माया।

यह माया कितनी गहरी है, उसका पार पाना कितना मुश्किल है। मायाकी थाह पाना तब सभव है, जब अपना पता चले।

अपना पता चलनेपर मायाकी गहराई छिछली हो जाती है। तब विचित्रता भी मिट जाती है। देखा, देखो, क्या आश्चर्य है? ये सबके सब प्राणी—देवता और मनुष्य ही नहीं, कीडा-फतिंगा आदि सब जतु भी परमार्थदृष्टिसे बिलकुल परमात्मा ही है। **परमार्थत परमार्थतत्त्व** । इसलिए बार-बार महात्मा और उपनिषदे समझाती है 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि।'

क्षेत्रज्ञ चापि माम् विद्धि।

देहेन्द्रियादिसङ्घातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेन अहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति।

मनुष्यकी क्या उल्टी बुद्धि हो रही है कि बार-बार समझानेपर भी कि जो चीज अपनेसे भिन्न दीखती है—कलम, कागज, घडाकी भाँति देह, इन्द्रिय, मन—वह आत्मा नहीं है। देखने जाननेवाला मै इनसे न्यारा है, सपनेकी तरह दृश्य है। वह कहता है 'मैं देह हूँ।' किसीने उपदेश नही किया कि मै अमुकका पुत्र हूँ या यह मेरा बाप है। बिना गीता-उपनिषद् और सतोके ही यह तो मान रखा है कि ये पति पत्नी, घर, देह, मास, हड्डी, चाम म हूँ। शास्त्र, गीता, उपनिषद्, महात्मा तो बताते हैं कि—'तुम परमात्मा हो, तुम्हारा किसीसे सग नही है, तुम्हारे ऊपर किसीका ऋण नही है। तुम अजर-अमर हो।" सचमुच मनुष्य इस जादूके खेलमें मोमुह्यमान हो गया। श्रीशकराचार्यजी कहते ह

'नून परस्यैव मायया मोमुह्यमान सर्वो लोको बम्भ्रमीति।
ईश्वरकी मायामे लोग सच मानकर फँसे ह।

नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृत ।

मनुष्यको दुनियामें दीखनेवाली चीजोसे मोह हो गया है, बेटा

रोज फटकारता है, पर वह कहता है 'मेरा बेटा'। शरीर बूढा हो जाय, उसमें रोग हो जाय, वह नष्ट हो जाय, परन्तु वह कहता है 'मेरा'। मनुष्यको रोज-रोज कर्म सताता है। अच्छा कर्म करके अभिमान होता है, बुरा कर्म करके ग्लानि होती है और वह अभिमान करता है कि 'मै कर्ता'। संसारके लोग रात-दिन दु ख देते हैं मिलकर भी और न मिलकर भी। फिर भी वह कहता है, "मैं भोक्ता"। लोग ऐसी मायामें फँसे हुए हैं

ननु विरुद्धमिदमुच्यते "मत्वा धीरो न शोचति" "न प्रकाशते" इति च।

जिसे आत्मप्रकाश हो जाता है अर्थात् अपने आपको जो जान लेता है, वह शोकसे मुक्त हो जाता है। असलमें उसीको शोक होता है जो 'शो' देखता या करता है। अपने मन-बुद्धिको काबूमें रखकर चलनेवालेको शोक बिलकुल नही होता।

मत्वा धीरो न शोचति।

धीर पुरुष आत्मा परमात्माको समझ गया तो शोक न होगा।

असस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वात्।

जिसे सत्संगका सस्कार नही, जो बुद्धिको नये ढगसे नहीं ढालता उसके लिए परमात्माका ज्ञान होना कठिन है।

तुम्हारी बुद्धिमे दुनियाके सस्कार भर दिये गये हैं। ससारी मनुष्य दुनियाको ऐसा पकडता है कि भले ही मर जाय, पर दुनियाको छोडनेके लिए राजी नही होता। रोज लडाई हो, फिर वही 'ढाकके तीन पात!' रोज दु ख मिले, अपमान मिले, फिर उसीके दरवाजेपर। अवश्य ही कोई माया है। अत पहलेकी पकड छूट जाय, इसके लिए बुद्धिमे सस्कार आना चाहिए।

एक आदमीकी किसीसे बडी आसक्ति थी। मैंने कहा 'तू यह मोह छोड दे तो तुझे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय।'

उसने कहा 'अच्छा महाराज।' और अपने प्रेमास्पदको छोड दिया। अब उसे मै वेदान्तका वर्णन सुनाने लगा और अन्तमे कहा 'सब ब्रह्म ही है।'

उसने पूछा 'मै जिससे प्रेम करता था वह भी ब्रह्म है?''

हम क्यो ना कहे? मैंने कहा 'हा भाई।'

फिर वह बोला 'तो उससे क्यो मोह छोड?'

फिर वही ढाकके तीन पात। 'सब ब्रह्म है' का मतलब निकला—जिससे मोह है उसे छोडनेको राजी नही, उसकी ओरसे बुद्धि नही हटती।

बुद्धिमे जो मोहका दोष भरा हुआ है उसे निकालना, और उसको पूर्णताके रगमे रगना, समझमे न आनेवाली बात है। समझनेकी बुद्धि प्राप्त करना तब होता है, जब सस्कृत बुद्धि होती है **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या।**

श्रीशकराचार्य कहते ह **सस्कृतया अग्रया अग्रमिवाग्र्या तया, एकाग्रतयोपेतयेत्येतत्।'**

बाण लक्ष्यका वेध तब करता है जब नुकीला होता है, तीक्ष्ण होता है। बुद्धि परमात्मामे तब प्रवेश करती है जब नुकीली, तीक्ष्ण हो।

बीस वर्ष पहलेकी बात है, एकबार एक पढा-लिखा बालक अपना घरद्वार छोडकर वृन्दावनमे आया। उसे देखते ही न जाने क्यो, श्री उडियाबाबाजी बोले "इसे मत रखो, हटा दो।"

लोग उसे कितना भी हटावें, लेकिन वह हटे नही, फिर आ

ही जाय। उससे कोई कहे कि बुद्धि शुद्ध करो, तब परमात्माका ज्ञान होगा, तो कहता "शुद्ध-अशुद्ध क्या होता है, सब परमात्मा ही तो है ?"

यह तो साधनका तिरस्कार हो गया—कोई कहे कि "भाई, आँख पक्की करके गौरसे देखो" तो तुम कहो "पक्की करके क्या देखना है ? वह तो है ही।" साधनका तिरस्कार नही करना चाहिए। जैसे कोई दूरबीन फेंककर दूरकी चीज देखना चाहे, कोई खुर्दबीन फेंककर सूक्ष्म वस्तु देखना चाहो तो विश्वास करना पडेगा कि वही है, जबतक कि उसको प्रत्यक्ष नही करोगे।

बादमें उस लडकेकी दशा बडी विलक्षण हो गयी। तब कानपुरवाला, जे० के० वालोंका मंदिर बन रहा था, जिसमे हम रह रहे हैं। उसके बल्ले लगे थे, वह उनपर चढ़कर दोनो पाव फंसाकर लटक गया। बोला 'सब ब्रह्म ही है। फिर तो वह एक दोनेमे विष्ठा भरकर आगपर पकाने लगा। किसीने पूछा 'यह क्या है ?' वह बोला 'ब्रह्म है।'

साराश, स्पष्ट है कि वेदान्तका ऐसा अभिप्राय बिलकुल नही है। पहले बुद्धिका संस्कार करना पडता है, उसमे प्रपञ्चका जो माया-मोह, काम-क्रोध-लोभ बढा हुआ है उसे हटाना पडता है और श्रवण-मनन तथा निर्वासनता द्वारा बुद्धिको खाली करके शुद्ध वस्तुकी भावना करनी पडती है। तब उस बुद्धिका जो अधिष्ठान, जो प्रकाशक है वही अद्वितीय स्वयंप्रकाश ब्रह्म है, ऐसा बोध होता है। बुद्धि जब नुकीली, तीक्ष्ण, शुद्ध और एकाग्र होती है, तब वह प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मको जान पाती है।

बुद्धि सूक्ष्म होनी चाहिए। **सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया।** तुम्हारी बुद्धि किसका निरूपण करती है ? हम पहले एक सत्सगमें

कभी-कभी जाया करते थे। वहाँ हजारो आदमी आया करते थे। मामूली सत्संग नही था, दो-दो, तीन-तीन महीनेतक बराबर भीड रहती थी। उपदेश करनेवाला उपदेश करे, श्रवण करने-वाले श्रवण करे, किन्तु रोज सब श्रोताओंको यह बात बतानी पडती थी कि 'देखो, तुम जहाँ बैठकर सत्संग करते हो, वहाँसे एक फर्लांग दूर जाकर जगलमे टट्टी जाना।'

लोग वही बैठ जाते थे, गदा करते थे। वे कहते 'लघु-शकाके लिए गगाजीका किनारा छोड इतनी दूर कैसे जायँ?'

उनको मालूम नही था कि गगाजीका किनारा गदा नही करना चाहिए। सब सोचते कि हमारे एकके करनेसे क्या होता है? सबेरे सारा किनारा गदा मिलता। जिसकी गदेमे रुचि है, जो दुराचार, दुर्भाव, दुर्गुणको छोडना नही चाहता और 'सर्वं खलु इद' ज्ञानसे उसका समर्थन करना चाहता है, उसको परमात्माका ज्ञान कैसे हो? ज्ञान बेचारा सोचता है कि 'हम उसके पास जायँगे तो वह हमे भी गदा कर देगा।' स्वच्छ पुरुष गदेके साथ कैसे मिले? जैसे 'सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया'—तुम्हारी बुद्धि सूक्ष्मवस्तुको कैसे स्पर्श करती है? तुम्हे चोर-भूतकी, खटिक-खटकिनकी कथामे आनन्द आता है तो उन्हीकी कहानी सुना दें। बुद्धि तो तत्त्वग्राहिणी, परमार्थग्राहिणी होती है। जब बुद्धिको सिवा परमात्माके, नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्तके अन्य कुछ नही लगता, उसीको सुने-बोले, उसीके लिए हँसे और रूठ जाय तब वह शुद्ध है। तुम्हारी बुद्धि स्थूल वस्तुको पकडती है या सूक्ष्म वस्तुको? जिसकी बुद्धि सूक्ष्मवस्तुको पकडनेवाली होती है, उसीको परमात्माका अनुभव होता है।

श्रीहरिबाबाजी महाराज एकके घर कथा सुनने जाते थे।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके शिष्य नित्यानदके शिष्य प्रभुपाद गृहस्थ थे। श्री हरिबाबाजी उनके घर जाकर टाटपर बैठ जाते, और कही किसीकी ओर देखते नही थे। चार महीने बीत गये। उनके एक सेवकने उनसे पूछा 'इनकी कथा अच्छी हो रही है, परन्तु यहाँ इतने शाल-दुशाले क्यों लटक रहे हैं?'

हरिबाबा बोले 'हमने तो नही देखा। तुम कथा सुनने जाते हो या शाल दुशाले देखने?' चीटी हो या गुबरैला? कहाँ तुम्हारी बुद्धि फँसी हुई है? हजारों आदमियोंके बीच तुम्हारा प्यारा बैठा हो तो झट तुम्हारी आख उसे ढूंढने उसके पास चली जायगी। यदि ससारकी भीडमे तुम्हारा प्यारा परब्रह्म परमात्मा छिपा हुआ है, तुम उसके प्रेमी, जिज्ञासु हो तो क्यो उसीको नही देखते? या तो वह है नही या तुम्हारी आँखमें प्रेम नही। तभी वह उसे ढूंढ नही निकालती। जिसकी बुद्धि नुकीली है, लक्ष्यका वेधन करना चाहती है, एकाग्र है वही सूक्ष्मवस्तुको पकडती है।

बुद्धिमे दो बातें चाहिए एकाग्रता और सूक्ष्मता। किसीकी बुद्धि रसोईमे एकाग्र होती है तो किसीकी कपडा सीनेमे या नोट गिननेमे। सत्सगकी कोई बात याद रहे, कोई बात याद न रहे, कुछ सुना जाय, कुछ न सुना जाय, नोट गिननेमे ऐसी असावधानी नही होती। सत्सग नोट गिननेसे कम महत्त्वपूर्ण नही है। सत्सग ही क्यो, प्रत्येक बात महत्त्वपूर्ण समझकर ग्रहण नहीं करते? इसका अभिप्राय यह है कि तुम्हे परमार्थकी जिज्ञासा नही है, परमार्थसे प्रीति नही है। तुम्हारी बुद्धि ऐसी नुकीली होनी चाहिए कि हजारो' के बीच उस एकको ढूँढ निकाले। ●

२३ बुद्धिकी सूक्ष्मता
और
एकाग्रताके लिए योग

सगति

दससे बारह तक तीन मन्त्रा मे विष्णुके परमपद को ही 'पुरुष' बताया गया। यही इस प्रसंगका सार है, गुर है।

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ।

यह पुरुष परा गति यानी पराकाष्ठा है। उससे परे कुछ भी नहीं है। अर्थात् विष्णुका परम पद, यह आत्मा, पुरुष अपना 'मैं' है। आत्मा तो सन्निहित, बिलकुल पास है। फिर पास कहना भी आत्माको दूर बताना है। जो अपना आपा है, उसे पास क्यों बतायें? मित्र, धन हो तो पास कहेंगे। विष्णुका परमपद हमारे पास ही नहीं, हम ही हैं। इसे कैसे जानें? यह बात बतलाते हैं

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥१३॥

[विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रियका मनमे उपसहार करे, उसका प्रकाशस्वरूप बुद्धिमे लय करे, बुद्धिको महत्तत्त्वमे लीन करे और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामे नियुक्त करे॥ १३ ॥]

आओ, थोडा भीतर आओ। भीतर आनेका अर्थ 'समाधि लगाना' नही है कि मन कुछ भी ग्रहण न करे, बिलकुल एकाग्र हो जाय।

श्री उडियाबाबाके सत्सगमे एक आदमी सामने ही बैठता था। उसे सत्संग करते-करते नीद आ जाय और उसका ध्यान छूट जाय। तब बाबा पूछते "क्यो, सो गये ?"

वह कहता "नही, समाधि लग गयी थी।"

समाधि भी रास्तेमे एक स्थान रखती है, लेकिन वह खुली आँखो देखनेकी वस्तु है। उससे कामधधा, रुपया, स्त्री या घरमे कोई बाधा नही पडती।

समाधि बडी विलक्षण होती है। वाणीको मनमे ले आओ, इसका अर्थ जीभको कलेजेमे ले जाना नही है। कई योगी जीभको

उलटकर उसे तालुमे स्थित छदम स्थिर करते है। चौतीस वप पहले मैंने एक आदमीको अपनी जीभ निकालकर नाचते देखा था। उसकी जीभ इतनी लम्बी थी कि वह उसे नाकसे लगाता था। वाकको मनमे ले आओ, यहा वाक् सम्पूण इन्द्रियोका उपलक्षण है। श्रीमद्भागवतमे इसका विस्तारसे वणन है।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञ । इसका पहले वाणीसे ही अथ लो। मनसे जो जानते है वही जीभसे बोलते ह। अच्छा-बुरा जो नही जानते, वह नही बोलते। जीभकी सत्ता-महत्ता काटो। यह सोचो कि वाणी मनसे अलग नही है।

स एष घोषो विवरप्रसूति प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्ट ।
मनोमय सूक्ष्ममुपेत्य रुप मात्रा स्वरो वण इति स्थविष्ठ ॥

मन ही पहले मात्रा, स्वर, वण बोलता है। मनके हिलाये जीभ हिलती है। मन न हिले तो 'प' और 'फ' मे 'ब' और 'व' मे क्या फरक है, यह कैसे मालूम पडेगा ? मन द्वारा शरीरके अवयव विशेष स्पदित किये विना, हिलाये बिना जीभ कुछ नही कर सकती। वास्तवमे मन है तब वाक् है। वाक् नही तो मन नही। सुषुप्तिमे मनुष्य क्यो नही बोलता ? हाथ-पाव, मूत्रेन्द्रिय, गुदा, आँख कान सब तभी काम करते हैं, जब उनमे मन हो। मन सबसे पृथक् इन्द्रिय है, यह कल्पना छोडो।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ । बोलनेकी क्रिया, वृत्तिको मनमे शात कर दो। सब इन्द्रियोकी क्रियाएँ मनमे लीन कर दो। केवल मनरूपसे रहो, मनमे बैठ जाओ। तुम सोचनेवाले, मनोरूप हो। इस हड्डी-मास चामवाले शरीरमे नाकका छेद तुम नही हो। हजारो छेदोवाली जिह्वा तुम नही हो। कान, त्वचा, नेत्र नही हो,

तुम इनसे न्यारे हो। बिना मनके इन इन्द्रियोकी अपनी कोई शक्ति नही है। श्रुतिमे आया है

अहमन्यमनोऽभूव नापश्यम्।
अहमन्यमनोऽभूवं नाश्रुण्वम्।

मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, मैंने देखा नही, सुना नही।

श्रीमद्भागवतमे वर्णन आता है कि एक बढ़ई अपनी दूकान-पर बैठकर बाण बना रहा था। सामनेसे राजाका जुलूस निकल गया। बादमे एक आदमीने आकर उससे पूछा "यहाँसे अभी राजाकी सवारी निकल गयी या नही ?"

वह बोला "मेरा मन तो बाण बनानेमे लगा था। मैंने आँखें उठाकर सडककी ओर देखा नही।"

आँख, नाक, जीभ क्या करेगी यदि हमारा मन दूसरी ओर हो ? मनमें ससारकी गडबड हो तो भोजनमें हलुवा, चटनी, सब्जी क्या-कैसा खाया, यह मालूम नही पडता। तात्पर्य यह कि इन्द्रियाँ मनसे ही व्यवहार करती हैं और मन ही सस्कार-वासनाके अनुसार इन्द्रियाँ बन गया है। इन्द्रियाँ ही वासनाके अनुसार विषय बन गयी है। **मिथ्याज्ञानविजृंभत**—वास्तविकता-का ज्ञान न होनेसे मालूम पडता है कि मैं आँखसे देख रहा हूँ, नाकसे सूँघ रहा हूँ। सपनेमे गध, रूप, नाक, आँख, शरीर सब मन ही बना हुआ है। मनका खेल बडा प्रबल है। विषयोसे, इन्द्रियोसे खेलका खयाल छोडकर, इधर-उधरकी बातें छोडकर 'मनसि यच्छेद्' मनमे उनका उपसहार-लय करो। मनो-मात्र होकर देखो कि यह कुछ नही है।

यह बात कौन करेगा ? 'प्राज्ञ'। मूर्खका यह काम नही है। मूर्ख तो कहेगा 'विषय सत्य है, इन्द्रियाँ सत्य हैं, विषय-इन्द्रियों-

का योग सत्य है। आओ भाई, हम मजा लें।' किन्तु प्रज्ञावान् पुरुष अंधेरेमे भटकना स्वीकार नही करता।

यस्य कस्य तरोमूंल येन केन च प्रेषितम्।
यस्मै कस्मै प्रदातव्य यद्वा तद्वा भविष्यति॥

चाहे जिस जडी बूटीकी जड उखाडकर ले आया, चाहे जो कोइ ले आया और चाहे जिस किसीको दिया तो चाहे जो हो जायगा। इस प्रकार लोग अंधेरेमे भटक रहे हैं, जिनको न अपने स्वरूपका पता है, न परमात्माके स्वरूपका और न जगत्के स्वरूपका। दु ख क्यो हो रहा है, इसका भी पता नही है। वे इस ससार-रोगकी औषधि नही कर सकते।

इसम तो पहचान करनी पडेगी कि यह पपच क्या है, मैं कौन हूँ, परमात्मा क्या है और इनका परस्पर सबध क्या है? अपनेमे भासनेवाला यह पापीपन-पुण्यात्मापन क्या है, सुखी-दु खीपन क्या है? इसे विचार करके देखना पडेगा। यहाँ इस विचारको ही बोलते है 'प्रज्ञा' यानी उत्कृष्ट ज्ञान।

'प्रज्ञा यस्य अस्ति प्राज्ञ।' प्रज्ञावान् पुरुष अंधेरेमे नही भटकना चाहता। वह यह देखता है कि इन्द्रियोके देखते हुए भी विषयकी प्रतीति नही होती, मन हो तभी इन्द्रियोको विषयोकी प्रतीति होती है। मन न हो तो इन्द्रिय नही, विषय नही, उनका पबध नहीं। इसलिए मनीराम इनका राजा है। मनमे ही सपूण वषयोकी और इन्द्रियोकी प्रतीतिका उपादान रखा है। जैसे

न तत्र रथा न योगा न पन्थान ।

पनेमे न रथ है, न पथ है, न इति है, न अथ है। वहाँ मनीाम रथ-पथ, इति-अथ बना देते हैं। वैसे ही जाग्रत्मे भी मनी-

रामका ही सारा खेल नजर आता है, विषय और इन्द्रियकी पकड ढीलीकर मनको पकडो। इन्द्रियोमे वाक् मुख्य है—मुखमें रहती है, इसलिए भी और उसका प्रमुख स्थान है इसलिए भी।

यदि हमे किसीका नाम मालूम न होगा तो हम मनमें सोचते हैं, गिनते हैं चौथी लाइनमे दूसरा आदमी। यह आँखका काम नही, मनमे शब्दका उच्चारण हुआ तो यह भाव आया।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमावृते।

मन ही मन हम सबका नाम रखकर बोलते है। फूल, तुलसी, पत्ता, आदमी, शत्रु-मित्र सबका नाम हमने रखा। साराका सारा व्यवहार नाममूलक है। इसलिए एकबार मनमे बैठ जाओ। शब्दादिगमन, आदान, मूत्र-पुरीष-उत्सर्ग इन क्रियाओका परित्याग करके देखो कि तुम्हारा मनीराम क्या करता है ? वह भूत या भविष्यकी सोचेगा, वर्तमान की नही, इसीका नाम ससार है। बीत गयी वह लौट गयी, आगेकी अपने हाथमें नही। यहाँ वर्तमानको शून्य कर दिया। भूत-भविष्यमे चले जाना यानी स्मृति या कल्पनामे जाना, यह मनसे ही होता है।

बिलकुल अनजान वस्तुके बारेमें कोई सकल्प-विकल्प नहीं उठता, नितान्त अश्रुत-अदृष्टके बारेमें तो मन कुछ सोचता ही नही। यह बुद्धिका विलास है, बुद्धिमान् होनेका अभिमान है, मनमें आगे-पीछेके अनुभवकी बात है। मूल वस्तुको पकडनेका यह तरीका नही है।

श्रुति कहती है "कोई ऊपर-ऊपर सचरण करे, घूमता रहे, पर धरतीके नीचे क्या गडा है यह उसे मालूम न हो, वहाँ अनन्त निधि हो, पर पकड न पाये।" हम बुद्धिमें रखे हुए सस्कारो द्वारा द्वारा हाँके जा रहे हैं, जैसे कि भेड। आगेकी

कल्पना हमारे पीछेके सस्कार बना रहे है। कोई ऐसी चीज बताओ जिसे पाने या छोडनेका सकल्प मनमें आये। अज्ञातको पाने या छोडनेका सकल्प कैसे होगा ? ज्ञातके बारेमे ही होगा। महत्त्वबुद्धिके सिवा कुछ है ही नही।

मुसलमानके मनमे यह जानकारी भर दी गयी कि कोई मूर्तिकी पूजा करता है तो वह बुत परस्त है, काफिर है। वह मूर्तिपूजाको देखकर ही नाराज हो जाता है। हिन्दूके मनमें यह जानकारी दी गयी कि मूर्ति तो साक्षात् ईश्वर है। ईश्वरको पहचाननेके बाद उसने कहा कि क्या शालग्राम ईश्वर नही ? वासनाके अनुसार मनमें राग-द्वेष भर गया है। बुद्धिको स्वच्छ-निमल करो। रागद्वेष-रहित, पक्षपातके दबावसे मुक्त होकर देखोगे तो मन पैदा ही न होगा। यदि आप बुद्धि सस्कारसे मुक्त कर लो तो न कोई सकल्प उठेगा, न विकल्प।

एकबार हमने किसी सन्तको चिट्ठी लिखी (वे दूसरे मताव लम्बी थे) कि हम थोडे दिन आकर आपके मतका अध्ययन करना चाहते हैं। हमे पहले अनेक मतोके सिद्धान्त याद थे। हिन्दुस्तानमे सौ सन्त और डेढ-सौ पंथकी-सी स्थिति है। हमे कण्ठस्थ था कि किस पथ और किस मतमे क्या साधना और ईश्वरके बारेमे क्या मान्यता है, सद्गति-दुगति कौन कैसी मानता है।

उन्होने उत्तर लिखा 'अबतक तुमने जो पढा-सीखा और समझा है, उन सबपर पानी फेरकर, भूलकर, छोडकर हमारी बात सुनना चाहो तो आओ। यदि आपको अपनी बात, अपनी मान्यताकी पुष्टि करनेके लिए आना हो तो हमे क्यो तकलीफ देते है ? आप भी क्यो तकलीफ उठाते हो ? आप अपनी मान्यताको ही

स्वीकार कराना चाहते हैं कि 'हम जो मानते है वही ठीक है।' तो मत आइये।'

हम एक सन्तके पास गये और उनसे ईश्वरसम्बन्धी बातें हुई। उन्होने बडी शान्ति और प्रेमसे हमारी सब बातोको हँसते-हँसते सुना। वे बोले 'तुम्हारी पहुँच तो बहुत ऊँची ब्रह्मतक है, पर अब उसके ऊपर चलो।'

मैंने पूछा 'ब्रह्मके ऊपर क्या है, कहाँ चलें?'

वे 'ब्रह्म दोनों आँखोके बीच नाकके ऊपर रहता है। अभी तो यह ब्रह्माण्ड-मण्डलकी बात है। इसके ऊपर गह्वर-गुफा है, त्रिकुटी है, बकनाल है, मायामण्डल है। अभी तो तुम ब्रह्मसे घिरे हो।'

मैं 'महाराज, क्या आपने अपने बेटेका नाम ब्रह्म रखा है? हम तो ब्रह्म उसे कहते हैं जो सम्पूण नामरूपोका अधिष्ठान है, सम्पूण कल्पनाओका प्रकाशक है, जिसमे आपका यह माया-मण्डल, गह्वर-गुफा, बंकनाल, त्रिकुटी अध्यस्त हैं। देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न अद्वितीय तत्त्वको ही हम ब्रह्म बोलते हैं। आपने दोनो भौंहोके बीचमे रहनेवाले मासके लोथडेका नाम 'ब्रह्म' रख छोडा है तो यह आपका अज्ञान हुआ या हमारा? इसके ऊपर यानी क्या होता है?'

जिसके मनमें जैसी बात बैठा दी जाती है, जिसकी बुद्धि जिस सस्कारसे आक्रान्त, आतंकित हो जाती है, वह उसे छोडकर ऊपर नही जा सकता। यह बुद्धिका मल है। अत बुद्धिको निर्मल बनाओ।

●

२४. उद्‌बोधन

सगति

तेरहवें मन्त्रमें एक तरहसे लयकी प्रक्रिया ही बतायी गयी। लय भावनापूर्वक होता है और विचारपूर्वक भी। यहाँ विचारपूर्वक लयकी पद्धति है। ज्ञानमार्गमे सूक्ष्मबुद्धिकी आवश्यकता पड़ती है। १२वें म त्रमे कहा है

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि ।

इस मन्त्रके लिए भगवान् शकराचार्यने भाष्यका प्रारम्भ इस प्रकार किया है '

"एव पुरुष आत्मनि सव प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रय यन्मिथ्या-ज्ञानविजम्भित क्रियाकारकफललक्षण स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थ प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम्—अनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत, हे जन्तव आत्माज्ञानाभिमुखा भवत।'

कहते हैं, 'जिसे पहले विष्णुपद कहा गया था 'तद् विष्णो परम पदम्', उसीको यहाँ पुरुष कहा गया है। ११वें मन्त्रमें बताया है

पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गति ।

अर्थात् जो विष्णुपद है वही तुम हो। 'पुरुष' कहनेपर भी कोई उसे अपनेसे अलग न समझे। क्यों? तो १३ वें मन्त्रमें बताया है '

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

यहाँ 'आत्मनि'से वही पद कहा गया है। ९वें मन्त्रमें कहा है, तद्विष्णो परम पदम् और १२वें मन्त्रमें कहा है गूढोत्मा न प्रकाशते। इसीको १३वें मन्त्रमें 'शान्त आत्मा' कहा गया है।

तात्पर्य, यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि विष्णुका परमपद कोई दूसरा है और आत्मा कोई दूसरा। पूरा एक ही वस्तुका सारा-का सारा वर्णन किया गया है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि यह किसी दूसरे पुरुषका साक्षात्कार नहीं, अपना ही साक्षात्कार है। इसमें सभीका प्रविलापन करना चाहिए। नाम जीभ से बोला जाता है, रूप आँखोंसे देखा जाता है, कर्म हाथ-पाँवसे होता है। बृहदारण्यकमें नाम रूपका और छान्दोग्यमें नाम, रूप और कर्म तीनोंका वर्णन है। ये तीनो ब्रह्ममें अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं। कर्मसे पापी-पुण्यात्मा, रूपसे सुरूप कुरूप और नामसे स्त्री-पुरुष बताये जाते हैं। यह 'मिथ्याज्ञानविजृम्भितम्' है, अर्थात् अपने स्वरूपका यथार्थज्ञान न होने के कारण नाम, रूप, कर्मभेदसे तीन बातें मालूम पड़ती हैं। जितनी क्रियाएँ हैं, उनके करनेके जितने कारक हाथ, पाँव आदि सामग्री हैं और सुख, दुःख आदि जितने फल हैं आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर तीनोंका प्रविलापन हो जाता है।

इसके लिए दृष्टान्त देते हैं : जैसे सूर्यकी किरणोंमे दीखता हुआ जल, रज्जुमे सर्प आकाशमे नीलिमा। यदि सूर्यकी किरणें जान लें तो वहाँ जल नहीं रज्जुको जान लें तो सर्प नहीं, आकाशके स्वरूपको जान लें तो वहाँ नीलिमा नहीं। इनमे जो सत्वकी भ्रान्ति हो रही है, वह अधिष्ठान याथार्थ्यके ज्ञानके बिना ही हो रही है। ज्ञान हो गया तो उसका प्रविलापन हो गया। यह योगियोके ध्यान देनेयोग्य बात है कि 'आकाशके स्वरूपका ज्ञान होनेपर आकाशकी नीलिमाका प्रविलापन हो जाता है।'

जो आकाशको जान जाता है, उसे क्या आकाशकी नीलिमा नहीं दीखती ? जबतक आँखे रहेगी, वह दीखती ही रहेगी, लेकिन जो आकाशके स्वरूपको जानता है, वह जानता है कि आकाश ही सब कुछ है, नीलिमा कुछ नहीं। इसी तरह जो ब्रह्मको जान लेता है, उसे क्या प्रपञ्च नहीं दीखता ? जब तक इन्द्रियाँ रहगीं, तबतक उसे भी सारा प्रपञ्च दीखता रहेगा। लेकिन जसे आकाशके स्वरूपका ज्ञान होनेपर दीखती हुई भी नीलिमा प्रतीतिमात्र रह जाती है, वैसे ही अपने स्वरूपका ज्ञान होनेपर दिल-दिमाग, इन्द्रियाँ और उनमे मालूम पडनेवाली दुनिया प्रतीतिमात्र रहेगी, वास्तविक नहीं। इसलिए जो कहा जाता है, सो कहा जाने दो, किसीकी जीभ पकडनेकी आवश्यकता नहीं। जो दीखता है, सो दीखने दो, किसीपर स्याही पोतनेकी आवश्यकता नहीं। जो होता है, सो होने दो, किसीका भी होना बन्द करनेकी आवश्यकता नहीं। तुम तो स्वरूप हो, अपने स्वरूपमे स्थित हो और कृतकृत्य हो। तुम्हे कोई कर्तव्य करनेकी आवश्यकता नहीं। तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मदेव, ब्रह्मदेव ही हो।

यह बात तो ज्ञान होनेपर ही मालूम होगी न ? इसलिए अनादि अविद्यामे सोनेवाले जन्तुओ ! उत्तिष्ठत=उठो ! जाग्रत=जागो ! इस उद्बोधनके लिए यह १४वाँ मन्त्र प्रवृत्त है। श्रीशंकराचार्य-

'जाग्रत' का भाष्य करते हैं अज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थ बीजभूताया क्षय कुरुत।' अर्थात् अज्ञानकी इस नींदमें तुम सपनेकी तरह सारी सृष्टि देख रहे हो। बड़ी भयंकर निद्रा है यह, जिसमें सारे अनर्थके बीज भरे पड़े हैं। इसे नष्ट कर दो—अरे, पुरुष! जाग्रत, जाग्रत।'

> उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
> क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
> दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥१४॥

[अरे अविद्याग्रस्त लोगो!] उठो, [अज्ञान-निद्रासे] जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छूरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं॥ १४॥

"तुम्हारा मन एक सड़क है। उसमे भरे सस्कारके अनुसार लोग आते-जाते हैं। इन्हें जब सच्चा मानते हैं तो ये फन्देमे डालते हैं। यही कारण है कि सभी धर्मात्मा, उपासक, योगियोको जीवन-भर मनके बनाये इस भूतसे लड़ना पड़ता है। वे अपने मनसे ही भूत बनाते हैं और फिर उससे लड़ते हैं। वेदान्ती जानता है कि मनीरामका स्वभाव ही ऐसा है कि कभी ये मित्र बनकर दुलार करते हैं, कभी भूत बनकर धमकाते हैं तो कभी माँ-बाप, पत्नी-पुत्र, प्रिय-शत्रु बनकर आते हैं। इन्हें महत्त्व मत दो, इनके कहनेके अनुसार मत चलो। संसारमे मित्र-शत्रु बनाना, जागतेका सपना है। यह प्रतीतिका सहज स्वभाव है, भासती है तो भासने दो। यह मायिकका भूषण है। जादूगर कुछ-न कुछ भासवाता रहता है। तुम यह नीद, नासमझी छोड़ो और जाग जाओ!

प्राप्य वरान्निबोधत । अमृतवर्षी, अमृतदान करनेवाले, वरेण्य परमात्मासे एक हो जानेवाले तत्त्ववेत्ता महापुरुषके पास जाकर इस परमतत्त्वको समझो । 'जो सर्वान्तर्यामी परमात्मा है वही मै हू' ऐसा बोध प्राप्त करो **तदहमस्मि इति निबोधत, अवगच्छत** । **'नह्युपेक्षितव्यम'**—इसकी उपेक्षा मत करो । यह बडे कामकी बात है । यदि यह तुम्हारी समझमे आगया कि 'म कौन हूँ' तो तुम्हारे सारे दुख अभाव दारिद्रय भाग जायँगे । बडी कृपासे माँ जैसे अपने बेटेको समझाती है कि "बेटा, मास्टरके पास जाकर पढो," वैसे यह श्रुति भगवती, यह वेद भगवान् भी बडी कृपाके साथ तुम्हे समझाते हैं कि "ब्रह्मवेत्ताके पास जाकर जानो ।"

वेदान्तका जीवन समस्याहीन जीवन है । किसीके जीवनमे जब कोई समस्या उत्पन्न होती है और वह बडी प्रबल होती है तो उसे 'समस्या-प्राबल्यम्' कहते ह । वेदान्तीके जीवनमे समस्या न होनेका कारण है—जिसका अभाव मालूम पडता है, उसका अभाव नही, अधिष्ठान है और जिसका भाव मालूम पडता है, उसका भाव नही, अधिष्ठान है । हर हालतमे अपना आपा यो-का-त्यो है ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया । उसे जानो, जानो, क्योकि जाननेमे थोडी कठिनाई है ।

एक जिज्ञासु महात्माके पास आये । महात्मा बडे दयालु थे । जिज्ञासुने पूछा "सत्य क्या है ?"

महात्मा बोले "तू ही सत्य है भाई । जितना कुछ दिखायी दे रहा है, वह बिना हुए ही दीख रहा है । तू ही सत्य, ब्रह्म, अधिष्ठान है ।"

जिज्ञासु दूसरे दिन आकर फिर पूछने लगा "कुछ और

बताओ ! इतनी सीधी सी बात—'तत्त्वमसि' कह दिया ! कोई यज्ञ करना नही पडा, मन एकाग्र करना नही पडा, उपासनासे देवताको प्रसन्न करना नही पडा। क्या परमार्थ इतना सीधा-सादा है ?"

महात्माने कहा , "हमारे पास तो इतना ही है । जाओ किसी दूसरेके पास जाओ ।"

जिज्ञासु दूसरे महात्माके पास गया। उन्होने पूछा "तुम्हें क्या चाहिए ?"

जिज्ञासु "परमात्मा ।"

महात्मा "परमात्मा ऐसे नही मिलते ! जाओ, बारह वर्ष तक गाय चराओ और गोबर पाथो, बतन माँजो !"

उसने वही किया ।

बारह वर्ष बाद उसने पूछा तो फिर कह दिया "अभी और बारह वष गाय-चराओ, । गोबर पाथो । बर्तन माँजो ।'

इस प्रकार उसे चार बार कहा। अडतालीस वर्ष इसी प्रकार बीत गये । तब महात्माने पूछा "अडतालीस वर्ष हो गये ?"

जिज्ञासु "हाँ हो गये ।"

महात्मा "तुम्हें अभी सत्यका दशन हुआ या नही ?"

जिज्ञासु "नहीं महाराज, अभी तो आपने बताया ही नही ! अभी कहाँ हुआ ?"

महात्मा "तू ही सत्य है। तू ही परब्रह्म परमात्मा है ! तत्त्व-मसि ! तेरे सिवा दूसरी कोई वस्तु नही है ।'

जिज्ञासु "हाय राम ! यदि अन्तमे यही सच्चा निकलना था तो गाय चराना, गोबर पाथना, बतन माँजना, रसोई, कोठार संभालना—यह सारा अडतालीस वर्षका झगडा हमपर क्यो थोपा ?"

कई लोगोका स्वभाव होता है कि जबतक उनसे कुछ उठकी-बैठकी, आसन साधन न करवाया जाय, जबतक उन्हे दमघोटू उपाय न बताया जाय, जबतक न कहा जाय कि 'अडतालीस वर्षों तक प्राणायाम करो, इन्द्रियोसे लडाई करो' तबतक वे मानते नही। अन्तमे यही कहना पडेगा कि 'इन्द्रियोका स्वभाव है तो वे बाहर देखती रहेगी। जिज्ञासु अन्धा-बहरा नही हो जायगा, चाहे जितनी लडाई करो।

कहते हैं 'मनको रोको।' मनको रोका तो कहेगे 'पत्थर रोके रहो।' किन्तु अन्तमे कोई भी यह नही कहेगा कि 'पत्थर रोके रहना ही तुम्हारा परमार्थ है।' जो लोग ऐसा समझते हैं, वे बिलकुल गलत समझते ह।

ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी प्राप्तिके बिना मनुष्यका असतोष कभी नही मिट सकता। ये स्त्रियाँ अपनी पारसमणि (पर्स) लेकर बाजार जाती ह और पाँच रूपयेकी कीमतवाली चीज दूकानदार बताये तो कहेगी 'हटाओ-हटाओ।' क्योकि घरसे सौ रुपयेवाली चीज सोचकर जाती है। सौ रुपया खर्च किये बिना उनका मन नही भरता। पर्स खाली न हो जाय तो उन्हे सतोष नही होगा। वह चीजकी अच्छाई नही देखेंगी, अधिक कीमती वस्तु खरीदना पसन्द करेंगी। दलिया, खिचडी बनाना कितना आसान है? लेकिन आदमी कढी, डोसे, बडे बनाता है या नही? इससे यह प्रमाणित होता है कि कष्ट साध्यमे भी लोगोकी रुचि होती है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया। जैसे खूब शान धराकर छूरेकी धार तेज करायी जाय तो उसपर पाँव रखकर चलना कठिन होता है, वैसे ही वेदान्तके मार्गपर चलना कठिन है। लोग समझते हैं कि जैसे हाथमे फूल लेकर उसे आँखसे जाना जाता है,

वैसे आत्माको भी हाथमे लेकर आँखोंसे जान लेंगे। फूल तो छोटी मोटी, स्थूल चीज है और नेत्रका विषय है, हाथमें उठायी जा सकती है, इसलिए आप इस तरह उसे जान सकते हैं। यदि आप इसी तरह अपनी आत्माको भी जानना चाहे तो ?

आप हेंगिंग-गार्डनमें गुलाब देखकर आये तो देखनेका एक अभिमान बनेगा कि मैंने देख लिया। अपने आपके बारेमे क्या आपका य.ी खयाल नही है कि फूलकी तरह द्रष्टाको आँखोंसे देख लें ? शत्रु-मित्रको मनसे पहचानते हैं, वैसे क्या आत्माको मनसे पहचानना चाहते हैं ? क्या आत्मा आने-जानेवाली नीदके समान है ? दूसरी चीजोको देखनेकी प्रक्रिया और आत्मदर्शनकी प्रक्रिया-मे बडा अन्तर है।

जीवनभर दुनियामे बाहरी चीजोको देखनेकी जो आदत पड गयी है, उसीको लेकर जब आत्माके दर्शनके लिए आते हैं, तो मन ही मन अपनेको देखनेवाले और आत्माको दीखनेवाला समझते हैं। बाह्य पदार्थोंको देखते देखते ज्ञेय ज्ञाताके अनुसार जो दर्शनमे पड गया है, वह आत्माको भी दृश्य बनाने लगते हैं। यह दृश्य बनानेका आग्रह दुराग्रह है। जो दृश्य हो रहा है, वह द्रष्टा कैसे होगा ? दृश्यको देखकर मनुष्य कहता है 'हमने आत्माको देख लिया।'

श्रुतिने इसीको बताया है **अविज्ञात विजानताम्**। जिन्होने यह दावा किया कि 'हमने आत्माको जान लिया, देख लिया', उन्होने वास्तवमे उसे नही देखा।

'यस्यामत तस्य मतम्।' यह बडी अद्भुत लीला हुई। अपनेको देखनेका तरीका बडा न्यारा है। आपने अपनी आँखोंसे अपनेको क्यो नही देखा ? आत्माकी बात छोडें, आँखकी अपनी

पुतलीको खुली या बन्द आँखसे देख सकते ह ? कभी आपने अपनी पुतलीको देखा कि वह कैसी है ? पुतलीसे ही तो देखते है न ? कभी नही। आखिर उमे देखनेका कौन सा तरीका है ? शीशेमे आखकी पुतलीको देखेंगे, क्योकि आँखकी पुतली ही से ता आप देख रहे हैं। जिससे देखते है, उसे कैसे देखेंगे ? उसकी परछाईको शीशेमे देखेगे ? शीशेमे देखते हुए विवेककी आवश्यकता पडेगी। आँखकी पुतली जो दीख रही है, उसमे शीशा कितना है ? शीशे-के भीतर क्या आँखकी पुतली घुसी है ? नही ! तुम क्या शीशेके भीतर होकर देख रहे हो ? तुम खडे हो पूरबकी ओर मुँह करके और शीशेमे दीख रहे हो पश्चिम की ओर मुँह करके। यदि तुम अपनेको शीशेमे पश्चिम मुँहम झूठा समझो तो वह शीशेकी उपाधिके कारण देखनेवाला शीशेके बाहर है। क्या वह स्वय भीतर है ? नही। यद्यपि अपनेको देखनेके लिए बुद्धिका शीशा है, कारण अन्त करणके शीशेमे ही अपने आपको देखा जाता है। लेकिन उस शीशेमे अपने आपको देखते हुए भी शीशेमे घुसे हुए विपरीत मुँहसे देखते हुए मालूम पडते हैं।

बुद्धिकी जडता कितनी है और वह अपने आपको दिखाती हुई भी कौन-कौन-सी विशेषता हमारे अन्दर डाल देती है और हमें कितना दिखाती है ? इसे समझगे नही तो अन्त करणके शीशेमे हम अपनेको कैसे समझ पायेंगे ? जब हम शीशेसे और परछाईंमे अपना विवेक करेंगे, तब अपने आपको समझायेंगे कि 'इस बुद्धिके शीशेमे जीव और ईश्वररूप आभास परछाईं है। बडी बुद्धिमे बडा आभास और छोटी बुद्धिमे छोटा आभास दीखता है।' परछाईंके प्रतिबिम्बमे बिम्बका, छायामे अपने स्वरूपका विवेक जब तक जाग्रत नही होगा तब तक अपने आपको कैसे समझेंगे ? यह प्रतिबन्धकी चर्चा है। यदि कोई मानता हो कि हम

इतने यज्ञ या होम करेंगे, अमुक देवताको खुश करेंगे या अमुक समय तक समाधि लगायेंगे तब अपने आपको देखेंगे, तो ये सारे प्रतिबन्ध हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारके साधनोंमें आस्था होना, बुद्धि-रूप शीशेसे तादात्म्य होना, उसके द्वारा उत्पन्न विशेषताओसे विवेक न होना, अपनेको छायासे अलग न कर पाना, ये सब ऐसे कारण हैं, जिनसे मनुष्य अपने आपको जान नहीं पाता, समझ नही पाता।

इसीलिए कहा 'प्राप्य वरान्निबोधत।' अर्थात् उन बडो, वरो-के पास जाओ, जिन्हें द्वैतकी कोई समस्या नही है। फुर गया, फुर गया! उड गया, उड गया! खो गया, खो गया! समाधि लग गयी, लग गयी! मित्र-शत्रु बनकर आ गया, आ गया! कोई हर्ज नही जिसके लिए सयोग-वियोग, जन्म-मरण, द्वैत कोई समस्या ही नही, वह सबसे बडा या वर है।

एक मच्छर उडता हुआ आकर बैलकी सीगपर बैठ गया और बडी देरतक बैठा रहा। जाते समय वह बोला "वृषभदेव! इतनी देरतक मैं आपको सीगपर बैठा रहा, माफ करो!"

बैलने कहा "हमे तो पता ही नही, तुम कब हमारी सीगपर आकर बैठे, कितनी देर बैठे और कब उड गये! तब हम तुम्हें क्या क्षमा करें और तुम भी क्या क्षमा माँगते हो?"

ये ससारी नन्हें-मुन्ने लोग, एक शरीरमे आनेवाली जिन बातोको, रहने-न रहनेवाली जिन समस्याओको बहुत बडी मानकर पकड रखते है, वास्तवमे कोई तत्त्व नही। मनीरामकी समस्या अलग है और बुद्धिरानीको समस्या अलग। लेकिन अपने ब्रह्मस्वरूपमे विराजमान महात्मा, ज्ञानीके लिए ये सारी समस्याएँ मच्छरतुल्य हैं।

एक बडे महात्माने हमे बताया 'ससारी पुरुषकी दृष्टिमे बहुत बडी समस्या होती है, महापुरुषकी दृष्टिसे ब्रह्मसत्तामे उसका कोई अस्तित्व ही नही है। जिसके लिए ससारी लोग आपसमे लडाई मुकदमे करते है, हँसते रोते या राग-द्वेष करते है, मरते जीते है, जानकी बाजी लगा देते है, वह ब्रह्मज्ञानीके लिए कोई समस्या ही नही। कोई चीज रहे तो रहे, जाय तो जाय, यह तो सपनेका खेल है, जादूगरका जादू है, माया है, एक प्रकारकी प्रतीति है। महापुरुषकी दृष्टिमे उसका कोई महत्त्व नही।'

दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति। जिज्ञासु जब विषयासक्तिको ही परमार्थ समझ लेता है तो उसके लिए ब्रह्मज्ञान दुर्गम हो जाता है। वह जब अपनी बुद्धिका प्रयोग व्यवहार-व्यापारमे तो खूब करता है, परमार्थमे नही करता तो दुर्गम हो जाता है। जब वह तर्क वितर्क अधिक करता है और तर्क-वितर्कके द्रष्टा, अधिष्ठानकी ओर ध्यान नही देता, अज्ञान दशामे तो अपनेको हड्डी-मास चामका पुतला मानता ही था और ज्ञानके बाद भी अपनेको शरीर ही जान पाया। ऐसे लोग कहते है 'महाराज, आँख हमारी जरा टेढी है, इतना वजन हाथसे नही उठाया जाता, पावसे चला नही जाता, मनमे ये बातें नही आती या नही जाती।' ऐसे देहाभिमानीका कभी ब्रह्मज्ञान नही होता। विपर्ययमे दुराग्रह करनेवालेको कभी ब्रह्मज्ञान नही हो सकता।

एकने कहा 'हमे भगवान् अभी मिलें।'

महात्माने पूछा 'तब तुम क्या करोगे? तुम्हारा क्या ख्याल है?'

वह बोला "जब भगवान् मिल जायँ तो मैं पलत्थी मारकर

बठंगा, हमारे भगत आयेंगे, चंदन लगायेंगे, माला-फूल चढायें। और हाथ जोडकर बोलेंगे

**राजाधिराजाय प्रसह्य शालिने नमो वय वै श्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् काम कामाय मह्य कामेश्वरो वै श्रवणो दधातु ॥**

देखो ? ज्ञानकी महिमा इतनी ही कि पूजा होगी। ज्ञान होनेके बाद भी यदि देह ही पुजवानेकी इच्छा रहेगी तो ज्ञान आपसे निश्चय ही कतरायेगा। प्रज्ञाकी यह मन्दता कुतर्क, बाहरी चीजोकी पकड, देहासक्ति, विषयासक्ति और बहिर्मुखता है, सबके-सब ज्ञानके प्रतिबन्धक हैं। ज्ञान तो इतना ही है "जो वह सो तुम, जो तुम सो वह। तुम्हारे सिवा दुनियामें दूसरी कोई वस्तु नही। आखिर इसमे तुम्हें क्या शका है ? यही न कि 'हम साढे-तीन हाथके क्यो ?'

फक्कड महात्मा उसे गाली देकर बोलते हैं 'रे जीव कही के ? मैंने तो तुम्हे सातवें आसमान पर उडना सिखाया और तुम्हारी दृष्टि मासके टुकडेपर ही है। मैं तुम्हें ब्रह्म बता रहा हूँ और तुम अपनेको हड्डी-मास-चाम-विष्ठा-मूत्रका भाण्ड ही मान रहे हो। इसे छोडते क्यो नही ? ये शरीर स्वयं नरक है, जाने दो इसे नरक मे। तुम तो बिलकुल स्वच्छ-स्फटिक जैसे निर्मल हो, 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म, स्वय-प्रकाश, सच्चिदानन्दघन हो। यही हम तुम्हें बता रहे हैं।'

देहाभिमान छोडकर इस मार्गपर चलना बडा कठिन है— जैसे छुरीकी धारपर चलना। इसलिए ब्रह्मज्ञानी इसे कठिन बताते हैं।

'दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'के भाष्यमें श्रीशकराचार्य लिखते

है "ज्ञेयस्य अतिसूक्ष्मत्वात् तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्ति।' अर्थात् यह ज्ञेय वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म है और ज्ञानमार्ग दुःसंपाद्य है। फिर भी गीतामें बताया है कि अनायास ब्रह्मसंस्पर्श अत्यन्त सुखमय है

> सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।
> राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
> प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

ब्रह्मसंस्पर्श बड़ा सुखमय है, बड़ा सरल है। योगवासिष्ठमें वर्णन है कि आँख खोलने बंद करनेमें पलक गिरानेमें तो क्रिया करनी पड़ती है, फूलको मसलनेमें उँगलीको तकलीफ देनी पड़ती है, लेकिन अपनेको ब्रह्म जाननेमें कोई तकलीफ नहीं। फिर भी बिना विचार किये अपनेको पहलेसे कुछ और मान बैठनेके कारण ब्रह्मको जान नहीं पाते।

बिना विचारे ही कुछ कुछ ऐसी मान्यताएँ बैठ जाती हैं। विपर्ययमें ऐसा दुराग्रह हो जाता है कि मनुष्य कहता है 'हम तो पुनर्जन्मवाले ही हैं, स्वर्गीय-नारकीय, कर्ता-भोक्ता, परिच्छिन्न ही हैं।' लेकिन ध्यान दें कि आपने यह सब तो बिना सोचे समझे ही मान लिया और जो सोचता है, अनुभव करता है, साक्षात्कार करता है और कहता है कि "हम भी ब्रह्म, तुम भी ब्रह्म"—उस विचारवान्‌की बात पर ध्यान नहीं देते।

ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति दुर्गम इसीलिए है कि आपको समस्याहीन जीवनका ठीक-ठीक भान नहीं है। जिस जीवनमें कर्म, भाव, स्थिति, लोक, परलोक, धर्म-अधर्म, आस्तिक नास्तिक, वेद-अवेदकी कोई समस्या ही नहीं रहती, वही ब्रह्मत्व है। ●

२५. आत्मज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति

संगति

चौदहवें मन्त्रमें जिज्ञासुका उद्बोधन किया गया कि 'इस संसार-रूपी रात्रिकी मोहनिद्रामें बेसुध जीव! तुम जाग्रत होकर बड़ी तत्परताके साथ मानव-जीवनका परम कर्तव्य संपन्न करनेके लिए वरेण्य तत्त्ववेत्ता महापुरुषकी शरण जाओ, जिससे तुम्हें ब्रह्मात्मैक्यबोधकी प्राप्ति हो जाय। यह ब्रह्मसंस्पर्श वास्तवमें अत्यन्त सरल और सुगम है।

वेदादिमें भी जो अनादित्व है, वह तो कल्पित ही है। वास्तवमें अपना स्वरूप ही अनादि है।

उस अपने आपको देखो। अब यह १५ वाँ मन्त्र आत्माके स्वरूप-निरूपणके लिए प्रवृत्त हो रहा है

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

जो अशब्द, अस्पर्श अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्धरहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे भी परे और ध्रुव (निश्चल) है उस आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है ॥ १५ ॥

देहाभिमानी और विषयवर्ती बहिर्मुखके लिए आत्माका ज्ञान कठिन है। सूक्ष्मदर्शी पुरुष जैसे माटीसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म रस निकाल लेते हैं, वैसे ही वे इसी संसारसे परमात्माको ढूँढ निकालते हैं।

१४वें मन्त्रमें पहले जो आत्माको अज्ञेय, दुर्ज्ञेय बताया **दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति,** उसका अभिप्राय है कि आत्मा अति-सूक्ष्म है।

यह धरती है। इसमें जो गंध है, वह नाककी पकड़में आती है, रस जीभकी पकड़में आता है, रूप आँखको देखनेमें आता है, स्पर्श त्वचासे मालूम पड़ता है और शब्द कानसे सुना जाता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे पाँच गुणवाली यह पृथ्वी मालूम पड़ती है।

अब यह भी विचार करो कि जैसी पृथ्वी है, वैसा ही शरीर। इसमें भी पाँचों विषय हैं। यह भी देखनेमें आता है कि पृथ्वीमें तो ये पाँचों हैं, पर जलमें गन्ध नहीं है, अग्निमें गन्ध और रस दोनों नहीं हैं, वायुमें गन्ध, रस, रूप तीनों नहीं है और आकाशमें चारों नहीं हैं। विवेक करके देखनेपर हमें मालूम होता है कि यह शरीर तो पञ्चभूतोंसे बना है और व्यष्टि-समष्टि दोनों शब्दादि-वाले हैं। इनके ज्ञानके लिए अपने पास करण भी पाँच हैं।

शरीरके दृष्टान्तसे यह समझमें आता है कि जब आप अपनेको देखना चाहते हैं तो स्वयं देखनेवाला और देखा जानेवाला, दोनों एक नहीं हो सकते। इसीको 'कर्तृ-कर्म विरोध' कहते हैं। ज्ञान ज्ञेय हो, भोक्ता भोग्य हो, कर्ता कर्म हो—यह नहीं हो सकता। तब हम अपनेको कैसे देख पाते हैं? वृत्तिरूप दर्पणमें प्रतिबिम्बित जो अपना आपा है, उसीको देखकर अपने बारेमें साक्षादपरोक्ष निश्चय कर लेते हैं कि 'मैं ऐसा हूँ।'

संसारमें गंध आती है? गंध तब आती है जब आप पनालेमें होते हैं। वहाँ तो गंध आयेगी ही। गंधवाली पृथ्वी गंधरूप गुणकी आश्रय है और गंधको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय है नाक। ये तीनों दूसरेमें है, देखनेवालेमें नहीं। आप न गंध हो, न गंधकी आश्रय पृथ्वी और न नासिका द्वारा ग्रहण करनेवाले घ्राता। घ्राता, घ्राण और गंधकी यह त्रिपुटी और आश्रयभूत पृथ्वीद्रव्य सत्ताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तो पृथ्वी मिथ्या हो गयी। पृथ्वीके संबंधसे जिस पृथ्वीमें ये तीनों भास रहे हैं, वे तीनों अनात्मा हैं। तीनों अपने स्वरूपमें प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः नहीं हैं।

वेदमें पाँच विषय और उनको ग्रहण करनेवाली पाँच इन्द्रियाँ

मानी ह। उन विषयोके आश्रयभूत द्रव्य भी पाँच है। जिह्वाको रसका ज्ञान होता है। रस जिस धातुमे रहता है, उसका नाम 'जल' है। जिह्वाको जो रस मिलता है, वह रसयिता है। रस, रसयिता जीभ और रसका आश्रय द्रव्य तीनो वृत्तिरूप शीशेमे भास रहे है। रस है ता ज्ञानस्वरूप, लेकिन रसनाक सबधसे रसयिना और घ्राणके सबधसे घ्राता बने है। इसी प्रकार रूपका आश्रय तेज, रूपको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय आँख और आँखके सबधसे हम द्रष्टा बन गये ह। वास्तवमे जिस वृत्तिरूप शीशेमे हम दिखायी पड रहे ह, जिस व्यक्तित्वमे हमारी छाया मालूम पड रही है, यदि हम अपने आपको उसके गुणधर्मोसे अलग कर पहचानें, तो न हम गन्ध लेनेवाले घ्राता हैं, न रस लेनेवाले रसयिता, न रूप देखनेवाले द्रष्टा हैं और न स्पश करनेवाले स्प्रष्टा। कारण वायुके आश्रयसे जो द्रव्य स्पर्श रूप रहता है और त्वचासे ज्ञात होता है, उससे अन्तकरणके शीशेमे स्थित त्वचारूप इन्द्रिय द्वारा अपना सम्बन्ध जोडते है ता हम 'स्प्रष्टा' वन जाते हैं। ऐसे ही शब्द, शब्दका आश्रय द्रव्य आकाश और शब्दको सुननेवाला श्रोत्र—इनके सम्बन्धसे हम कानवाले बनते हैं तो 'श्रोता' हो जाते ह। वास्तवमे क्या हम घ्राता, रसयिता, द्रष्टा, स्प्रष्टा या श्रोता है ?

विचार करके देखे हम पाँच तो हो नही सकते। भले ही पाँच गुण हो, पाँच इन्द्रियाँ हो, पाँच विषयद्रव्य हो पर हम तो पाँच नही, एक है। हम जब जिस इन्द्रिय द्वारा जिसे अपना विषय बनाकर ग्रहण करते हैं तब हमे वह द्रव्य दिखायी पडता है। वास्तवमे हमारे भीतर न द्रव्य है, न विषय और न इन्द्रिय। हम केवल ज्ञानमात्र है। ज्ञानमे सूँघनेवाला, देखनेवाला, स्पश करनेवाला,

रस लेनेवाला या सुननेवाला—ये जो विशेष आकार हैं, वे इन्द्रियके सबधसे हैं। इन्द्रिय तो शीशा है, बिम्ब थोडे ही है? इन्द्रियाँ तो वह शीशा है जिसमे ज्ञानस्वरूप हमारे बिम्बका प्रतिबिम्ब पड रहा है। जब हमे विवेक करना होगा, तो पाँचो इन्द्रियोंसे अलग कर अपनेको जानना पडेगा। यह ध्येय नही है कि आँख बन्द करके इसका ध्यान करें।

इसी बातको समझानेके लिए कहा है **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथारस नित्यमगन्धवच्च यत्**। इन पाँच गुणोमे तारतम्य भी देखनेमें आता है। इस प्रकार अन्त करणमे जो ये पाँचो वृत्तियाँ है वे हमारे ज्ञानस्वरूपमे नही हैं। ज्ञान इनसे बिलकुल न्यारा है। ज्ञानस्वरूप अपना आत्मा श्रोत्र, त्वचा, नेत्र तीनोसे रहित है, अगन्ध तथा अरस है—गन्ध और रस दोनोंसे न्यारा है।

आत्माका रूप अव्यय है 'न व्येति (न+वि+एति) = विपरोतभाव न प्राप्नोति, न विपर्येति।' जैसा हो वैसा ही रहे चाहे यह शरीरमे न जनमे या मरे, सृष्टि हो या प्रलय, कम हो या न हो, भोग मिले या न मिले।

यद्धि शब्दादिमत् तद् व्येति—अर्थात् जिसमे शब्द-स्पर्शादि होते हैं, उसका व्यय होता है। लेकिन **इद तु अशब्दादिमत्त्वादव्ययम्**। अर्थात् भले ही पाँचो बदल जायँ, पर अपना आपा नही बदलता। भोजनके समय रस बदलता है—इमलीका खट्टा, गुडका मीठा, दालका नमकीन, चटनीका तीखा। ये बदलते गये, पर तुम तो नही बदले। जीभपर खट्टा-मीठा, खारा-तीखा स्वाद देनेवाले छेद अलग-अलग हैं, पर जीभ है एक ही। जीभका ज्ञान हुआ। भोग का अर्थ है मालूम पडना, और कुछ नही।

एक आदमीको हलुवा और चटनी खिलाओ। हलुवा हलुवा न मालूम पडे और चटनी चटनी न मालूम पडे तो खानेवालेको क्या कोई मजा आयेगा ? वास्तवमे मालूम पडना ही मजा है। मालूम पडनेके सिवा और कुछ मजा नही। ज्ञान ही भोग है। यदि आपको यह ज्ञान हो जाय कि 'सपूर्ण जगत्के सृष्टि स्थिति-प्रलयका अधिष्ठान स्वयप्रकाश, सर्वावभासक परमात्मासे मै एक हूँ' तो क्या होगा ? सब सुख और आनन्द, सब ज्ञान, सब सत्ता एक साथ अपने हाथ आ जायेंगे। फिर क्या बाकी रहा ? इसके प्राप्त हो जानेपर कोई भी वस्तु अप्राप्त नही रहती। सब कुछ अपना आपा ही है।

नित्यम् दुनियामे लोग कहते हैं कि 'चलो, इस समय मजा आ जाय, बादमे आये या न आये।' बडे मतलबी हो। विचार-दृष्टि ही छोड दी। धर्म हमारे जीवनमे एक शाश्वत दृष्टि लाता था 'हमे एसा काम करना चाहिए, जिससे इहलोकमे भी सुख हो और परलोकमे भी सुख।' धर्मपर विश्वास होनेसे सृष्टिमे शाश्वतदृष्टिका आरम्भ हुआ है।

बेईमानी करनेवाले सोचते हैं कि "कौन जानता है कल क्या होगा ? स्वर्ग है या नही यह किसे मालूम ? कल मौका मिलेगा या नही यह कौन जाने ? कलका भी यही झमेला होगा। आज तो चलो, नोट छिपाकर रख ले। सरकार पकडेगी तब देखा जायगा।"

जबसे मनुष्यकी दृष्टिसे यह शाश्वत भाव निकल चला, तभीसे वह अपने पाँवके नीचे गिरनेवाला बन गया। आगेकी उसे कुछ सूझ ही नही, देखता ही नही।

'नित्यम्' जो पिछले कल, अगले कल, आज सब समय हो।

नित्यमे भी एक 'परिवर्तनशील नित्य' होता है और दूसरा 'कूटस्थ नित्य'। आत्मा कूटस्थ नित्य है। यदि ऐसी धारणा करेंगे कि 'हमारा आत्मा तो बदल गया—एकबार हम छोटे चींटीरूप हुए और दूसरी बार बडे हाथीरूप' तो यह गलत है। आत्मा कभी नही बदलता। हम जाडेके दिनोमे मोटा कोट पहनते हैं और गरमीमे हल्का-फुल्का कुरता। इसी तरह हाथी-चींटीका शरीर पोशाक है। स्त्री खडी रेखाकी साडी पहने तो लम्बी लगे और गोल रेखाकी साडी पहने तो नाटी लगे। लबी स्त्रियाँ गोल रेखाकी साडी पहननेसे नाटी नही हो जाती, नाटीसरीखी लगने लगती हैं। ठीक इसी तरह आत्मा चींटी-हाथी नही हो जाता, वैसा लगने लगता है।

आत्मा 'दृश्य' है। 'दृश्य' (दृक् धातु) और 'भव्य' (भू धातु) में अन्तर है। वस्तु मालूम पडना और उसका होना दोनो एक नही हैं। चन्द्रमा है तो बडा भारी, पर दीखता है बित्तेभरका। सूयका गोला है तो पृथ्वीसे लाखो गुना बडा, पर दीखता है हाथ-भरका। जो चीज जैसी हो वैसी ही दीखे, यह आवश्यक नही। आत्माका स्वरूप ज्ञान है। इससे प्रपच भासता है, दीखता नहीं। भासना और बनना एक नही होता। वेदातमे उत्पत्ति-स्थिति-लयका विवेक, कार्यकारणविवेक पाया जाता है। जो दीखता है उसका विवेक करना पडता है। वेदान्ती लोग दर्शन पढते रहनेपर भी यह नही समझते कि वेदान्तमे सृष्टि-प्रपञ्चको 'कार्य' नही, 'दृश्य' कहा जाता है। 'दृश्य'का अर्थ है द्रष्टाकी दृष्टिका विलास बनना, तो 'कार्य'के मानी है किसी कारणका कार्यरूपमे बन जाना। स्वप्न दृश्य है, कार्य नही। रज्जुमे जो सर्प है, वह काय नही, रज्जुरूप उपादानमें 'दृश्य' है। सीपमे चाँदी काय

नही, दृश्य है। आकाशमे नीलिमा दृश्य है, कार्य नही। इसीलिए कार्य-कारणभाव मिथ्या है। दृश्य-द्रष्टाभावका विवेक करते समय 'दृश्य' का अस्तित्व आवश्यक नही होता। द्रष्टा तो है ही और वह देखता भी है, दृश्य है और दीखता भी है यह आवश्यक नही। इसलिए दृश्य बिना हुए ही अखण्ड, अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय, अनन्तम भासता है। इसमे दूसरेके लिए कोई मौका नही, अवकाश नही।

प्रश्न होगा कि क्या दृश्य है ? तो उत्तर है 'हाँ है।' अरे, ब्रह्ममे दृश्य भी कहा है ? ब्रह्मम अनिर्वचनीय देश-कालरूपमे यह प्रपच है। यह बात क्यो कही जाती है ? इसलिए कि गुरु चेला दोनो बाहर बैठकर बातचीत कर रहे ह। जसे कल्पित गुरु कल्पित चेलेसे बात कर रहा है, वैसे ब्रह्ममे यह कल्पित प्रपच दिखायी पड रहा है ? जब यह भान हो कि 'नही-नही, न हम चेला, न तुम गुरु।' तो प्रपच भी नही। अगर गुरु चेला सिद्ध करो तो यह अनिवचनीय प्रपच सिद्ध होगा, अन्यथा नही। ब्रह्मदृष्टिसे प्रपच है ही नही। गुरु चेलेकी दृष्टिसे ब्रह्ममे प्रपच अनिवचनीय है। अज्ञानीकी दृष्टिसे प्रपच 'सत्' है, विवेकीकी दृष्टिसे 'असत्' हे तो हमारी दृष्टिसे 'ब्रह्म' ही है। हम गुरु चेला नही ह। चेलका बनाया हुआ गुरु दो कौडीका है और गुरुका बनाया हुआ चेला ? ये बने बनाये किस कामके ? विलक्षण है यह ब्रह्म-दृष्टि।

'नित्यम्'=कूटस्थ नित्य। जो अपने स्वरूपसे कभी च्युत नही होता, कभी अपने स्वरूपका परित्याग नही करता। कूटस्थ यानी जा जो वस्तुएँ आनेवाली होती ह, वे अपने कारणमे लीन होती है 'यत् यत् हि आदि यद् भवति तत् तत् कार्यत्वात् अनित्य कारणे प्रविलीयते।'

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।
गीतामे वर्णन आता है

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।

अनादि जो-जो वस्तु आदिवाली होती है, उनका कोई कारण होता है । वह कारणसे कार्यरूपमे पैदा हुई, तभी आदि हुई । आदि यानी एक दिन, किसी मिनट-सेकेण्डमे किसी जगह कोई वस्तु उत्पन्न हुई । किसी वस्तुका आरम्भ हुआ तभी न वह उत्पन्न हुई ? जब वह मिटेगी तब कही जायगी—कारणमे जायगी । आदि यानी पहले न था, अन्तमे भी नही रहेगा, बीचमे जो आदि दीख रहा है, वह कहाँ दीख रहा है ? उस आदिसे विलक्षण है परमात्मा का स्वरूप ।

अनाद्यनन्तम् । जैसे घडा मिट्टीमे लीन होता है वैसे प्रपच परमात्मामे लीन नही होता । परमात्मा अनादि-अनन्त है । वह कारण-कार्यभावापन्न नही है ।

मान लीजिये, किसीने कहींसे कदली-बीज लेकर बडे प्रेमसे केलेका पेड लगाया । धरतीमे बीज बोकर उसे सींचा, बडा किया और फल केला लग गया । 'जो न रहे अकेला वह केला ।' केलेका फल कभी अकेला नही होता । अन्य वृक्षोमे आम, अमरूद, कटहल अलग-अलग होते हैं, लेकिन फल लगनेके बाद केलेका पेड खतम हो जाता है ।

इसका तात्पय यह कि जब कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है तो उसका अन्त निकल आता है । ब्रह्मसे भी यदि प्रपचरूप कार्यकी उत्पत्ति हो जाय, केलेका पेड लग जाय तो ब्रह्म कैसे रहेगा ? ब्रह्मकी ब्रह्मता इसीमे है कि उसके कोई माँ-बाप नही होते । मा-बापसे पैदा होता तो वह पहले नही होता ।

यह भी नही कि बेटा पैदा कर और उसीको उत्तराधिकारी बनाकर (कि "बेटा, अब तू ही मालिक है") ब्रह्म तपस्या करने चला जाय या मर जाय। ससारमे तो यही है कि बेटा-बहू आय तो छोडो, सम्भाल लो ! घर। अनन्त यानी कायरहित। ब्रह्मके न बेटा बेटी है, न माँ-बाप, न भाई-बन्धु, न पति-पत्नी और न शत्रु-मित्र। वह अनादि-अनन्त है।

महत पर ध्रुवम्। महत्तत्त्व, सबसे महान् कौन है ? सबसे महान् बुद्धि है। ससारमे बुद्धिके बलके बराबर और कोई बल नही। हमारी बुद्धिसे बढकर हमारे गुरुकी बुद्धि है। पर यह भी तुम्हारी बुद्धि है। तुम ऐसे बुद्धिमान् हो कि कैसा छाँटकर तो गुरुजी बनाया। लाखोमे एक। फिर कहते हो कि "हमारी पसन्द देखो, कितनी अच्छी है। तुम अपनी बुद्धिकी तारीफ करते हो या गुरुजीकी ?' तारीफ बुद्धिकी हुई, गुरुकी नही।

किसीने पूछा "तुम्हारी बुद्धि कैसी है ?"

उत्तर दिया "बहुत अच्छी। हम ईश्वरके बारेमे बिलकुल ठीक ठीक जानते है। हम ठीक जानते है कि दो हाथवाले श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं।'

"चार हाथवाले नारायण ?"

"नही। उसमे क्या रखा है ? नारायणसे कृष्ण बडे हैं।"

नारायणसे कृष्णको बडा माननेकी किसने तुम्हे सलाह दी ? तुम्हारी बुद्धिने ही।

किसीने कहा "कृष्णमे क्या रखा है ? वह तो दो हाथवाला मनुष्य है, इधर-उधर गाय चराता है। हम तो नारायणको ईश्वर मानते हैं।"

"अच्छा, तो तुम्हारी बुद्धि बहुत बडी है।"

"हमने निर्णय कर लिया है।"

"क्या ?"

"ईश्वर है।"

"कैसे निर्णय किया ?"

"बुद्धिसे।"

ईश्वरपर सदेह कर, उसे अपने सामने बुलाकर एक कठघरेमे खडाकर, दूसरे कठघरेमे खुद खडे रहकर क्या तुमने निर्णय किया कि ईश्वर है या नही ? स्पष्ट है कि अपनी बुद्धिको ही तुमने जज बनाया, कुर्सीपर बैठाया और उससे निर्णय करवाय कि "ईश्वर है।"

अपनी बुद्धिको महत्ता देनेवाला कहता है 'बुद्धि ईश्वरक निणय करती है, गुरुजीकी योग्यता बताती है, जिस प्रश्नका मैं उत्तर माँगता हूँ, वह गुरुजीको नही आता।"

यह बुद्धि ऐसी है जो गुरुजीको और इष्टदेवताको भी छुड दे। कौन बताता है कि 'हमसे गलती हुई ? हमने तो साकारक ईश्वर मान लिया, पर ईश्वर तो निराकार है।' बुद्धि! तु अपनी बुद्धिकी बात मानकर साकारको छोडकर निराकारको य निराकारको छोडकर साकारको भजते हो। इसीसे बुद्धिके लि 'महत्' शब्दका प्रयोग है। हमारे जीवनमें एक महत्-पुरुष नही महती स्त्री चाहिए। गुरुकी योग्यताको, ईश्वरके अस्तित्वको बडे-बडेको, ग्रहनक्षत्र, ब्रह्माण्ड-पिण्डको तौलनेवाली बुद्धि बैठी है

यह बुद्धि महारानी महत्से भी परे है। जहाँ व्यष्टिबुद्धि औ समष्टिबुद्धि एक हो जाती हैं, वह कौन है ? 'महत परम्'— गुरुकी बुद्धिका प्रकाशक जिसके सामने यह बुद्धि सोती-जागत है, कभी आस्तिक तो कभी नास्तिक बनती है। तुम दोन बुद्धियोको जानते हो या नहीं ?

एक दिन तुम्हारी बुद्धि कह रही थी "पता नही, ईश्वर है या नही ?" तुमने उस दिन अपनी बुद्धिकी बात सुनी थी या नही ?

एक दिन वही बुद्धि कहती थी "अरे, क्या शका करते हो ? वह तो है ही। बिलकुल निश्चय है।" यह बात तुमने सुनी थी या नही ? तो इससे बडी कौन ? जिसके सामने यह कभी आती है, कभी जाती है, कभी जागती है कभी सोती है, कभी हाँ बोलती है तो कभी ना। समाधि, शान्ति, विक्षेपमे जाती है। वह इस बुद्धिका भी साक्षी है।

आपको खयाल है कि यह बुद्धि कितनी बडी है और आप कितने बडे ? आपकी बुद्धि इतनी बडी है कि उसमे भूत, वर्तमान, भविष्य तीनो समा जाते ह। दिन-रात या आज-कल होनेका निश्चय कौन करता है ? काल, तो उस कालका क्या स्वरूप है ? उसके कितने भेद हैं, कितने अवयव ह इसका निश्चय भी बुद्धि करती है। दशका निश्चय भी वुद्धि करती है, इसलिए यह बद्धि देशसे भी विशाल है। कालकी अपेक्षा यह लम्बी आयुवाली है और पचभूतोकी भी जननी है। सबसे लम्बी-चौडी, सबसे बुढिया और नित्यनूतन, सबसे पुरानी और सबसे जवान, नये नये श्रृगारसे अपनेको मिनट-मिनटपर सजानेवाली देश-काल द्रव्य-व्यापिनी इस बुद्धिके तुम साक्षी हा। वह तो अपने पेटमे देश, काल, वस्तुको लेकर बैठती है और तुम उसके साक्षी हो। देश काल वस्तु तुम्हे छू नही सकते। तुम 'ध्रुवम्' हो, कभी बदलनेवाले नही। 'महत पर विलक्षणम्'—साक्षीस्वरूप होनेके कारण तुम सवसाक्षी हो, सवभूतात्मा हो।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।

कपडेमे पानी हो तो भले ही अपने आप न निकले, निचोडने-पर हर-हराकर निकलता ही है। बालूमें सोनेके कण देखनेको नहीं मिलते, पर उसपर पानी डालनेपर बालू बहने लगती है और सोनेके कण नीचे बैठ जाते है। बालू सोनेसे हल्की होती है।

निचाय्य अन्नमयकोशसे आनन्दमय-कोशतक विवेकदृष्टिसे इसे निचोडो। उसमे तुम भरे हो। निचोडनेपर तुम निकलोगे।

'निचाय्य' जैसे चायका पत्ता तोडते हैं, चुनते हैं वैसे ही चुन लो, सारी सृष्टिके एक-एक कणसे चुन लो।

ससारी कहता है "बाबा, कौन पडे इस झगडेमे ? हम तो खायेंगे, पीयेंगे, मौज उडायेंगे। कौन ईश्वरको चुनने जाय ? इससे कोई लाभ है ? क्या खानेको लड्डू मिलेगा ?"

हमारे एक मित्र थे। वे चाहते थे कि हमारे बच्चे भगवान्‌का नाम लें।

बच्चे पूछते "भगवान्‌का नाम लेनेसे क्या लाभ होगा ?"

उन्हे यदि समझाया जाय कि भगवान्‌का नाम लेनेसे तुम नरकमे नही जाओगे तो बेचारे क्या समझेंगे ? यदि कहे कि तुम्हे स्वर्ग मिलेगा, तो कहेंगे कि "अभी स्वर्गकी क्या आवश्यकता है ?" यदि कहे कि तुम्हारी बुद्धि बढ जायगी, पढाई अच्छी होगी, तो आजकलके बच्चे भी बडे होशियार होते हैं, चट कह देंगे "हमारे जो साथी स्कूलमे पढते हैं, वे तो भगवान्‌का नाम नहीं लेते। फिर भी उनकी बुद्धि तो बडी तेज है।"

हमारे मित्रने उनसे कहा "तुम एक माला फेरो तो तुम्हें चार आना पैसा रोज मिलेगा।" इसपर बच्चे माला फेरनेको तुरन्त राजी हो गये। लाभ चाहिए न ? जो लोग लाभकी दृष्टिसे

या उसके मारे माला फेरते है, वहाँ सत्यके लिए परमेश्वरके लिए प्रेम कहाँ है ?

अरे भाई, सत्यको सत्यके लिए जाना जाता है। हमारा हृदय सत्यकी प्राप्तिके लिए कितना उन्मुख है ? सत्यसे हमारा कितना पेम है ? हम दूसरोसे कहते हैं "तुमने हमे सत्य क्यो नही कहा, झूठ क्यो कहा ?" यह कहकर हम लड जाते है, पर स्वय तो सत्य जानते ही नही।

अनृते नैव हि प्रत्युधा। मनुष्य झूठ बोलकर ही तो ससारी हो रहा है। बेटा-स्त्रीका जो सम्बन्ध सच्चा मान रखा है, वह क्या सच्चा है ? नही, झूठा है। धन-दौलत, मकान, पार्टीका सम्बन्ध झूठा है। पार्टीके लिए आदमी मर जाय, पर पार्टी चलती रहेगी, मरेगी नही। पार्टी तुम्हारे साथ अपना क्या सम्बन्ध मानती है ? संसारके सब सम्बन्ध झूठे है। यदि तुम सत्यके प्रेमी हो तो पहले तुम सत्यको जान लो !

"क्यो महाशय, लडाई क्यो करते हो ?"

"सत्यके लिए !"

छाती ठोककर गभीरतासे बोलो, क्या तुम दावा करते हो कि तुम्ह सत्यका ज्ञान है ? जब तुम्हे सत्यका ज्ञान ही नही है तो उसके लिए लडाई करना, दूसरेको झूठा कहना मूखतासे निकला न ? असली सत्यका ज्ञान हो जाता है तो प्रमाद, आलस्य, निद्रा, रागद्वेष, मोह, अविद्यारूप मृत्युसे छूट जाते हो !

अमृत तु विद्या, अविद्या मृत्यु हि।

तुम जिस अविद्या-अन्धकारम भटक रहे हो, वह अविद्या ही मृत्यु है। सत्य तो आत्मा ही है। जबतक तुमने सत्यको, परमात्माको, परमाथको नही जाना तबतक तुम अपने माते हुए अपने कल्पित सत्यके लिए बार-बार सुखी-दु खी होते रहोगे।

वृन्दावनमें एकबार जन्माष्टमीका उत्सव था। हमारे दो चेले थे। दोनो बडे थे। दोनोंमे आपसमे लडाई हो गयी। एक रामभक्त थे, दूसरे कृष्णभक्त।

कृष्णभक्तने कहा 'आज सब लोग जन्माष्टमी रहेंगे। कृष्णकी पूजा होगी।'

जब शामको ठाकुरजीको सजाया गया तो रामजी ऊपर पधराये जायँ या कृष्णजी, इस बातपर लडाई हो गयी।

रामभक्त बोला "रामजी बडे हैं, कृष्ण छोटे हैं, उन्होंने कृष्णको चौरासी कोसकी जागीर दे दी है। राम सम्राट् हैं, कृष्ण जागीरदार हैं। राम बडे हैं, वे ऊपर रहेंगे, भले ही आज जन्माष्टमी हो।'

कृष्णभक्तने कहा "भले ही राम बडे हों, सम्राट् हो और कृष्ण छोटे हो, जागीरदार न हो, आज उनकी जन्माष्टमी है। हम आज तो उन्हीको ऊपर रखेंगे, चाहे कुछ हो जाय।"

दोनो हमारे चले थे, दोनो भले आदमी थे। एकने रामको सजाया, दूसरेने कृष्णको। एकका दावा था कि 'कृष्ण बडे' तो दूसरेका दावा था कि 'राम बडे।' यथार्थमे राम बडे या कृष्ण! दोनोंमे जो एक है उसे जानकर तुम लडाई कर रहे हो? यह युद्ध रागद्वेषजनित सघर्ष है, वैमनस्य है, यह मृत्यु है।

सत्य पर धीमहि मृत्यु, मोह, अविद्या, आलस्य, निद्रा, प्रमाद ये सब मर जायँ तो केवल परमात्मा ही परमात्मा रहे, स्वातन्त्र्य ही स्वातंत्र्य रहे, मुक्ति ही मुक्ति रहे।

निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। एक ऐसी वस्तु है जिससे तुम सदैव मृत्युसे बच जाओगे—"मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ" इस कल्पनासे मुक्ति मिल जायगी। ज्ञानसे कोई भी सच्ची चीज नही

मिटती। ज्ञानसे जो चीज मिटती है, वह बिलकुल झूठी होती है। अज्ञानसे जो चीज मालूम पडती है, वह भी बिलकुल झूठी है। अपने जन्मने-मरनेकी कल्पना अपने स्वरूपके ज्ञानका परिणाम नही है। इस मान्यताका कोई मूल्य नही है। जब तुम अपने आपको जान लेते हो, तब तुम मरनेवाले हो ही नही। तब 'मै जन्मने-मरनेवाला हूँ' यह कल्पना छूट जाती है। मृत्युक मुखसे या जन्म मत्युके चक्करसे छूटनेकी यह युक्ति नही कि तुम कोई चीज इकट्ठी करो या बहुत सारा काम करो। काम करनेसे कोई मृत्युसे नही छट सकता। आख बन्द करके भावना करो कि 'हम जन्म-मरणसे मुक्त हैं' तो वह भावना आपको मुक्त नही करेगी, न कोई स्थिति मुक्त करेगी। ऐसा भी नही कि कोई जन्मने-मरनेवाली चीज हो और उसमे तुम्हारा 'मै' जुड गया जिससे तुम जन्मते मरते हो! अपने अद्वितीय स्वरूपमे किसी शतपर तुम्हारा जन्म-मरण नही छूटेगा। अपने अज्ञानमे जन्म-मरण मालूम पडता है। अपने आपके शुद्ध ज्ञानसे ही वह छूटेगा।

द्रव्य और कर्मका सबध जब भावपूवक होता है, तब उसे 'धम' कहते है। उससे जन्म-मरण नही मिटता। वह तो करनेका अभिमान है। पूर्तिसे सुख मिलता है या अनुकूल भावना उत्पन्न होनेसे सुख मिलता है। उपासना भावनात्मक है। तात्पर्य यह कि जब 'इदम्'से तुम्हारा तादात्म्य हुआ तो तुम्हारा जन्म-मरण होने लगा और जब वह तादात्म्य छूट गया तो जन्म-मरणसे मुक्ति हो गयी।

वेदान्तका कहना है कि 'इदम्' नामकी कोई वस्तु है ही नही। द्वैत भी कल्पित है और द्वैतसे तादात्म्य भी कल्पित। यह कल्पना अपने स्वरूपके अज्ञानसे है। इसलिए स्वरूपका ज्ञान ही प्राप्त करना चाहिए।

वह क्या वस्तु है जिसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ? इसके निरूपणकी शैली इस मन्त्रमे सबसे न्यारी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध इन सबकी प्रणालीसे यह विलक्षण है। शब्द, श्रवण और श्रोता, वाक् और वक्तामे शब्द शब्द है, वाक् कर्मेन्द्रिय है, वक्ता जीभ है, कान श्रोता है, वह ज्ञानेन्द्रिय है। इनका जो अधिष्ठान प्रकाशक है उसमे न शब्द है और न वाक्, न श्रवण है, न वक्ता है और न श्रोता। वक्तृत्वोपलक्षित, श्रोतृत्वोपलक्षित जो अपना आपा है, वह ब्रह्म है। यह जो वक्ता और श्रोता है, वही ब्रह्म है। इन सबसे न्यारा है आत्मा 'इदम्'को जाननेवाला जो 'अहम्' है, वह किसी भी रीतिसे 'इदम्'से परिच्छिन्न नही। यह चेतन, अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है।

येन रूपेण यन्निश्चित तन्न व्यभिचरति—जिसका जो निश्चित स्वरूप है, उसका कभी व्यभिचार न करें। वह है अव्यय। वैज्ञानिक लोग यन्त्रसे सामनेवाली सत्ताको ढूंढते हैं और ढूढ करके निश्चय करते हैं कि यह अणु है, वह फूट जाता है, परमाणुमे बदल जाता है। उसमे जो शक्ति है, वह स्पदनशील, क्रियाशील है। उन्हें कोई भी वस्तु अपने सम्मुख कूटस्थ, नित्य, अव्यय नही मिलती। जो भी वस्तु दृश्य होगी, उसे हमारा वेदान्त कभी कूटस्थ, नित्य नही कहता। वह तो उस द्रष्टाको, 'अहम्'-पदके अर्थको अव्यय और नित्य बताता है, जो चेतन है। यह चेतन सबको देखता है, देखा नही जाता। जानता है, जाना नही जाता।

सस्कृतमें दृश्' धातु ज्ञानार्थक है, केवल आँखसे देखनेका वाचक नही। यह जो द्रष्टा, मन्ता, विज्ञाता है वह किसी भी विज्ञापनका विषय नही, सपूण विषयोंका प्रकाशक है। गीतामे भी 'अव्यय' शब्दका प्रयोग कूटस्थ-नित्यके लिए ही हुआ है। ●

२६ प्रस्तुत विज्ञानकी महिमा

संगति

पन्द्रहवें मन्त्रमें 'अव्यय' पदकी व्याख्या कर कहा गया कि पुरुषोत्तम तत्त्व अव्यय है। आत्मा, जीवात्मा और जगत् तीनों अव्यय हैं। गीतामें इसी अर्थमें 'अव्यय' पदका प्रयोग है 'बिभर्त्यव्यय ईश्वर।' और भी कहा है : प्राहुरव्ययम्।

अव्यय चैतन्य ही जीव-जगत्‌के रूपमें भास रहा है। वास्तवमें वह अपना आत्मा ही है। कोई आँखसे आत्माको देखनेकी कोशिश करे तो आप कहेंगे कि वह समझदार नहीं है, क्योंकि आँखसे तो केवल रूप ही दीखता है। आत्माको देखनेमें किसीकी आँख टेढ़ी हो जाय, किन्तु आत्मा नहीं दीखेगा। उसमें आत्माका क्या दोष? **नैव स्थाणोरपराध यदेनम् अन्धो न पश्यति।** यह स्थाणुका अपराध नहीं कि अन्धा उसे नहीं देखता, यह तो देखनेवालेका ही दोष है कि वह आत्माको आँखसे देखना चाहता है।

इसी प्रकार कोई बडी जोरसे अपनी बुद्धि लगाकर आत्मा-को देखना चाहे तो वह बुद्धिसे उसे नही देख सकता, क्योकि वह तो बुद्धिका द्रष्टा है। जिसमे बुद्धि भास रही है, जिसे बुद्धि दीख रही है वह तो आत्मा है। यदि आत्माका दर्शन करते-करते बुद्धि थक जाय तो उसमे आत्माका क्या दोष है? अपना आपा अव्यय चैतन्य है, अविनाशी है।

अनाद्यनन्त महत पर ध्रुव निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते। आकाशकी नीलिमा तो नित्य ही दीखती है, पर क्या कुछ है? नित्य भी दो तरहका होता है मिथ्या नित्य और सत्य नित्य। एक कूटस्थ नित्य, एक विवर्ती नित्य। आकाशकी नीलिमा विवर्त-नित्य है। सोनेकी क्या आकृति है? सोनेमे आकारका कुछ वजन है? आकार बदलते जाओ तो सोनेमे कुछ अन्तर पडेगा? कगन, हार, कुंडलका नाम सोना है? सोना एक अलग धातु है जिसमे सब प्रकारके आकार कल्पित होनेपर भी वह सब प्रकारके आकारोसे न्यारा है। यदि आप इस बातको नहीं समझते तो सोनेको बिल्कुल नही समझते। रगका नाम सोना नही है। रग

तो दूसरी चीज़मे भी होता है। सोना पार्थिव द्रव्य नही, तैजस-द्रव्य है। वह जलता नही, पर अग्नि है।

इस आत्मदेवकी कौन-सी आकृति है—पच-इन्द्रियोकी, बुद्धिकी या हृदयकी ? उसका रग क्या है ? दृश्यरूपसे जितनी आकृतियाँ भासती है, सब आत्मामे स्वप्नकी आकृतियोके समान ह और सबकी सब मिथ्या हैं। सत्य केवल आत्मा है। अपनी आत्मा ही पृथ्वी-जल-आकाशादि, सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, कोटि कोटि ब्रह्माण्ड-रूपमे भास रही है। रूप रंग सब जिसका भास रहा है वही सत्य है।

नित्यको समझानेके लिए अनादि और अनन्त कहा। चैतन्य मौजूद हो तो उत्पत्ति भासती है, नही तो नही। चैतन्यकी उत्पत्ति नही होती। वैसे चैतन्यको चैतन्यका मरना नही मालूम पड सकता और जडको जडका मरना भी मालूम नही पड सकता। चैतन्यके जन्म-मृत्यु अविचारसिद्ध हैं। तुममे जीवपन या ईश्वरपन भी नही है, तुम शुद्ध चैतन्य हो। तुम ही ध्रुवतत्त्व हो। नित्य-विज्ञप्तिस्वरूप, सवसाक्षी, सवभूतात्मा ब्रह्म तुम ही हो। १२वें मन्त्रमे यही बात कही गयी हे।

ध्रुव च कूटस्थनित्यम्, न पृथिव्यादिवदापेक्षिक नित्यत्वम्। तुम पृथ्वी आदिके समान आपेक्षिक नित्य नही, कूटस्थ नित्य हो। **तदेवभूत ब्रह्मात्मान निचाय्यावगम्य तमात्मान मृत्युमुखात् मृत्यु-गोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात् प्रमुच्यते विमुच्यते।** इस प्रकार जब आप अपने आपको जान लेते ह तो मौतसे छूट जाते हैं।

एक आदमीको मालूम पडता था "मेरी छातीपर कोई भूत चढ़ बैठा है।" क्या वास्तवमे भूत चढा बैठा था ? नही,

उसे मालूम ही पडता था। सपनेमे हमे मालूम पडता है कि हमारी छातीपर चोर चढ़ा है! यह तो मनीरामका खेल है। कमजोर मन भूत, शाकिनी, डाकिनीकी कल्पना कर लेता है। मृत्युमुखसे छूटना यानी मनमे कल्पित मृत्युसे छूटना।

कल्पित मृत्युके मानी क्या है? तुम यह समझते हो कि 'यह काम करके मैं अधूरा रह जाऊँगा और यह काम करके मै पूरा हो जाऊँगा।'

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।

ब्रह्मज्ञानीकी महिमा यह है कि वह काम करके भी और काम छोडकर भी पूरा नही होता। उसके लिए तो जैसे काम करना है, वैसे ही काम छोडना। अपनेमे कर्तापनका आरोप कर मनुष्य कहता है कि "मैंने यह पाप किया और मैं जीव हो गया।" अपनेको जीव मानना ही मृत्यु है। वह सोचता है—"मैंने यह पुण्य किया, अब मेरी बराबरी करनेवाला कौन होता है?" अभिमान भी मृत्यु है। पाप करके वह नरकका कीडा और पुण्य करके स्वर्गका देवता बनता है। ये दोनो मृत्यु हैं, क्योंकि जो अनन्त है, वह अपनेको साढे तीन हाथका मानने लगा। अपनेको सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश मानो तो भी तुमने अनन्त होकर अपनेको काट दिया। यह कट जाना, छिन्न-भिन्न होना ही मृत्यु है। मृत्युका पहला लक्षण है—अपनेको पापी-पुण्यात्मा, स्वर्गीय-नारकीय मानकर परिच्छिन्न मानना। तुम इससे बच गये या नहीं? तुम अपने मनुष्य होनेकी कल्पना भी छोडो। तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हो।

मृत्युका दूसरा लक्षण है कामवृत्तिका होना। कामवृत्तिके

कारण मनुष्य सोचता है कि 'मुझे अमुक वस्तु अप्राप्त है, नरक-स्वर्ग दूर है, अमुक कर्म करेंगे तो हम राजा या सम्राट् होंगे, स्वर्ग प्राप्त करेंगे। अमुक भावना करेंगे तो वैकुण्ठलोक, गोलोक मिलेगा।' अप्राप्तकी प्राप्तिकी इच्छा और प्राप्तके अनिष्टकी शंका, प्राप्तको हटाना ये सब प्राप्ति-परिहार-कामनाके प्रकार होनेके कारण मृत्यु है, क्योंकि तुम अपनेको परिच्छिन्न मानते हो। निष्काम होना भी मृत्यु है। वास्तवमें अविद्या ही मृत्यु है। ब्रह्मज्ञान अज्ञान, कामना और कर्मरूप मृत्युसे छुडानेवाला है। यह बात अब १६ वें और १७ वें मन्त्रमें कही जा रही है।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते।
तदानन्त्याय कल्पत इति॥

यह नाचिकेत अर्थात् अग्नि का ज्ञानाग्निका उपाख्यान है। मृत्युका साक्षात्कार हो जानेके उपरान्त इसका ज्ञान होता है। नचिकेताने अपनी मृत्यु देखी है। जो मृत्युका साक्षात्कार करता है, उसे यह ज्ञान होता है। जो इस परम गुह्यविद्याका ब्रह्मसंसद् या श्राद्धकालमें नियमित रूपसे श्रवण करता और कराता है, वे दोनों अनन्तफलके भागी होते हैं।

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

१. आत्मदर्शनमें विघ्न

संगति

संस्कृतमें 'काठके लिए 'काष्ठ' शब्द है। काठकका अर्थ है 'कठेन प्रोक्तम् कठेन अभिहितम्' यानी कठऋषि जिसका अध्ययन या प्रवचन करे वह। इसके साथ 'वल्ली' लगी हुई है। वल्ली यानी लता। वृक्षका आश्रय लेकर ही लता रहती है। इससे मालूम पड़ता है, काठकमें वृक्षतत्त्व भी समाया हुआ है, क्योंकि ये वल्लियाँ काठकाश्रित ही हैं। वर्ण-समाम्नायमें 'क' से 'ठ' तकके अक्षरोंका हृदयमें विन्यास किया जाता है। यह ग्रन्थ 'काठक'-ब्राह्मणान्तर्गत और कठ-

ऋषि द्वारा प्रणीत होने और संपूर्ण वेद शास्त्र पुराणका सार-सर्वस्व एक अद्वितीय परमात्माका निरूपण करनेके कारण 'काठकोपनिषद्' कहलाती है।

प्रथम अध्यायमे परमात्माका ऐसा निरूपण किया है कि 'यह मिला, यह मिला' हस्तप्राप्यमेव। जसे सभी आभूषणोमे सोना होता है वैसे ही सबमें परमात्मा भरा है। जैसे सभी खिलौनोमे मिट्टी होती है, सब औजारोंमें लोहा रहता है, वैसे ही सपूर्ण कार्योंमें उनका उपादान अनुस्यूत रहता है। कार्य जड नहीं, दृश्य हैं, जड होनेपर अनिर्वचनीय होगे। उपादान कारण भी जड नहीं, चेतन हैं। यह जो चेतन उपादान कारण होता है, वह वस्तुत परिणामी नहीं होता। उसमे कारणत्व भी स्फुरणात्मक ही है। इसीलिए प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें यह जो कार्य-कारणात्मक जगत् दीख रहा है वह सर्वथा स्फुरणात्मक ही है, कोई ठोस वस्तु नही। मालूम पडता है, पर है नहीं। कार्यमे जायमानता (होनापन) होती है, तो दृश्यमे ज्ञायमानता (मालूम पडना)। यही दृश्य और कार्यमे अन्तर है।

'भू' धातुका अर्थ है, भवन या होना, जब कि 'दृश्' धातु ज्ञानार्थक है, वह दृश्य है। उससे जो मालूम पड़ता या जो उत्पन्न होता है, उसमें—परिणामी जडसत्तामें—कार्य कारणभाव बैठता है। जो चैतन्यमें केवल दृश्यमात्र होता है, उसमे कार्य-कारणभाव आरोपित या कल्पित होते हैं। ज्ञानस्वरूप मैं स्वय और जो मुझे मालूम पड़ता है वह मुझसे भिन्न नही। सृष्टि-स्थिति प्रलय, देश-काल-द्रव्य, व्यक्ति जाति जितनी भी सामान्य और विशेषात्मक स्थितियाँ हो रही हैं, सब मुझसे अभिन्न हैं। मुझसे भिन्न कुछ है ही नही। न वह मेरा आरभ है, न मेरा विकार। न मेरा परिणाम है और न मेरी रचना। उसके साथ मेरा कोई सबध नहीं है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येत्युक्तम्।

बुद्धिकी नोकपर बैठकर खेल तो देखो, क्या हो रहा है! सब लुप्त हो जायगा। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड अवकाशमें गेंदकी तरह उछल रहे हैं और इनमें एक एक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश, स्वर्ग-नरक बैठे हैं! सब मालूम तो पड रहे हैं, पर ब्रह्ममें है नहीं! यह कितना आश्चर्य, कैसा विरोधाभास है कि जिस प्रकाशमें ये मालूम पड़ रहे हैं, उसमें ये हैं नहीं। वेदान्त प्रतीतिका तो विरोधी नहीं है और न भानका विरोधी ही है! केवल सत्यत्वका इसमें जो भ्रम है, उसीका विरोधी है। यह तो बडी सुगम बात हुई! तब प्रश्न उठता है कि इतनी सरल और सुगम बात सत्य है तो इसके ज्ञानमें कौन-सी रुकावट हैं? भाष्यकार कहते हैं :

तददर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते। विज्ञाते हि श्रेय-प्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धु शक्यते, नान्यथेति।

इसलिए यह वल्ली आरंभ होती है। रुकावट यदि ठीक ठीक जान ली जाय कि किस कारण नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, एक, अखण्ड, अद्वितीय, प्रत्यक चैतन्याभिन्न, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मको नहीं देख पाते? तिलकी ओटमें पहाड छिपा है। एक महात्माने बताया "आंखमें यह काला तिल है, इसीसे सारी दुनिया काली, दीख रही है। इस काले तिलको छोड़कर चित्रमें बैठ जाओ तो देखो, क्या आनन्द आता है

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-

स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-

दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोको बहिमुख करके हिसित कर दिया है। इसीसे जीव बाह्य विपयोको देखता है, अन्तरात्माको नही। जिसने अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोको रोक लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्माको देख पाता है॥ १॥

तुम्हारे शरीरमे खाली खोडर यानी शून्य जगह है। आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा ये भीतरकी ओर न देखकर सदैव बाहरकी ओर ही झाँकते है। कोई भी स्त्री यदि सदैव झरोखेपर, द्वारपर या खिडकीपर ही खडी बाहर ही झाकती रहे तो बटलोईमे उसकी दाल जल जायगी या नही? घरके काम धंधे पडे रह जायँगे या नही? दिन-रात इन्द्रियाका बाहर झाँकना ही भीतरकी पकी-पकाई रसोईको जलाना है। रसायन तो भीतर बिलकुल परिपक्व है, किन्तु ये तो द्वार लगी ह। गावमे किसीको गाली देते है तो बोलते है कि 'घरमे उसे कुछ अच्छा ही नही लगता।'

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयभू। 'पराञ्चि=परा अञ्चति गच्छति इति।' यह आँख बैठी तो अपनी जगहपर ही है, पर दूर-दूरके दृश्य देख लेती है। वह अपना या अपने मालिकका फाटो नही लेती, भीतर ही भीतर बैठे पराये लोगाका फोटो खीचती है कि इनकी बहू-बेटी ऐसी और उनके देवर जेठ ऐसे। इन्द्रियोका यह खेल सदैव शब्दादि विपयोको जाननेकी प्रवृत्तिमे लगा रहता है। वे जाने-आनेवाले बटोही-परदेशीसे मेल-मिलापकर दु ख मोल लेती है। अपनेको विरहिणी बना देनेकी यह रीति है। भीतर बैठे मालिकसे ये प्रेम नही करती। पराञ्चि ये दूसरेको

अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली है। यह बाह्य, पराये विषयोका आचमन करतीं हैं, पीती हैं।

परमात्माने इनका स्वभाव ही ऐसा बनाया है। 'व्यतृणत् स्वयभू ' यानी स्वयम्भू परमात्माने इन्हें हल्का बना दिया है। घरमे उस स्त्रीकी क्या प्रतिष्ठा, क्या इज्जत रहेगी जिसे एक दिन ऐसी जगहपर प्रकट कर दिया जहाँ जानेसे उसकी सारी प्रतिष्ठा खत्म हो गयी ! इन बहिर्मुख इन्द्रियोंको परमात्माने आदेश दिया कि "तुम संगीत, वस्त्र, सौन्दय, इत्र आदि विभागोमे रहकर अपने-अपने विभागको सम्भालो और अपना-अपना गुजारा लो ! ये सब भगवान्के छोटे-छोटे कारखाने हैं। घरके मालिक आत्म-देवने देखा कि 'इन पाँच पत्नियोम मुझसे सच्चा प्रेम करनेवाली एक भी नही है।' इसीलिए इनकी प्रतिष्ठाको खत्म कर दिया और इन्हें एक-एक कार्य-विभाग सौंपकर खुद असंग होकर बैठ गया।

तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। इस शरीरको अतिथि-सत्कार-विभागमे रख दिया कि जो विदेशसे आये, उसकी सेवामे लगे ! शब्दादि विषयोका प्रकाश करनेके लिए ये प्रवृत्त होती हैं। अन्तत ईश्वरने ऐसा क्यो किया ? उनकी रुचि सबसे बचते रहनेकी, एकान्तमें रहनेकी ही है, इसलिए। जो हमसे प्रेम नही करता उससे उदासीन होना नही पड़ता, उदासीनता तो स्वाभाविक हो जाती है। यह आत्मदेव परमात्मा किसी इन्द्रियके वशमे तो है नही ! ये अपने आपको आनन्दमें मस्त रखते हैं। सबको छोडकर सो जाते हैं।

बाह्य वस्तुओंकी ओर ये इन्द्रियाँ चली गयी और सब

इन्द्रियोके पीछे रहकर देखनेवाला कौन है, यह बात वे बिलकुल भूल गयी।

पराङ् पश्यति, अन्तरात्मन् न पश्यति। वेदमे कालका भेद नही होता—'भवत्ति, भविष्यति' मे कोई भेद नही, क्योकि वेद-भगवान्को यह मालूम है कि काल कल्पित है। उसमे 'पश्चात्' भी वही है, जो 'पुरस्तात्' है। जो सामने है वही पीछे है, क्योकि पीछे-सामनेका भेद नही है।

अन्त = सूक्ष्म और आत्मन् = चैतन्य। जो सम्पूर्ण दृश्यके मूलमे विराजमान चैतन्य अपना आपा है, उसको नहीं देखती। आखिर क्यो ? देखना हो तो जरा पीछे हटकर बैठो—हाथ पाँव, मुँह, आँखके पीछे, चित्तमे दालकी तरह जो फुदुर-फुदुर, अहम्-अहम् हो रहा है उससे भी पीछे बठो। 'सोऽह हंस' जो हो रहा ह, उसके भी पीछे, उसके साक्षी बनकर बैठो! भले लोग भीड-भाडसे बचकर बैठना पसन्द करते ह। थोडा अन्तमुख हो जाओ।

हम आँखसे बाहर देखते है। इन्हे चाहे खुली रखें, बन्द रखें या अधखुली! इससे कोई खास मतलब नही। पहला गुरु खुली रखना बतायेगा तो दूसरा बन्द रखनेको कहेगा या पहला गुरु बन्द रखनेको कहेगा तो दूसरा खुली रखनेको कहगा। गुरु बदलनेसे यह झगडा खडा होता है। प्रतिपदा-दृष्टि यानी अध-खुली, पूर्णिमा-दृष्टि यानी खुली और अमावास्या-दृष्टि यानी बन्द। तीनो तरहसे भजनमे बैठ सकते हैं। अधखुली आँखोको अन्तदृष्टिमे अधिक उपयोगी समझते हैं।

अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जिता।
सा मुद्रा शांभवी नाम सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

लक्ष्य हो अन्तर। पाँच इन्द्रियाँ पाँच दरवाजे हैं और सबमेंसे झाँकनेवाले तुम एक हो। इन पाँच शीशोवाले घडेमे तुम प्रकाश एक हो। पाँच जगहसे प्रकाश बाहर निकल रहा है। लक्ष्य भीतर हो, दृष्टि बाहर हो और पलक न उठे, न गिरे। पीठकी रीढ़ सीधीकर सिर उठाकर बैठ जाओ। लक्ष्य देखनेवालेपर हो। इस मुद्राका नाम शांभवी मुद्रा है। साधनके मार्गमे इसे बहुत गुप्त करके रखा जाता है।

वेदागमपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव॥

पुस्तक खुली और पढ लिया। वह तो खुली हुई है। कुलवधू तो वह है जो अपने शरीरको ढँककर रखे। यह साधना है। अन्त-रात्माका यानी देखनेवालेका दर्शन करना है। कभी आपको ईश्वर-दर्शन होगा तब भी आप देखनेवाले ही रहेंगे, चाहे वह राम-कृष्ण हों या शिव-नारायण, समाधि, वैकुंठ हो या निराकार ईश्वर। यदि आप अपनेसे भिन्न जगत्-जीव-ईश्वर, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, समाधि, किसीको भी देखेंगे तो आप हर हालतमे देखने-वाले ही रहेगे। यदि आप इस अकाल, अदेश, अद्रव्य, अबिनाशी, परिपूण, एकरस, अद्वितीय अपने आपको न पहचानेंगे तबतक दुनियाभरका नाम मालूम रहेगा।

एक पागल था। उसे बनारससे लेकर कलकत्ते तकके सब स्टेशनोंके नाम मालूम थे। बडे शौकसे सुनाता था। बच्चे उसे छेडते कि तुम्हे नही मालूम, तुम भूल गये, तो तुरंत सुना देता। पर उसको कोई पूछे कि तुम्हें कहाँ जाना है? तो कहता "मालूम नही।" तुम्हें सारे गाँवकी खबर है, पर अपनी

खबर है या नही ? इसपर विचार करो। यदि आपने अपने आपको न जाना तो क्या जाना ?

कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । कोई-कोई विरला ही पुरुष होता है जिसके मनमे अपना सौन्दर्य देखनेकी इच्छा होती है। दक्षिणमे आलवार सन्तोमे एक गोदा अंबा हुई है। बारह आलवार सन्तोमे यह एक मुख्य है। गोदा अबाकी प्रतिचर्या 'सूक्त-त्रिशी'का श्रीरामानुजाचार्य रोज पाठ किया करते थे। उनके पिताजी रोज ठाकुरजीके लिए फूल चुनकर माला बनाते थे। फिर चन्दन या किसी कामके लिए जाते तो गोदा उस मालाको पहनकर शीशेके सामने जाकर खडी रहती और सोचती 'यह पहनकर ठाकुरजी तो बडे सुन्दर लगते थे। मै उनसे भी अच्छी लगती हूँ।''

एकबार उनके पिताजीने यह देख लिया तो गोदाको डाटा और ठाकुरजीकी पूजामे माला नही ले गये। तब ठाकुरजीने पूछा "क्यो माला नही लाये ?"

उन्होने बताया "दुष्ट लडकीने माला उच्छिष्ट कर दी है ठाकुरजी।"

ठाकुरजी बोले "वह तो रोज ऐसा करती है। हमे तो इसीमे अधिक आनन्द आता है। तुम अपनी लडकीकी पहनी हुई माला ही हमारे लिए ले आया करो।" श्रीरंग उसपर मोहित हो गये। उसके साथ ब्याह किया।

तुम्हारा सौन्दय यानी मायाका सौन्दर्य लगाकर ईश्वर इतना सुन्दर लगता है तो तुम ईश्वरका सौन्दय लगाकर अपनेको तो देखो कि कितने सुन्दर लगते हो ! तुममे ऐसा सौन्दर्य, माधुय,

सौकुमार्य, सौरभ रस है कि जीव-जगत्-ईश्वरमे वह सौरभ फैलता है, माधुर्य छलकता है, सौन्दर्य चमकता है, सब रसमय हो जाता है। तुम्हें द्वैत स्पर्श नही कर सकता। तुममें जो स्वरूप-सगीत है, वह इतना मधुर है कि इसमें जीव-जगत्-ईश्वरका सगीत विलीन हो जाता है। संपूर्ण विश्वसृष्टिका सौन्दर्य तुम्हारी सत्तासे सत्तावान्, तुम्हारे ज्ञानसे ज्ञानवान् और तुम्हारे आनन्दसे आनन्दवान् होता है। जरा परम-प्रेमास्पद, परम मधुर परम सुन्दर अपने आपको तो देखो! तुम कौन हो? जबतक बाहर घूमते फिरोगे तबतक मालूम नहीं पडेगा।

कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षत्। कोई-कोई, जो बैलकी तरह घासफूस-खली खानेमे ही निपुण नही है, जिसे सम्यक् विवेकके द्वारा बाह्य आनन्द और आन्तरिक आनन्दका भेद मालूम हो गया है, वही धीर पुरुष अपने आपको देख सकता है।

'धीर =धत्ते इति धीर।' जो मन और इन्द्रियोको धारण करे यानी जैसा अपना ज्ञान है, उसके अनुसार मन-इन्द्रियाँ चलें। तुम जिसे बुरा समझते हो वह काम न करो, अच्छा समझते हो वह करो, तुम्हारी समझ और तुम्हारा आचरण एक कूलपर है या नहीं? यदि है तो तुम धीर हो।

'धियम् ईरयति इति धीर, राति=रक्षति।' धी =बेटी, बुद्धि। गाँवमे उसे धीया बोलते हैं। अपने घरमे जो बेटी है वह सुरक्षित हो, वह जिस-किसीसे मिलने-बोलने न जाय। जिस-किसीसे विवाहका नाता न जोड ले। बुद्धि-वृत्ति या तो आत्मामें स्थित हो या निर्विषय हो। सविषय भी हो तो विषयमे महत्त्वबुद्धि न हो। किसीके साथ हो तो उसे बहुत मूल्यवान् न समझे। खाली हो या अपने प्रेमास्पदसे युक्त हो। धीरको प्रपंचमे रहते भी उसमे

महत्त्वबुद्धि न हो। संसारकी कोई भी स्थिति अपने स्वरूपमें महत्त्व नही रखती।

योगी लोग सारे ससारका प्रलय तो नही करते, किन्तु समाधि लगाकर अपने मनसे संसारका प्रलय कर देते है। कोई-कोई देवताको खुश करके लोगोको रोटी देते है। श्रीउडिया-बाबाके मनमे ऐसा खयाल था तो देवताने उनसे कहा "तुम सबको रोटी नही दे सकते। जो तुम्हारे पास आये उसे रोटी खिलाओ!"

कोई कहते हैं "हम नया ब्रह्माण्ड बनायेंगे।" विश्वामित्रने नया ब्रह्माण्ड बनानेका संकल्प किया, पर वह प्रयत्न निष्फल गया। सारी सृष्टिको भोजन देनेका और सारी सृष्टिके प्रलयका सकल्प, संघष निष्फल गया। वास्तवमे अपने चित्तको सृष्टि-स्थिति-प्रलयके संघर्षसे मुक्त करना है, इनके प्रति जो महत्त्वबुद्धि है उसे मिटाना है। किसी चीज या सृष्टिमे फेरफार करना हो, उसे मिटाना या बनाना हो तो बुद्धिको वैसा गढना पडेगा। हमे बुद्धिको गढना नही है, वह या तो निर्विषय रहे या आत्माकार रहे। परब्रह्म परमात्माके सिवा वह और कुछ है नही। इसके लिए चार बातें आवश्यक हैं (१) धीर होना, (२) आवृत्त-चक्षु होना, (३) अमृतत्वकी इच्छा होना और (४) प्रत्यगात्माका दशन होना।

आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। परमाथ-दशनमें प्रतिबन्धक क्या है? इन्द्रियोके द्वारा बहिदशनमे समासक्त हो जाना ही आत्मदशनमे प्रतिबधक है। दपणम परछाई दीखती है तो आप देखते हैं—दर्पण कितना मोटा है, फ्रेम कैसी लगी है, परछाई कैसी पडी है? यह बात देखनेको तुम भूल गये कि देखनेवाला मैं

हूँ। सृष्टिमे यह बात सर्वत्र देखनेमे आती है कि यदि आप एक चीज ठीक-ठीक देखना चाहें तो दूसरीकी ओरसे दृष्टि हटानी पडेगी। अगर दूसरी वस्तुकी ओरसे दृष्टि न हटायें तो पहली वस्तु दिखाई नही देगी। घडा दीखेगा तो वस्त्र नही दीखेगा और कपडा दीखा तो घडा नही। सगीत सुनना और खुर्दबीनमे क्या-क्या चीजें हैं, यह भी बताना एक साथ नही होगा। ज्ञानका स्वभाव है कि वह एक समयमे एक वस्तुको ही ठीक-ठीक प्रकाशित करता है।

आप समझते है कि जो सोना हारमे है वही कगनमें है। सोनेका मूल्य समझनेके कारण आपके मनमे हार और कगनके लिए कोई राग-द्वेष नही है। इसी प्रकार यह जो विश्वसृष्टि मालूम पड रही है, वह परब्रह्म परमात्मामें एकदम केवल मनके खींचे रूप हैं—स्वर्ग, नरक, ब्रह्मलोक, मृत्युलोक। इस मूल्याकनको छोडो। अब तुम कश्चित् हो गये हो! तुम लाखोमे एक हो! यह अपनी सुन्दरता देखो! अब तुम बाजारमे, चौपटीपर फिरनेवाले नही, क्योकि अब तुम्हारे दिलमे दुश्मनी और मुहब्बतका मैल नहीं है।

तुम्हारे मन मे मैल भले न हो, पर ऊपरसे, बाहरसे तुमपर चोट तो पडेगी! कोई तुम्हे सीधे चलने थोडे ही देगा? यदि वह समझ जाय कि तुम्हारे मनमे किसीसे राग-द्वेष नही है तो वह अपनी पार्टीमे तुम्हें अवश्य लेना चाहेगा। तुम्हारे भोलेपनका लाभ अवश्य उठाना चाहेगा। शब्दादि विषय सब तुम्हें अपनी पार्टीमे मिलाना चाहते हैं। अपना-अपना मन सबको प्यारा लगेगा। एकबार तुम्हारी अहता-ममता, राग-द्वेष कम होने लगेंगे तो सास, ननद, भाभी चारो ओरसे ऐसी हवा आयेगी

कि तुम्हे उडा ले जाय। उस समय क्या करना चाहिए ? धीर होकर रहो, उड मत जाओ।

धीर वह है, जो बहते हुए तूफानमे, झञ्झावातमे अपनेको बैठकर बचा लेता है। आँधी-तूफानमे दौडनेकी कोशिश करोगे तो कुएँमे गिर जाओगे। जैसे हवाकी आँधी आती है वैसे ही दुनियामे भावनाओकी भी आँधी आती है

जैसी बहै बयार पीठ तब तैसी दीजै।

बयारका सामना न कर उस ओर पीठ करनी चाहिए।

बडे जोरसे भूतकालकी कोई स्मृति आये कि "हमारे पास इतना धन, ऐसा मकान और ऐसा वैभव था, हाय हाय, अब हम उसके बिना मर रहे हैं" तो आप यह न समझें कि यह सचमुच आ गया है। थोडी देर बाद भूख लगेगी तो वह सब भूल जायगा और आप रोटी नमकमे लग जाओगे। बिलकुल जैसे दिमागमे सपना आकर फुरफुराता है, वैसे ही जागते समय पिछली बाते आती है। उनमे धीर रहो। पहले स्वस्थ, सुन्दर, जवान, पहलवान थे, फिर वैसे ही बनो। पर बननेके चक्करमे पडकर वैसे बन नही सकते। सिरका एक एक बाल निकालकर फेक दो तब भी बाल काले नही रहेगे, सफेद हो जायँगे।

यदि हमे भविष्यकी कल्पना आ गयी कि 'हमे इसके बाद यह करना है' तो यह मत समझो कि आज जो वेग आया है वह छ महीनेतक रहेगा। वह तो घटे-आधघटेमे ढीला पडेगा और दूसरा-तीसरा वेग आयेगा। जैसे सिनेमाके परदेपर आनेवाले दृश्योका देखते हो और मिट जाने देते हो, वैसे ही धैर्यसे मनके परदेपर इन दृश्योको आ जाने दो और मिट जाने दो। उनका

मूल्याकन मत करो। यह तो बिलकुल स्वप्नवत् फुरफुराहट है। इसकी कोई कीमत नहीं है। अच्छे-अच्छे ही आयें ऐसा नही हो सकता। ऐसा यत्न करनेवालेको भी बडा दु ख होता है। जो कहता है कि 'हमारे मनमे बुरे विचार क्यो आयें' वह भी दु खी होता है। जैसे अच्छे-बुरे सपनोंपर नियंत्रण नही रहता वैसे मनोराज्य भी अनियन्त्रित होते हैं। उसकी धारा आती और चली जाती है। गगाजीमे कभी फूल, माला और दूध तो कभी थूक और मुर्दा भी आता है। जैसे दोनो दृश्य आते-जाते हैं वैसे ही कभी मनमे दोस्त फुरफुरा जाता है तो कभी दुश्मन।

पहले ठाकुरसाहब लोग अपने दरवाजेपर बैठे-बैठे पलंगपर हुक्का गुडगुडाते। किसी एक अछूतके यहाँ ब्याह था। उसका बेटा घोडेपर बैठकर ठाकुरसाहबके दरवाजेके आगेसे निकला। उन्होने पूछा "वह कौन है?"

किसीने बताया "अमुक अछूत है।"

उन्होने हुक्म किया "उसे पकडकर ले आओ।"

जब वह सामने लाया गया तो उन्होंने उसे डाटा 'तुम हमारे घरके सामनेसे घोडेपर चढ़कर निकलते हो?' फिर जूता लेकर उसे मारने लग गये। जैसी मनोवृत्ति उस जमीदार ठाकुरकी थी वैसी ही उस साधककी है, जिसके मनमे कोई बुरी मनोवृत्ति आयी और जूता लेकर दौडा। धैर्य रखो, तुम्हारा ज्ञान स्वच्छ, निर्मल, निर्विषय, निर्द्वन्द्व, अविनाशी, परिपूर्ण है। तुम्हारे इस ज्ञानस्वरूपपर किसी भी दृश्यकी कोई छाप छूटनेवाली नही है। वह आयेगा, अपना तमाशा दिखाकर चला जायगा। आप क्यों परेशान होते हो? बाहर कोई मरे-जरे, आये-जाये, गरीबी हो या अमीरी, मनमे चाहे कैसा भी मनोराज्य या सपना आये,

उसे मनोराज्य-मात्र, स्वप्न-मात्र समझो। यह मत समझो कि तुम्हारे कलेजेमे पहाड घुस गया। हल्के रहो, उधरसे अपनी जगहपर बैठे रहो। इसे धैय बोलते है। राग-द्वेष छोडकर भीतर-बाहर जो परिस्थितियाँ आती-जाती है उनकी चोटसे बचकर रहो, अपनेको चोट मत लगने दो। जैसे सट्टेवालेको लाख रुपया आया या गया, उसको चोट नही लगती, वैसे ही निभय होकर चलो। इसमे दो बाते कही गयी (१) राग-द्वेषसे विनिर्मुक्त होना और (२) जैसी परिस्थिति आये उसको धैयपूवक सहना।

(३) तीसरी बात है आवृत्तचक्षु = आख बद करना। दुनियामे सब लोग दूसरेको कीमती समझकर उसके पीछे दौड रहे है।

चरनदास गुरु किरपा कीन्हीं,
उलट गयी मेरी नयन-पुतरियाँ।

तुम बेटेके पीछे-पीछे मत घूमो, बेटेको अपने साथ आने दो। सेवकको सेवक समझो। हाथ-पाँव, मन-बुद्धि तुम्हारे सेवक हैं। 'आवृत्तचक्षु' याने आँख आदि इन्द्रियाँ अपने गोलकको छोड करके विषयदेशमे चली गयी है—विषयचिन्तनमे लग गयी हैं, उनको जहाँकी तहाँ छोड दो। तुम्हारी नाकके सामने ये दो आँखें दो गुलाबके फूल है, कान दो कनेरके फूल हैं, दोनो दम्पती हैं। इन्हे जब देखोगे तो ये इन्द्रियपन् छोडकर विषय हो जायँगे। इन्द्रियको इन्द्रिय मत रखो, विषय कर दो।

यह शरीर चामकी खोल है, भीतर मूत्र विष्ठा आदि भरे हैं। इसमे पाँचो इन्द्रियाके छेदोको एक बार खोलमात्र रह जाने दो। इनसे एक होकर दुनियाको मत देखो। इनसे भीतर, इनसे अलग

होकर इनको देखो। तुम आँखसे देखते हो, उसकी जगहपर तुम आँखको देखो। मनको देखो, मनसे नही, बुद्धिको देखो, बुद्धिसे नहीं।

आवृत्तचक्षु = अपनी ज्ञानशक्तिको आवृत्त करो, निवृत्ति परायण हो जाओ। जो जहाँ है उसे वही रहने दो। यह संन्यास अर्थात् प्रदीप्त अन्तर्दृष्टि है। किसीको एक आँख होती है या दो होती हैं, मदी या तेज् होती है, खुली या बन्द होती है, लेकिन तुम आँखसे न्यारे हो या नही ?

आन्ध्य-मान्द्य प्रकृत्येषु नेत्रधर्मेष्वनेकधा।

विषयको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानके रूपमे तुम बैठो। विषयको प्रकाशित मत करो, विषयका ख्याल छोडकर अपने स्वरूपमे बैठो।

अब आत्मज्ञान हो जायगा ? नही, कश्चित्मे परम्परा साधन 'धीर' का और 'आवृत्त-चक्षु' मे बहिरंग-साधनका ग्रहण है। व्यवहारदशामे धीर होना चाहिए और साधनदशामे आवृत्त-चक्षु। 'कश्चित्' अधिकारीके लिए है। धर्मानुष्ठान द्वारा अन्त -करण शुद्ध करके और धीर यानी बाह्य परिस्थितियोसे विचलित न होते हुए 'आवृतचक्षु' माने निर्विषय होकर ध्यान-चिन्तनमे बैठ जाओ।

अब मिल गया परमात्मा ?

नही, अब अन्तरंग साधनका प्रारम्भ होगा।

अमृतत्वमिच्छन्। अमृतत्व क्या है, उसको जिज्ञासा करो, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करो।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा।

ब्रह्मके लिए जिज्ञासा। बाह्य परिस्थितियोमे यदि अपने

मनको शान्त नही रखोगे तो वेदान्तका विचार नही कर सकोगे। बृहदारण्यक उपनिषद्मे महात्माकी कथा है—'अरी मैत्रेयी, इधर आ! कात्यायनी, अब मै धनका बँटवारा करता हूँ। आधा तुम ले लो, आधा कात्यायनी ले लेगी। मै सन्यास ग्रहण करूँगा, तुम दोनो यह सपत्ति बॉट लो।'

मैत्रेयी 'महाराज, आप हमे जो धन दोगे, उससे हमे अमृतत्वकी प्राप्ति होगी? हम जन्म-मरणके चक्करसे छूट जायँगी?'

महात्मा 'धनसे अमृतत्वकी प्राप्ति नही होती।'

वित्त शब्द धनका वाचक है, पर यह विविधके अर्थमे भी बनता है। जो कुछ दृश्य है उसे पकडोगे तो अमृतत्वका ज्ञान कैसे होगा? "मै अमृत हूँ" यह ज्ञान होनेके लिए दृश्यकी पकड अपेक्षित नही है। दृश्यकी पकड छोडोगे तब द्रष्टाका ज्ञान होगा।

उपनिषद्मे मैत्रेयीका यह अमर वचन है "जिससे मुझे अमृतत्वकी प्राप्ति नही होती, वह धन लेकर मै क्या करूँगी?" वित्तके द्वारा मनुष्यको पुष्टि नही मिल सकती। मनुष्यके मनमे परमार्थ प्राप्तिकी इच्छा होनी चाहिए।

अमृतत्वमे अविनाशित्व है। अमित है माने सब जगह है, सब समय है, सब वस्तुओमे है। वह रसमय है यानी परमानन्दस्वरूप है। यदि तुम चाहते हो कि हम अविनाशी, परमानन्दस्वरूप हो, यदि तुम चाहते हो कि हम अविनाशी परमानन्दस्वरूप परिपूर्ण हो तो अमृतत्वकी इच्छा करो। वेदान्तका श्रवण-मनन निदिध्यासन करो, निवृत्तिपरायण हो जाओ। यह कोई सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदोलन नही है। जो आत्मतत्त्व-का जिज्ञासु है उसके लिए आत्मतुष्टि, आत्मतृप्ति, आत्मरति, जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख देनेवाला यही पदार्थ है। ●

२. अविवेकी और विवेकी

संगति :

प्रथम मन्त्रका मुख्य अभिप्राय यह है कि जो बाहरके पदार्थोंको देखनेमें लग गया, वह आत्मदर्शन नहीं पा सकता। यह मार्ग बड़ा विलक्षण है। बाह्य वस्तुमें जिसके लिए मूल्यांकन है, वह इसपर चल नहीं सकता। बाह्य पदार्थोंमें मूल्यांकन हो जानेके बाद अपना मूल्यांकन घट जाता है। जबतक रागप्रधान चित्त होगा, वह छोटी चीजमें आसक्त हो जायगा।

पत्नी, धन, परिवार, बेटा, समाज—एक भी चित्तमें चिपकाने योग्य नहीं। ये कल्पित हैं, इनका मूल्यांकन सबसे अधिक कल्पित है। सबसे मूल्यवान् वस्तु तो तुम हो, पर अपने आपको भूल गये हो।

चित्तमें द्वेषका संस्कार रखनेवाला कहेगा : 'अपने शत्रुको मार डालूँगा तब वेदान्त पढ़ूँगा।' कोई उससे कहे कि 'आओ, तुम नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त हो, क्या संसारके चक्करमें पड़े हो, थोड़ा वेदान्त पढ़ो' फिर भी वह शत्रुको हराने मारनेकी योजना बनाता रहेगा। द्वेष व्यक्तिविशेषसे ही नहीं, क्रिया या रहनीसे भी हो जाता है। तब क्रिया करनेवाले और वैसी रहनीवालेसे भी द्वेष होगा।

परमात्माके ज्ञानमें संस्कारोंसे आच्छन्न और आक्रान्त बिगड़ी बुद्धि काम नहीं करती। अन्तरात्माको देखनेके लिए संस्कार काटने पड़ेंगे। 'कश्चित्'—कोई विरला ही राग द्वेषके चक्करसे छूटकर परमात्माको ढूँढनेमें अग्रसर होता है। इसके लिए तीन साधन चाहिए (१) प्रतिबन्धक बहिर्मुखताका त्याग, (२) चित्तमे स्थित राग द्वेष का त्याग और (३) सबमें स्थित एक सत्यको पकड़ना। जिसका सत्यसे प्रेम होगा, वह एकको पकड़कर दूसरेके रूपमें विद्यमान सत्यका तिरस्कार नहीं करेगा।

अब द्वितीय मन्त्रमें बताते हैं कि जो लोग छोटी छोटी चीजोंमे आसक्त हैं, उनकी क्या दशा होती है

पराचः कामाननुयन्ति बाला
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्व विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

अल्पज्ञ पुरुष बाह्यभोगोके पीछे लगे रहते हैं। वे मृत्युके सवत्र फैले हुए पाशमे पडते है। किंतु विवेकी पुरुष अमरत्वको ध्रुव (निश्चल) जानकर ससारके अनित्य पदार्थोंमे किसीकी इच्छा नही करते ॥ २ ॥

बाला। वेदान्तमे दाढी मूँछवाला भी बालक होता है, यदि उसे अपरिच्छिन्न वस्तुके ज्ञान या अनुभवमे रुचि न हो और वह बाह्य पदार्थों—छोटे-मोटे, टूटने फूटनेवाले खिलौनोसे खेलनेमे लगा हो। सस्कृतमे न्यायशास्त्रके आरभमे कहा है कि जो मीमासा-व्याकरण बहुत पढा हो, पर न्यायशास्त्र न पढ़ा हो तो वह

न्यायमे बालक है। इसी तरह जो न्यायशास्त्रादिका पंडित हो पर व्याकरण न पढा हो तो वह व्याकरणमे बालक है। अभिप्राय यह कि जो जिस विषयमे अज्ञ हो उसमे वह बालक कहलाता है। 'अज्ञान' ही बालकपन है। डाक्टरी, इञ्जिनियरी, अणु-विज्ञान आदिमे हम भी बालक हैं। हम परिच्छिन्न नही, अपरि-च्छिन्न विद्याके आचार्य हैं। जो इसका अध्ययन-स्वाध्याय करना चाहते हैं, उन्हे इसकी प्रणाली बता सकते हैं।

यदि कोई कहे कि "आप सर्वज्ञ हैं तो रॉकेट कैसे बनाया जाता है, चन्द्रलोकमे कैसे जाया जाता है, यह बताओ" तो हम कहते हैं "जिसमे आना-जाना नही है, वह विद्या हम सीखे हैं, हमसे वही सीखो। जिसमे आना-जाना है, वह तो तुम स्वयं ही बहुत जानते हो।"

हमारे गाँवके पास एक ठाकुरसाहब थे। वे बडे प्रभावशाली थे। कभी वर्षमे एकआध बार हमारे यहाँ आते थे। हम भी कभी उधरसे निकलते। एकबार वे बोले 'बाबाजी, यदि आपको बेइमानीकी बात सीखनी हो तो हम सिखायेंगे। यदि ईमान-दारीकी बात सिखाना चाहते हैं तो हमे बताइये, क्योकि आप ईमानदारीके विषयमे जानकार हैं और हम बेईमानीके। जिसे कहे, उसे पकड लायें, जेलमे डलवा दें, लूट लें। मात्र धर्म-शास्त्रकी बात आप हमें बताइये।'

पराच कामाननुयन्ति बाला । यह वेदान्तकी चर्चा है। यह जो पराक्काम हैं—बाहर दीखनेवाले विषय हैं, उन्हें लेकर मनुष्य-के मनमें इच्छा होती है कि "यह ऐसे हो, ऐसे हो, ऐसे हो।" ब्रह्मा हर सृष्टिमे लाल ही होता है, यह कोई नियम नही। किसी सृष्टिमें ब्रह्मा साँवला होता है तो किसीमे सफेद। कभी विष्णु

ब्रह्मा होता है तो कभी ब्रह्मा विष्णु ! कभी यज्ञोपवीतधारीका नाम सृष्टिमे 'शूद्र' होता है तो कभी यज्ञोपवीतरहितका नाम 'ब्राह्मण'। देवता भी पातालमे रहते हैं और दैत्य स्वर्गमे। ये बातें पुराणोकी कथामे लिखी है।

आप योगवाशिष्ठका भुशुडोपाख्यान पढें। भुशुडीने जो सृष्टि देखी, उसमे एक परमात्माको छोड, बाकी सब बदल जाता है। वह परमात्मा और कोई नही, अपना आत्मा ही है। यह बदलता नही, दूसरा नही होता। फिर छूटनेवालोसे क्या प्रेम ? बालक बाहरके भोग्य पदार्थोंकी ओर दौडते है, उन्हीका पीछा करते है। वे चारो ओर फैले मृत्युके पजेमे फँस जाते हैं। लेकिन धीर पुरुष अमृतत्वको जानकर, इन्द्रियोद्वारा प्रतीयमान संसारके विनश्वर पदार्थोंकी आकाक्षा छोड देते है और उनमे विद्यमान अविनाशी वस्तुको ही पानेकी आकाक्षा रखते हैं।

बचपनमे हम कोई चिडिया चारा चुगती तो उसके पीछे-पीछे जाते। चुपके-चुपके पॉव दबाकर चलते और उसे पकडनेके लिए हाथ बढ़ाते। लेकिन पास पहुँचते ही वह उड जाती। हम बचपनमे कितनी ही बार खिलौने, मिठाई और तसवीरके लिए रोये होगे। कितनी ही बार बडे लोग हम लालच दिये होगे कि 'तुम्हे मिठाई खिलायेंगे, यह काम करो।' कितनी ही बार हमे नचाया-गवाया होगा। बालक ही इन छोटी-छोटी वस्तुओके भोगकी लालसासे ललचाकर इधर-उधर दौडते है। विद्वान्, प्रज्ञावान्, श्रेष्ठ पुरुषका यह लक्षण नही है। आखिर आपकी यह दौडधूप किस कारण है ? दौडधूपका अर्थ केवल पांवोसे चलना ही नही, बल्कि इन्द्रियो और मन-बुद्धिकी दौडका भी प्रेरक तत्त्व क्या है ? लोभ।

कश्चूलीशब्दमात्रेण किं दूर योजनत्रयम् ।

'कचौडी'का शब्द कानमे पडते ही बारह कोस दौड़कर जाना कौन दूर है ? जहाँ आपका प्रेरक काम, क्रोध, लोभ, भय है वहाँ आप अत्यत तुच्छ द्वारा प्रेरित किये जा रहे हैं ?

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।

आपको कौन नचा रहा है ? यदि यह नचानेवाला काम-क्रोध, लोभ-मोह न हो, ईश्वर हो तो कितनी प्रसन्नताकी बात है ? किन्तु आपने अपने आपको अत्यत छोटे क्षुद्र व्यक्ति, मदारीके हाथ सौंप दिया है ।

रातको हमने एक स्वप्न देखा—'अमरा गाँवमे, ब्राह्मणपुरामें हम ठहरे थे । वहाँ एक चिकित्सालय था । मैं सन्यासी-वेषमे था, अच्छे वस्त्र पहने थे । कुछ लोग आये और बोले 'इनको वोट चाहिए ।'

मैंने पूछा 'ये किस पार्टीके हैं ? किसलिए आये हैं ? गोहत्या बद करवाना चाहते हैं या नही ?'

वे बोले 'वोटके लिए आये हैं ।'

मैंने पूछा 'पर आये किस कामसे हैं ?'

फिर वही जवाब मिला कि 'वोटके लिए ।'

मैंने पूछा 'वे करना क्या चाहते हैं ?'

उत्तरमे बडी डाँटके साथ जोर-जोरसे ईश्वरकी आवाज आयी 'वे कुछ करना नही चाहते । सिर्फ वोट लेने आये हैं । इनसे कहो "गोहत्या बद" तो बदके लिए राजी हैं, और कहो 'गोहत्या खुली' तो खुलीके लिए राजी हैं ।

तुम्हारा प्रेरक कौन है ? केवल स्वार्थ, व्यक्तिगत सुख और भय। न धम और न सेवा। यह बडे-बूढेका, प्रज्ञावान्का नही, बालक कालक्षण है।

ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। ऐसे लोगोकी क्या दशा होगी ? मृत्युने एक जाल फैला रखा है। बहेलिये चिडिया फँसानेके लिए जाल फैलाये रखते हैं। मछली पकडनेको मछुआ समुद्रमे जाल फैलाता है। जो उसके घेरेमे आये वह फँस जाय, मारा जाय। इसी प्रकार मृत्युने शब्दादि विषयोका, राग द्वेपका जाल फैला रखा है। मनुष्य छोटी चीज पकडते ही फँस जाता है। धीर, प्रज्ञावान्का लक्षण है "दृश्यमे चाहे कितनी बडी चीज हो, उसे वह महत्व न दे, वह मौत है। दृश्यवस्तुका रूप धारणकर मौत ही आयी है। दृश्यमे जो फलता है वह झरेगा, जो जलता है, वह बुझेगा। दृश्य चाहे कितना भी महान् रूप धारण कर आये, अन्तमे मरनेके लिए आता है।"

इसलिए शास्त्रमे कहा जाता है कि 'दृश्यप्रपचमे जो कुछ दिखाई पडता है, वे सब रुद्रके रूप है। सबमे बीभत्स, भयानक, रौद्ररस छिपा है। इनमे कही भी मत फँसो। जीभको खानेमे जो मीठा लगता है, उसके भीतर जहर छिपा है।'

कामान् य कामयते मन्यमान स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव हि सर्वे प्रविलीयन्ति कामा ॥

श्रुतिने स्पष्ट घोषणा की है कि जो ससारको छोटी-छोटी वस्तुओको बहुत महत्वपूर्ण समझकर उनके लिए व्याकुल हो रहा है, उसे कामनाके वश होकर यहाँ-वहाँ भटकना पडता है। यदि तुम परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो, तो तुम्हे सहन करनेकी आदत डालनी चाहिए। धीरका अर्थ है सहिष्णु।

त्वमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मण ।
नानुध्यायाद् बहून् सर्वान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥

धीर पुरुषको चाहिए कि वह स्वयं उसे जान ले और उसीमें अपनी प्रज्ञाको लगाये। मनुष्यके जन्मके पहले जो था और बादमें जो रहेगा, उसमे अपना मन लगाये। जो जन्मते-मरनेवाला है, उसमे मन न लगायें।

ऐसे वरको क्या वरूँ जो जन्मे और मर जाय।
वर वरिये गोपालजू म्हारो चुडलो अमर हो जाय ॥

परदेशीसे प्रीत कितने दिन टिकनेवाली है ?

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ।
मैंने एक पत्रिकामें पढा था 'अपने अज्ञानको जानना ही ज्ञान है।' वेदान्तका क्या सिद्धान्त है? अंधकारको जानना ही प्रकाश नहीं है। वेदान्तियोकी भाषा पारिभाषिक है, बडी सुरक्षित है। अज्ञान जान लेनेसे अज्ञानकी निवृत्ति नही होती। इसमे एक संशोधन है। आश्रय-विषयसहित अज्ञानको जान लेनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है। जिसमे अज्ञान है, वह आश्रय और जिसके बारेमे अज्ञान है, वह है विषय। यदि जिसे अज्ञान है उसीके बारेमे जानना है तो आत्मा और ब्रह्मकी एकतासहित आश्रय-विषय दोनोको जान लिया जाय, तो अज्ञान मिट जायगा। "अज्ञानको जानना ज्ञान है" यह अखबार और किताबको लेकर भले ही कहा जाय, समझदारीके साथ इसका कोई संबंध नहीं। सामान्य लोग जिस ढगसे सोचते हैं, वेदान्तकी विचारशैली उससे विलक्षण है। जहाँतक आपको घटका अज्ञान है, घटको जानेंगे तब घटका अज्ञान मिट जायगा। अपनी अद्वितीय ब्रह्मताके

अज्ञानसे ही आप अपनेको जीव मान रहे है। इसलिए जब आप अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जानेंगे, तब अपनी यह जीवपने की भ्रान्ति मिटेगी।

'हम बडे अज्ञानी है'—हम यह जानते है तो क्या ब्रह्मज्ञानी हो गये? नही, हम बेवकूफी-ज्ञानी हो गये। जिसे समझे उसके ज्ञानी। जो लोग परम्परासे उपनिषद्का अध्ययन, वेदान्तका स्वाध्याय नही करते, वे लोग रट-रटकर पढ लेंगे कि 'अपने अज्ञानको जानना ज्ञान है।'

इन्द्रियोमे स्वाभाविक ही अविद्याका निवास है। स्त्री-पुरुषके सम्बन्धसे जैसे बच्चेकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही इन्द्रियाँ ज्ञाना-ज्ञानके सम्बन्धसे प्रपञ्चको दिखा रही हैं। उसके एक अशमे ज्ञान रहता है तो एक अशमे अज्ञान भी रहता है। दोनोके मिथुनी-करणसे प्रपञ्चकी प्रतीति होती है। अत ज्ञानके विषय और आश्रयको जानना चाहिए।

आप चाहे 'इदम्' यानी 'यह' का विचार करो चाहे 'तत्' यानी 'वह' का। हमारा 'अह' इतना बडा है कि उसके पेटमे ये दोना समा जाते हैं। आपको इसी 'अह'को ढूँढता है। आप वह स्वयं हैं। जब अपासना करनेके लिए 'इदम्' न रहेगा और उपासना करनेके लिए 'तत्' न रहेगा अर्थात् अपास्य और उपास्य दोनोका बाध या अपवाद होगा तब अपने स्वरूपका ज्ञान होगा।

यहाँ धीर पुरुषका वणन है। गीतामे भी कहा गया है

य हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषर्षभ।
समदु खसुख धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

धीर पुरुषकी 'धी' मे दो विशेषताएँ हैं (१) प्रतिभा और

(२) धारणा। दोनोको मिलाकर 'धी' बना है। धारणावती धी को 'मेधा' कहते हैं। वेदोमे मेधाके लिए बडी प्रार्थना है

यां मेधां देवगणा पितरश्चोपासते।
तया मा नद्य मेधया अग्ने मेधाविन कुरु॥

वेदोमे मेधाके लिए बडी प्रार्थना है। व्याकरणकारने मेधाको 'प्रतिभा' कहा है। मेधा यथार्थ वस्तु बताती है कि आत्मा-तिरिक्त कुछ नहीं है। न ससार है, न संसारका कर्ता-भोक्ता। किन्तु जब जीवनमे ज्ञानका बल नहीं होता, तब इस बोधको पाकर भी थोडी देरके बाद वह कहेगा

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
मैं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुजहारी॥

अथवा

मो सम कौन कुटिल खल कामी।

और

धन सपत्ति घर आवे, ताप मिटै तनका।

प्रतिभान हुआ कि अद्वय ब्रह्मके सिवा कुछ नही है, पर गिरे कहाँ? अपनी जगहपर आकर बैठ गये। इसका अभिप्राय है कि ज्ञानके अनुरूप जीवन नहीं है। ज्ञान यह होना चाहिए कि मेरे सिवा अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड नही है, ब्रह्मा विष्णु-महेश नहीं हैं, अपने आत्माके सिवा कोई नही है। इसमे कर्ता-भोक्ता और कर्म-भोग नही है। ऐसा ज्ञानी फक्कड होता है। अपवादप्रधान बुद्धिको मेधा कहते हैं। इसीको धारणाप्रधान, तदनुकूलप्रधान बुद्धि भी कहते हैं।

एक बालक सामने खडा होकर बोलता है 'मेरे सिवा दूसरा

कोई है ही नही।' किन्तु चलना हो तो बापसे कहेगा 'गोदमे लेकर चलो।'

वेदान्त तो शूरमाका काम है, मे-मे, टे टें करनेवालेका नही। जो धीर पुरुष अमृतत्वको जान जाते है, उन्हे किसीका डर नही है। जिसे परमात्मप्राप्तिमे बेटा छूट जानेका डर है, वह मुक्त नही होता। उसे तो फिर अगले जन्ममे भी बेटा ही मिलेगा। अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डके इस विश्वप्रपचमे वह तो बना ही रहेगा, परन्तु इससे वदान्तका कुछ बनता-बिगडता नही।

अपने मनको ज्ञानात्मा बुद्धिमे मिला दो और उस ज्ञानको महान् आत्मामे मिला दो। ईश्वरके ज्ञानसे हमारा ज्ञान पृथक् नही है।

अनजाने जब तुम्हारा नाम किसीने करोडीमल रख दिया तो अन्य करोडीमलकी गयी निन्दा स्तुतिको तुम अपनी निन्दा स्तुति समझने लग गये। एक कल्पना तुम्हारे नामके साथ जुड गयी और तुम उसीको पकडकर बैठ गये। बिना किसी खोज या विचारके, बिना अनुसन्धान या जिज्ञासाके जो मल चित्तमे बैठे हुए है, उन मलोको दूर करो।

आपको मालूम पडता है न कि हमारी पूर्वदिशामे वक्ता मचपर बैठे बोल रहा है और पीछे दीवाल है ? क्या ईश्वरको भी यही मालूम पडता है ? तब तो ईश्वरके ज्ञानका बटाधार हो जायगा। हम कहते हैं, हमारे दायें स्त्रियाँ और बाँये मद बैठे हैं। यदि ईश्वर दोनोके बीच खडा हो तब तो ऐसा मालूम पडे, किन्तु यदि वह सर्वत्र हो तो पूरब पश्चिम कैसे मालूम पडेगा ? भारतमे जब दिन होता है तब अमेरिकामे रात होती है। ईश्वरके लिए दिन है या रात ? ईश्वर भारतम रहता है या

अमेरिकामे ? यही है ज्ञानमात्मनि महति। सर्वदेशमे रहनेवालेको न दिन है, न रात।

समष्टिबुद्धिके साथ अपनी बुद्धिको मिला दो। दिन-रात तो पृथ्वीकी आडसे, परछाईकी वजहसे होती है। दूसरी पृथ्वीमे दूसरी तरहसे, दिन-रात होते हैं। ईश्वरको सोनेके लिए न तो रात है न जागनेके लिए दिन। जो तुम्हारे दादा-परदादा थे, उनके लिए तुम भविष्यमे पैदा हुए थे और आगे तुम्हारे नाती-पोतेके लिए तुम भूतमे हो। तुम कहाँ हो ? भूतमे या भविष्यमे ? बिना देह हुए तो भूत-भविष्य होता नही। ईश्वर तुम्हें कहाँ समझता है ? भूत, भविष्य या वर्तमानमे ? यहाँ तुम्हारा वजन दो मन-ढाई मन है, यहाँसे दो मील ऊपर जानेपर एक छटाँक हो जायगा। ईश्वरकी दृष्टिमे तुम्हारा मूल्य कितना है, इसका पता लगाओ। तुम्हारी दृष्टिमे तुम्हारी अवस्था पचास-सौ वर्ष है, ईश्वरकी दृष्टिमे भी क्या यही है ? ईश्वर इतना पुराना और इतने दिनोतक रहनेवाला है कि हमारे बालमें रहनेवाली एक जूएँमे जितनी आयु है उतनी तो एक सूर्यकी आयु ईश्वरकी उमरमें नही है। सूर्यमे पृथ्वीकी और पृथ्वीमें मनुष्यकी आयु भी एक जुएँके बराबर नही है। तुम उस महत्-ज्ञानसे अपनी बुद्धि मिलाकर और उस सर्वमूलसत्तासे एक होकर देखोगे तो अनुभव करोगे कि न तुममे देश-परिच्छेद है, न काल-परिच्छेद है, न वजन है।

तद्यच्छेत् शान्त आत्मनि। समष्टिबुद्धि कहाँ है ? समष्टिबुद्धि उसमे है जिसमे विषय-क्रियाका स्फुरण नही है। शान्त यानी निष्क्रिय, निर्विषय, निर्वृत्तिक, व्यष्टि-समष्टिके भेदसे शून्य, कार्य-कारणके भेदसे शून्य, उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिमकी कल्पनासे शून्य, भूत-भविष्य-वर्तमानकी कल्पनासे विनिर्मुक्त,

यह वह, मैं-तू की कल्पनासे मुक्त। उसमे न आधाराधेय, है, न काय-कारण, न नियम्य नियन्ता। शान्त माने जिसमे किसी प्रकारके विक्षेपका उदय नही होता।

शान्त आत्मामे उसको उपसहृत कर लो। लयकी इस प्रक्रिया-मे जब देहसे सोचना प्रारम्भ करते हैं तो विषयको इन्द्रियमे, इन्द्रियको मनमे, मनको बुद्धिमे, बुद्धिको समष्टिबुद्धिमे और समष्टिबुद्धिको शान्त परमात्मामे लय करते हैं। ब्रह्मसूत्रके तीसरे अध्यायमे सर्वोपसहार-प्रकरणके दूसरे पादके २१वें सूत्रमे लय-प्रक्रियाका विवेचन है। यह प्रक्रिया कैसे करनी चाहिए, यह व्यास भगवान् समझाते हैं।

यदि आपको यह बोध होता है कि मैं सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धिसे शून्य स्वयं ब्रह्म हूँ तो मुझमे माया-प्रकृति नही है, माया-प्रकृति नही है तो समष्टि-बुद्धि नही है, समष्टिबुद्धि नही है तो व्यष्टिबुद्धि नही है, व्यष्टिबुद्धि नही है तो मन नही है, मन नही है तो देह इन्द्रियाँ नही है, देह-इन्द्रियाँ नही हैं तो विषय नही हैं, तो मैं अद्वैत-ब्रह्म हूँ। सोचो कि मेरे भीतर कुछ नही आरोह या अवरोहके क्रमसे काटते जाओ कि विषयसे लेकर समष्टि बुद्धितक अपने स्वरूपसे अलग हैं या मिलाते जाओ कि समष्टि-बुद्धिसे लेकर विषयतक अपने स्वरूपसे अलग नही है। अंतिम निष्कर्ष यह होना चाहिए कि मुझ अद्वितीय, परिपूर्ण, अवि-नाशी, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममे न माया है न छाया, न विद्या न अविद्या, न व्यष्टिबुद्धि न समष्टिबुद्धि, न मन न इन्द्रिय, न देह-न विषय। इस प्रक्रियासे विचार करनेपर आत्म-निष्ठा सम्पन्न होती है। ●

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान् ।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥३॥

जिस इस आत्माके द्वारा मनुष्य रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुनजन्य सुखोंको निश्चयपूर्वक जानता है [उस आत्मासे अविज्ञेय] इस लोकमें और क्या रह जाता है ? [तुम नचिकेता-का पूछा हुआ] वह तत्त्व निश्चय ही यही है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

जिसके द्वारा मनुष्य स्वप्नमे प्रतीत होनेवाले तथा जाग्रत्मे दिखायी देनेवाले—दोनों प्रकारके पदार्थोंको देखता है, उस महान् और विभु आत्माको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नही करता ॥४॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥५॥

जो पुरुष इस कर्मफलभोक्ता और प्राणादिको धारण करने-वाले आत्माको उसके समीप रहकर भूत, भविष्यत् [और वर्त-मान] के शासकरूपसे जानता है, उसे वैसा विज्ञान हो जानेके अनन्तर वह उस (आत्मा) की रक्षा करनेकी इच्छा नही करता । निश्चय ही यही वह [आत्मतत्त्व] है ॥ ५ ॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥६॥

जो मुमुक्षु पहले तपसे उत्पन्न हुए (हिरण्यगर्भ) को, जो कि जल आदि भूतोसे पहले उत्पन्न हुआ है, भूतोके सहित बुद्धि-रूप गुहामे स्थित हुआ देखता है, वही उस ब्रह्मको देखता है । निश्चय ही यही वह ब्रह्म है ॥ ६ ॥

३. प्राण-देवता अदिति ब्रह्मतत्त्व ही

संगति

पीछे कहा गया है कि इन्द्रियां बहिर्मुख हैं। वे परिच्छिन्न विषयों-का ही ज्ञान करा सकती हैं। वे अपने साक्षी आत्माका ज्ञान नहीं करा सकती। जो संसारके विषयभोगोंके चक्करमें पड़े हैं वे बुद्धिकी दृष्टिसे बालककी अवस्थामें ही पड़े हैं पराचः कामाननुयन्ति बालाः। वे तो खिलौनोंसे ही खेल रहे हैं। लेकिन जो धीर पुरुष हैं, वे अवि-नाशी अमृतको जानकर उसीका अनुभव करते हैं, वे संसारके भोग-विलास नहीं चाहते। बादमें यह भी कहा गया कि यह परमात्मा कहीं दूर छिपा नहीं है। जिसे रूप-रसादिका ज्ञान हो रहा है, वह हमारा आत्मा उपाधिसे पृथक् करनेपर साक्षीस्वरूप है, वह ब्रह्म ही है।

दूसरी युक्ति यह बतायी गयी कि जो जाग्रत् और स्वप्न दोनोंके दृश्योंका और उनके विलय-काल सुषुप्तिका भी द्रष्टा है, वह देश-काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंसे शून्य परमात्मा ही है।

इसके बाद जाग्रत् स्वप्नके साक्षीको जाननेकी युक्ति बतायी। इसका विवेक करना कठिन है। व्यवहारमें हम अपनेको सुखी या दुःखी मानते हैं। 'मध्वद वेद'—दिनभर अपनेको पचास बार सुखी या दुःखी मानना हँसना, रोना, यह तो पागलकी-सी दशा है। वास्तवमें यह कोई साधारण बात नहीं। ईशानं भूतभव्यस्य यह सम्पूर्ण भूत-भविष्य वर्तमानसे असंग साक्षात् परमात्मा ही है। सुखीपन दुःखी-पन तो बदलता है, पर वह स्वयं नहीं बदलता, क्योंकि वह स्वयं परमात्माका स्वरूप है।

इसके बाद यह युक्ति दी कि संपूर्ण कारणवारिकी उत्पत्तिसे यानी सम्पूर्ण जगत् अंडमें पानी उत्पन्न हुआ और उसमें जो आभास हुआ उसके भी पूर्व जो आभासी है, हमारे हृदयमें ही बैठा है, वही सम्पूर्ण वस्तुओंके साथ प्रकट होता-सा मालूम पड़ता है। हिरण्यगर्भका विचार करो। वास्तवमें तुम व्यष्टि-जीव नहीं, समष्टि-जीव हो। यह ज्ञानस्वरूप ही है, उससे भिन्न नहीं, परब्रह्म परमात्मा ही है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न रीतियोंसे एक ही बात समझायी गया कि वास्तवमें तुम परब्रह्म परमात्मा हो। विभिन्न युक्तियोंमें सबका फलि-तार्थ एक ही है।

यत्र प्रवर्या विषया सनातना
यत्र प्रकाशो विनये प्रदर्शने।

बात यही कहनी है कि यदि यह आत्मा दुःखी होता तो सदैव

दु खी रहता और सुखी होता तो सदैव सुखी रहता। लेकिन सुखी-पन-दु खीपन बदलता रहता है और अपना मन उन दोनोको पार कर जाता है। वह व्यष्टि-समष्टिका साक्षी है, वह अपनेको देख रहा है कि 'मैं सबको जाननेवाला हू। वही तो परब्रह्म परमात्मा है। अब इसीके निरूपणके लिए एक नयी युक्ति देते हैं

या प्राणेन सभवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत ।। एतद्वै तत् ।। ७ ।।

जो देवतामयी अदिति प्राणरूपसे प्रकट होती है तथा जो बुद्धिरूप गुहामे प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतोके साथ ही उत्पन्न हुई है (उसे देखो)। निश्चय ही यही वह तत्त्व है ।। ७ ।।

यह अदिति देवता कैसी है ? देवतामयी है। पुराणोमे अदिति-की चर्चा आती है। द्वादश आदित्य अदितिके उदरसे उत्पन्न होते है। सूर्य किसके पुत्र ह ? चन्द्रमा, वामनजी किसके पुत्र है ? अदितिके रोम-रोममे देवता भरे है। अदिति क्या है ? ऋग्वेद (१ मण्डल) कहता है कि यह प्राणके साथ सवरूपमे प्रकट होती है

या प्राणेन सह सभवति सवरूपेण ।

ब्राह्मण लोग स्वस्तिवाचनमे पाठ करते है। इसका क्रम दूसरे ढगसे है। लोगोके यहाँ स्वस्तिवाचन होता है, उसका क्रम कुछ दूसरे ढगका है।

शतमिन्द्रु शरदो रन्तिदेवा यत्रानश्चक्रा यस्थ तनूनाम् ।
पुत्रासो यस्य पितरो भवन्ति मानो मध्यावि रिशतायु गन्तो ।।

हम बहुत बचपनसे विवाह, यज्ञोपवीतादि कर्मकाण्डमे सम्मि-लित होते तो हमारे पितामह और उनके विद्यार्थी तथा पुरोहित

लोग स्वस्तिवाचनमे यह मंत्र बोलते थे। इसीके अन्तर्गत दूसरा मंत्र है वह हमारे यहाँ बोलते हैं

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।
विश्वेदेवा अदिति पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

इसके बाद बोलते हैं

दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे सुप्रजायस्त्वाय सहसा अथो हि सर्व-शतम् । ॐ द्यौ शान्तिरन्तरिक्ष शान्ति पृथ्वी शान्ति ।

इस मन्त्रको पढें तो मालूम पडेगा कि अदिति क्या है ? अन्त-रिक्ष-द्युलोक, माता-पिता, पुत्र सभी अदिति हैं, वे ही सब हैं। सपूर्ण देवता, पञ्चजन यानी पंचभूतसे उत्पन्न जितने सारे पदार्थ हैं, जो कुछ कारण और कार्य है, मन, इन्द्रियाँ आदि—सब अदिति हैं। पञ्चजनका एक अर्थ है गधर्व।

निरुक्तमे 'अदिति' के अर्थका निर्वचन दिया गया है। अर्थ तो इसके बहुत से हैं। ऐतिहासिक पक्षमे देवताओकी माताका नाम अदिति है। अदिति = अदीना, जो कभी दीन न हो।

दीनता जिसके मनमे आती है कि 'तुम्हें दे देंगे तो हम क्या खायेंगे ?' उसके मनमें दैन्य भरा है। एक जाटके बारेमे प्रसिद्ध है कि वह दिल्ली गया। वहाँ दो मसजिदें हैं। फतेहपुरी मसजिदमे गया तो टीनके बक्सोकी बडी-बडी दूकानें दीखी। बेचारा देहातसे आया था, कुछ मालूम न था। दूकानदारने बुलाया "आओ।" वह भीतर चला गया। उसे छोटे-बडे बक्स दिखाये और उनकी कीमत बताते हुए कहा 'एकआध ले जाओ अपने घर।"

जाटने पूछा "मैं घर ले जाकर क्या करूँगा ?"

दूकानदारने कहा "अपना कपडा-लत्ता इसमे रखना।"

जाटने जवाब दिया 'कपडा-लत्ता इसके भीतर रख दूँगा तो मै क्या तेरी ऐसी-तैसी पहनूँगा ? मेरे घर तो और कुछ है ही नही।'

दीन वह है जो सोचता है कि ईश्वरने हमे जो दिया है, वह यदि हम ईश्वरके किसी बन्देको दे देंगे तो फिर ईश्वर हमें नही देगा।

अतएव स्पष्ट है कि अदिति अदीना है। उसे किसीको कुछ देनेमे हिचकिचाहट नही होती। वास्तवमे वह समष्टिबुद्धि, महत्तत्त्व-रूपा है। महतत्त्वसे सबका अकुर निकलता है अंगूर, आम, इमली, मनुष्य, पशु-पक्षी। सारी सृष्टि कश्यपकी सतान है। उसमेसे ईश्वर भी निकलता है।

अदिति = समष्टि-प्रज्ञा है, समष्टि-प्राण है। चैतन्यकी प्रधा-नतासे हिरण्यगर्भ है तो वृत्तिकी प्रधानतासे है प्रज्ञा। सृष्टिमे प्रज्ञाशक्ति और प्राण या क्रियाशक्ति ये ही दो है। प्राण न हो तो प्रज्ञामे अकुर ही उदय न हों। बीजमे हवा न हो तो उससे फोड-कर अकुर नही निकल सकता। उसमे प्राणकी उपस्थिति आवश्यक है। प्रज्ञारूप उपादान ही न हो तो अकुर किससे निक-लेगा ? प्राण कर्मशक्तिसे आहित है। इन्ही दोनोसे सपूण सृष्टि उत्पन्न होती है।

परमात्मा क्या है ? केवल प्राण है ? नही

न प्राणेन नापानेन जीवो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति अस्मिन्नेता उपाश्रितौ॥

केवल 'अपान'का नाम भी परमात्मा नही है। प्राण और

अपान (साँसका निकलना और भीतर जाना) दोनों जिस चैतन्यके आश्रित हैं, वह परमात्माका स्वरूप है। यदि शरीरके भीतर चिदाभास न हो तो श्वासका आना-जाना बंद हो जायगा, जैसे शवमे। प्राण और प्रज्ञा दोनों चिदाभासके, मूलचैतन्यके आश्रित हैं व्यष्टि-बुद्धि और व्यष्टि-प्राण, समष्टि-बुद्धि और समष्टि-प्राण।

या प्राणेन सभवत्यदितिर्देवतामयी। यह अदिति कैसी है? देवतामयी। चक्षुर्देवता, श्रोत्रदेवता, त्वक्‌देवता, घ्राणदेवता, वाग्देवता, ये सभी इन्द्रियाँ देवता हैं। 'द्योतनात् देवता।' विषयको प्रकाशित करती हैं, इसलिए ये देवता कही जाती हैं। पाचो इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करती है। अत अदिति सपूर्ण देवताओंको शक्ति देती है और दैन्य नही करती।

ऋग्वेदमे एक जगह अदितिका बडा विलक्षण वर्णन आया है। पुराणोमे हमने सुना है कि पार्वतीकी प्रधानतासे गणेश शिवके पुत्र हैं। स्कन्द भी शिवके पुत्र हैं। किन्तु गणेश-पुराणमे वर्णन है गणेशके पुत्र शिव हैं। पुराणोमे "विष्णुके पुत्र शिव और शिवके पुत्र विष्णु हैं" ऐसा दोनो प्रकारसे वणन है। अदितिके विषयमे वर्णन आता है

अदितिर्दक्ष दक्षाददिति (**दक्षात् उ अदिति**)। निघण्टु-निरुक्तमे प्रश्न उठाया गया **कथम् विरुद्धमुच्यते**? ये दोनो समानजन्मा हैं **समानजन्मानौ**। कोई पूछे कि पहले (चैतन्य-की प्रधानतासे) हिरण्यगर्भ या पहले (जडताकी प्रधानतासे) महत्तत्त्व? कौन पिता और कौन पुत्र? तो उत्तर होगा "महत्तत्वकी आत्माका नाम हिरण्यगर्भ है और हिरण्यगर्भके शरीरका नाम महत्तत्त्व है।" दोनो एक साथ हैं। जहाँ चेतनकी

विशेषता है वहाँ जड़का कारण चेतन है और जहाँ जड़की विशेषता है वहाँ चेतनका कारण जड़ है। महत्तत्त्वकी उपाधि परमात्मासे जुड़ी तब हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ।

हमारे शरीरके भीतर बुद्धि और प्राण दोनों काम करते हैं। प्राणसे हाथ उठता है, पक्षाघात हो जानेपर प्राण काम नहीं करते। बुद्धिकी आज्ञा होगी तब प्राण हाथको उठानेमें प्रवृत्त होता है। बुद्धि-प्राण दोनोंके मिलनेसे क्रिया होती है। यदि आप परमात्माको जानना चाहते हैं तो यह समझदारी और यह कर्म दोनोंका जो आश्रय है, जो दोनोंसे उपलक्षित है, जो बुद्धि द्वारा सोच रहा है और प्राण द्वारा उठा रहा है, इन्द्रियों द्वारा कर्म कर रहा है, जान रहा है, जो शरीररूपमें द्रव्यात्मक और अन्तःकरणरूपमें वृत्त्यात्मक है, इन सबका जो आश्रय है : **अहं गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती**, वह इसी हृदयरूप गुहामें प्रवेश करके रह रहा है।

या भूतेभिर्व्यजायत। यही आकाशकी प्रधानतासे शब्द और श्रोत्र बन गयी, यही वायुकी प्रधानतासे त्वचा-स्पर्श बन गयी; यही अग्निकी प्रधानतासे वाक्-वक्तव्य बन गयी; यही तेजकी प्रधानतासे नेत्ररूप बन गयी; यही पृथ्वीकी प्रधानतासे घ्राण-गंध बन गयी। यही अदिति और यही प्राण इन्द्रिय-विषय और देवता-वृत्ति रूपसे प्रकट हो रही है। इनका आश्रय "मैं" परमात्माका-स्वरूप है।

एतद्वै तत्। यही जो प्राणाश्रय, सर्वाश्रय, आदित्याश्रय, गुहाश्रय, भूताश्रय रूपसे विराजमान है, वह कौन है ? यही वह ब्रह्म है जो धर्माधर्म, भोक्ता-भोग्य, द्रष्टा-दृश्य और कार्य-कारणसे परे है। ●

४. अरणिस्थ अग्निमें ब्रह्मदृष्टि

संगति :

सप्तम मन्त्रमें 'अदिति'को देवतामयी कहा गया और सर्वरूपमें वही है, यह समझानेके लिए बताया कि भूतोंसे युक्त होकर विविध रूपमें वह प्रकट हुई। प्राण-समन्वित जिस अदितिका विविधरूपोंसे प्राकट्य है, उसका आश्रय, उससे अवच्छिन्न, उससे उपलक्षित शुद्ध अहम् पदका जो अर्थ है, वह अहम्-पदलक्ष्यार्थ कौन है? 'एतद्वै तत्'— वही ब्रह्म है।

अब अष्टम मन्त्रमें इसीको समझानेके लिए दूसरी युक्ति देते हैं।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा भली प्रकार पोषित हुए गर्भके समान जो जातवेदा (अग्नि) दोनों अरणियोंके बीच स्थित है तथा जो प्रमादशून्य एवं होम-सामग्रीयुक्त पुरुषोंद्वारा नित्यप्रति स्तुति किये जानेयोग्य है, यही वह ब्रह्म है ॥ ८ ॥

ऋग्वेदके तीसरे मण्डलमें यह मन्त्र भी आया है। वहाँ यह अग्निकी स्तुतिमें पठित है। वहाँ 'एतद्वै तत्' नहीं है, पर यहाँ है। उसमें निरूपण दूसरे ढंगसे है। यहाँ 'एतद्वै तत्' आनेसे अर्थ बदल गया।

आओ, हम तुम्हें ईश्वर लखायें। यज्ञमें अरणि-मन्थन करते हैं। शमीकी लकड़ीसे अरणि बनाते हैं। वहाँ आग पहले कहीं नहीं रहती, मन्थन करनेपर निकल आती है।

अरण्योर्निहितो जातवेदाः। ऊपरकी अरणिको उत्तरारणि और नीचेकी अरणिको अधरारणि कहते हैं। भारतका हिमालयवाला भाग सिर और कन्याकुमारीवाला भाग पैर कहा जाता है। उत्तर यानी ऊपर, दक्षिण यानी नीचे। पार्वतीजी तप करना चाहती थीं। उन्होंने सोचा : "माँ-बाप तपस्या नहीं करने देंगे, रोकेंगे। शंकरजी भी हिमालयकी ही एक चोटीपर रहते हैं। उन्हींके लिए ही तप करती हूँ, यह जानेंगे तो मेरेलिए बड़ी शरमकी बात होगी।" इसलिए वे पहुँच गयीं कन्याकुमारी। वहाँ जाकर उन्होंने तप किया कि हम शंकरजीसे ब्याह करेंगे।

अरणिमें आग रहती है, तभी प्रकट होती है। तुम्हारे हृदयमें परमात्मा रहता है। उसे प्रकट करनेके लिए मन्थन करना चाहिए। कैसे? जैसे लकड़ीसे लकड़ीका मन्थन होता है, वैसे हृदयसे हृदयका मन्थन किया जाय। उसमें उत्तरारणि और अधरारणि कैसे बनेगी? वर्णन आता है कि शिष्य अधरारणि है और गुरु है उत्तरारणि। **तत् संधानं प्रवचनम्।** प्रवचन ही संधान (मन्थन) है। इससे ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है।

बीसवीं शताब्दीके लोग बड़े विचारप्रधान होते हैं; क्योंकि यह वैज्ञानिक युग है। किन्तु ऐसी मर्यादा, ऐसा नियम और ऐसा अनुभव है कि बुद्धिमें जितने विचार उठते हैं, उनका कोई न कोई संस्कार होना चाहिए। बिना संस्कारबीजके विचार भी नहीं उठते। एकान्तमें बैठकर जो परमात्माकी बात सोचेगा, वह दुनियाकी किसी बातको जोड़कर सोचेगा कि परमात्मा ऐसा है। वह निषेध नहीं कर सकता, उसे संसार जो बहुत महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ता है। दयालु आदमी तो ईश्वरके बारेमें यही सोचेगा कि "ईश्वर बहुत दयालु है; क्योंकि वह दयालुके सामने अपना सिर झुका चुका है। पाँच रुपया दिया तो दयालु बड़ा हो गया। हम उसके सामने छोटे हैं। दुनियामें सबसे बड़ा ईश्वर है, वह भी दयालु होगा।" इस प्रकार संसारमें जिस-जिसके सामने झुक चुका है, उसकी जो विशेषता है, उसे वह ईश्वरपर आरोपित करेगा। इसलिए उसे यथार्थ ईश्वरका ज्ञान एकान्तमें बैठकर भी नहीं हो सकता।

दूध पिलानेवाली माँ, भोग करनेवाला पति, जो अच्छा लगेगा, संसारमें जिस-जिस चीजको बड़ा महत्त्वपूर्ण मान चुके हो, उसका संस्कार तुम्हारे चित्तमें है तो एकान्त बैठकर जब तुम ईश्वरके बारेमें सोचते हो तो उन्हीं अपने संस्कारोंको ईश्वरके साथ जोड़ दोगे। यह बड़ी भारी कठिनाई है।

हम ऐसे लोगोंको जानते हैं कि ईश्वरकी प्राप्तिमें तीस-तीस वर्ष निगुरे रहकर एकान्तमें बैठे, किसीसे मिले नहीं। पर वहाँसे निकला क्या? ठनठनपाल! फिर भी वे दावा करते हैं : "जहाँ राम, कृष्ण, शङ्कराचार्यकी पहुँच नहीं, वहाँ मैं पहुंच गया। उन्हें ईश्वरकी अद्वितीयता, परिपूर्णता, प्रत्यक्चैतन्याभिन्नता और

नित्यताका बोध नहीं हुआ। जब अपनी वासना और संस्कार लेकर व्यक्ति एकान्तमें बैठता और ईश्वरसे बात करने लगता है तो अपनी वासनाके घेरेसे बाहर नहीं निकल सकता। इसलिए : **तत्संधानं प्रवचनम्।**

जो संस्कारों, वासनाओं, सृष्टिकी मान्यताओंसे मुक्त है, जो मायाकी उपाधिसे उपहित विशिष्टका भी निषेध कर देनेमें समर्थ है, उसका प्रवचन छिपी हुई अग्निको प्रकट कर देनेवाला है।

अरणिमें आग छिपी है, किन्तु मन्थनके बिना वह प्रकट नहीं होती। इसी प्रकार गुरु और शिष्य होंगे। गुरुके प्रवचनके बिना ज्ञानाग्नि उत्पन्न नहीं होगी। जो कहते हैं कि 'गुरुके सान्निध्य-मात्रसे, स्पर्शमात्रसे, उनके शरीरसे निकलनेवाली हवाके स्पर्शसे ही ज्ञान हो जायगा,' वह तो चमत्कारकी, शक्तिपातकी बात हुई। वे दूसरे ढंगके लोग हैं। सनातनदेवजी (पहले जो मुनि-लालजी थे)को शक्तिपातका बड़ा शौक था। वे वृन्दावनमें साथ ही साथ रहते हैं। उन्होंने अध्यात्मरामायण, विष्णुपुराण आदिका हिन्दीमें अनुवाद किया है। तीस-पैंतीस वर्षसे हम मित्र हैं। वे किसीके पास जाते तो बोलते : 'आपको शक्तिपातका बड़ा अभ्यास है, ऐसा हमने सुना है। आप हमारे सिरपर हाथ रखिये। हमारी पीठकी रीढ़ सीधी कीजिये, नस दबाइये जिससे हममें शक्तिपात हो जाय।'

इस प्रकार कई लोगोंसे उनकी बातचीत हुई और प्रयत्न किया। पर कुछ नहीं हुआ। एक महात्माने पूछा : "छः महीना हम कहें वैसे करोगे ?"

सनातनदेवजी : "हाँ, हम तैयार हैं। हमें कोई साधन-समादर नहीं करना है। तुम बताओ कर लेंगे !"

उन्होंने छः महीना कर लिया तब भी कुछ नहीं हुआ तो बताया : "बारह वर्ष करो।"

सनातनदेवजीने कहा : "जब बारह वर्ष करनेसे होगा तो हमें शक्तिपातकी जरूरत नहीं हैं।"

गुरु-शिष्यके विद्यमान रहते भी 'तत्वमसि' आदिका उपदेश और अर्थज्ञान कराये बिना ज्ञानाग्निकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि किसीको ज्ञान हो जाय तो ? तो कल्पना करनी होगी कि पहले जन्ममें संधान हो गया है।

दूसरा दृष्टान्त देते हैं : **गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः**। यह अन्तरंग दृष्टान्त है—गर्भिणीके पेटमें बच्चा सुभृत है। जैसे बाहर याज्ञिक लोग अरणिमें से मन्थन करके अग्निको प्रकट करते हैं, वैसे योगीलोग अपने हृदयमें विवेक द्वारा मन्थन करके आध्यात्मिक अग्निको प्रकट करते हैं। परन्तु गर्भाधान तो होना चाहिए न ? इसीलिए गर्भका दृष्टान्त है।

एक श्रीमतीजी ने कहा : 'बच्चा चाहिए', उन्होंने सोचा : तप करेंगे तो बच्चा होगा। वे एकान्तमें बैठ गयीं, किन्तु पेटमें बच्चा कहाँसे आये ? बच्चेके लिए तो पुरुष चाहिए। पुरुषके शरीरसे स्त्रीके गर्भमें बीज आयेगा तभी बच्चा होगा। सारांश, जैसे पति द्वारा प्रदत्त गर्भको गर्भिणी अपने अन्दर धारण करती है, वैसे गुरुद्वारा प्रवचन–नालिका द्वारा प्रदत्त ज्ञानको जिज्ञासु अपने हृदयमें धारण करते हैं।

वेदान्तकी विशेषता ही पहले समझमें आनी चाहिए। किसी अन्य प्रमाण, उपाय या साधनसे परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होना संभव नहीं है। प्रमाणान्तरका जबतक निषेध नहीं होगा, तबतक वेदान्त-प्रामाण्य की स्थापना ही नहीं होगी।

यदि युक्तिसे यह मालूम पड जाय तो शाश्वत वेदान्तकी कोई आवश्यकता होती ? यदि आँख टेढी करनेसे, त्राटक करनेसे यह बात मालूम हो जाती तो सबकी आँख पकड-पकडकर वैसे कारखाना ही खोल दिया जाता ? ऑपरेशन कर लोगोकी आँखें सीधी कर देते और कहते 'अब देखो ईश्वरको !'

मैने सुना है, कभी ऐसा होता था। एक सज्जन आये तो बहुत सारे लोग उनको घेरकर खडे हो गये और बोले "हमे ईश्वरका दर्शन कराओ।"

वह बोला "ईश्वर तो बिलकुल दो आँखोके सामने ही रहता है। तुम्हे दीखता नही ? बीचमे नाक आ जानेसे नही दीखता होगा। नाक कटवाओ तो दीखेगा।"

एकने अपनी नाक कटवा ली, पर बेचारेको ईश्वर नही दीखे। वह बोला "अभी ईश्वर तो नही दीखता।"

वे सज्जन बोले "खुला मैदान तो दीखता है न ?"

वह बोला "हाँ।"

"तो यही ईश्वर है।"

"यह नही, हम तो ऐसा ईश्वर देखना चाहते थे।"

"देखो, तुम्हारी नाक तो कट ही गयी। अब दूसरे लोगोके सामने मत बोलो। कहो कि हमे अब नाक कटवानेसे ईश्वर दीखता है।"

नाक कटवानेसे, आँखका ऑपरेशन करवानेसे, दोनों मिलकर सीधा देखें तो भी ईश्वर नही दीखता। ईश्वर न दूसरे साधन-उपायसे मिलता है, न दूसरे प्रमाण या युक्तिसे सिद्ध होता है। युक्तियाँ जिसके सामने नाचती हैं, उपाय जिसके सामने उत्पन्न होते और मरते हैं, साधनाएँ जिसके सामने उत्पन्न और नष्ट

होतो हैं और ये सब कभी प्रतोत होते हैं, कभी प्रतीत नहो होते। किसे ? वह आत्मदेव साधन-साध्य नहीं, युक्तिसाध्य नहीं, विचारसाध्य नहीं। बताना पडेगा कि सबके निषेधके बाद और सबके विधानके बाद, सबके निषेध-विधानका वह साक्षी है।

दिवेदिवे ईड्य । प्रतिबोधमे इसका अर्थ है 'दिने दिने ईड्य !' श्रुतिमें इसका अर्थ है 'प्रतिदिन यह स्तुति करने-योग्य है।'

प्रतिबोधविदितं मतम् ।

दिव = प्रकाश, बोध। जितनी वृत्तियाँ उठती हैं, जितना प्रकाश है, सबमे यही मौजूद है। वृत्तियाँ अनेक हैं, उनमें यह एक है। वृत्तौ-वृत्तौ, प्रकाशौ प्रकाशौ, प्रतीतौ-प्रतीतौ ईड्य ।

जागृवाद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्नि । जागृत रहो बेटा, सोना नहो। साधु सावधान! सपूर्ण दृश्यप्रपंचका इसमें भोग लगा दो। विचारशील बनो। विचार करके, जाग करके संपूर्ण दृश्य-प्रपंच-का इसमे हवन कर दो।

यदि आप दृश्यमेंसे कुछ भी बचाकर अपने पास रखना चाहते हो कि "हाय-हाय, हम इसका होमकर देंगे तो जीयेंगें कैसे ? खायेंगे क्या ?" तो अदिति नही हुए न ?

अबोना स्याम शरद' शतम् ।

इसीका नाम अग्नि है। क्या ? 'एतद्वै तत्' जिस ब्रह्मके बारेमें तुमने पूछा था, देवताओको भी जिसके बारेमें संशय रहता है, जिज्ञासित, विचिकित्सित है, देवताओंके द्वारा जो विदित-अवि-दितके परे है, जो धर्म-अधर्मसे, कृत-अकृतसे विलक्षण है, जो विष्णुका परमपद है, जो भूत-भव्यसे परे है, वह कौन है ? वह तुम हो 'एतद्वै तत्'। ●

५. प्राणमें ब्रह्मदृष्टि

संगति

तुम्हारे भीतर जो ज्ञानाग्नि है वह द्वैतको, अनात्म प्रपञ्चको भस्म कर देती है। गुरु चेला दोनोंमें वही ब्रह्म है। वह गुरुके गुरुत्वरूप और शिष्यके शिष्यत्वरूप लकड़ीको सधान द्वारा जलाकर ज्ञानाग्निरूपमें प्रकट होता है। आग दोनोंकी एक है, इसीको 'तत्त्वमसि' कहते हैं। चतुरसे चतुर गर्भिणी भी बिना पुरुषके संयोगके गर्भ नहीं धारण कर सकती, वैसे शिष्यकी बुद्धि कितनी भी निपुण हो, बिना गुरुके संसर्गके ब्रह्मज्ञानाधान नहीं हो सकता। श्रुति द्वारा 'नेति नेति' करके इस ज्ञानगर्भको धारण करनेके लिए तैयारी चाहिए। शिष्य शमादि साधन द्वारा संपन्न होकर इसे भली भाँति, सावधानीसे धारण करे, अन्यथा मुक्त गुरु द्वारा निक्षिप्त होनेपर भी यह सुभृत नहीं रहेगा। यह असंभव कार्य, "तुम ही परमात्मा हो" कोई अपने आप कैसे सोच सकेगा? सुभृत होनेका अर्थ है धर्मजन्य, समाधिजन्य, विवेकजन्य

संस्कारवाली बुद्धिसे परे जो तुम साक्षी, अविनाशी, अद्वैत, परिपूर्ण हो उसे वेदान्त द्वारा लखा देना।

जैसे अग्निहोत्री लोग अग्निमें हवन करते हैं वैसे प्रत्येक प्रकाशमें, शब्दाकार वृत्तिमें प्रकाशक तुम हो, अर्थाकारवृत्तिमें प्रकाशक तुम हो, रूपाकार वृत्तिमें प्रकाशक तुम हो। "प्रतिबोध विदितम् मतम्"— जितने विषय तुम्हारे सामने आये उनमें प्रकाशक रूपसे तुम विद्यमान हो।

जागते रहो! प्रपंचके हविष्यका हवनकर दो, तब तुम्हारा मनुष्य जीवन सफल होगा। वह अग्नि उदित होगा 'एतद्वैतत्'।

अष्टम मंत्रमे उपर्युक्त युक्तिसे जो बात समझायी गयी, वही अब नवम मन्त्रमें दूसरे ढंगसे समझाते हैं

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन॥
एतद्वैतत्॥ ९॥

जहाँसे सूर्य उदित होता है और जहाँ वह अस्त होता है, उस प्राणात्मामे [अग्न्यादि और वागादि] सम्पूण देवता अर्पित हैं। उसका कोई भी उल्लङ्घन नही कर सकता। यही वह ब्रह्म है॥ ९॥

जिधरसे सूर्य उदित होता है और जहाँ जाकर अस्त होता है, इसीमे सारे देवता अर्पित हैं। इसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। सूर्योदय और सूर्यास्तका, सपूर्ण देवताओका अधिष्ठान अनतिक्रमणीय है अर्थात् नेति-नेति द्वारा जिसका निषेध नही हो सकता। कोई कह दे कि "यह नहीं है, हम नहीं है, मैं नहीं हूँ" तो वह झूठा है। सबका निषेध हो सकता है, 'मैं'का नही हो

सकता। कभी किसीको यह अनुभव नही हो सकता कि "मै नही हूँ।"

हम जब गीताप्रेस मे थे तो डेढसौ आदमियोकी लिस्ट बनायी थी जो कहते थे कि "शरीररूपमे हम साक्षात् ईश्वर है।" आप आश्चय करोगे, ऐसे लोगोकी सख्या बगालमे अधिक थी। दूसरा नम्बर गुजरातका था। वे अपने अपने भक्तोके बीच बैठकर बोलते थे कि "हम ईश्वर है।" अब तो बढ गये होगे क्योकि सब दिशामे उन्नति हो रही है।

एक नबरका ईश्वर वह है जो नि सकल्प है, वह ब्रह्म है। मै शरीरधारी ईश्वरका वर्णन करता हूँ। दो नबरका वह है जो सत्यसकल्प है क्योकि जो कुछ होरहा है, सब उसके सकल्पमे ही है। इन दोनोसे जो निराला है वह ईश्वर कैसा? वह तो खिलवाड है। ईश्वरसे लडाई हो तो? तब तो वह जीवकोटिम आ गया। वतमान सृष्टि यदि किसी दूसरेके सकल्पमे है तो वह जीव है। यदि अपनेमे सृष्टि, सकल्प अर्थात् माया है ही नही तो वह निगु ण ईश्वर ब्रह्म है और सकल्प है तो सगुण-ईश्वर है। इसीलिए ईश्वर हर स्थितिमे प्रसन्न है। तीसरी कोई कोटि ईश्वरकी है ही नही। कोई रोता या हँसता है तो ईश्वरके सकल्पमे ही रोता-हँसता है। फिर ईश्वरको दु ख कहाँसे होगा?

ईश्वरसे तो ईश्वरकी लडाई नही है और जीव तो ईश्वरके सकल्पम ही है। फिर उससे उसकी क्या लडाई? ईश्वरको 'नेति-नेति' करके निषेध भी नही करना है क्योकि माया तो वह दिखा ही रहा है।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्त यत्र च गच्छति। कई दृष्टियोसे यह बात समझायी गयी है

(१) हिरण्यगर्भकी दृष्टिसे। (२) प्रज्ञाकी दृष्टिसे। (३) प्राणकी दृष्टिसे। (४) अरणिमन्थनकी दृष्टिसे और (५) गर्भकी दृष्टिसे।

और भी अनेक दृष्टियोसे यह बात समझायी गयी। अब सूर्योदय और सूर्यास्तका उदाहरण देकर समझा रहे हैं। आप यदि हवाई-जहाज या रॉकेट पर चढकर ढूँढने जायँ तो क्या आपको सूर्योदय या सूर्यास्त के स्थान मिलेंगे ? वास्तवमे सूर्योदय-सूर्यास्त क्या होता है ? हर मिनटमे सूर्योदय-सूर्यास्त होता है और ग्रहणका सूतक-पातक भी हर समय रहता है, क्योकि कही-न-कही ग्रहणकी छाया और सूर्य हर समय आकाशमे रहते हैं। हमारी आँखसे सूय दीखे तो सूर्योदय और न दीखे तो सूर्यास्त। वास्तवमे जितना अधिभूतका दशन होता है, वह अध्यात्मकी अपेक्षासे होता है। सूर्य कहाँ है ? सूर्य हमारी आँखमे बैठा है।

दृग् रूपमार्कं वपुरत्ररन्ध्रे।

यह आँख है। इससे दीखनेवाला यह रूप है और आँखसे दीखनेवाला सूय भीतर बैठा है। वह सूय नहीं जो आकाशमे उदय-अस्त होता है। सच पूछो तो आकाशमे कही सूर्योदय-सूर्यास्त है ही नही। सूयके जन्म और सूर्यकी मृत्युका पता लगाना पडेगा। वह जिस आकाशमे होता है, वह शब्दका आश्रय है। नही, वह शब्द-तन्मात्राका काय है। नहीं-नही, वह तामस अहकारका कार्य है। दिक्तत्व उससे भी सूक्ष्म है, जिसमे पूर्वादि और बाहर-भीतरकी कल्पना होती है। वह दिक्तत्व जिसकी उपाधि है, उसीमे सूर्यका उदय-अस्त होता है। कालकी दृष्टिसे सूयका जन्म-मरण, क्रियाकी दृष्टिसे सूयका गमनागमन, वस्तुकी

दृष्टिसे सूयकी दृश्यमानता, ईश्वरके सकल्पसे ये तीनो होते हैं और परब्रह्म परमात्मामे ये तीनो कल्पित है।

आँखमे देखनेकी वृत्ति कहासे आती है और कहाँ लीन होती है ? नेत्र आध्यात्मिक सूय है और सूय देवता जिसकी पूजा होती है वह आधिदैविक सूर्य है। जो आँखोसे दिखाई देता है वह आधिभौतिक सय है। तीनो प्रकारके सूय ज्ञानस्वरूप परमात्मामे ह नेत्र-वृत्ति, देवता-सूय और रूप-विषय। सूर्य माने रूपकी त्रिपुटी, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयकी त्रिपुटी। निरूक्तम सूय शब्दका अथ आता है सूय सर्पे=चले, जो ज्ञानमेसे आखके रूपमे उछल पडा है। वह उत्सपणात् सूय 'सूते इति सूय, सूयते इति सूय'। जो सारी सृष्टिको उत्पन्न करता है, वह सूय। सूयते=प्रेरयते इति वायुना= प्राणसे प्रेरित, होता है। इसलिए जिस प्राणमे, जिस हिरण्यगभमे, महत्तत्त्वमे, जिस ईश्वरके सकल्पमे ये तीनो प्रकारके सूय जन्मते और मरते है, सारे देवता उसीको अर्पित हैं।

जब कोई चीज आँखसे देखते हो तब हाथसे पकडते हो या धरतीपर पाव रखते हो तो आँखके प्रति हाथ पाँव अर्पित ह। पाँवक देवता उपेन्द्र, नेत्रके प्रति चरण अपनी गतिसहित, देवतासहित अर्पित ह आँख कहे कि पाव मत रखना तो न रखे। इसी प्रकार हाथके देवता इन्द्र।

सूय बहुत सूक्ष्म हैं। सन्ध्यावन्दनके मन्त्र मालूम हो तो बहुत-सी बातें अपने आपही मालूम हो जायें।

उदित्य जातवेदसम्, देवं वहन्ति केतव। दृशे विश्वाय सूय सूर्य आत्मा, जगतस्तस्थुषश्च। जड जगम दोनोका आत्मा सूय है। **धियो यो न प्रचोदयात्** यह हमारी बुद्धिका प्रेरक है। **देवा सर्वे अर्पिता धियो यो न प्रचोदयात्**मे जो धी प्रेरक है,

उसीके प्रति सब देवता अर्पित हैं। दृष्टिशक्तिमे सब ओतप्रोत हैं। इनमे दृष्टि अनुस्यूत है, जैसे कपडेमे धागा। ताना-बाना दोनो वही है। हमारी सपूर्ण कर्मेन्द्रियोमे और ज्ञानेन्द्रियोमे यह दृष्टि-शक्ति ओतप्रोत है। इसके भीतर सूर्य माने हिरण्यगर्भ बैठा है। परब्रह्म परमात्मा ही ईश्वर है, ईश्वर ही हिरण्यगर्भ है, हिरण्यगर्भ ही सूर्य है और सूर्यात्मा जगतस्तस्थूश्च। वही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके रूपमे प्रकट हो रहा है अर्थात् ब्रह्मातिरिक्त सृष्टि नही है।

त देवा सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। हिरण्यगर्भसे एक होओ। हिरण्यगभमे एकता होनेपर वैकुण्ठ बन जाता है। वेदान्तियोंने मुक्ति मानी है न ? सुखकी वासना हो तो हिरण्यगर्भसे एक होनेपर वैकुण्ठ, साकेत, कैलाश, स्वग-साम्राज्य, स्वराज्य बनता है एकता होनेपर, उसका सकल्प प्रस्फुटित होकर परि-च्छिन्न लोको, देवताओ, सुखोका रूप धारण करता है। यह तो पुराणोकी लीला है। वेदान्त समझना आसान है, पुराण समझना कठिन है।

तदु तद् सर्वात्मक ब्रह्म।

हिरण्यगर्भमे एकत्वकी स्थिति होती है और ब्रह्मके एकत्वका ज्ञान होता है। कोई इस आत्मदेवका निषेध नहीं कर सकता-'न कश्चन'। सूयके उदय-अस्त गतिका जो अधिष्ठान है, जिसमे दिशा एक उपाधि है, जिससे पूणता भासती है, जिसमे काल एक उपाधि है, जिससे नित्यता भासती है, जिसमें वस्तु एक उपाधि है, जिससे दृश्य-प्रपच भासता है, ऐसा जो ज्ञानात्मक ब्रह्म है उसमे सभी कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मनोवृत्तियाँ अर्पित हैं। अपना आत्मा होनेके कारण कोई उसको निषेध नही कर सकता, अतिक्रमण नही कर सकता, परे नही हो सकता।

एकने कहा "अब हम ब्रह्मसे परे हो गये।" आप लोग इसपर आश्चर्य मत करना। गावके मूढ लोग ब्रह्मके इधरवाली बात तो करते है, परेवाली बात नही जानते। उन्हे कोई बना हुआ महात्मा जाकर कहता है "आओ, हम तुम्हे ब्रह्मके परेवाली बात बतायगे। घुटनेके बल बैठ जाओ, कान बन्द करो, दूसरेकी बात मत सुनना। आँख बन्द करा, कुछ देखना मत। नाक-मुँह बद करो। अब देखो, एक बिन्दी चमकेगी तुम्हारे ललाटमे। वह क्या है? ब्रह्मके परे है।"

वे बेचारे स्वय नही जानते कि ब्रह्म क्या है? दिक्कालावच्छिन्न वस्तु जिसमे लबाई-चौडाई, उम्र, दृश्यता नही है ऐसे अपने अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण चैतन्य आत्माको ब्रह्म कहते हैं।

इसका उल्लघन कोई नही कर सकता, 'एतद्वैतत्'। फिर भी लोगोके मनमे यह शंका रहती है कि ब्रह्म यहाँ थोडे ही होगा? कोई कोई तो सोचते है, ब्रह्म मरनेके बाद मिलता होगा, स्वर्ग-नरक मरनेके बाद मिलेगा यह दूसरी बात है। क्या आपको मालूम है, 'ब्रह्म यहाँसे कितनी दूर है?' मै एक व्यक्तिके पास गया। उसने बताया "धरतीसे पचास करोड योजन ऊपर है।"

मैंने कहा, "महाराज, इस समय हम धरतीपर हैं, सूर्य ऊपर है, तो यहाँसे पचास करोड योजन दूरीके हिसाबसे धरती जब परिक्रमा करती हुई सूर्यके ऊपर चली जाती है तब वहाँसे वह कितना योजन दूर है? सूर्य नीचे हो तो कितना दूर?"

ऐसे "पचास करोड योजनके ऊपर और पाच पर्देके भीतर" बतानेवाले असलमे कुछ नही जानते। कहो एक झीना-सा भी पर्दा नही है। बेवकूफी, अज्ञानके सिवा कोई बाधा नही है। नही पहचानते हैं इतनी ही बाधा है, नहीं तो इसी देश-काल-रूपमें ब्रह्म है। तुम्ही ब्रह्म हो। ●

६. भेद-दृष्टिकी निन्दा

संगति :

नवम मन्त्रमें प्राणात्माको ब्रह्म बताया है, जिसमें संपूर्ण देवता अर्पित हैं और जिसका कोई उल्लघन नहीं कर सकता। कारण वह तो हम स्वय हैं और हमारी आत्मा है। अब दशम मन्त्रमें कहते हैं कि भेददर्शी पुरुष ब्रह्मको आत्माके रूपमें न जान सकनेके कारण अज्ञान-वश मृत्युको प्राप्त होता है

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

जो तत्व इस (देहेन्द्रियसघात) मे भासता है, वही अन्यत्र (देहादिसे पर) भी है और जो अन्यत्र है, वही इसमे है। जो मनुष्य इस तत्वम नानात्व देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको [अर्थात् जन्म मरणको] प्राप्त होता है ॥१०॥

श्रीशकराचायजीने मत्रके प्रारंभम कहा है

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु वर्तमान तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदव भासमान ससार्यन्यत्परस्माद् ब्रह्मण इति मा भूत् कस्यचिदाशङ्का इतीदमाह।

अथात् 'ब्रह्ममोक्षसे लेकर एक तृण तकमे जो ज्यो-का त्यो विद्यमान है और उन उन उपाधियोके कारण छोटा-छोटा भास रहा है, ससारमे आता-जाता मालूम पडता है, उसे कोई परब्रह्म परमात्मासे पृथक् न समझ ले, इसलिए कहते है।'

भाष्यम 'ससारी तत् अन्य' इस वाक्यको समझनेमे 'तत्' आवश्यक है। ब्रह्मा, चीटी, तृण, स्त्री, पुरुष, चेतन, जड, पशु, पक्षी, मनुष्य, अगूर, आम—ये सब भिन्न-भिन्न मालूम पडते है। वे तत्-तत् बीजकी उपाधिसे भिन्न मालूम पडते है। ऐसा मालूम पडता है कि यह ब्रह्म नही है, यह तो छोटा-छोटा है, जन्मने-मरनेवाला है, पाँच सेरका, छटाक भरका, एक वष रहनेवाला, दो वष रहनेवाला, एक गजका, दो गजका।

अब्रह्मवत् भासनेका अथ है, देश, काल, और वस्तुसे परिच्छिन्न भासना, क्योकि पूर्णमे देश-काल-वस्तुका भेद नही है। जो भेदवत् है, भेदवाला भासता है, वह अब्रह्मवत् है। जिसमे संसारी-

पन यानी आना-जाना, मिलना-बिछुडना भासता है, उसे लेकर कहते हैं कि तत् परस्मात् ब्रह्मण अन्यत्। क्या तू उस परब्रह्मसे अलग है? कही ऐसा मत समझ लो। इसलिए समाधान करते हैं कि जो कुछ ब्रह्मसे अलग मालूम पडता है, वह भी ब्रह्मसे अलग नही है।

एक महात्मा कहते थे "यदि मै देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मसे भिन्न हूँ तो शून्य हो गया। किन्तु मै तो शून्य नही हूँ। इसलिए मै ब्रह्मसे भिन्न नही हो सकता। यदि ब्रह्म मुझसे अलग हुआ तो वह पूण क्या होगा? मैं-कम ब्रह्म और ब्रह्म-कम मै, दोनो अधूरे हुए। मुझसे अलग ब्रह्म जड, परिच्छिन्न, दृश्य है और ब्रह्मसे अलग मैं परिच्छिन्न, दृश्य, जड हूँ। किसे मारना चाहते हो? मुझे या ब्रह्मको।" आत्मा और ब्रह्मको अलग-अलग समझनेका अथ है ब्रह्महत्या-आत्महत्या करना।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता

हत्या हुई तो नही, पर अभिमान हो गया कि "मैने मार दिया।" एक ब्राह्मण सो रहा था। उसे एक व्यक्तिने जाकर रातको कसकर एक लाठी मारी। खाट ऐसी थी कि उसकी लाठी तो खाटकी पाटीपर ही लगी। वह तो मारकर भागा। वह सोचने लगा कि ब्राह्मण तो मर गया, लेकिन वास्तवमे वह तो जीवित ही रहा। मारनेवालेके मनमे ग्लानि हुई कि हाय-हाय हमने ब्रह्महत्याकर दी, क्योकि उसे मारनेकी क्रियाका अभिमान हो गया था कि "मैंने मारा।"

जिसने अपनेसे अलग ब्रह्मको या ब्रह्मसे अलग अपनेको काटकर अलग कर दिया, उसने तो काटनेकी क्रियाका अभिमान किया

कि मै अलग, और तू अलग। वास्तवमे काटना होता नही, काटने की क्रियाका, परिच्छिन्नताका अभिमान हो जाता है।

यदेवेह तदमुत्र। काय कारणकी उपाधिसे समन्वित, देहकी उपाधिसे युक्त और अन्त करणकी उपाधिसे युक्त दोनो काय हैं। पचभूत, अहकार, महत्तत्व, अव्यक्त, अव्याकृत ये सब कारणोपाधि हैं। इसलिए कार्योपाधि, कारणोपाधि, काय कारणोपाधि, इनसे समन्वित ससार धमवत् अवभासमान होनेसे इन अविवेकियोका यहाँ मालूम पडता है कि मै परिच्छिन्न, म स्थूल देहवाला, सूक्ष्म देहवाला, पचभूतवाला, प्रकृतिवाला। ऐसा जो भासता हुआ-सा है, 'तदमुत्र' वह अपने स्वरूपसे ब्रह्म है, अर्थात् जो तुम्हारा 'मै' है, वही ब्रह्म है।

यदमुत्र तदन्विह। तुम जिसके बारेमे कहते हो, भूतभौतिक, माया, प्रपचसे परे, वह यही है। मरना जन्मना किसको प्राप्त है?

मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। है तो 'अनाना,' लेकिन 'नाना इव' नाना के समान दीखता है। हर हालमे वह वही है। बालक रोते और हँसते हुए भी वही है। दो भिन्न प्रकारकी वेश-भूषाओ मे वही एक है, वेश-भूषा निकाल दो तो भी वही है। जैसे वस्त्र बदलनेसे मनुष्य नही बदलता, वैसे ही शरीर बदलनेसे आत्मा नही बदलती।

मरने-जीनेका झगडा छोडो। तुम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त परमात्मा ही हो। कोई यह न समझ ले कि उपाधिवाला ब्रह्म छोटा है और निरुपाधिक बडा है, इसलिए बताया है 'यदेवेह तदमुत्र।'

जो वस्तु यहाँ है, वही वहाँ है और जो वहाँ है, वही यहाँ है 'यत् एव इह तदेव अमुत्र और 'यत् एव अमुत्र तत् अनु इह।'

यहाँ व्यवहारका वर्णन होनेके कारण कारणोपाधि नहीं, करणोपाधि पाठ ठीक बनता है। 'इह' = व्यवहारमे। संसारमे कार्यकी उपाधि यानी शरीरकी और करणकी यानी अन्त-करणकी उपाधि। इनके कारण "संसारधर्मवदवभासमान है।" शरीरमे मालूम पडता है जन्म मरण, प्राणको लगती है भूख-प्यास, मनमें उठते हैं सकल्प-विकल्प, बुद्धिमे होते हैं तर्क-वितर्क, विचार-विवेक। इन सबके शान्त होनेपर शांति होती है, जो आनन्दमय है। ये सब तो कोश हैं, उपाधि हैं।

कोशोपाधि विवक्षत्यां जाति ब्रह्मैव जीवितास्

जहाँ कोशकी दृष्टिसे वर्णन करते हैं वहाँ ब्रह्मका ही एक नाम जीव रख देते हैं। असलमें निर्विशेषमे विवेक भी नहीं है। विवेक तो जहाँ दो होता है, वहाँ होता है माने विवेक भी उपाधिमे है। शान्तिप्रेमी पुरुषको विवेक भी विक्षेप मालूम होता है। विवेकी को शान्ति भी सुषुप्ति मालूम पडती है। विवेकोकी दृष्टिमे शान्ति यानी सुषुप्ति और समाधिमें कोई अन्तर नहीं है। विवेक लौकिक दृष्टिसे किया जाता है। एक तामस है, एक सात्विक या राजस जैसे आत्मा-अनात्माका विवेक करेंगे, वैसेही अनात्मकोटिमे सुषुप्ति है, दृश्यकोटिमें समाधि-सुषुप्ति है। समाधिस्थ पुरुषके लिए विवेक भी विक्षेप है। इसका अर्थ हुआ कि आत्मवस्तुमे समाधि और विक्षेप दोनो निम्नकोटिकी वस्तुएँ हैं। आत्मा तो अखण्ड, एकरस है। यह विक्षेप-समाधि दोनोंसे बिलकुल न्यारा है।

जो कार्य-कारण उपाधिमें स्थित होकर जन्म-मरणवाला, भूखा-प्यासा, तर्क-वितर्क और सकल्प-विकल्पवाला, शान्ति-

विक्षेपवाला अन्त करणमे रहकर भास रहा है, अविवेकियोके लिए इसकी सज्ञा 'जीव' है। वही उसके स्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो

नित्यविज्ञानघनस्वभाव सर्वससारधर्मवर्जित ब्रह्म

न जन्म है न मृत्यु। जब देह मानते हो तब जन्म मृत्यु है। छोटे छोटे बच्चाके सामने उनकी माँ पर घूसा तानो कि मारेंगे तो माँ हँसती है और बच्चा रोता है, क्यो ? उसे विवेक नही है। जो बचपन मे आ गया है वह शरीरके जन्म-मरणको अपना मानकर उससे भयभीत होता है। यह अविवेक दशा है।

एक शिष्य एक बार गुरुजीके पास गया तो गुरुजीने उपदेश दिया "तुम ब्रह्म हो।"

शिष्य "हाँ महाराज हमने, बिना सोचे-विचारे ही अपनेको जीव मान रखा था। जीव कहा देखा था ? जीवका फोटो कहाँ लिया था कि हम कर्ता हैं या भोक्ता है, ससारी, परिच्छिन्न, स्वर्ग-नरकमे जाने आनेवाले या पुनजन्मवाल है। हमने तो किसीके कहनेसे मान लिया था। हम तो अनन्त आकाश, चिदाकाश, अद्वितीय, निमल, सच्चिदानदघन ब्रह्म हैं। अच्छा महाराज, नमस्कार। मै जाता हूँ।"

गुरुजी "इतनी जल्दी जाता है ? ठहरो भाई।

शिष्य "मै सच्चिदानदघन। मुझमे गति तो है ही नही तो आना-जाना कैसे ?"

गुरु "थोडा विवेक तो करो ?"

शिष्य "मेरे स्वरूपमे विवेक कहाँ ?"

गुरु "जान गया अपनेको ब्रह्म ?"

शिष्य "अपने को विशेष क्यो बनाते हो ? हम तो निर्विशेष ब्रह्म हैं।"

गुरु "अच्छा, जा बेटा ! साधु, साधु, साधु !"

मूर्खोंसे काम पडता है तो लम्बा हो जाता है। समझदारी हो तो सीधा-सरल हो जाय। कोई गाठ उलझी हो और समझ लो तो एक सेकेन्डमे सुलझ जाय और न समझो तो ऐसी उलझ जाय कि दूसरेसे भी न खुले। यह तो समझका ही फेर है।

जड-चेतनहिं ग्रन्थि परि गयी।

सच्ची ? ना—यदपि मृषा = झूठो। झूठी गाँठ को सुलझानेके लिए इधर से उधर और उधर से इधर करता रहे तो वह और उलझ जाय। रोशनीमे देख लो तो गाँठ है ही नहीं।

एकबार हम लोग कहीसे आरहे थे। हम गये थे, शुकताल। गगाजी दूर थी, पानी बीचमे बहुत था। हमलोग बैलगाडीमे बैठ गये। पानी पार करना पडता था। बालू बहुत थी। एक जादूगर वहाँ आकर बैठ गया। उसने एक रस्सीमे बहुत सारी गाठ ही गांठ लगायी थीं। वह बोला "है न गाठ ?"

हमने कहा 'है।'

फिर उसने एक ओर जोरसे ऐसा खीचा कि कोई गाठ ही नही थी, मात्र रस्सी मालूम पडती थी। दर्पणमे प्रकाश पडता है। जो यह समझे कि दर्पणमे प्रकाश फँस गया है, वह मूख है या नही ? इसी प्रकार परिपूण चैतन्य ब्रह्म है।

देहकी दृष्टिसे देखते हैं तो स्थान दो हो जाते हैं। मनमे यहाँ-वहाँको कल्पना ही होती है। मनकी कल्पनाके दो रुप हैं। 'यह' की कल्पनासे विशिष्टवृत्ति तो 'यहाँ' और 'वह' की कल्पनासे विशिष्टवृत्ति तो 'वहाँ'। ससारकी कल्पनाका आरोप करनेपर जो स्वयप्रकाश, ज्ञानस्वरूप है, वही ससारकी कल्पनासे मुक्त होनेपर

भी वही है। जो ससारकी कल्पनासे मुक्त है, वही संसारकी कल्पना करनेपर भी है। जो नामरूप काय-करणकी उपाधिसे रहित है, वही नामरुप और काय-करणकी उपाधिमे भी है। जो अविद्यासे मोहित होकर दृष्टिके स्वभावको और उपाधिके स्वभावको नही समझता, वह अविद्यासे ग्रस्त है। श्रीशङ्कराचायजी ने कहा है

उपाधिस्वभावभेदवृष्टिलक्षणयाविद्यया मोहित ।

यह न समझो कि सामनेवाला दर्पण बल्बके प्रतिबिम्बको ग्रहण कर लेता है। यह दपणका स्वभाव है, बल्बकी चमक अन्यत्र दपणमे प्रतिबिम्बित होती है, बल्बके इस स्वभावको न समझना और अपनी आँखके स्वभावको न समझना अविद्या है। अविद्या कही सातवें आसमानसे नही टूट पडती।

हमने अविद्या देखी। पहले पहल हृषिकेश गये थे, तब अविद्याका दर्शन हुआ। गगाजी के किनारे मद्रासके कुछ लोग आये थे, पडोने हृपिकेशमे उनको वसुधाराके पास लाकर कहा "सामनेवाले पहाडमे देवता रहते ह। तुम देवताको पूछो तो वे बता देते हैं कि क्या लेंगे?"

पूछा "लड्डू या पेडा?"

सामनेसे आवाज आयी "पेडा।"

उस मद्रासीने पेडेका प्रबन्ध कर दिया, भोग लगाया। फिर दूसरेके लिए पूछा "पेडा या लड्डू?"

आखिरी शब्दकी प्रतिध्वनि होनी थी, शब्द आया "लड्डू।"

उनकी जो देवताकी प्रतिध्वनि सुनायी पडी, यह अविद्या है। अविद्या माने किसी चीज को ठीक-ठीक न समझ पाना।

चमत्कार क्या है? एक साधु बाजारसे सेक्रीन खरीद लेता है और अपनी भभूतमे मिला लेता है। कोई उसके पास आ जाय तो पूछता है "बेटा कुछ खाओ-पियोगे?"

आगन्तुक सरलभावसे कहता है "महाराज यहाँ जंगलमे क्या खायें पीयेंगे? यहाँ तो केवल धूल है?"

वे बाबाजी कहते हैं "अच्छा एक लोटा पानी ले आओ।" वह पानी ले आता है। सेक्रीन वाली भभूत पानीमे मिला दिया तो शरबत होगया। आगतुक समझता है, बाबाजी ने चमत्कार किया।

यह चमत्कार कहाँसे हुआ? अविद्यासे। क्योंकि उसे मालूम नही है कि इस राखमे सेक्रीन मिली हुई है। जो लोग जिस बात को नही समझते है, उनको उसमे चमत्कार दीखता है। सहज स्वभावसे, बिना किसी बनावटके यह परमात्मा है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह

जब हम अपनेमे या दूसरेमे महत्व या लघुत्वका आरोप करते है तब अविद्यासे ग्रस्त होते हैं। निर्विशेष वस्तुमे महत्व और लघुत्व दोनो नहीं हैं। मूलतत्त्वको न समझनेके कारण ऐसा होता है। अविद्या माने उपाधिस्वभाव भेददृष्टि लक्षणया = उपाधिस्वभाव और भेददृष्टि है लक्षण जिसके। उपाधिस्वभावको ठीक समझो और उपाधिको पार करके जो ज्ञान निकालता है, वही भेदको बताता है।

मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। 'नाना इव पश्यति, वस्तुत न पश्यति' एक अद्वितीय, अखण्ड वस्तुमें क्या

अवयव होते है ? कालमे सेकेन्ड, मिनट, घटा, दिन, वर्ष नही है, ये कल्पित अवयव हैं। दिन-रात, पृथ्वी और सूयका हिसाब है, आकाशमे नही है। अ ब की तरह अपना हिसाब लगानेके लिए यह विभाजन है। कालकी अनन्तता समझानेके लिए हम जहाँ बैठे ह, वहाँसे कालमे आरोप किया जाता है। मूलवस्तुम न सृष्टि है न प्रलय, न कल्प-युग-सवत्सर है, न दिन-घण्टा मिनट। अनन्त सद्वस्तुम स्त्री-पुरुष, खटाई-मिठाई कल्पित है। अनन्त दिक्तत्त्वमे पूर्वादि कल्पित हैं। उस अनन्ततत्त्वका ज्ञान हुए बिना ये सच्चे मालूम पडते है, क्योकि हम देहमे बैठ हुए है। तभी जन्म-मृत्यु भी आते ह कि तुम परिच्छिन्न बनकर बैठे हो ? तुमने खुद ही अपनेको कालमे काट दिया तो हम तुम्हे और दो-चार कुल्हाडी लगाते ह।

एक गाँवमे एक खेत था। दादाके जमानेम वह चार एकडका एक खेत था। उनके दो बेटे हुए तो उन्होने दो-दो एकड बाँट लिया। फिर उनके चार-चार बेटे हुए तो आधा-आधा एकड बाट लिया। बँटवारा यही करता है कि चार एकडको आधे एकड पर ले आये। जब हम वस्तुकी तराजू लिये खडे होते हैं तो उसमे देश-काल डडा हो जाते है और हम अपनेको साढे तीन हाथवाले, ५० १०० वषवाले, डेढ दो मन वजनवाले बनाकर अखडमे परिच्छेद करते ह। अखण्ड, परिपूण, अविनाशी, अद्वितीय वस्तुमे देश-काल वस्तु है ही नही।

मृत्युसे छुटकारेका उपाय क्या है ? तुम अपनेको मृत्युसे ग्रस्त, नानात्वशोकके अन्तगत मत समझो। श्री शकराचायने इस मत्रका अथ इस प्रकार बताया है

विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाकाशवत् परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येत् इति वाक्यार्थः।

अपनेको भिन्नकी तरह मत देखो, एकरस विज्ञान माने विज्ञाता और विज्ञेयके भेदसे मुक्त। हम फूल आंखसे देखते हैं। हम द्रष्टा, ज्ञाता हैं; फूल दृश्य, ज्ञेय है; आंख करण है जिससे ज्ञान होता है। विज्ञानैकरसमें यह त्रिपुटि नहीं है। आंख, फूल, दिल तीनों एक हैं।

श्रीमद्भागवतमें यह प्रश्न उठाया गया है कि तत्त्व क्या है :

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

तत्त्ववेत्ता लोग इसका वर्णन करते हैं। 'किं तत्?' वह क्या है? 'त्वम् यज्ज्ञानमद्वयम्' जिसमें अद्वैतज्ञान है। देखनेवाला और देखा जानेवाला एक है। दृष्टादृष्ट, कार्य-कारण, छोटे-बड़े का भेद मालूम पड़ता हुआ भी कट गया। ऐसा मत समझना कि कोई ऐसी अवस्था आती होगी जब भेद नहीं दीखता। लोग समझते हैं, जब प्रपंचका अत्यंताभाव हो जायगा, तब हम ब्रह्म हो जायंगे। प्रपंचका अत्यंताभाव ता होता नहीं, तब हम ब्रह्म कैसे? नहीं, वास्तवमें प्रपंचके सत्यत्वकी बुद्धि भ्रान्ति है। वह मिट जानेसे हम ब्रह्म हैं, प्रपंच मिटनेसे नहीं। सत्यत्वको भ्राति तो बुद्धिमें है। प्रपंचमें ब्रह्मात्मैक्यका बोध और सत्यत्वकी भ्रान्तिकी निवृत्ति यह परिवर्तन केवल बुद्धिसे अपेक्षित है। न तो प्रपंचका अभाव होता है और न ब्रह्मत्वका आविर्भाव होता है। वेदान्तज्ञान बुद्धिगत हेरफेर है। ब्रह्मगत या प्रपंचगत हेरफेरका नाम या भानको मिटाना ब्रह्मज्ञान नहीं है। यह घरमें, बाहर, गृहस्थ, संन्यासी, स्त्री-पुरुष, सबका हो सकता है। शंकराचार्यने स्पष्ट कहा है : "चाहे स्त्री हो या पुरुष, शूद्र हो या अन्य कोई जिसको यह निश्चय हो गया कि मैं अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण ब्रह्म हूँ', उसकी प्रपंचमें सत्यत्व-अन्यत्वकी भ्रान्ति भी मिट गयी। ब्रह्मका आविर्भाव नहीं होता, वह ज्यों-का-त्यों है। ●

७. मन द्वारा ब्रह्मतत्वकी प्राप्ति

संगति :

नवम मन्त्रमें बताया गया कि "जहाँसे ज्ञानसूर्यका उदय और अस्त होता है" इसका तात्पर्य है—वृत्तिज्ञानका ही उदय और अस्त होता है। देश काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अनन्त ज्ञानमात्र वस्तुमें 'यह ईश्वर है, यह जीव-जगत् है' इस प्रकारकी वृत्तियाँ उदित और अस्त भी होती हैं। अर्थात् इस वृत्तिज्ञानका, भावाभावका जो एकरस साक्षी

है, तं देवा सर्वे अर्पिता—सारी इन्द्रियाँ, मनोवृत्तियाँ, अधिदैव, अधिभूत जिसके प्रति अर्पित हैं, उसीमें यह सब अध्यस्त है। तदु नात्येति कश्चन—उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। ऐसा अपना स्वरूपभूत, ज्ञानरूप ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। एतत् = अपना आत्मा ही परमार्थ सत्य है।

'सूर्य' शब्द नेत्रके अधिदेवताके रूपसे प्रकाशक, सर्वावभासक ज्ञान-का उपलक्षक है। सर्वसे सवलित ज्ञानका ही उदय और अस्त होता है। विषयरहित ज्ञानका न उदय होता है और न अस्त। इसी जीव-जगत् और ईश्वरकी कल्पनाके अधिष्ठान, प्रकाशक तुम हो।

कल मैं एक जापानी सन्तकी कथा पढ़ रहा था। उन्हें अनुभव हुआ कि परमार्थका स्वरूप क्या है? मनमें विचार उठा 'सब लोग इसे कैसे समझें? ऐसे तो किसीकी समझमें नहीं आयेगा। चलो, यहाँके राजासे मिलें। वह चाहे तो सब समझ जायेंगे।' उन्होंने राजाके पास पहुँचकर उससे कहा "परमार्थ कैसा है, जानते हो? सुनो, वह निष्प्रपञ्च निर्विशेष और निर्विकल्प है।"

राजाने कहा 'जो सत्यसे पवित्र हो, उसे हमें बताओ।'

सन्तने कहा : 'परमार्थमें पवित्र-अपवित्रका भेद नहीं होता।'

राजा 'तब हमें आपका परमार्थ नहीं चाहिए।'

सन्तने सोचा 'आखिर यह इसे क्यों नहीं समझ पाता, इसमें गलती क्या है? उनके ध्यानमें आया कि मेरे मनमें यह वासना है कि सब लोग समझें, यही गलती है। वे लौट आये और तय कर लिया कि रहने दो, हमें कोई प्रचार करनेकी आवश्यकता नहीं।

'लोग सामान्यवस्तुको विशेष बना देनेमें, उसका 'विशेषीकरण' करनेमें ही उसकी उन्नति और उत्कर्ष समझते हैं। किन्तु वेदान्तज्ञान

विशेषीकरण नही है। जिनके मनमे विशेषीकरणकी वासना हो कि 'हम चींटी, मनुष्य, देवताकी अपेक्षा विशेष हो जायँ', उनके लिए यह नही है। यह तो उन लोगोंके लिए है जो कहे "भले ही हम कुछ न हो, जो हैं सो हमे मालूम हो जाय।"

यथार्थके ज्ञानकी जिज्ञासा होनी चाहिए। जो कुछ 'बनना' चाहते हैं, उनके लिए यह दुलभ है। जो जैसे हैं, वैसे ही अपनेको जानना चाहे तो उनके लिए यह बडा सुलभ, सरल, एव सुगम है।

एक सज्जनने पूछा · "आखिर होना क्या चाहिए?" हर समय यह जो 'होना' लगा रहता है, यह कृत्रिम है। जो है वह क्या है, इसे न समझो तो यह 'होना' तो बिलकुल बनावटी होगा।

हमने कहा 'इतना ही होना चाहिए कि दूसरेको दु ख पहुँचाये बिना हम स्वयं सुखमें रहें। दूसरेका दु ख निवारण करना अलग प्रश्न है। तब तो हम राजनीतिक नेता बन जायँगे। उसमे आदोलन सघर्षके बीज हैं। दूसरे द्वारा पहुँचाये दु खको स्वीकार न करो। न तो दूसरेको कर्ता बनने दो और न स्वय कर्ता बनो। यथार्थमे कर्ता कोई नही, कर्तापन विशुद्ध भ्रान्ति है। न हम किसीको दु ख देते हैं और न कोई हमें दु ख देता है। हम अपने स्वरूपको समझ जायँगे तो न दु खके कर्ता रहेगे, न भोक्ता। यह सीधा-सादा जीवन है। इसमे अपनी दूकान बढानेकी बात नहीं। उपमन्त्रीसे कबिनेट मत्री होनेकी अभिलाषाको इसमे स्थान नही। जैसे यहाँ, वसे ही वहाँ यदेवेह तदमुत्र।

एकबार सनत्कुमारने शकरजीको प्रणाम नही किया तो पार्वती जीने शाप दिया। 'क्या ऊँटकी तरह मुँह उठाये जा रहा है? जा, ऊँट बन जा।' कुछ दिनों बाद पार्वतीजीको उनकी याद आयी और उन्होंने पूछा 'तुम्हें ऊँट बनना कैसा लगता है?'

सनत्कुमारजी बोले : 'मनुष्य थे तो रोटी माँगनी पड़ती थी। शौच जाकर आबदस्त लेना पड़ता था। लेकिन अब तो खड़े-खड़े ही नीमकी पत्ती खा लेते और मलविसर्जन कर लेते हैं। दोनों हल्लतें छूट गयीं। जैसे ब्रह्मकुमार सनत्कुमारके रूपमें मजेमें थे, वैसे ही उमाकुमार ऊँटके रूपमें मजेमें हैं।'

इसके विपरीत आजके साधुका जीवन है—आठ-दस भगत आ गये, चन्दन लगाया, माला पहनायी और बैठ गये। लोगोंने कहा : 'ये तो महामण्डलेश्वर हैं!' उन्होंने हाथ जोड़े, महामण्डलेश्वरजीकी स्तुति की :

कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु।

साधु महाराज बोले 'वाह वाह! ये तो हमारे कितने भगत हैं। हम सचमुच महामण्डलेश्वर हैं!'

लेकिन एक दिन सबके सब चले गये, कोई नहीं आया। तब उनसे पूछा गया 'महाराज, आज कैसा है?'

बोले "आज तो हम बिलकुल विरक्त, त्यागी बन गये हैं। दुनियाकी सारी हल्लत छूट गयी।"

पूजा हो तो मण्डलेश्वर, नहीं तो ब्रह्म—ऐसा न हो। मण्डलेश्वर तो उनका दोष है। जो रागमें वही वैराग्यमें है, जो संग्रहमें वही त्यागमें, जो विक्षेपमें वही समाधिमें, जो रोदनमें वही हास्यमें और जो जन्ममें वही मरणमें है। यह ब्रह्म एकरस और सम है। दसवें मन्त्रमें यही बात कही गयी है।

संस्कारके कारण सबके नाम-रूप, आकार-प्रकार अलग-अलग हैं। उनके गुण, धर्म, रूप, अवस्था और उपयोग भी भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी सारा पंचभूतोंका ही विलास है। स्त्रीके शरीरका अवयव-

विन्यास भिन्न है और पुरुषके शरीरका भिन्न। एकमें दाढ़ी मूँछ है तो दूसरेमे नही। फिर भी दोनो पंचभूतोंके ही पुतले हैं। बताइये दोनोंमे आत्मदेव दो हैं या एक? दोनोंमें ईश्वर दो हैं या एक? 'तत्त्व या वास्तुपर दृष्टि होना दूसरी बात है। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यंत उपाधिभेदसे भिन्नवत् प्रतीयमान सारा जगत् सर्वात्मक ब्रह्म ही है? उसमे भि नता असद्वत् है। उपाधिसे अवच्छिन्न चैतन्य संसारी है तो उपाधिसे अनवच्छिन्न ब्रह्म।

तुम उपाधिके धर्म और रंगको जोडकर क्यो बातें करते हो? सफेद स्फटिक फूलके रंगकी उपाधिसे लाल-हरा पीला दीखता है। फूलके रंगको स्फटिकमे क्यों जोड़ते हो? वह तो सफेद ही है। स्वच्छ स्फटिकको देखो। अन्त करण फूलोंके समान है तो चैतन्य स्फटिकके समान। तत्-तत् अ त करणके गुण, धम, स्वभाव, अवस्थाको आत्माके साथ क्यो जोडते हो? आत्माका स्वभाव स्वरूप है—नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त। ग्यारहवें मन्त्रमे इसके अनुभवकी शलीका ही निरूपण एक नयी युक्ति देकर किया जा रहा है।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

मनसे ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है, इस ब्रह्मतत्त्वमे नाना कुछ भी नही है। जो पुरुष इसम नानात्व-सा देखता है वह मृत्युसे मृत्युको जाता है ॥ ११ ॥

मन्त्रके प्रारम्भमे ही श्रीशङ्कराचायजी लिखते है

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसैव ब्रह्मैकरसमाप्तव्यम्, आत्मैव नान्यदस्तीति।

विज्ञानका अथ है, जो वस्तु जैसी है वैसा ही उसका ज्ञान

होना। यह वस्तु-अनुसारी ज्ञान है। जबतक ज्ञान वस्तुनिष्ठ या वस्तु-तन्त्र न हो जाय, तबतक उसका अनुसधान करना चाहिए, क्योंकि मनुष्यको तत्त्वसे विमुख करनेवाले अनेक कारण हैं। जब मनमें क्रोध आता है तो यही ठीक मालूम होता है कि अपने विरोधी-को गाली दें, मारें या उसका अपमान करें। कामके आवेगमे भोग, लोभके आवेगमे धन-सग्रह, मोहके आवेगमे कुटुम्बका भरण-पोषण तो उदारताके आवेगमे दया उचित मालूम पडती है।

एक बडे दयालु डॉक्टर थे। जब वे किसी कोढी या दमाके रोगीको देखकर आते तो हमे फटकार देते : "तुम सिंहासनपर बैठ-कर वेदान्त सुना रहे हो और इधर इतने कोढी, दमा, यक्ष्मावाले दु खी हो रहे हैं। क्या तुम्हे उनकी दया नही आती ? उनकी सेवा नही करते और यहाँ आकर बकवाद करते हो ?" उस समय वे इसीलिए ऐसा बोलते कि उसी भावसे आक्रान्त रहते थे।

परिवारमे फँसा व्यक्ति साधुको डाँटेगा "तुम तो परिवार छोडकर आये हो। स्वय हँसी खुशी मना रहे हो, पर घरवाले भूखे मर रहे हैं।"

इसी प्रकार जो अपने-अपने सम्प्रदाय, पथ, मत, समाज-सेवामे बँधे हैं, वे यही कहेगे कि 'जो काम हम कर रहे हैं, वही सबसे उत्तम है। उसीमें तुम भी लग जाओ।'

आजकल कोई उम्मीदवार मिल जाय तो कहेगा 'तुम हमारे लिए प्रचार (कनवेंसिग) करो। यही आजका महत्त्वपूर्ण कार्य है।'

कई लोगोको सपना आता है तो वह उस समय सच्चा मालूम पड़ता है। वे कहते हैं "हम तो अब इसीके अनुसार चलेंगे।"

हम तो अपना सिर ही पीटते हैं कि "अब हाथसे गये।" कैसे ? अनादिकालसे अबतक मनमें कितने ही अच्छे-बुरे सस्कार भरे हैं। कभी अच्छे संस्कारोसे सपना आ जाता है तो कभी बुरे संस्कारोसे। आज तो वह सपनेमे देखता है कि 'ठाकुरजीकी पूजा करो' और कल शायद ऐसा सपना आ जाय कि 'ये सब साधु बुरे होते हैं, इनका दर्शन मत करो।' जो आज सपनेके अनुसार चलता है, वह कल भी सपनेके अनुसार चलेगा। अनियन्त्रित मनमे ही सस्कारवश सपने आते है, नियन्त्रित मनमे नही। गुरु-आचार्यके सस्कारसे आते हो, यह बात भी नही। देवता-दानव भी मनके ही पेटमे होते है। कोई ससारमे सत्यको समझनेकी यात्रा निर्विघ्न पूरी कर सके, यह बडा कठिन है। कोई अपने व्यक्तित्वमे बँधा है तो कोई परिवारमे, कोई जातिमे, कोई समाजमे, कोई वर्तमान संस्कृतिको श्रेष्ठ समझता है तो कोई भूत या भविष्यकी सस्कृतिको। कोई सनातन धर्मको श्रेष्ठ समझता है तो कोई सामाजिक धर्मको। इस प्रकार व्यक्तिकी अपनी-अपनी मान्यता किसी न किसी काय-कारणसे आबद्ध रहती है। इसीलिए मनुष्यको सत्य समझनेकी इच्छा ही नही होती। वह अपने घेरेसे निकलना ही नही चाहता। किन्तु जब विचार करोगे तब मालूम पडेगा कि यह जो संविन्मात्र आत्मा है, उसका किसी भी कार्य-कारणसे कोई सबध हो ही नहीं सकता।

सविन्मात्रका अर्थ है, द्रष्टा। 'पंचदशी'के प्रारम्भके दस श्लोकोमे 'सवित्'का वर्णन है। आज आया है, वह चला जायगा। कल आया था, वह भी गया। बचपन आया था, चला गया। जवानी आयी, वह भी चली जायगी। बुढापा आ रहा है, वह भी जायगा। जन्म-मरण, सगे-सम्बन्धी, रात-दिन, आज-कल, पूर्व-पश्चिम,

ऊपर-नीचे, सब बदलता रहता है, किन्तु 'सवित्' यानी ज्ञान नहीं बदलता। सविन्मात्र, द्रष्टामात्र वस्तुका कार्य-कारणका क्या संबध है ? अनिर्वचनीय, दुर्निरूप्य संबंध है। सविन्मात्रकी दृष्टिसे देखो तो सबध नहीं और व्यवहार की दृष्टिसे देखो तो सारे सबध जुडते हैं।

यह अनिर्वचनीयता है। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे देखो तो दूसरा कोई पदार्थ ही नही होता तो सबध कहाँसे होगा ?

लोग कार्यको देखकर कारणका अनुमान करते हैं 'यह किया तो यह पाया, यह पा रहे हैं तो यह किया।' लेकिन कारण बनाकर कार्यप्राप्तिकी आशा करना सर्वथा असबद्ध है। इसमें कोई संगति नही लगती। जैसे कार्य-कारणका सबध सविन्मात्रके साथ अनिर्वचनीय है, वैसे ही ज्ञाता-ज्ञेयका सबध सविन्मात्रके साथ अनिर्वचनीय है। बिना किसी कारणका संबध हुए ज्ञाता-ज्ञेय बनेगा ही नहीं और संविन्मात्रमे ज्ञाता-ज्ञेय है ही नही। भोक्ता-भोग्यकी भी यही दशा है।

जिज्ञासु साधकके लिए यह विवेक करना अत्यंत आवश्यक है कि 'मैं कौन हूँ'। यदि साधन-जप छोड दो तो ध्यान लगना कठिन है। ध्यानके लिए जपकी आवश्यकता है और कार्य-कारणके साथ अलगाव बनाये रखनेके लिए विवेक आवश्यक है। यदि तुम्हें सच्ची वस्तु प्राप्त करनी है तो विवेकको जागृत करो। साधन छोडकर साध्यकी प्राप्ति नहीं होती, दोनों कक्षामे अपने साथ रहते हैं। विवेक करोगे तो विवेकके आश्रय और विषयका ज्ञान कैसे होगा ? यह निश्चय जान लो, गाँठ बाँध लो कि "जब तुम्हें यथार्थका ज्ञान होगा, तभी बुद्धिमें यह उल्लेख होगा कि 'मैं' और 'यथार्थ सत्य' दोनों दो नहीं हैं। यदि यथार्थ सत्य तुम्हारी आत्मासे

भिन्न रहेगा तो या तो घडेकी तरह दृश्य होगा अथवा स्वर्गकी तरह कल्पित होगा। जबतक तुम्हारी आत्मासे अभिन्न होकर यथार्थ सत्य तुम्हे अनुभूत नही होता, तबतक विवेकका पन्थ मत छोडो। यह साक्षात् अनुभव होना आवश्यक है कि अपना आत्मा ही परिपूर्ण, अद्वितीय ब्रह्म है।

तब वो साधन छोडि, लेउ जो पहले साधी।

'प्रागेकत्वविज्ञानात्' एकत्वका ज्ञान होनेके पहले यदि तुमने यथार्थ सत्यको जान लिया कि 'यह ऐसा है' तो गलत जाना और यदि यथार्थ सत्यको जाना कि 'यह वैसा है' तो भी गलत जाना। ऐसा-वैसा कैसा कुछ नही, जो तुम हो वही यथार्थ सत्य है। जो तुमसे भिन्न है, वह कल्पित या दृश्य है। वह चाहे अद्वितीय, अवि-नाशी, निराकार, निर्गुण, निर्विशेष, परिपूर्ण हो, तुमसे भिन्न है तो यथार्थमें अद्वितीय, अविनाशी या परिपूर्ण नही है, क्योंकि तुम उसे सद्वितीय बना रहे हो। तुम्हारी उपस्थितिसे ही वह द्वैतवाला बन रहा है। यथार्थ सत्यके अनुभवकी जो प्रणाली है, वह यह है कि तुम अपनेको द्रष्टा, साक्षी, संविन्मात्र तो समझो, पर यदि अद्वितीय न समझो तो भी तुम अपने आपको ठीक नही सम-झते। तुम परमार्थको अद्वितीय तो समझते हो, पर उसे अपनेसे अभिन्न नही समझते, तब भी अद्वितीयको ठीक नही समझते। अपनेसे अभिन्न नही होगा तो वह अद्वितीय-चैतन्य ज्ञानस्वरूप ही नही होगा। इसलिए जब यथार्थ सत्यकी प्राप्ति होगी तब एकबार तुम्हारी बुद्धिमें यह उल्लेख होना आवश्यक है कि जो आत्मा है, वही अद्वितीय ब्रह्म है और जो अद्वितीय ब्रह्म है, वही आत्मा है।

इसे पानेके लिए जड पदार्थकी तरह खोज नही करनी पडती।

जड पदार्थकी खोजके लिए दूरबीन-खुर्दबीन और प्रयोगशाला-रसायनशाला आवश्यक होती है, पर ईश्वरकी खोजमे नही। जड और चैतन्यकी अनुसन्धान-प्रणाली भिन्न-भिन्न है। चीरी हुई मछली, मेढक या बन्दरके कलेजेमे से चैतन्य ढूंढ़ना चाहोगे तो उससे वह चैतन्यरस नही निकलेगा। चैतन्यरसके अनुभवकी प्रणाली है कि वह अहमर्थके भीतर रहकर भासता है, वहीसे अहमर्थको प्रकाशित करता है। ज्ञान विज्ञानसाध्य न होनेके कारण, विज्ञान-विषय न होनेके कारण उसकी प्राप्तिकी प्रणाली निराली है।

मनसैवेदमाप्तव्यम्। कई वेदान्तियोंको भ्रम हो जाता है कि "ब्रह्म सत्य है, अद्वितीयता सत्य है, प्रत्यगात्मता सत्य है, इसलिए अपनी बुद्धिसे हम उसे ढूढ निकालेंगे।" वे सोचते हैं कि "विवेक, प्राणायाम-प्रत्याहार, धारणा-ध्यान और युक्तिसे ढूंढ निकालेंगे या ऐसा साधु पकड लायेंगे जो हमारे सिरपर हाथ रखकर शक्तिपात कर दे और हमे ज्ञान हो जाय।"

लेकिन ये लोग साधु नहीं, बन्दर पकडना चाहते हैं। साधु पकडनेसे नही मिलता। वह साधु परमात्मासे एक होता है। उसका कान पकडकर तुम अपना काम थोडे ही करवा सकते हो। कहोगे कोई भूत-प्रेत-देवता आकर प्रकट होगा और हमे ब्रह्मज्ञान दे जायगा।' लेकिन अरे, भूत-प्रेत तो तुमने अपने मनसे बनाया है, तुम्हारे मनकी जितनी जानकारी है वही सब जाकर भूत-प्रेतमें बैठी है। ये कोई तुम्हें ज्ञान नही दे सकते। जो ईश्वर तुम्हारी आँखो या मनके सामने आकर खडा हो और उससे जो ज्ञान हो, वह सारा ज्ञान तुम्हारे मनसे आरोपित होगा। इसलिए वह तुम्हारे मनसे अलगका ज्ञान नहीं दे सकेगा। जिस तरह कोई

तुम्हारा सपना पुष्ट करना चाहे कि बहुत बढिया, वैसे वह तुम्हारे स्वप्नको पुष्ट कर जायगा कि बहुत बढिया। स्वप्नको पुष्ट करना यथार्थकी उपलब्धि या साक्षात्कार नही।

तो ज्ञान कहाँसे मिलेगा? सत्य, आत्मा या परमार्थके ज्ञानमे। उसकी प्राप्तिमें बाधाएँ कितनी हैं। अयथार्थ, असत्य, अपरमार्थ, परिच्छिन्न, जड अनात्माकी हजारो प्रकारकी कल्पनाएँ अनविचारे, बिना विवेकके ही हजारो व्यक्तियोके मनमे भर गयी है। उन्हे निकालना पडेगा। जैसे जलपर काई छा जाय तो दोनो हाथोसे उसे हटाना पडता है, वैसे तुम्हारे ज्ञानस्वरूपमे जो विषय दृश्य अनात्म-प्रपचकी काई लग गयी है, उसे हटाना पडेगा।

प्रश्न होगा हम उसे कैसे हटायें? उत्तर है बुद्धिसे, विवेकसे। यथार्थका ज्ञान प्राप्त करेंगे होनेपर तुम कहने लगोगे "हटाओ गुरुको। कौन गुरुडमके चक्करमे पडे? हटाओ शास्त्र-पोथीको। हम अपनी बुद्धिको सस्कारशून्य बनाकर परमात्माको जानेंगे। हम स्वयं अपना चित्त शुद्ध करेंगे।"

बडे अनुभवकी बात यह है कि चित्त कभी सस्कारशून्य होता ही नही। लोगोको यह भ्रम है कि "हमारा चित्त सब प्रकारके सस्कारोसे शून्य होकर सत्यका अनुभव कर रहा है।" चित्तका बीज अनादि है। अनादि सस्कारसे संस्कृत होनेके कारण जैसे अंगूरमे मिठास, इमलीमे खटास, सुपारीमे कसैलापन होता है, वैसे ही सबके चित्तमे कुछ-न-कुछ सस्कार पहलेसे विद्यमान रहते है। यदि तुम कायदेसे परमात्माको ढूंढने नही चलोगे तो वे ही सस्कार तुम्हारी बुद्धि और विवेकपर हावी हो जायँगे। उन्हे अभिभूत, आक्रांत कर लेंगे और तुम अपने संस्कारकी शक्कर लगाकर परमात्माको मीठा बनाओगे। तुम्हारे चित्तमे बैठे संस्कार परमात्माके

दर्शनमे आडे आ जायँगे। तब तुम शुद्ध परमात्माके दर्शन नहीं कर सकोगे, अपने सस्कारसे आक्रान्त परमात्माके ही दर्शन करते रहोगे। तब परमात्मा घोडेके आकारमे भी है, ऐसा कभी मालूम हो सकता है। मुसलमानको हयग्रीवरूपमें परमात्माके दर्शन होना कठिन है। तब मछलीरूपमे, कछुआरूपमें, वराहरूपमे, नृसिहरूपमें, स्त्री-पुरुषमे, निराकार साकार, सगुण निर्गुण, शान्त-विक्षिप्त, चतुर्भुज-द्विभुज, लाल पीला-काला सबमे परमात्मा है, यह कैसे जाना जायगा? यदि कोई तुम्हारी बुद्धिमें बैठा दे कि "शान्त परमात्मा है" तो कहोगे "शान्ति क्या है?" यह तो परमात्मा है।

कोई कहे कि 'विक्षेपकी निवृत्ति परमात्मा है' तो समाधि लगी कि परमात्मा। ये अनविचारे सस्कार कुछ मोहमूलक और कुछ श्रद्धामूलक होते हैं। वे हमारे विवेकको अपने रगमें रग देते हैं। हम यह भी नही समझ पाते कि शुद्ध चित्त क्या है?

शुद्ध चित्तकी जानकारी के लिए मंत्रमे 'आसथ्यम्' कहा है। अर्थात् मनका जो सार है, उसे समझना पडेगा, क्योंकि परमात्माकी अप्राप्ति कल्पित है। कल्पित अप्राप्ति दूर करने के लिए कल्पित प्राप्तिकी आवश्यकता होगी।

आपसमे समसत्ता जिनकी।
लखि साधक बाधकता तिनकी॥

'आचार्यगर्भसंस्कृतेन मनसा' निस्सस्कार मनसे परमात्मा-की प्राप्ति नही होती। सुसस्कृत मनसे समाधिमे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। समाधि तो सस्कार डालकर बनायी जाती है। प्राणायाम-प्रत्याहार करो, वहाँसे खींचकर मनको एक जगह बाँधो, धारणा लगाओ, चित्तमे एकतानता लाओ, ध्यान

करो ! 'यह सम्प्रज्ञात असंप्रज्ञात वितर्कानुगत—विचारानुगत हुई या आनंदानुगत, अस्मितानुगत हुई ?' यह सब क्या है ? मनकी अवस्थाओंके अनुसार विचार ही तो डाले गये हैं न ? 'यह निर्बीज हुई, कैवल्य असम्प्रज्ञात हुई' ये भी संस्कारके खेल हैं। इन सबसे जब मन उठता है तो वही पुराने संस्कारके खेल खेलने लगता है। इसलिए अद्वयतत्त्व न तो शून्य है और न अशून्य ही। इस प्रकार शून्याशून्यसे विलक्षण अद्वयतत्त्व की अनुभूतिका उल्लेख आत्मा और ब्रह्मकी एकता द्वारा ही किया जा सकता है।

ऋजुबुद्धिवालेको श्रद्धा करायी जाती है कि एक मन्त्र, गुरु, अपने इष्टमे बदलते रहते मनको साधो तो तुम पक्के हो जाओगे। घोर अभिमानीको यह कहना पडता है कि "तुम गुरु मत बनाओ, तुम्हे श्रद्धा करनेकी आवश्यकता नही, तुम कोई पोथी पत्रा भी मत मानो। तुम्हारी तो बुद्धि ही ऐसी है कि वह सत्यका साक्षात् कर लेगी।" अभिमानकी संतुष्टिके लिए यह बात कही जाती है।

यह सुनकर अभिमानी कहता है कि "बस, यही मार्ग सच्चा है।" क्यो ? हमारे अभिमानको वेद-शास्त्र-गुरु-महात्माके सामने झुकना नही पडेगा। अभिमानकी कठोरता पुष्ट करनेके लिए ही यह बात कही जाती है।

हमारे एक मित्र सत्संगी हैं। वे कहते हैं "हम किसीको चेला नही बनाते।"

मैने पूछा "आप मंत्र, जप, इष्टदेवता-पूजाकी पद्धति बताते हैं ?"

वे बोले "हाँ।"

मैंने पूछा "यह कैसे ?"

उन्होने बताया "हम मित्रकी हैसियतसे बताते हैं, गुरुकी हैसियतसे नही।"

उनसे सब सतुष्ट रहते थे कि "वे किसीके गुरु नही, मित्र बनते हैं। कितने अच्छे हैं?" मित्र बनकर जब मंत्र-इष्ट-ध्यान-पूजाकी पद्धति बतायी तो गुरुसे भी बढकर मजबूत हाथ मित्रका हुआ या नहीं? नाम ही बदला, बात वही रही।

हम कहते हैं "तुम पोथी-गुरुपर, मंत्रपर श्रद्धा मत करो। हम तुम्हे एक ऐसी बात बताते हैं जिससे स्वयं विवेककर जान सकोगे कि तुम कौन हो?"

अभिमानी और नासमझ लोग समझते नहीं कि हम कहाँ फँसे?

साराश, पुराने लोग श्रद्धाके नामपर और नये लोग अश्रद्धाके नामपर फँसते हैं, इसलिए आवश्यक है कि हम नासमझोकी बातोको छोडें और आचार्य-उपनिषद्की बातें धारण करें और देखें कि देश-काल-वस्तुके बदलते रहनेपर भी हम एक अखण्ड, ज्योके-त्यो हैं।

मूसाके समयमे मोहम्मदका सम्प्रदाय कहाँ था? मूसाके समयमे ईसा नहीं थे। ईसाके समय मोहम्मद नहीं थे। बुद्धके समय मूसा नही थे, महावीरके समय बुद्ध नही थे। सतयुगके आदिमें केवल ब्रह्मा ही आचार्य थे। कल्पके आदिमें केवल विष्णु ही आचार्य थे। महाप्रलयके आदिमें केवल शकर ही जगद्गुरु थे। आचार्य और उपनिषद्के सस्कारसे सस्कृत होकर सृष्टिको बदलने दो, बदलती सृष्टिके तुम साक्षी हो और यह साक्षी इतनी सूक्ष्मतम है कि यह देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश है। यह किसीसे खण्डित नहीं होता, अखण्ड है। कोई इसके

सामने आकर बराबरीका नही होता, अद्वितीय है। कहीं इसकी सत्ताका अभाव नही, यह परिपूर्ण है। यही तुम्हारा साक्षी एकरस ज्ञान है

नेह नानास्ति किञ्चन ।

कोई छोटा-मोटा अनाथ बालक था। घरमे माँ, चाचा, ताऊ कोई नही थे। ऐसी स्थितिमे एक बूढा आकर कहने लगा 'चलो हमारे साथ।'

बालकने पूछा 'कैसे चलें तुम्हारे साथ ? तुम होते कौन हो हमारे ?'

बूढा "हम तुम्हारे नाना हैं।"

वास्तवमे वह नाना नही, ठग था।

बच्चेने कहा "हमने तो कभी अपने नानाको देखा ही नही।"

बूढा "देखा नही तो क्या हुआ ? तुम्हारी माँका खास बाप मै ही हूँ। अब चलो हमारे घर।"

ठग उसे अपने साथ ले गया।

जैसे ठग झूठा ही नाना बनकर बच्चेको ठग लेता है वैसे ही ये झूठे नाना-नानी या अनेकता अविवेकीरूप बालकको ठग रहा है, यह सच्चा नाना नही हैं।

आगे चलते समय उसे गाँवमे गुरु-पुरोहित मिले। उन्होने पूछा 'बेटा किसके साथ जारहे हो ?'

वह बोला "नानाके साथ।"

पुरोहितने कहा "अरे, तुम्हारे तो कोई नाना है ही नहीं।

वह तो कबका मर चुका। यह कोई झूठा ठग आया है, तुम्हें ठगकर अपने साथ ले जाना चाहता है। यह नाना नहीं है।"

मृत्यो स मृत्यु गच्छति।

श्री शङ्कराचार्यजी लिखते हैं 'नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया।' अर्थात् तुम्हारे सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यदि कोई दूसरी वस्तु बनती है तो तुम्हारी मूर्खतासे ही बनती है। वह अविद्या जव निवृत्त हो जाय तब तुम्हारे परब्रह्म परमात्म-स्वरूपमे अणुमात्र भी नानात्व नहीं है। जो नानाको छोडनेको तैयार नहीं है और वह भी केवल इसलिए कि नाना खानेको गुड, नाकके लिए इत्र, नेत्रोंके लिए रगीनी, कानके लिए सगीत, त्वचाके लिए स्पश देता है (क्योंकि यह नाना लुभानेमे बडा निपुण है), नो परमात्मा कभी नही मिल सकता। **अविद्या तिमिर-दृष्टि न मुञ्चति।**

मनमे यह बेवकूफी समा गयी है कि यह नाना ही है। इसका फल क्या होगा ?

मृत्यो स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति।

'मृत्यो मृत्युम्' = बार-बार मृत्युसे मृत्युके ऐसे कठोर मार्गपर ले जायगा कि मालूम पडेगा कि अब मरे, अब मरे। जो नानात्व-रूप भेदका अध्यारोप करेगा, उसे मृत्युका भी अध्यारोप करना पडेगा। जिसपर हथौडा लगेगा, वह अवश्य टूटेगा। जिसपर तल-वार लगेगी, निश्चय ही वह कटेगा। 'नानात्व' तलवार-हथौडा है, जो बार-बार चोट मारता है।

महात्मा लोग तो ऐसे पक्के होते हैं कि 'यहाँ ऐसे भी वाह-वाह, वहाँ वैसे भी वाह-वाह।' वे एकके घर गये तो मूँगकी दाल

और रूखी रोटी लाकर सामने रख दी। महात्माने सोचा 'वाह, इनके मनम हमारे स्वास्थ्यके लिए कितना सद्भाव है कि सादा भोजन दिया। हमारा स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। यह हम विरक्त समझता है, जिह्वालोलुप नही।'

वे दूसरेके घर गये तो वहाँ खीर, हलुवा, पूडी, जैसी, बडी-बडी स्वादिष्ट वस्तुएँ थी। बोले 'कितनी चीजें बनायी है प्रेमसे ?' महात्माको दोनोमे खुशी हुई।

एक ऐसा महात्मा था कि एक गृहस्थके यहाँ जानेपर दाल-रोटी देखकर नाराज हो गया और बोला 'तुम इतने दरिद्र, इतने कजूस हो कि दाल-रोटी लाये ? मूख कहीके।'

गृहस्थ बोला 'मैं तो महाराज समझता था कि आपको सादा भोजन रुचेगा। आप विरक्त महात्मा जो है।'

महात्माने गाली सुनाते हुए उससे कहा 'क्या विरक्त महात्माको जीभ नही होती ? मन नही होता ?' फिर वह हलुवा-पूडीवालेके यहा गया और बोला 'क्या तुम हमे इतने लोलुप-चटोरे समझते हो ? हमारे लिए इतनी चीजें ?' उसने दोनो जगह दु ख बना लिया।

मनुष्यका अन्त करण ऐसा है कि वह चाहे तो दोनो जगह सुख बना ले, चाहे दु ख।

सासारिक घटनाओमे कुछ नही होता। मनुष्यके अन्त-करणमे जो होता है, वही हर निमित्तपर प्रकट हो जाता है। भीतर दु ख होगा तो सब जगह दु ख भभक उठेगा और सुख होगा तो सुख भभकेगा।

य इह नानेव पश्यति। 'इह = व्यवहारे इति।' अर्थात् पर-माथमे नही, व्यवहारमे, कार्यमे नानात्व मत देखो।

श्रीहरिबाबाजी सुना रहे थे "एकबार हम तीन साधु तीन गुफाओमे पास-पास रहते थे। घण्टे-दो-घण्टेके लिए नित्य जुट जाते और आपसमें परमार्थकी चर्चा चलती। एकदिन हमने अपने साथी साधुसे पूछा "तुम साधु कैसे बने ?"

उसने बताया "जब हम बच्चे थे तो घर-घरौंदे खेलते, उछलते, ऊपर उचकते और शर्त लगाते कि कौन कितनी दूर पहुचता है। एक साधु आता और अपनी भिक्षाकी झोली पेड़पर लटकाकर हमारे साथ छलाग भरता, खेलता और उचकता। हम तो थे बालक और साधु था बड़ी आयुका। वह हमारे जितना उछल नही सकता था। हम कहते "बाबाजी, तुम हमारे जितना उछल नही पाते।"

हम तो अधिक छलाग भरते हैं तो आप कम। नित्यका हम लोगोका यही नियम रहता।

एक दिन वे आये तो उनके साथ एक कुत्ता था। झोलीमे अन्न तो था ही। उन्होने एकबार कुत्तेसे कहा "अरे भाई, लौट जा, तू क्यो हमारा पीछा करता है ?" साधु थोडी दूर चला और पीछे देखा तो वही कुत्ता आ रहा था। तब उसने फिरसे कहा 'लौट जाओ!' कुत्ता तब भी नहीं माना तो बोले 'तू उलटे पाँव लौट जा, क्यों हमारे पीछे आता है?' बाबाजी तो आगे बढे और कुत्ता बाबाजीकी ओर मुँह करके उल्टे पैर लौट गया। बडा चमत्कार हुआ।

हमने बाबाजीसे पूछा "आप यह कैसे कर सकते हैं? आप तो भगवान्का बहुत भजन करते हैं। हमे बतायें, हम कैसे करें ?"

वे बोले "**सबमे एक, एकमे सब**—यही है वह मन्त्र जिसने

मुझे यह सिद्धि दी। इसीको जपो !" बाबाजी तो चले गये, फिर लौटकर नही आये ! हम साधु हो गये तो वही भजन करते है "एकमे सब, सबमे एक।"

ससारमे जितनी स्वार्थपरायणता, भोगपरायणता है, जितना जीवनमे लोभ-मोह-हिसा है, छल-कपट-असत्य है, सारा "एकमे सब, सबमे एक" न देख पानेके कारण है। सबमे एक कहनेका अभिप्राय हुआ 'सब सब नही है' और एकमे सब कहनेका अभिप्राय हुआ 'एक एक नही है।' परमाथ सत्य एक और सब दोनोसे विलक्षण है। भेदकी सृष्टि कर लेनेसे ही हम आपत्ति करते करते है कि "आज तो हमारी बहुत हानि हो गयी।"

'क्या हुआ ?'

'कोई हमारा छाता ले गया।'

'बडा कीमती था ? कितनेमे खरीदा ?'

'खरीदा नही, क्लबसे उठा लाया था।'

ससारके जितने दु ख हैं वे सब इसी कोटिके है। तुमने उठाकर दूसरेकी वस्तु अपनी मान ली और अब कोई दूसरा उठाता है तो आपत्ति करते हो, लडाई करते हो ? बस, लडाई इसी बातकी है।

धर्म, सस्कृति, परिवार, जाति, सम्प्रदायके नामपर यह नानात्व-दशन ही सपूण अनर्थोंकी, दु खोकी जड है। हमारे दाशनिकोका यह आदश है कि इस नानात्व-दशनकी जड भ्रान्तिको ही काट दें। आपके बारबार जन्मने-मरनेका क्या कारण है ? परमात्मदशन, एकत्वदर्शन न कर नानात्व-दशन कर रहे हैं, यही है उसका कारण। ●

८ हृत्पुण्डरीकस्थ ब्रह्म

सगति

ग्यारहवें मन्त्रका मुख्य अभिप्राय यह है कि 'परमात्माको मनसे ही प्राप्त करो।' यह प्रसिद्ध है कि जो वस्तु जहाँ खोती है, वहीं मिलती है। परमात्मा कहाँ खो गया ? तुम ऐसे ब्राह्मण बन गये जो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रकी हिंसा करने लगे। यह कट्टर ब्राह्मणपन तुम्हें कहाँसे प्राप्त हुआ ? मनमें ही इस कट्टरपनेकी कल्पना बनी। मनको उदार

बनाओ तो देखोगे कि ब्राह्मणकी आत्मा ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, है। यह तो अपना ही स्वरूप है। तुम अपनेको ब्राह्मण मानकर हिन्दुत्व और 'हिन्दू' मानकर मनुष्यत्व खो बैठते हो, मनुष्य मानकर प्राणित्व और प्राणी मानकर जीवत्व खो बठते हो, जीव मानकर ईश्वरत्व और ईश्वर मानकर ब्रह्मत्व खो बैठते हो।

बिना अनुभव, बिना अनुसन्धान तुमने मनमें अपनेको ससारी पापी पुण्यात्मा, सुखी-दु खी, परिच्छिन्न मान लिया है। मनकी इस 'विपरीत' मान्यतासे ही परमात्मा खो गया है। यह केवल विपर्यय है। 'परीत' मा यता कर उसे ढूँढ निकालो। 'घडा मिट्टी है' यह परीत है, पर 'धडा कपडा है' यह विपरीत है। विपरीत मान्यता अन्ध-परम्पराका परिणाम है। विद्वत् परम्परासे मानोगे तब तो तुम अपनेको नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म ही मानोगे।

यदि तुम अपनेसे अलग किसीको मानोगे तो वही तुम्हारा शत्रु है। उपनिषद्मे यह बात बडी गम्भीरतासे कही गयी है "ब्राह्मण उसका शत्रु होगा जो ब्राह्मणको अपनेसे अलग मानेगा। क्षत्रिय उसका शत्रु होगा जो क्षत्रियको अपनेसे अलग मानेगा। देवता भी उसका तिरस्कार करेंगे जो देवताओको अपनेसे अलग मानेगा। सारा संसार उसका तिरस्कार करेगा जो सबको अपनेसे न्यारा मानेगा। अपनेको सबसे न्यारे-न्यारे करते सबको अपना शत्रु बना लिया और वह तुम्हारी अपनी परछाईं ही हौआ भूत बनकर खडी हो गयी। अब वह हमे ही काटने को दौडती है, क्योंकि हम उसे अपनेसे अलग मान रहे हैं। वास्तवमे कोई भी अपनेसे अलग नहीं है।

अब बारहवें मन्त्र में बताते हैं कि "हृदयमे विद्यमान अगुष्ठ मात्र पुरुष ही ब्रह्म है। यह आत्मज्ञानसे जाना जाता है

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥१२॥

जो अङ्गुष्ठपरिमाण पुरुष शरीरके मध्य स्थित है, उसे भूत, भविष्यत् [और वर्तमान] का शासक जानकर वह उस (आत्माके ज्ञान) के कारण अपने शरीरकी रक्षा करना नही चाहता, निश्चय ही वह (ब्रह्मतत्त्व) है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्र : 'मात्र' प्रत्यय है। सस्कृतमे परिमाण-अर्थमे 'मात्र'का प्रयोग होता है। संस्कृतमे कुछ ऐसे प्रत्यय हैं जो मूल शब्दकी तरह होते हैं जिन्हे प्रत्ययरूपमे पहचानना कठिन होता है। 'प्रमाण, प्रणाम, परिणाम, परिमाण' इन शब्दोंके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। जहाँ 'परिणाम' परिवर्तन है, वही 'परिमाण' है नाप-तौल।

हाथ-पाँववाले इस शरीरमे हड्डी, मास, चाम द्रव्य हैं—वस्तु हैं। जिसे पिघलाया जा सके, जो द्रवित हो, सड-गल जाय, वह द्रव्य है। द्रव्यमे प्राणकी शक्ति होती है। मन सङ्कल्परूप है। बुद्धि कर्ता है और विवतारूपिणी है। जा काम बुद्धिपूवक नही किया जाता उससे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नही होती। पाप और पुण्य कतृत्वम होता है, कर्म या वस्तुमे नही। हम अनजानमे चल रहे हो और पाँवके नीचे कीडा आकर मर जाय तो इसमें दोष किसका? पाँव रखनेमे असावधानी बरती, यही दोष है। जैसे ड्राईवर मोटर चलाता हो और रास्तेमे किसीको चोट लग जाय तो जानबूझकर चोट पहुँचानेका दोष नहीं है, असावधानीसे मोटर चलानेका दोप है। शत्रुता होनेपर जानबूझकर चोट पहुँचाना 'हिसा' है और अनजाने चोट पहुँचाना 'प्रमाद' है। दोनो दोष है।

पाप-पुण्य किसी क्रियासे उत्पन्न नही होते। उसने जो किया उसमे 'विमर्श' अर्थात् बुद्धिपूवक कर्तृत्व था या नही, यही देखा जाता है।

द्रव्यात्मकमे देह, क्रियात्मकमे प्राण तो सकल्पात्मकमे मन है। मन स्वप्न और मनोराज्य दानोमे रहता है। अनियन्त्रित मनसे पाप-पुण्य नही होते। उसमे कतृत्व आनेपर कर्तापनसे ही पाप पुण्यका उदय होता है। सनातनधमकी पद्धति है कि प्रत्येक क्रिया किसी-न-किसी अवस्थामे धम या कतव्य है। ऐसी कोई क्रिया नही जो किसी-न-किसी अवस्थामे धर्म न मानी जाय।

देहको काटना भी धर्म है, नही तो व्यक्ति क्रियानिष्ठ हो जायगा। ऐसी कोई औषधि नही, जो कही-न-कही दवा न बने। ऐसी काई वस्तु, द्रव्य नही, जो कही न कही ग्राह्य न हो। ऐसा कोई पुरुष नही, जिसमे कोई-न कोई योग्यता न हा। ऐसा कोई अक्षर नही, जा मन्त्र न बनता हो। वस्तु, क्रिया, शक्ति, सकल्प, मनोराज्यमे धर्माधमका निवास नही है, 'कर्ता' मानें तो है। हम अपनेको कर्ता क्यो मानते है? इसीलिए कि अपनी वास्तविकता नही जानते। यदि अपनी वास्तविकताका ज्ञान हो तो कोई अपनेको कता मानेगा ही नही। भक्तिसिद्धान्तमे कहा गया है कि यदि कोई प्रभुकी, अकाल-पुरुषकी आज्ञाको समझें तो—

हौं मै कहे न कोय।

जैसे बाँसकी नलीमे भूताकाश होता है, वैसे ही शरीरको, चित्तकी नलीमे 'चित्ताकाश' रहता है। चित्तकी उपाधिको छोड दें तो वह 'चिदाकाश' है। वह चिदाकाश ही चित्तके परिमाण-वाला मालूम होता है।

अङ्गुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। इस शरीरके भीतर चित्तमे एक अगूठेके बराबर सुपिर (छिद्र) है, जो बाँसके छेदमे भूताकाशके समान और स्वप्नकालमे चित्ताकाशके समान, द्रव्यरूप बाँससे रहित और सकल्परूप चित्तसे रहित केवल शुद्ध, स्वयंप्रकाशात्मक आकाश है। वह देश-काल-वस्तु तीनोंका प्रकाशक सविन्मात्र है। यदि उसमेसे अगुष्ठमात्रताकी उपाधि छोड दें, तो वही 'तत्'पद का लक्ष्यार्थ है।

यही **ईशानो भूतभव्यस्य** भूत-भव्यका ईशान है। वही सपूर्ण विश्वसृष्टिका आधार और प्रकाशक है। जो बिजली छोटे बल्बमे है, वही बडे बल्बमे भी। हमारे हृदयमे जो चैतन्य है, वही सपूर्ण विश्वसृष्टिमे है। हृदय-पु डरीक और विश्वकमलकी उपाधि छोड-कर जो एकरस अखण्ड सविन्मात्र चैतन्य है, वह सर्वथा एक है।

यह शरीर तो व्यक्ति मालूम पडता है। यह प्रकट होता सिमटता, बनता और बिगडता है। किन्तु इससे मोह क्यो ? मैं कहता हूँ "मोह भी तो व्यक्ति ही है। वह भी प्रकट होता, सिमटता है। उसे भी महत्त्व मत दो। सूक्ष्मव्यक्तिरूप मोहका भी कोई महत्त्व नही। वह स्वप्नकी तरह प्रकट-लुप्त होता रहता है।

भविष्यपुराणमे एक कथा है। एकबार भगवान् शकराचार्य और श्री रामानुजाचार्य (दोनोका काल एक नही है। अत यह कथा कल्पित ही है) मिले। दोनोका मिलना कैसे हुआ ? वे शरीररूपसे नही, भावरूपसे मिले। पुराण मिट्टीसे बने शरीरका चरित्र नही लिखते, सूक्ष्म शरीरमे उदय होनेवाले भावोका चरित्र लिखते हैं—भावव्यक्तिका चरित्र। एक शकरभाव यानी अद्वैत-वाद और दूसरा रामानुजभाव यानो विशिष्टाद्वैतवाद। उन्हें कोई

भौतिक-समस्या नही थी, इसलिए परमार्थका ही निरूपण करते थे।

रामानुजने कहा 'देखो, उपनिषद्मे आत्माको अङ्गुष्ठमात्र बताया है। वह ब्रह्म कैसे हो सकता है?'

शङ्कराचार्य "जब उपनिषद्मे अङ्गुष्ठमात्र लिखा है तो तुम उसे अणुमात्र कैसे कहते हो? यह चेतनाणु है। अणु अँगूठेके बराबर तो नही होता।"

रामानुज 'यह आत्माका नही, हृदयका परिमाण है। अगुष्ठ-मात्र हृदयमे अणुमात्र रहती है।'

शङ्कराचाय 'यही हमारा भी समाधान है। यहाँ परिमाण नही, विद्यमानता ही विवक्षित है। हृदयका परिमाण है अँगूठेके बराबर। उसम जो आत्मा है वह अणु है। अङ्गुष्ठमात्र परिमाण जैसे अणुमात्रके साथ नहीं जुडता, वैसे ही ब्रह्मके साथ भी नही जुडता। परिमाण और प्रचारिक है। अँगूठेकी नाप-जोख तो हृदयका नाप है। आत्मा इस नापसे परे है, यह बात तो हम दोनो मानने ह। किन्तु वह अणु है या ब्रह्म है, इसका कैसे निणय हो? श्रुतिका उत्तराध पढो "यो हि अङ्गुष्ठमात्रपुरुष मध्य आत्मनि तिष्ठति, स एव भूतभव्यस्य ईशान।" यहाँ सामाना-धिकरण्य है, एक ही विभक्तिके दोनो पद हैं—जो अंगूठेके बराबर है, वही भूतभव्यका ईशान है। अब निणय करो, वह अणु है या ब्रह्म?"

एकदिन बहुतसे साधु इकट्ठे हुए—कोई सन्यासी, कोई उदासी, प्रणामी, वैष्णव, सत्नामी।

सब साधुओसे अलग एक गुरु-चेला सोये थे। गुरुजी बोले "देखो बेटा, वह साधु है न, बडी-बडी दाढ़ी और जटावाला

तिलक लगाये, जनेऊ पहने हिन्दू-साधुके रूपमे दीख रहा है, वह वास्तवमें मुसलमान है।"

इसमे उद्देश्य हुआ साधु और मुसलमानपना उसका विधेय। हम उसे मुसलमान बताना चाहते हैं, जब कि दीख रहा है, हिन्दू-साधु। यहाँ हिन्दूसाधुकी वेशभूषा विवक्षित नही, उसका व्यक्तित्व मुसलमान है, यही दिखाना विवक्षित है। इसी प्रकार अज्ञ-दशा, अविवेक-दशा या देहकी परिच्छिन्नदशामे यह आत्मा परिच्छिन्न-सा, अँगूठेके बराबर भासता है। जिसे यमराजके दूत गलेमें पाश बाँध घसीटकर यमपुरीमे ले जाते हैं, देवता जिसे विमानपर बिठा स्वर्गमे ले जाते हैं, जो कैलास-वैकुण्ठ-साकेतकी यात्रा करता है ऐसा जिसके बारेमे शास्त्रोमें प्रसिद्ध है, वह अङ्गुष्ठ-मात्र—देखनेमे अङ्गुष्ठमात्र है, वास्तवमे "ईशानो भूतभव्यस्य" परमात्माका स्वरूप ही है। यहाँ अङ्गुष्ठमात्रता नही, ईशानकी भूतभव्यता विवक्षित है, क्योकि वाक्य अज्ञातका ज्ञापक होता है। अङ्गुष्ठमात्रता तो अन्य प्रमाणसे भी ज्ञात है, पर ईशानता अन्य प्रमाणसे भी ज्ञात नही है। इसलिए यह श्रुति अपूर्वका ज्ञापन करती है।

हमारे एक मित्र बीकानेर राज्यमे गगासिहजीके समयमे गृहमन्त्रीके सेक्रेटरी थे। अभी जीवित हैं। राज्य था गंगासिह-जीका। एकदिन वे साइकिलपर बाजारमे निकले तो देखते हैं कि बाजारमे एक दूकानके सामने गगासिहजी महाराज चपरासीके वेशमे खडे होकर कोई सौदा खरीद रहे हैं। सेक्रेटरी उन्हे देखकर पहचान गये। झट साइकिलसे उत्तर पडे और जुहार किया। गगा-सिहजीने उन्हे डाँट दिया। दूसरेने उनसे पूछा 'ऐसा क्यो किया ?'

सेक्रेटरीने बताया "वे गगासिहजी महाराज हैं, चप-रासी नही।"

चपरासीके रूपमे राजासाहब है तो यहाँ दृश्यरूप चपरासी है, विवक्षित राजा है। चपरासीके रूपमे देखनेवालेको राजा समझाया जा रहा है। यदि चपरासी समझाते तो दूकानदार, सडकपर चलनेवाले, भगी और सभी अज्ञानी उन्हे चपरासी ही समझते। किन्तु जो पहचानते थे, उन्होने बताया 'यह चपरासी नही, बीकानेरके महाराजा गगासिहजी हैं।'

अज्ञानदशामे जो मासपिण्डके रूपमे अङ्गुष्ठमात्र सबको मालूम पडता है, उपासकको जो पापी-पुण्यात्मा, स्वर्गीय-नारकीय मालूम पडता है, अन्धपरम्परासे अपनेमे जो परिच्छिन्नता भास रही है, उसका तो अनुवाद किया गया 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' और उसकी वास्तविकता क्या बतायी 'ईशानो भूतभव्यस्य।' भूत यानी जो कुछ हुआ। नानक कहते हैं

है भी सच, होसी भी सच।

था और होगा दोनो वही है। कालका ईशान है अर्थात् कालातीत है। वह कालको चलाता है। उसीसे सूर्योदय-सूर्यास्त होता है, उसीसे सृष्टि-प्रलय होता है और ब्रह्मा, विष्णु, महेशका जन्म भी उसीसे होता है। वह कालसे असस्पृष्ट है।

न ततो विजुगुप्सते। उससे डरते क्यो हो ? डरो मत। तुम्हारे अदर अतडी, खून, मास, चाम, हड्डी लगे नही है, तुम मरने-जीनेवाले, आने-जानेवाले, पापी-पुण्यात्मा, परिच्छिन्न नही हो।

एतद्वै तत्। यही अङ्गुष्ठमात्रोपलक्षित जो परमार्थ तत्त्व है, वही तत् है। तत् यानी विहित अविहित, धर्म अधर्म, कृत अकृतसे जो परे हो। यही विष्णुका परमपद है, यही अद्वितीय है। इसीको बडे-बडे देवता लोग ढूढते रहते हैं। यही पर है। ●

९. अंगुष्ठमात्र-पुरुषमें ब्रह्मदृष्टि

संगति :

बारहवें मन्त्रमें बताया गया कि इसी शरीरके, अन्य प्राण-मन-बुद्धिके भीतर सुषुप्तिमें भी जागता हुआ, हृदयकी उपाधिसे अंगूठभर मालूम पड़नेवाला जो पुरुषचैतन्य है, वह उपाधिके धर्म-कर्म, अवस्था, परिमाण, परिणाम आदिसे सर्वथा असंस्पृष्ट ब्रह्म है।

अब तेरहवें मन्त्रमें कहा जा रहा है कि वह अंगुष्ठमात्र पुरुष निर्धूम ज्योतिके समान है। उसमें दृश्य है ही नहीं। दृश्य जो है, वह बिना हुए भासता है। अखण्ड, अविनाशी, अद्वितीय, परिपूर्ण, अनन्त-दूसरेके लिए कोई अवसर ही नहीं है :

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥
एतद्वै तत् ॥१३॥

यह अङ्गुष्ठमात्रपुरुष धूमरहित ज्योतिके समान है। यह भूत-भविष्यत्का शासक है। यही आज वर्तमान (कालमे) है और यही कल (भविष्यत्मे) भी रहेगा। निश्चय ही वह (ब्रह्म-तत्त्व) है ॥ १३ ॥

एक व्यक्तिके घरमे पारस पत्थर था। उसने उसे बट्टा बना रखा था, रोज सिलपर उससे चटनी पीसता। वह पहचानता नही था कि यह पारस है। एकबार पारसके गुण सुनकर वह उसे ढूँढने पहाडमे गया। लेकिन घरमे रखे पारसको जो नही पहचानता, पहाडमे ढूँढनेपर वह उसे कैसे मिले ?

एकदिन हम एक घरमे गये तब तो पहचाना नही और हमे मेलेमे ढूढने गया तो वहाँ हम कैसे मिलेगे ? यह सच्चिदानंदघन परमात्मा परिच्छिन्न 'मै' की ओटमे छिपा है। तुम जब परिच्छिन्न 'मै'को देखते हो तो परमात्मासे एक होकर देखते हो। जब अपनेको परिच्छिन्न 'मै' मानते हो, तब परमात्माका देखना छूट जाता है। जब यह बात मालूम हो जाती है कि काल हमे मार नही सकता, देश हमे घेर नही सकता, वस्तु हमसे शत्रुता दुश्मनी नही कर सकती तब **ततो न विजुगुप्सते**। 'हम सुरक्षित कैसे रहेगे ?' अरे भाई, सुरक्षित रहनेकी आवश्यकता ही क्या है ? भय क्या है ? क्या देश तुम्हे छोटा बना देगा ? क्या कालमे तुम घिस जाओगे ? क्या जडता हावी होकर तुम्हे चेतनसे जड बना देगी ? क्या तुम्हारा कोई ऐसा शत्रु है जो तुम्हे मार डालेगा ? दूसरा तो कोई

है ही नही। तो क्या तुम स्वय मर जाओगे ? स्वय तो मर ही नही सकते। ततो न विजुगुप्सते, 'तत गोपायितु न इच्छति। अभय वै जनक प्राप्तोऽसि—जनक ! अब तुम्हे अभयपद प्राप्तिकी हो गयी है।

अभय वै ब्रह्म, तत् विजिज्ञासस्व।

ब्रह्म ही अभय है। जबतक तुम अपने आत्माको अभयरूपमे नही जानोगे तबतक अभयपदकी प्राप्ति नही होगी।

तुम तीन वस्तुओके व्यापारी नही हो! तुम जो उनका व्यापार करते हो वह झूठा है। हिंसा, अज्ञान और दु खका लेन-देन, क्रय-विक्रय आत्माका स्वभाव नही। यह बिलकुल बनावटी हो रहा है। तुम तो सच्चिदानंद हो।

ईशानो भूतभव्यस्य। भूत जिसके लिए तुम रोते हो, वह तुम्हारा ही बनाया है।

"दस वर्ष पहले ऐसा मजा था, पहले ऐसी संस्कृति थी!" संस्कृति तो ऐसी सरक जाती है कि कही उसका पता नही चलता। हमने देखा कोई सज्जन कधेपर चदरा रखकर आये। उन्हें खयाल आया—पहले आदमीके कधेपर चदरा यानी उत्त-रीय वस्त्र नही था, बादमे आया। वह कर्मकाण्ड करने लगा। बादमे कुर्ता बना तो चदरा फेंका नही, कुर्ता पहना और उसपर चदरेको दुहराकर रख दिया। थोडे दिनो बाद चदरा फेंक दिया, कुर्ता रह गया और उसपर बगलबंदी आयी। मिर्जई और शेरवानी आ गयी। यह सस्कृति कब सरक गयी, मालूम नही। भूत तुमने ही बनाया था, भविष्य तुम्ही बनाओगे, ऐसा जाल तुमने बुना है।

रेशमका कीडा रेशमका जाल बनाता है और उसीके भीतर मरजाता है। उसे उसमेसे निकलनेका रास्ता नही मिलता ससारी लोग आस पास-पडोसमे ऐसा जाल बुन देते हैं कि हम बेटे, माँ, घरवालीके बिना नही रहसकते है। वे मनका ऐसा जाल बुनते हैं कि स्वयं उसमे फँस जाते है।

पुरुष तुम महात्मा लोग स्त्री पुरुष पर दृष्टि नही रखते। व्याहके प्रसङ्गमे स्त्री पुरुषपर और पुरुष स्त्री पर दृष्टि रखे। महात्मा उस आत्मापर दृष्टि रखते है जो दोनोमे समान है। नर मादा पशु-पक्षी, देवता-दानव-मानवमे जो है, वे आत्मदेव भीतर हृदयमे प्रज्वलित हो रहे है—**ज्योतिरिवाधूमक**। बिना धुएँकी ज्योति है। इधन नही, ज्योति है आगसे धुआ तब नही निकलता जब ईंधन नही होता।

'अधूमक' निर्मल ज्योति। द्वैत हे 'इंधन' तो ज्ञान है 'ज्योति'। जब ज्ञान द्वैतको, दृश्यको आत्मा अनात्माको काय-कारणको प्रकाशित करता है, तो उसमेसे धुँआ उठता है। वह धुँआ ही मृत्यु अज्ञान और दु ख है। लेकिन जब द्वैतका बाध हो जाता है तो निर्मल ज्योतिस्वरूप अपना आत्मा जगमग-जगमग चमकने लगता है।

जो प्रकाश बल्व मे जलती है, वह विजली घरसे चलकर नही आती। बिजलीके तारमे प्रकाश नही, शक्ति दौडती है जो लाउड स्पीकरमे आकर आवाज बढाने लगे, पखेसे हवा फेकने लगे, बल्बमे आकर प्रकाश कर दे, एयर कण्डीशनमे आकर ठडा कर दे और हीटरमे आकर गरम कर दे—पाँच भूतोंके गुणको प्रकाशित करनेवाली वह विद्युत्-शक्ति है। इस ज्योतिमे जलानेके लिए कोयला इधन नही, शक्ति है। ज्योति तुम्हारी आत्मा है।

छोडनेसे डरोगे तो दु ख नही मिटेगा। दु ख छोडनेमें भी तत्परता होनी चाहिए। कोई दु खको पकडकर ही बैठे तो ?

किसी बच्चेको रोते देखा तो पूछा "क्यो रोते हो ?"

वह बोला 'हमारी माँ बिना रोये रोटी नही देती। पैर पटककर रोना पडता है।'

यदि रोनेसे ही मिठाई मिलती हो तो हाथ-पाँव पटककर रोओ, पर वह बच्चेका धर्म है।

भूतभव्यके ईशान का अर्थ है नित्य कूटस्थ।

ईशान भूतभव्यस्य स नित्य कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वतमान स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते, नान्यस्त त्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थ ।

अर्थात् वही कल था, वही आज है और वही कल भी है। आत्मा कल दूसरा पैदा नही होगा। आज है, वही कल रहेगा और कल भी वही था। पर्देके दृश्यके समान दृश्य आते-जाते हैं। आत्मा द्रष्टा बिलकुल उसे देख रहा है।

सर्वप्रथम मोटी बात यह है कि आज सुख-दु ख नही मिल सकते, आगे भी नहीं मिल सकते तो कर्म और कर्मका सिद्धान्त भी कट जायगा **कृतहानि अकृताभ्यागम• प्रसङ्गात्**।

आजतक जो कुछ हमने किया, क्या वह बिना फल दिये ही नष्ट हो जायगा ? आज हम फल भोग रहे हैं, वह बिना कुछ किये ही ? स्पष्ट है कि पहले करनेवाला 'मैं' आज भोगनेवाला हूँ और आज करनेवाला 'मैं' आगे भोगनेवाला होऊँगा। बिना कार्य-कारणकी शृखला जुडे कर्म और फलकी सिद्धि नहीं होती। इसलिए आत्मा अजर, अमर और एकरस है।

यह बात तीन प्रकारसे सिद्ध होती है

(१) युक्तिसे कम करनेवाला और फल भोगनेवाला आत्मा एक है।

(२) अनुभवसे आत्मा द्रष्टा है। इसीसे यह सिद्ध है कि वह अद्वितीय ब्रह्म है।

(३) श्रुतिसे जो कहे कि उसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुभव है, तो पहलेसे यह सस्कार श्रुतिसिद्ध है। बिना सस्कार-के यह अनुभव नही होता।

जो वेदान्तको नही मानता, वह तार्किक है। वह अपनी युक्तिसे ही सब कुछ मान बैठता है। युक्ति समयपर तो काम आती नही। श्रुतिने स्वयं कहा है जो आज है वह कल भी रहेगा। 'भूतभव्य' कहकर 'आत्मा नही है' इस वचनका निषेध स्वय कर दिया। जो कहते हैं कि आत्मा नही है, उनका वचन न्यायके विरुद्ध है, युक्ति, अनुभव और श्रुतिके विरुद्ध है।

'क्षणभङ्गवादश्च' जो कहते है, आत्मा क्षणिक है, वे भूलते है कि आत्मा क्षणिक हो तो क्षणको कौन जानेगा ? दस हजार बाते मनमे आती-जाती हैं, उसे कौन देखता है ?

सेकेंड, मिनट, घटे, दिन, सब चले जाते है, केवल अपना आपा सवथा एकरस बना रहता है। क्षणभगवाद और आत्माका नास्तित्व दोनोका निषेध युक्ति और अनुभव दोनोसे होनेपर भी श्रुतिने अपने वचनसे ही कह दिया 'एतद्वै तत्।' युक्ति और अनुभवसे सिद्धको ही श्रुति ब्रह्म, साक्षी बताती है। परमात्मा यही है।

●

९. भेददर्शी जीवकी गति और अभेददर्शनकी कर्तव्यता

संगति :

तेरहवें मन्त्रमें निर्धूम ज्योतिके समान जगमगाते अद्वितीय, अविचल, आत्मदेवका ब्रह्मरूपमें निरूपण किया गया। अब चौदहवें-पन्द्रहवें मन्त्रों द्वारा बताते हैं कि भेददृष्टिके कारण अज्ञानी भिन्नात्मत्वको प्राप्त होता है। ज्ञानी इस भेदका अपवादकर अभिन्न आत्मतत्त्वसे ऐक्य प्राप्त कर लेता है।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानु विधावति॥ १४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमेति॥ १५॥

जिस प्रकार ऊँचे स्थानसे बरसा हुआ जल पर्वतोंमें (पर्वतीय भिन्न देशोंमें) बह जाता है, उसी प्रकार आत्माओंको पृथक्-पृथक् देखकर जीव उन्हींको (भिन्नात्मत्वको) ही प्राप्त होता है॥ १४॥

जिस प्रकार शुद्ध जलमें डाला हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतम! विज्ञानी मुनिका आत्मा भी हो जाता है॥ १५॥

भेद भासता है, पर उसे पकडोगे और कहोगे कि हम तुम्हे जाने नही देगे, तो तुम्हे उसके साथ जाना पडेगा। जब देहको मै कहकर पकडकर बैठोगे तो देहके मरनेपर सोचोगे कि हम मर रहे हैं और फिर उसके साथ तुम्हे जाना पडेगा। तुम सोचते हो, "मौत आये तो पकड रखेंगे।" किन्तु मौतको नही पकड पाओगे, स्वयं तुम मौतके हाथ पकडे जाओगे।

चिडिया चारा चुगने जाती है तो स्वय परोमे गोद लग जानेसे जालमे फँस जाती है, वैसे ही जो मनुष्य स्वय किसी फिरकेको या मजहबको पकडकर बैठ जाता है, तो वह स्वय उसमे फँस जाता है। बडे-से-बडे बुद्धिमान् राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता, मानवता आदिको पकडनेका प्रयत्नकर दावा करते हैं कि इसके भीतरका सब हमारा है। किन्तु सबसे बडेको पकडते नही। जो सबसे बडा है, वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। यदि शुक्र-चन्द्रमा-मगलमे सब आने-जाने लग जायँ, और विज्ञानकी उन्नतिसे ब्रह्माण्डोका आपसमे सबध बँध जाय, सबके घरमे उडनखटोला रहने लग जाय जो दो या तीन आदमियोकी सैरके लिए हो, तो तुम्हारी यह राष्ट्रीयता क्या काम देगी ? राष्ट्रीयता तुम्हे पाकिस्तान, बर्मा, लकातक नही जाने देती। धरतीपर तो आदमी जहाँ चाहे घूम आयेगा।

साराश, विश्वहित, लोकहितकी दृष्टिसे भी वेदान्तकी ऐक्यदृष्टि सदा सर्वदा उपयोगी है। वह सार्वकालिक, सार्वभौम है। बिना एकत्वदर्शनके मनुष्यको शान्ति, निर्भयपदकी प्राप्ति नही हो सकती।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय वल्ली

संगति :

कोई सोचे कि 'मैं द्रष्टा हूं' तो द्रष्टाकी वृत्ति बन जायगी और वह अपनेको दृश्यसे न्यारा समझेगा। दृश्यसे न्यारा होनेसे तो वह परिच्छिन्न हो गया और 'मैं द्रष्टा हूं' इस वृत्तिसे कर्ता बन गया, द्रष्टा नहीं रहा। 'मैं द्रष्टा हूं' यह वृत्ति भी साक्षीभास्य यानी दृश्य है। इसका द्रष्टा देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है। फिर भी

दृश्यका क्या हुआ, यह एक प्रश्न तो बना ही रहता है। इसका समाधान यों किया जाता है दृश्य द्रष्टामें, कार्य कारणमें, स्थूल सूक्ष्ममें कार्य कारणभावकी जो कल्पना है वह ब्रह्ममें है और ब्रह्मकी अ यता भ्रा ति-सिद्ध है। द्रष्टाका ही नाम ब्रह्म है, जिसमें दृश्य है नहीं, वह बाधित है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस प्रथमसूत्रका शांकरभाष्य ही यह है कि जब हम विषय विषयीका विवेक करते हैं, तब वह तो युक्तिसिद्ध और अनुभवसिद्ध ही है, पुन 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' कहकर यह पोथा क्यों बनाया जाता है? इसके समाधानके लिए कहा गया "हम द्रष्टाको सिद्ध करने नहीं, उसे ब्रह्म बतानेके लिए वेदा त प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्म यानी अद्वितीय, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, जिसमें द्रष्टा-दृश्यका भेद नहीं है—ऐसी वस्तु बतानेके लिए हम वेदान्तको प्रारम्भ करते हैं।

'क्या हमारा प्रयोजन सिद्ध हुआ, हमारा कर्मसे कोई सम्ब ध नहीं, देह और उसके सुखीपन दु खीपनसे हमारा कोई सम्ब ध नहीं? तब तो हम सुख दु खसे छूट गये। फिर अपने आपको ब्रह्म जाननेकी क्या आवश्यकता?'

वेदान्त कहता है। तुमने द्रष्टाको दृश्यसे अलग करनेका जो विवेक किया, वह तो तुम पहलेसे ही द्रष्टा थे, तुमने शरीरसे अपना तादात्म्य क्यों कर लिया? दृश्य शरीरसे क्यों मिल गये? भोगकी प्राप्ति और कर्मकी प्राप्ति होनेपर जैसे तुम पहले मिल गये कि 'मैं जागता, सोता, सपना देखता हू' वैसे ही अब अलग हो गये हो। अभी तुम्हारे मनका कोई भोग सामने आयेगा तो पुन इस अन्त करणसे, दृश्यसे एक हो जाओगे। फिर अपनेको शरीर समझने लगोगे। अभी

तो तुमने जोर लगाया है कि 'मैं इससे अलग हूँ' पर मौकेपर यह अलगावकी दृष्टि काम नहीं देगी, धोखा दे जायगी। तुमने जिसे अपनेसे अलग समझ लिया, उसकी अपने स्वरूपमें सगति लगानी होगी कि यह मेरे स्वरूपसे जुदा भिन्न नहीं है अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा।

पिछले प्रकरणके अन्तमें शाङ्करभाष्यकी अन्तिम पंक्ति है।

कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृ-सहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टम् आत्मैकत्वदर्शनं शान्त-दर्पैं आदरणीयमित्यर्थं।

एक होती है कुतार्किक भेददृष्टि जिससे परमाणु, प्रकृति आदि सिद्ध किये जाते हैं। सांख्य वैशेषिककी दृष्टि कुतार्किक है। चार्वाककी नास्तिककुदृष्टि है। इन दोनोंको छोड़ हजार हजार माता-पितासे बढ़ी और हितैषिणी श्रुति है, वेद हैं। वे यह उपदेश नहीं करते कि देहसे पार्थक्य ही इष्ट है, अपितु यही उपदेश करते हैं कि "तुम जब देहसे पृथक् हो तो सम्पूर्ण विश्वसे जो पृथक् है, वही हो। तुम स्वयप्रकाश, सर्वाधिष्ठान हो और यह प्रपंच तुममें अध्यस्त है। द्रष्टामें दृश्य अध्यस्त नहीं होता। वह दृश्यसे अलग रहता है। जैसे दृश्य एक वास्तविक तथ्य है, वैसे ही द्रष्टा भी।

दृश्यको यों ही मत छोड़ दो, यह छोटी बात है। एक गाँवमें एक वैज्ञानिक आया। उसने देखा, घर-घरमें बगीचे लगाये हुए हैं। लोग उसकी सिंचाई करते हैं, खाद डालते हैं, कंकड़-पत्थर और घास निकाल फेंकते हैं, पेड़ पौधोंकी खुदाई करते हैं, उनकी कलम लगाते हैं। उसने कहा 'राम राम! विज्ञानको छोड़कर कृत्रिम उद्यानमें लग गये? क्या तुमने नहीं देखा कि जंगलमें बिना खाद, बिना खुदाई-सिंचाईके कंकड़-पत्थरोंमें भी पौधा उग आता है?'

लोगोंने कहा 'हाँ, होता अवश्य है। वहाँ तो खुदाई भी नहीं करनी पडती, खटाई भी नहीं करनी पडती, कतारसे लगाना भी नही पडता।'

वैज्ञानिक 'जैसा जगल प्राकृत बगीचा है वैसा ही अपने घरपर होने दो। बगीचा क्यों लगाते हो? यह तो बडा भारी परिश्रम है। जमीनसे कंकड पत्थर निकालना पडे, जमीनको नरम करना पडे, खाद डालनी पडे, खटाई सिचाई करनी पडे, बीज बोना पडे, पौधोको कतारसे लगाना पडे, उनका कुछ शृगार करना पडे, यह तो बिलकुल अप्राकृतताकी ओर जा रहे हो, विज्ञानकी ओर चलो।'

इस उपदेशसे गाववालोने बगीचेका खयाल छोड दिया। थोडे ही दिनो बाद वहाँ ऐसा जगल बन गया कि गाँवमे किसीके घर बगीचा नही रहा। उसमें बदर-भेडिये आकर बस गये। पेड-पौधोका कोई ढग नही रहा। थोडे दिनोमे बडे बडे गुलाबके फूल और आमके फल छोटे हो गये। इसी तरह मनुष्य-जीवन सस्कार-सापेक्ष है।

वेदान्त यानी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता। बदलनेवाले तर्क-वितर्कको 'वेदान्त' नहीं कहते। वेदके अन्तिम भागको 'वेदान्त' कहते हैं। उसमें एक प्रकरणको शङ्कराचार्यने बडा हितैषी बताया है। यह प्रश्न उठाया गया कि 'वेदान्तको कर्मकी आवश्यकता है या नहीं?'

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्। (ब्रह्मसूत्र ३ ४ २६)

वेदान्तदर्शनमें सर्वापेक्षाधिकरण प्रकरण है। वाचस्पति मिश्रने शाङ्करभाष्यपर 'भामती' टीका लिखी जिससे उनकी धर्मपत्नी भामतीका नाम चलता रहे।

काशीमें महाराष्ट्रके एक बडे प्रसिद्ध सन्त रहते थे। उन्होंने बडे-

बड़े ग्रन्थ लिखे। उनके खाने पीनेकी कोई व्यवस्था नहीं थी। बाजीराव पेशवासे जाकर किसीने यह बात कही। वे आये तो सन्तको बुरा लगा। उनके काममें बाधा पड़ी। उन्होंने उनका आदर किया। पेशवाने सहायताके लिए पूछा। पाणिनीय व्याकरणके एक सूत्रकी व्याख्यामें उन्होने लिखा 'तुम हमें मदद नहीं कर सकते। हमारा पेट रोज भरता है, नींद लेते हैं, कुटियामें रहते हैं। क्या सहायता करोगे?' ये महात्मा सब कुछ छोड़कर इसी प्रकार ब्रह्मचिन्तन करते थे।

एक महात्मा मीरसाई थे। शरीरपर कफनी पहनते थे। उसमें जुएं थीं, उन्हें निकालने लिए चरवाहोंको दे दिया और खुद उकडूँ बैठ गये, दो पैरोंके बीच सिर रखकर। नगे तो थे ही अचानक बच्चे हँसे और ताली पीटी।

वे सोचते थे : बादशाह आये हैं, हमें मिठाई मिलेगी! उन्होंने बच्चोंसे पूछा 'जुआं मिला?'

बच्चोंने कहा 'नहीं।'

वे बोले : 'तब क्या मिला?' फिर उकडूँ बैठे गये और पैरोंके बीच सिर छिपा लिया। बादशाह आये, दण्डवत् प्रणाम करके चले गये। फकीरने सिर नहीं उठाया, न उनसे बात की। इसतरह एकान्त-में परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करनेवाले निवृत्तिपरायण महापुरुष होते हैं।

वाचस्पति मिश्रने बताया : "हमारे जीवनमें एक बड़ा विभ्रम हो रहा है और वह है पापोंका फल। क्या विभ्रम है? हम अपवित्रको पवित्र, अनित्यको नित्य, दुःखको सुख, अनात्माको आत्मा समझते हैं। जीवनमें गन्दी वस्तु और गन्दे कर्मसे प्रेम करते हैं। हड्डी, मास, चाम

की गन्दी पोटलीसे प्रेम करते हैं। यह अशुचिमें शुचिबुद्धि होना पाप-का फल है। यह मरनेवाला है, पर समझते है कि कभी मरेगा ही नहीं, बूढ़ा नहीं होगा। मरनेवाले आदमीको मरते दमतक यह खयाल रहता है कि हम मरेंगे नहीं, जि दा रहेगे। यह अनित्यमें नित्यबुद्धि दु खमे सुखबुद्धि हो रही है। ससारमे जितने नाते रिश्ते जोडते और सम्ब धी बनाते है, उनका फल अन्तमें दु ख ही है।

यावत कुरुते ज तु सम्बन्धान मनस क्रियान।
तावत् तोऽय निखन्यन्ते हृदये शोकसेतव ॥

बच्चा हुआ, दुनियामें हमारा एक रिश्तेदार बढ़ गया? नही, दु खी होनेके लिए तुम्हारे कलेजेमे एक तीर और चुभ गया। जितने रिश्तेदार बढे उतनेही मरनेवाले बीमार होनेवाले, लडाई करनेवाले, विश्वास-घात करनेवाले बढ़ गये। बेटा आया तो तुम्हारी मौतसे लाभ उठाने वाला आ गया! यही विभ्रम है कि दु खमे सुखबुद्धि और अनात्ममें आत्मबुद्धि हो रही है।

यह विभ्रम कहांसे आया? हमने अपने जीवनसे पवित्रता त्याग दी है नहीं तो कौन हड्डी मास चाममे रहना पस द करेगा? जब मनुष्यके जीवनमे धमका सस्कार आता है तो वह देखता है कि लगोटी धोनेसे पवित्रता नही आती, बाल बनानेसे बाल खतम नहीं होते, थूकनेसे गंदगी पूरी नहीं होती, मूतनेसे मूत्र खतम नही होता। जब वह समझने लगता है कि गदगीमे, अनित्यमें, अनात्ममे, आत्मबुद्धि हो रही है, तो उससे छूटनेकी उसके मनमे इच्छा होती है। अधमके सस्कारसे वह इसमे बँधता है, और धर्मके सस्कारसे छूटनेकी आशा करता है। यही वैराग्य है, जो धमका फल है। गोस्वामी तुलसीदासने बताया है

धर्मसे बिरति बिरतिसे ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

धर्मात्मा मनुष्यके मनमें विचार आता है कि हमें पवित्र पैसा चाहिए, अपवित्र नहीं। धर्मका सुख चाहिए, अधर्मका नहीं। मनमें वैराग्य होनेसे छूटनेकी इच्छा होती है और फिर होती है छूटनेके उपाय की जिज्ञासा।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय।

अर्थात् जब उस परमात्माको जानोगे तभी मृत्युका अतिक्रमण होगा।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

'जो परमात्माको जानता है वह सर्व मृत्यु बन्धनों, क्लेशोंसे छूट जाता है।' वह यहीं अमृत हो जाता है। परमात्माके ज्ञानकी महिमा उसकी समझमें आती है। यदि तुम इस अपवित्रता, गन्दगी, मुर्दापन, अनात्मा और दुःखसे छूटना चाहते हो, जन्म मरणके चक्कर-से बचना चाहते हो तो अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करो।

आत्मसंवित् एकरूप, निर्विकार होती है। अन्तःकरणकी परिवर्तनशील वृत्तिसे आत्माको देखना चाहें तो नहीं देख सकते। हम ही अपने आपको देखें। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अन्तःकरणको लात मारिये। तुम देखनेवाले हो या देखे जानेवाले? हमारे शरीरमें जो औजार हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। इसका अभिप्राय यह कि अन्तःकरण, इन्द्रिय या स्वयसे भी चैतन्यको नहीं देख सकते। कारण तुम स्वयं हो, देखे जानेवाले नहीं। यह देखा जानेवाला क्या है? इसे बतानेके लिए लिए कौन-सा प्रमाण होना चाहिए? जो प्रमाणान्तरसे अनधिगत,

प्रमाणान्तरसे अबाधित और इन्द्रियोसे मालूम नहीं पड़ता, जिसके कारण ये इन्द्रियां देखती हैं।

येनेक्षते शृणोतीव प्रतिव्याकरोति च तत् प्रज्ञानमुदाहृतम्।

यह देखनेवाला क्या है? आँख नही बताती कि यह ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म इतना विशाल है, विशालता इसमे कल्पित है। ब्रह्म ऐसा नित्य है कि नित्यता इसमे कल्पित है। ब्रह्म ऐसा कारण है कि कारणता इसमे कल्पित है। तुम्हारी कोई इन्द्रिय, कोई करण इसे देखनेमें समर्थ नहीं। हम परमात्माको अपना विषय नही बना सकते। श्रुति कहती है 'आओ हम बताती हैं कि तुम कौन हो?'

जो बात किसी औजारसे नही मालूम पडती। वहाँ प्रमाणान्तरसे काम चलता है। इन्द्रियोसे अज्ञात अर्थका ज्ञापक परिमाण शब्द होता है। कौन-सा शब्द प्रमाण? जिससे 'त्व तत्'का भेद मिट जाय। अर्थात् जो अद्वयत्वका बोधक हो वही प्रमाण होगा। जिसमे दृश्यकी सत्ता नही हैं और जो वाक्य यह समझाता है कि आत्मा अनन्त है, आत्मा और दृश्य वस्तुमे नहीं हैं, एक है, वही प्रमाण है। यह बात भले ही विश्वकी किसीभी भाषाएँ बोली जाय, वह वाक्य यही कहे कि आत्मा ब्रह्म है और उसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

पहले तो ऋग्वेदमें यह बात आ चुकी है, इसलिए यह बात जो कोई भी कहेगा वह कहीं न कहीं पढ़कर ढूँढ़कर, सुनकर समझकर ही कहेगा क्योकि संस्कार उस वाक्यमे आया है। संस्कार न भी आये लेकिन उस वाक्यके समकक्ष वाक्य ऐसा हो जो आत्माकी अद्वयताका बोध कराये।

धर्मपालन मनुष्यको पवित्रताकी ओर अग्रसर करता है। तब देहमे अपवित्रता मालूम पड़ती है। उसे पवित्र समझकर उसमे फँसना

अधर्मका फल है। धर्मात्माकी पवित्रतामें रुचि होनेसे उसे इस अपवित्रतासे छूटनेकी इच्छा दृढ होती है।

वेदान्त ऐसा नहीं, जो मनुष्यको हड्डी मांस-चामकी गठरीमें ही बाँध दे और उसमेंसे छूटनेकी इच्छा ही न हो। जो इस परिच्छिन्न शरीरसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा दे, उसीका नाम वेदान्त है। उपाय मालूम हो गया कि आत्मज्ञान चाहिए। आत्मज्ञान हुए बिना इस अपवित्रतासे कभी नहीं छूट सकते। इसके लिए गुरुके पास जाना पड़ता है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।

गुरु भी अद्वैतार्थ बोधक वाक्य ही सुनायें। इसके लिए पहले श्रवण हो। संपूर्ण शास्त्रोंका तात्पर्य जानना ही 'श्रवण' है। उपक्रम-उपसंहारकी एकता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन षड्विधप्रमाणों द्वारा 'संपूर्ण वेदशास्त्रोंका तात्पर्य आत्माको ब्रह्म जाननेसे है' ऐसा निश्चय ही श्रवण है।

कभी-कभी संशय होता है कि आत्मा ब्रह्म है या नहीं? ज्ञानसे ही मुक्ति होती है या नहीं? होती है तो किस ज्ञानसे? इसी असम्भावनाका निवर्तक है 'मनन'। शास्त्रसे जो सिद्ध हुआ, वह युक्तिसे भी सिद्ध होना चाहिए।

देशका आश्रय परिपूर्ण, कालका आश्रय अविनाशी, द्रव्यका आश्रय सर्वकारण-कारण है। चेतन होनेसे विवर्ती है और इसीलिए अपना आत्मा है। इस प्रकारका ज्ञान देनेवाला और इस चेतनके सिवा किसी अन्य वस्तुकी असत्ता बताने तथा संशयको मिटानेके लिए मनन आवश्यक है।

किसी-किसीको संशय तो होता नहीं, पर अपनी देहको ही 'मैं' समझनेकी जीवनभरकी आदत पड़ी होती है। गीध-चील कितने ही

ऊँचा उड़े, आकर बैठते हैं मासके टुकड़ेपर ही। इसे कहते हैं 'विपरीत भावना, अध्यास, अभ्यास।' अध्यास तो केवल श्रवणसे ही निवृत्त हो जाता है, पर जीवनभरका अभ्यास निदिध्यासनसे निवृत्त होता है। तब प्रतिबन्धरहित होकर श्रवण सफल होता है, प्रतिफलित होता है और साक्षात्कारमयी वृत्तिका उदय होता है। इस प्रक्रियामें चार वृत्तियोंका क्रम है १ श्रवणवृत्ति, २ मननवृत्ति, ३ निदिध्यासन-वृत्ति और अन्तिम ४ अविद्यानिवर्तक साक्षात्कारमयी वृत्ति।

साक्षात्कार हो जानेपर जिस दृश्यको तुम पहले अपनेसे अलग समझते थे, जिस अनन्तताको परोक्ष जानते थे, वह दृश्य और वह परोक्ष अनन्तता भी अपना आपा हो जाता है। अब कभी विपरीत भावना आये तो भी कोई बाधा नहीं। तत्त्वज्ञान समझानेके लिए विभिन्न प्रक्रियाएँ काममें लायी जाती हैं। कठोपनिषद्के प्रथम और दूसरे अध्यायकी प्रथम वल्लीमें इसे समझानेके लिए अनेक प्रकारके उपाय हैं। अब दूसरी वल्लीमें और उपाय बताते हैं। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद् ब्रह्मण।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' आत्मजिज्ञासा नहीं, 'अथातो दृश्यजिज्ञासा' भी नहीं। ब्रह्म यानी देश-काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य। देशपरिच्छेदसे रहित परिपूर्ण और कालपरिच्छेदसे रहित अविनाशी तथा द्रव्यपरिच्छेदसे रहित अद्वितीय अपना आत्मा ही ब्रह्म है। कोई परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वितीय भी हो और कोई दूसरा भी हो, यह कैसे सम्भव है?

भूत भविष्य-वर्तमानकी कल्पना, पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिणकी कल्पना और वस्तुभेदकी कल्पना सर्वत्र, सर्वदा, सबमें है। 'मैं तुम'की

कल्पना कहाँ नहीं है? 'तू' और 'यह' की अपेक्षासे ही तुम "मैं" बोलोगे। वस्तु एक हो और परिणामी हो तो? सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित जो वस्तु है, वह दुर्विज्ञेय है। क्योंकि लोग जब उसमें अपनी-अपनी बुद्धि लगाते हैं तो वह वस्तु अनुभवसे ओझल रह जाती है, अनुभवरूप नहीं होती।

तब क्या किया जाय? 'पुनरपि प्रकारान्तरेण' फिर भी दूसरे प्रकारसे ब्रह्मतत्त्वका निश्चय करनेके लिए यह प्रसग प्रारम्भ करते हैं। एक औषधिसे रोग अच्छा न हो तो वैद्य-डॉक्टर लोग दूसरी औषधिकी व्यवस्था करते हैं। हजारों औषधियाँ निकलेंगी, पर सबका लक्ष्य एक ही होगा, रोगकी निवृत्ति। औषधिका फल स्वास्थ्य नहीं, स्वस्थता तो स्वत सिद्ध है। वह रोगके पहले भी थी, रोग आनेसे मात्र प्रतिबद्ध हुई है। औषधि खानेपर रोगकी निवृत्ति हो जानेसे स्वस्थताका स्फुरण स्वाभाविक है। इसी प्रकार स्वस्थता आत्मदेवका सहज स्वभाव है। अविद्याके कारण उसकी स्वस्थता जो प्रतिबद्ध हो गयी है, भ्रान्तिरूप उस प्रतिबन्धककी निवृत्तिके लिए ही ब्रह्मविद्याकी आवश्यकता पड़ती है।

धर्मके अनुष्ठानसे मनुष्यके मनमें पवित्रताके प्रति, उपासनाके अनुष्ठानसे पवित्र लक्ष्यके प्रति और योगके अनुष्ठानसे पवित्र स्थितिमें प्रीति होती है। पवित्रके प्रति प्रीति होनेसे अपवित्रतासे छूटनेकी इच्छा होती है और तब सद्गुरुकी शरण लेते हैं। फिर श्रवण मनन-निदिध्यासन करनेपर साक्षात्कारमयी वृत्तिका उदय होता है। किसी-किसीको श्रवणमात्रसे ही साक्षात्कार हो जाता है।

साक्षात्कार होनेपर प्रश्न होता है कि मनुष्य कर्म करेगा या नहीं? साक्षात्कार होनेपर नरकसे बचनेके लिए जो कर्म हैं, वे करना आवश्यक नहीं। अर्थात् प्रायश्चित्तात्मक कर्म न करने होंगे।

स्वर्गप्राप्ति या पुनर्जन्मसे बचनेके लिए जो कर्म होगा, वह भी नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि कर्मसे तो पुनर्जन्मसे बच नहीं सकते।

प्रश्न होगा महात्माके जीवनमे कर्म होगा या नहीं ?

समाधान है क्यों नहीं, शरीर होगा तो कर्म भी अवश्य होगा।

कैसा कर्म होगा ? अन्वय और व्यतिरेकसे विचार करनेपर "यह काम करनेसे लोगोंका भला होगा लोग सुखी होंगे, वे जन्मादिकी भ्रान्तिसे मुक्त या बद्ध हो जायेंगे, अमुक काम करनेसे उनका बुरा होगा—ऐसा निश्चय होता है। लोककल्याणके लिए अन्न वस्त्र, विद्या औषधि देकर उनकी सेवा और स्वर्ग नरकके विषयमे उनकी भ्रान्ति छूट जाय—ऐसा कर्म तत्त्वज्ञानीके शरीरसे आजीवन होता रहेगा।

'भामती'मे कर्मापेक्षाधिकरणमें भी बताया है कि शरीर रहनेतक तत्त्वज्ञानीसे लोकहितकारी कर्म होता रहेगा।

पुरमेकादशद्वारमजस्याऽवक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

उस नित्यविज्ञानस्वरूप अजन्मा [आत्मा] का पुर ग्यारह दरवाजोवाला है। उस [आत्मा] का ध्यान करनेपर मनुष्य शोक नहीं करता और वह [इस शरीरके रहते हुए ही कर्म-बन्धनसे] मुक्त हुआ ही मुक्त हो जाता है। निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

हाथ उठाकर, अभिनय करके बताते है 'एतद्'। अहपदके वाच्यार्थसे उपलक्षित वस्तु कौन है ? 'तत्' यानी जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण विवर्ती ब्रह्म।

यह कैसे हो सकता है ?

सर्वप्रथम ध्यान दें कि आप शरीर नही। यह शरीर तो एक नगर है, जिसके आप बादशाह हैं। नगरके कई अग होते हैं द्वार, द्वारपाल, अधिष्ठाता, अन्त पुर, पत्नी, मंत्री, पुत्र, खजाना, मालिक। ऐसे इस शरीर-नगरके ग्यारह दरवाजे हैं। उपनिषदोमे देहपुरीके द्वारोकी गिनती छहसे चौदहतक की गयी है। जहाँ जिस ढगसे समझाना होता है, वहाँ वैसी बात लिखते हैं। वेदान्त-दर्शनमे इसके लिए सूत्र ही है कि गिनती कुल कितनी चाहिए ? उत्तरमें सातकी संख्या बतायी है। एक अधिकरणदर्शन वेदान्तका है। ब्रह्मसूत्र पढ़े बिना और शाकरभाष्य वेदान्तदर्शनका अभ्यास किये बिना वेदान्त पूरा नही होता। ब्रह्मसूत्र भी उपनिषद् पढकर पढना चाहिए, क्योकि उसमे उपनिषद्के अर्थका ही निणय है। अतएव पहले उपनिषद् और गीता पढकर ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-दर्शनका स्वाध्याय किया जाता है।

केवल इतना ही प्रयोजन नही है कि हमे दु ख न हो। वह तो क्लोरोफॉर्म सूँघनेसे भी हो सकता है, एक इञ्जेक्शन लगवा देनेसे भी हो सकता है। काम क्रोध और होशको ठंडा कर दे, ऐसे इञ्जेक्शन भी हैं। इस ज्ञानभागमें अविद्या और मृत्युकी निवृत्ति प्रयोजन है। सत् होनेसे मृत्युकी, चित् होनेसे अविद्याकी और आनद होनेसे दु खकी निवृत्ति प्रयोजन है। तत्त्वज्ञान तीनोको एक साथ निवृत्त कर देता है।

इस देहपुरमे ग्यारह दरवाजे हैं ऊपर सात और नीचे नाभिसहित तीन। एक ब्रह्मरध्र है। यहाँ ध्वनि भी सुनायी पडती है।

मेरे पिताजीकी मृत्यु दो सौ, ढाई सौ लोगोकी उपस्थितिमे

गगाकिनारे हुई। जब निश्चय हुआ कि अब नही बचेगे तो श्रद्धालु पितामह उन्हे जीवित ही पालकीमे उठाकर गगाकिनारे ले चले। गगाजीकी ओर सिरकर सुला दिया गया। उनका सिर फटा। कई सौ आदमियोने देखा, कोई वस्तु सिरसे निकलकर गगाजीमे गिर पडी।

नाभिद्वार, मलद्वार, मूत्रद्वार, दो कान, नाक, दो आँखे, मुह ये सब इन्द्रियाँ द्वारपाल है। इनके अधिष्ठाता है देवता।

अजस्यावक्रचेतस। इसमे एक अजन्मा रहता है, जिसका शरीरके जन्म-मृत्युसे जन्म मृत्यु नही होते। स्वय कालचक्रसे परे होनेपर भी अजन्मा जैसा हुआ है। शरीरके भीतर अजन्मा! शरीरका जन्म हुआ तो अलग हुआ न?

सङ्घातस्य परार्थत्वात्। जो वस्तु कई पुर्जोके जोडनेसे बनती है वह अपने लिए नही, दूसरोके लिए होती है। जैसे मोटर है वैसे ही हड्डी-मास-चाम। यह नैयायिकोका अनुमान नही है। दुनियामे यह देखनेमे आता है कि जो वस्तु कई पुर्जोसे गठित होती है, वह अपने लिए नही, औरोके लिए होती है। अनेक वस्तुओसे बने इस शरीरमे उसका मालिक अजन्मा है। अजन्मा कहनेसे यह सिद्ध होता है कि वस्तुत वह देश, काल और कर्मके अधीन नही है।

उसका ज्ञान अजन्मा है। चेत = ज्ञान। जब मेघमे सूर्यकी किरणोका वक्रीभवन होता है तब वह रंगीन होता है, फूलमे भी वही रगीनपन है। गुलाबमे सूर्यकी लाली ही चमकती है। सूर्यकी किरणें वस्तुमे टेढी हो जाती हैं और उसके उपादानभूत रग वक्री-भूत दिखाते हैं। यह आत्मदेव पशु-पक्षी, मच्छर पौधे, स्त्री पुरुष

सबमें जाकर वक्र नहीं हुए, इस कारण वे स्वयं पशु-पक्षी आदि भी नहीं हुए। वक्रचित्तका व्यक्ति तरह-तरहके रूप बनाकर लोगों-को ठगता है, किन्तु आत्मदेव सरल-चित्त हैं। इनके चित्तमें कोई टेढ़ापन नहीं है। 'गंगा गये गंगादास और जमना गये जमनादास' ऐसे ये नहीं बन जाते। वे सब इन्द्रियों, अन्तःकरणों और प्राणियोंमें रहकर ज्यों-के-त्यों रहते हैं। इसलिए इसे 'अवक्रचेता' कहते हैं। सूर्यकी किरणें बादलमें आकर रंगीन दीखती हैं, रंगीन होती नहीं। अन्तःकरणकी परिणाम-वृत्ति बदलती रहती है, किन्तु किसीके बदलनेसे आत्मा बदलता नहीं, इसका विज्ञान एकरस है।

राजा ऐसा ही होना चाहिए। रानी, मंत्री, सेनापति, प्रजा, पुत्र सब राजाके अनुकूल चलें और अपनेपर राजाका सबसे अधिक प्रेम है, ऐसा समझें। आनुकूल्यका भाव हो। जो कुटिल नेत्रसे किसीको न देखे, सबपर अपना वरदहस्त रखे, वही 'राजा' है।

यह आत्मदेव जन्मादि भावविकारोंसे रहित हैं। आत्माके बिना मुर्दा भी नहीं होता। ये जीवित रहनेवाले लोग समझते हैं कि शरीरमें रहनेवाली एक चेतना, होशका नाम आत्मा है। ये बेहोशीके साक्षीको आत्मा बोलते हैं। गाढ़ सुषुप्ति, समाधि या बेहोशीमें जो उन्हें एकरस देखता रहता है, वह क्या हर शरीरमें अलग होता है? नहीं!

सन् '४२ में एक छोटी आयुके बालकने सत्संगमें आना आरम्भ किया। वह हमारे पास आता था। उसके माँ-बाप कट्टर वेदान्ती थे। अब तो वह दूकानदार हो गया है। माँ निर्मलानंदजी-के आश्रममें कर्णवासमें रहती है। वह लड़का कोई बात नहीं सुनता था। उसेसे कोई पूछे: 'तूने मिठाई क्यों खा ली?' तो कहता: 'मैं खानेवाला थोड़े ही हूँ? मैं द्रष्टा हूँ।'

कोई पूछे 'तूने स्कूलमे बदमाशी क्यो की ?' तो बोलता 'मैं तो द्रष्टा हूँ।'

• उसका बाप तमाचा मारता और फिर पूछता 'अब।' तो भी वह बोलता 'म द्रष्टा हूँ। मुझे घाव नही लगता।'

कोई पूछे 'तू रोता है ?' तो कहता 'मै रोता थोडे ही हूँ ? म तो द्रष्टा हूँ।'

उसके सामने किसीकी कोई बात नही चलती थी।

विपिनबाबू मिश्रजीने उसे पास बिठाया और पूछा 'तुम तो चोरी बदमाशी, रोने-हँसनेके द्रष्टा हो। मै क्या हूँ ?'

वह बोला 'तुम भी द्रष्टा हो।'

'अच्छा, तो एक द्रष्टा तुम हुए और एक मैं। दो द्रष्टा हुए या नही ?'

वह बोला 'हाँ, जितने शरीर, उतने द्रष्टा।'

विपिनबाबूने कहा 'अब तुम फेल हो गये। क्योकि द्रष्टाको अनेक मानना किसी भी युक्ति या अनुभवसे सिद्ध नही हो सकता।'

योग और साख्यमे चित्तकी निरोध दशामे तो द्रष्टा है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध । तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।

चित्तवृत्ति निरुद्ध होनेपर द्रष्टा वृत्तिसे तादात्म्यापन्न न होकर उसे देखता रहता है। फिर भी अन्त करण अनेक है। कोई अन्त - करण विक्षिप्त होता है, कोई मूढ तो कोई शान्त। जितने अन्त - करण उतने ही द्रष्टा, यह बात योगदर्शनमे मानी गयी है। जन्म-मरण और अन्त करण जैसे एकके सुखी-दु खी होनेपर सब सुखी

या दुःखी नहीं होते। इसलिए द्रष्टा अनेक हैं। जब हम व्यवहारमें आते हैं तब **वृत्तिसारूप्यमितरत्र**। निरुद्धदशासे अतिरिक्त दशामें हम वृत्तिसे एक हो जाते हैं। अर्थात् वृत्ति गदहेके आकारकी तो द्रष्टा भी गदहेके आकारका।

सांख्यदर्शन कहता है : चाहे वृत्ति निरुद्ध हो या विक्षिप्त, दोनों दशाओंमें द्रष्टा द्रष्टा ही रहता है।' फिर भी द्रष्टा अनेक हैं, यह सिद्धान्त सांख्य भी मानता है।

वेदान्तमें इस प्रसंगको बहुत अच्छे ढंगसे 'शुचिपद् अन्तरिक्ष-षद्'में समझाया गया है। 'त्वं'पदके लक्ष्यार्थको ही द्रष्टा कहा गया है। वेदान्तका प्रयोजन केवल दुःखनिवृत्ति नहीं। योग और सांख्य-में चित्तकी निवृत्ति ही प्रयोजन है, परमानन्द नही। चित्त निरुद्ध हुआ तो सुख-दुःखसे बचनेकी प्रणाली द्रष्टाके अपने स्वरूपमें अव-स्थानसे है। द्रष्टा जितनी देर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाय उतनी देरके लिए दुःख, अशान्तिकी निवृत्ति हो जाती है। लेकिन वेदान्त दुःखकी निवृत्तिके सिवा परमानन्दकी प्राप्ति भी कराता है। **सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु** में दुःखसे रक्षा और परमानन्दका अभ्युदय दोनों है। वेदान्त जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख मानता है, मरनेके बाद मुक्त होनेकी बात नहीं' **विमुक्तश्च विमुच्यते**। जिस समय आपको यह ज्ञान होगा, उसी समय आप यह जान जायँगे कि पहलेसे मैं मुक्त था, मुक्त हूँ और मुक्त रहूँगा। शरीरके साथ इसका कोई संवन्ध नहीं, चाहे हम द्रष्टाभावमें रहें। मुक्ति अपना निजस्वरूप है। इस प्रकार वेदान्तदर्शनका मूल प्रयोजन है परमानन्दकी प्राप्ति और जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख।

वेदान्तका द्रष्टा एक शरीरमें रहकर एक शरीरका नहीं, पूर्ण जगत्का द्रष्टा है। शंकर-सम्प्रदायके 'अद्वैत'के अनुसार वेदान्त

पूछता है "यदि तुमने अपनेको दृश्यसे पृथक् जान लिया तो दृश्य क्या है ? यदि कहो कि 'हमे दृश्यसे क्या काम ? वह चाहे भाडमे जाय' तो तुम दृश्यके बारेमे अज्ञान स्वीकार करते हो। अपनेको द्रष्टा भी जानना और दृश्यके बारेमे अज्ञान स्वीकार करना, यह वेदान्तका सिद्धान्त नही।

वेदान्तके सिद्धान्तमे तीन बातें सिद्ध नहीं होती (१) अपनी मृत्यु, (२) अपनेमे अज्ञान और (३) अपनेमे दु ख। क्योकि जिसमे सत् है उसमे मृत्यु नही, चित् है उसमे अज्ञान नही, आनन्द है उसमे दु ख नही। यदि तुम अपने स्वरूपमे अज्ञानको स्वीकृति देते हो कि "दृश्य क्या है, कहांसे आया है, कहां जायगा, यह हम नही जानते, वह चाहे कुछ भी हो" तो यह दृश्यके बारेमे अज्ञानको स्वीकृति देना है।

वेदान्तका प्रारम्भ ही इस बातसे है कि 'एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान' होता है। तुम द्रष्टाको तब ठीक ठीक जान सकोगे जब दृश्यको भी ठीक-ठीक जान जाओगे। वेदान्तकी यह प्रतिज्ञा है **एकस्मिन विज्ञाते सर्व विज्ञात भवति**। एक ऐसी वस्तु है जिसके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्।

(ब्रह्मसूत्र १ ४ २३)

'प्रकृति' ब्रह्मका ही नाम है, किसी दूसरी वस्तुका नही। जैसे ब्रह्मके हजारो नाम ह, वैसे प्रकृति भी उसका एक नाम है, क्योकि प्रतिज्ञा है 'एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है।' यदि दृश्य द्रष्टासे पृथक् होगा तो उसका अवरोध हो जायगा।

'प्रतिज्ञादृष्टान्तोपरोधात्' एक लोहे, मिट्टी या सोनेके ज्ञानसे

सभी लोहा, मिट्टी और सोनेका ज्ञान हो जायगा, यह दृष्टान्त झूठा पड जायगा और दृश्य द्रष्टासे पृथक् रह जायगा तो प्रतिज्ञा झूठी पड जायगी। उसे दृश्यके बारेमें अज्ञान रह जायगा। इसलिए वेदान्तका ज्ञान पूरा कहाँ होगा? देश-काल-वस्तुको विविधता और उनका बीज—यह सारा-का-सारा जब बाधित हो जायगा, तब न दूसरा द्रष्टा रहेगा, न दृश्य, न ईश्वर। दृश्यमें देश-काल-वस्तु तीनोका समावेश है। यह सजातीय भेद है। द्रष्टासे द्रष्टाका भी सजातीय भेद है। ईश्वरचैतन्य होनेके कारण द्रष्टा और ईश्वरमे सजातीय भेद है। दृश्यका द्रष्टासे विजातीय भेद है। द्रष्टाका परिणामी होना स्वगतभेद है।

वास्तवमें द्रष्टा न तो परिणामी होता है, न एक द्रष्टाके सिवा दूसरा द्रष्टा होता है, न द्रष्टाके सिवा ईश्वर है, न दृश्य है। जिससे पहले तुमने अपनेको अलग किया था, वह तो विवेकके लिए किया था। वह तो तुम्हारे सिवा है ही नहीं। इसलिए पचदशीकारने वेदान्त और सांख्यका सामजस्य बताते हुए कहा है

> जीवभेदो जगत् सत्य ईशोऽन्य इति चेत् त्रयम्।
> त्यजते तैस्तदा साख्ययोगवेदान्तसम्मति ॥

अर्थात् तीन बातें यदि साख्यवादी और योगवादी छोड दें तो उनका मत वेदान्तसे मिल जाता है। वे हैं (१) जीवकी अनेकता। जीव = द्रष्टा अनेक हैं। (२) दृश्यकी सत्यता, दृश्य सच्चा है। (३) ईश्वरकी अन्यता—द्रष्टासे अन्य परोक्ष कोई ईश्वर है। ये तीनो छोड दें तो द्रष्टा अद्वय ब्रह्म है, यह ज्ञान होगा। वेदान्तकी विशेषता इसे 'अवक्र-चेता' बतानेमे है। आगके कोयलेमे भी यही है और प्रकाशमान सूर्यमें भी यही। वह न

सूर्यके प्रति वक्र है, न कोयलेके प्रति। कोयलेसे विलक्षण होकर कोयलेके रूपमे प्रतीत होकर कोयलेकी आत्मा है, वैसे ही सूर्यसे विलक्षण होकर सूर्यके रूपम प्रतीत होकर सूयकी आत्मा है।

मै ध्रागध्रा गया था। सुरेन्द्रनगरसे कॉलेजके लडके मुझे मिलने आये। वे लोग एम० ए० पास थे। उन्होने पूछा "महाराज, अन्नम कट कैसे दूर होगा ?"

मैने कहा "उत्पादन बढानेसे।"

वे बोले "आप अपनी तपस्याकी शक्तिसे दुनियामे अन्न नही बढा सक्ते ?"

मैने कहा "हमारी शक्ति अवैज्ञानिक ढगसे नही, वज्ञानिक ढगसे काम करेगी। तुम लोग जवान हो, वह तुम्हारी शक्तिको सिचाई और खाद डालनेके काममे लगायेगी। इसी रूपमे हमारी शक्ति काम देगी।"

वे बोल "महाराज, शक्ति तो कुछ विलक्षण होती है।"

मै "जब कोई स्त्री हमारे पास आये और कहे कि 'महाराज, हमे बेटा हो जाय, तो क्या हम ऐसा आशीर्वाद दे सकते है कि बिना पुरुषके सयोगके ही बेटा हो जाय ? हमारा आशीर्वाद काम करेगा तो वह भी वैज्ञानिक रीतिसे ही, नही तो नही।"

कोई कहे कि हम किसीका मुँह देखना चाहते ह तो हम पहले उसे आँख देंगे, तब न वह मुह देखेगा ? अर्थात् मुह देखनेके लिए आँखका होना आवश्यक है।

इस शरीरमे स्वातत्र्य क्या है ? **तत्सत्ताप्रतीतिमन्तरेण सत्ताप्रतीतिमस्य स्वातन्त्र्यम्।'** रानी, मन्त्री, सेनापति, राजकुमार चाहे हो या न हो, और राजा ज्यो-का-त्यो है। सब बदलते है,

पर वह नही बदलता। वहाँ तो शोक-मोहकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्द ही परमानन्द होता है।

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते।

जो देहका राजा है, वही सम्पूर्ण सृष्टिका राजा है। वह न कर्ता है और न भोक्ता। न ससारी है और न परिच्छिन्न। 'अनुष्ठाय' यानी जरा इसके अनुष्ठानमे लगो। जरा इस शरीरके पीछे खडे हो जाओ। अनु=पश्चात् स्थाय=स्थित्वा। समासार्थ मे 'अनुष्ठाय' है, अलग होनेपर 'अनुस्थित्वा'।

एक ऐसा अनुष्ठान तुम्हे बताते ह, जिससे शोककी निवृत्ति हो जाय। शोक कौन करता है ?

अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिता ॥

तुम्हारी सारी प्रज्ञा, विद्या-बुद्धिका फल है कि तुम अपनेको शोकसे बचा लो। यदि शोकसे बचानेकी विद्या तुम्हें नही आयी, दिनभर सत्तर बार शोकमें डालनेवाली विद्या तुमने सीखी तो क्या सीखा ?

महाभारतकी गायत्री (भारतसावित्री)मे श्लोक है

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥

दिनभरमे हजार बार दु खी होना। भय-आशका है तुम्हारे सिरपर सवार, यह तुम्हारी दीनता, मूढताका लक्षण है। देह और देहके सबन्धियोमे अत्यन्त मोहग्रस्त हो जानेके कारण सत्यधर्म आत्मा-परमात्माका ध्यान नही रहा। मोहके सामने जो वस्तु है,

सो तो दीखती है, पर मोह किसे हो रहा है, यह मालूम नही पडता। मोहमे परमात्मा छूट गया है।

तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ।

एक बार देख लिया कि हर हालतमे एक ही है।

एक साधु जगलमे रहते थे। शिष्य भी साथ था। गाँवसे उनके लिए दूध आता था। एक भक्तने आकर कहा 'महाराज, रोज गाँवसे दूध लाना पडता है, बडा झझट है। हम एक गाय यहाँ देते हैं। रोज चारा देंगे तो यही दूध मिल जायगा।'

साधु बोले 'अच्छा, जैसी तुम्हारी मौज।' गाय आयी, चारा आने लगा, दूध दुहने लगा, वे रोज दूध पीने लगे।

एक रात गुरु चेला सो जानेपर चोर गाय बछडेको खोलकर ले गये। दूसरे दिन सुबह चेलाजी उठे तो रोने लगे 'हाय हाय, गाय चली गयी, बछडा भी चला गया।'

उसने जाकर गुरुजीसे कहा 'महाराज, गायकी तो चोरी हो गयी।'

गुरुजी बोले 'अरे भाई, गाय गयी तो उसको चराना, बाँधना, पानी लाना, भूसा खली और हरी घास खिलाना, गोबर पाथना, मूत्र साफ करना सारा झगडा मिट गया।'

शिष्य 'गाय आयी तब तो बडी मौज थी।'

गुरु 'गाय आयी तब दूधकी बडी मौज थी, नही है तो इस इल्लतसे छूटनेका मजा है। दोनोमे मौज ही मौज है।'

एक दिन एक सज्जन आये तो मैने पूछा 'क्यो, मौजमे हो ?'

वे बोले 'क्या कहे स्वामीजी, मौज तो मर गयी।'

मैंने कहा 'साधुओमे यह रिवाज है कि जब कोई मर जाता है तो घण्टा-घडियाल बजाकर उसे स्मशान ले जाते हैं। संकीर्तन करते हैं, नाच-गान-उत्सव होता है। यदि तुम्हारी मौज मर गयी तो मनाओ उत्सव, बजाओ घण्टा-घडियाल कि मौज मर गयी !'

वे हँसने लगे। फिर कोई बोला 'मौज फिर जी गयी !'

साराश, ये दुनियादार लोग दिनभरमे सौ बार अपनी मौजको मारते-जिलाते हैं।

जो मूड (Mood)के वशमे हो जायगा उसका क्या जीवन है ? तुम जब यह जान लोगे कि यह सम्पूर्ण विश्वप्रपच परमेश्वरका शरीर है और यह ग्यारह इन्द्रियोवाला शरीर मेरा शरीर है तथा दोनो शरीरोंकी स्थूलतासे अलग होकर देखें तो आत्मा, परमात्मा एक है। एक अखण्ड वस्तुमे प्रपच नामकी कोई वस्तु ही नहीं है

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य । (ब्रह्मसूत्र २ १ १४)

तब ? अनुष्ठाय न शोचति। शोक किस बातका ? 'यों भी वाह वाह, वों भी वाह वाह !' जिधर देखो, उधर परमात्मा ही परमात्मा है।

'अनुष्ठाय'का अथ है थोडा अपने आपको दृश्यसे अलग करो। काय-कारण भी झूठा है। वह भी दृश्यमे ही होता है। घडा कार्य है और मिट्टी कारण, यह बात किसको मालूम होती है ? जिसे घडेकी पूर्वावस्था मालूम है उसीको।

अदृश्यकी सिद्धि नहीं, दृश्यके बिना द्रष्टाका कोई कारण नहीं, दृश्यमे कोई कार्य नहीं, दृश्यका कोई कर्ता नहीं। तीनो बातें कहाँ जायँगी (१) दृश्य मुझसे न्यारा है। (२) कोई दूसरा द्रष्टा

मुझसे न्यारा है, और (३) कोई दृश्यका बनानेवा
न्यारा है।

वेदान्ती दृश्य या प्रपंचके बाधपर अधिक जोर देर
प्रपंचके बाधपर जोर नही देता, वह योगी या साख्यी
है। वह जैन-मतावलबी है। वह जैन मतावलबी
सकता है। ये तीनो या द्वैत मतवादी हो सकते है, किन्तु
अद्वैतवादका अभिप्राय प्रपच बाध होकर ब्रह्मसे एक
इसका तात्पर्य हुआ, प्रपच अज्ञानसे ही सिद्ध है। जो वस्तु
सिद्ध होती है, वह वस्तुत नही होती और जो ज्ञानसे नि
है, वह भी वस्तुत नही होती। वेदान्त कहता है कि
दोनो अज्ञानसे सिद्ध और ज्ञानसे निवृत्त होते हैं।

भागवतमे दो स्थानोपर यह बात आयी है कि संन्या
काल उठकर क्या चिन्तन करे? सातवें स्कन्धमे नारदने
को आश्रमधमका उपदेश किया है और श्रीकृष्णने
आश्रमधर्मका उपदेश किया है।

-पद्य बन्ध च मोक्ष च मायामात्र न वस्तुत ।

यह जो सोचा जाता है कि हम सृष्टिमे बँध गये है
चेलोके सिवा नही रह सकते, सेवक-स्वामी, इस कु
शरीरके बिना नही रह सकते, यह सब झूठा है। मोक्ष तो
स्वरूप है। अज्ञानसे बधन है, ज्ञानसे मुक्ति होती है अथ
अपना स्वरूप है। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है।

श्रीमद्भागवतमे कहा गया है

अज्ञानसज्ञौ भव बधमोक्षौ,
द्वौ नामनाम्यौ स ऋतज्ञभावात् ।

तुम अपने ही भावमे बँधे या मुक्त हो। वस्तुत

मोक्ष दोनों अज्ञानके ही भाव हैं। आत्मविद् पुरुषको भावके सिवा न तो बंधन है और न मोक्ष।

ज्ञानके बाद ध्यान सभी संप्रदाय (विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय, द्वैताद्वैत-सम्प्रदाय, द्वैत-सम्प्रदाय, विशुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय, वैष्णव-शैव-शाक्त-गाणपत्य-सौर्य सम्प्रदाय) मानते हैं। किन्तु अद्वैत-वेदान्तमें ज्ञानके बाद ध्यान नहीं माना जाता। ज्ञान तो प्रमेयका प्रत्यक्ष है। घड़ीको घड़ी जान लिया तो घड़ीका ध्यान करना आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार जब अपने आपको परमात्माके रूपमें पहचान लिया तो एक सत्य है, उसका साक्षात्कार होता है। अतः ज्ञान ध्यानका अंग नहीं।

श्रीशङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्रपर 'भाष्य' लिखा तो श्रीसुरेश्वरा-चार्यने कहा : 'हम इसपर 'वार्तिक' लिखेंगे, "वेदान्ताचार्य वार्तिकावली।" इसके बाद जो वेदान्तके ग्रन्थ लिखे गये, वे **अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकाश** के समान हैं। वे वार्तिक बनानेको तैयार हुए तो हस्तामलकाचार्य और पद्मपादा-चार्यने कहा : 'जब कुमारिलभट्टके ये कर्मकाण्डी शिष्य वार्तिक लिखेंगे तो आपके शुद्ध भाष्यमें कहीं-न-कहीं कर्मका पंख लगा देंगे, योगका कोई-न-कोई संबंध जोड़े बिना नहीं रहेंगे, क्योंकि कर्तापनका इनका संस्कार बड़ा प्रबल है।' जिसका बचपनसे दूकानदारीका स्वभाव हो उसका बादमें भी वह नहीं छूटता। **चोरी छूटी पर तूंबाफेरी नहीं छूटी**। जिन लोगोंको संसारका संस्कार है, वे परमार्थमें उसे घुसेड़ ही देते हैं।

श्रीशङ्कराचार्यने कहा : "वार्तिक तो बादमें लिखो। उसके पहले वेदान्तका सार बतानेके लिए एक ग्रन्थ लिखो। हम

देखेंगे कि वेदान्तका सार ठीक-ठीक तुम्हे बुद्ध्यारूढ हो गया या नहीं ?"

तब सुरेश्वराचार्यने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' लिखी, किन्तु बोध-परीक्षार्थं "आत्मविन्निकषास्मषु।" उन्होने लिखा ही है कि "ससारके जो तत्त्वज्ञ पुरुष है, वे कसौटी है और वे मेरे सोनेकी परीक्षा करे कि सोलहो आने सच्चा है या नही ?" उसमे उन्होने सिद्धान्तका निरूपण किया है।

तत्त्वज्ञान अन्तर्देशमें रहता हो, बहिर्देशमे नही ऐसी बात नही। उसमे दोनो देश बिना हुए ही भास रहे है। आप बता सकते है कि वतमान क्या होता है ? सारे वैज्ञानिक सस्कारको यह चुनौता है। वेदान्त कोई प्राचीनकालकी वस्तु नही, सत्य-वस्तु है। पुराने कालकी ही है तो वर्तमानकाल क्या होता है ? कलका दिन बीत गया, झूठ हो गया, कलका दिन आनेवाला है और आजका दिन वर्तमान है। आजके दिनमे सवा आठ घण्टे बीत गये, बाकी आनेवाला है। एक मिनट वतमान है। एक मिनटमे २५ सेकेण्ड बीत गये, बाकी आनेवाला है। एक सेकेण्ड वतमान है। मशीनसे एक सेकेण्डके हिस्से कर लो। एक अरबमे कितना बीता, कितना बाकी है। साराश, वतमान केवल भ्रान्ति है। भूत-भविष्यके मिश्रण यानी सधिकी भ्रान्तिको ही 'वतमान' कहते हैं। जहाँ वतमान ही सिद्ध नही हुआ, वहाँ बीता क्या और आयेगा क्या ?

कोई कहते हैं कि 'तुम इस दिनमे, इसी मिनट या सेकेण्डमे रहो ?" तुम कालके कल्पित अवयवका ध्यान करनेके लिए अवतीर्ण हुए हो ? एक तो पहले अपनेमे कालकी कल्पना की और फिर कालमे मिथ्या अवयवकी—भूत भविष्य-वतमानकी कल्पना

की। अब भूत-भविष्य-वर्तमानके मिथ्या अवयवमें हम टिक रहे हैं जहाँ तुम टिक रहे हो, वही मिथ्या है तो जहाँ तुम टिकोगे, वह क्या सच्चा निकलेगा? काल तो दृश्य है, मनकी स्फुरणा है। कालमें भूत-भविष्य-वर्तमान नहीं और न संधि या मध्य है। कालमें टिकोगे कैसे? गंगाजी बह रही हैं और तुम उसके एक बुलबुलेमें टिक रहे हो?

वास्तवमें यह स्थिति देहमें "मैं" माननेका परिणाम है। यह देश जिसमें भास रहा है, वह तो हम स्वयं हैं। यानी लम्बाई-चौड़ाई समग्र और काल यानी भूत-भविष्य-वर्तमान जो बिना हुए ही भास रहे हैं। भूत-भविष्य-वर्तमान होता नहीं, क्योंकि भूतकी आदि नहीं है, भविष्यका अन्त नहीं है, दोनो के बीच वर्तमान नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। देशमें कोई अन्तर्देश, बहिर्देश, अन्तरालदेश नहीं है। तुममें कोई कार्य-कारणभाव नहीं है। कार्यमें करण-कारण दोनों है। द्रव्यमें न निमित्तकारण है, न उपादानकारण। कार्य-करण-कारण भावरहित किसी कल्पित वस्तुमें स्थित होना यानी जिस कल्पनामें देश-काल-द्रव्य भास रहे हैं, वह कल्पना कालका अधिष्ठान होनेसे अविनाशी देशका अधिष्ठान होनेसे परिपूर्ण और द्रव्यका अधिष्ठान होनेसे अद्वय है, स्वरूप होनेसे चैतन्य है। ऐसा जो अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वय, अखण्ड चैतन्यस्वरूप है, वह तुम्हारा सिद्ध-स्वरूप है। वह ध्यानिक नहीं है। ध्यानिक तो तुम्हारा बेटा है। ननद, नानी, बेटा ध्यानिक है। इन्हें तुमने ध्यान करके बनाया है। इन्द्र भी ध्यानिक हैं। मनुने कहा है:

सर्वं ध्यानिकमेवास्य यदे तदविशब्दितम्।

गोलोक-साकेत ध्यानिक हैं। तुम्हारा ब्रह्मपना, अनन्तपना

ध्यानिक नही, यह सिद्ध स्वरूप है। इसलिए यदि तुम्हारे मनमे एकबार अपने ब्रह्मपनेका ज्ञान होकर अज्ञान निवृत्त हो जाय, उसके बाद कभी ब्रह्मपनेका ध्यान न हो, दिमाग पागल हो जाय तब भी मुक्तिमे कोई बाधा नही।

न शोचति, विमुक्तस्य विमुच्यते।

जो बद्ध होता है वह मुक्त नही होता। जो मुक्त होता है वही मुक्त होता है। घर-गृहस्थी का जीवन कैसा होना चाहिए, यह हम जानते ह। पतिको पत्नीकी इच्छा पूरी करनी चाहिए। उसके साथ मुस्कराकर बातें करनी चाहिए। हमने सध्यावदन, प्राणा याम किया है। हाथमे जल लेकर मार्जन किया है, नाक दायी पहले दबायें या बायी, यह जानते है, गोबरकी गौरी और सुपारी-के गणेशका अध्यारोप-अपवाद किया है। सैकडो दुर्गापाठ किये है। तुम लोग आँख बंदकर परमेश्वरको बनाते हो। बहुत दिन तक बना चुके, अब छोडो। अपनेको भी बनना छोडो। यह बनाने बिगाडनेकी वस्तु नही, यह कुछ और ही है। यह प्रमाण-सिद्ध वस्तु है।

एक ने कहा 'क्रम मुक्ति होती है। पहले यहाँसे ब्रह्मलोकमें जाओ, वहाँ पहले अपनी उपासनाके जो फल है, वह भोगो। वहाँसे ब्रह्माके पास जाओ। सालोक्य मुक्ति का अर्थ है, प्यारेके राज्यमे प्रजा होकर रहना। सारूप्यमुक्ति यानी प्यारेके गलेकी माला बन जाना, जेवर आदि बनकर उनके अगसे सटना। सायुज्यमुक्तिका अर्थ है, दूध-पानीकी तरह मिल जाना, जीव ईश्वर एक हो जाना। इसी तरह मुक्तिके अन्य भी कई प्रकार गिनाये जाते है सार्ष्टी, सद्योमुक्ति, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति।

हे भेदके संस्कारी जीव ! तू मुक्तिको क्यों गदी बना रहा है ? मुक्तिमे भेदकी कल्पना क्यो ? मनमे भेदके संस्कारके कारण योगमे मुक्ति मानी जाती है। चित्तका निरोध हो गया, द्रष्टा अपने स्वरूपमे अवस्थित हो गया, अन्यताकी ख्याति हो गयी, तो कैवल्यकी मुक्तिकी प्राप्ति हो गयी।

साख्यमे मुक्तिका स्वरूप है विवेककी ख्याति। अर्थात् हम दृश्यसे न्यारे द्रष्टा हैं, भले ही द्रष्टा हजार हो, उनसे हमारा कोई मतलब नही, हम मुक्त हो गये।

शैव-मतवादी इष्टदेवसे एक होनेको मुक्ति मानते ह। पीपलकी पूजासे लेकर हिरण्यगर्भकी पूजा उपासनापर्यंत मुक्ति माननेवालोके मतभेद हैं। लेकिन अद्वैत-वेदान्त इन सब झगडे-बखेडोका वर्णन नही करता। वह कहता है "आत्मा सहज ज्ञानस्वरूप है—अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वय है। उसमें बधनका कोई निमित्त ही नही, कारण ही नही। उसमे दूसरा कोई है ही नही। बँधनेवाली वस्तु छोटी होगी तो बँधेगी और बाँधनेवाला दूसरा होगा। वह एक देशमे, एक कालमे, एक वस्तुसे, एक कल्पनासे बँधेगी। वास्तवमें तुम किसी देशमे रहनेसे, देहमे आनेसे भी नही बँधे हो। जितने कालतक देह है, उतने कालतक भी बधे नही हो। कोई देहमे बँधा होता तो आत्महत्या कर सकता। बधन तो सर्वथा अज्ञानका है। अपने स्वरूपको न जानना ही बधन है—'अविद्यया बन्धनम्'। अविद्यासे बधन पैदा नही हुआ है। मुक्ति यानी अपने आपको जानना। विद्यासे मुक्ति होती नही, केवल पहलेसे विद्यमान मुक्तिके प्रतिबंधकी निवृत्ति हो जाती है। मुक्ति नामकी कोई अवस्था उत्पन्न नही होती। 'बँधा सो बँधा खुला सो खुला।' जो

जहाँ बँधा है, वही बँधा है, खुला है, वही खुला है। अपनेमे मान लिया तो बधन है।

एक पागलको खयाल हुआ हमे किसीने बाँध दिया है। उसने दोना हाथ सटा लिये। उसको कहा गया "तुम बँधे नही हो" परन्तु वह मानता ही नही था। तब उसका बधन कहाँ है? हाथमे? नही, दिमागमे। आत्मामे बधन नही है। आत्माको दिखाते फिरो, या नाडी दिखाते फिरो कि आत्मामे बधन है? यह बात अवश्य है कि किसीको बंधनका भ्रम हो जाय।

दादाको लीवरकी बीमारीका भ्रम हो गया। डाक्टरने कहा "रोग नही है।" फिर भी विश्वास न आये। तब उनके मनके समाधानके लिए डॉक्टरने पानी और टानिक मिलाकर औषधि दी। तीन महीनेमे वे अच्छे हो गये। इसी प्रकार बद्धपनका मनुष्यको भ्रम हो गया है। कहते हैं कि अन्त करण शुद्ध करो, उपासना, योग, ध्यान करो तब मुक्त हो जाओगे। वास्तवमे अपने स्वरूपमे बधन है ही नही।

श्री उडियाबाबाजी कभी-कभी कहते थे एक ससारी नही, हजार ससारी, एक साधु नही हजार साधु, यदि ऊपरसे ब्रह्मा भी आकर खडा हो जाय और कह दे कि तुम परिच्छिन्न, बद्ध हो तो उसके कहनेका क्या सत्य है? ब्रह्मा तो हमारी स्फुरणा, कल्पनामे है। हमारी कल्पना ही ब्रह्माके मुहसे बोलती है। ब्रह्मा अपने आप थोडे ही बोलता है? जो पहलेसे मुक्त है, वही ज्ञानसे मुक्त होता है।

एतद्वै तत्। एतद्=अपरोक्ष। यह घडीके समान प्रत्यक्ष नही

है, स्वर्गादिके समान परोक्ष नहीं है। जो प्रत्यक्ष घड़ीको आँखसे देख रहा है और मनसे स्वर्गकी कल्पना कर रहा है, वह इस कल्पना से उपहित इस कल्पनाका अधिष्ठान आत्मा कौन है? तत्=ब्रह्म, यही ब्रह्म है। यही परमात्माका स्वरूप है। यदि यह तुम्हें परमात्मा नहीं दीखता तो किसे परमात्मा देखोगे?

विमुक्तश्च विमुच्यते। तुम पहलेसे ही वस्तुतः मुक्त हो, और भी मुक्त हो जाओ यानी भ्रान्तिकृत प्रातिभासिक बंधनसे भी मुक्त हो जाओ। यह तुम्हारा आत्मा ही परमात्मा है, ब्रह्म है।

इसपर एक प्रश्न होता है: 'परमात्मा मुझसे बाहर है या मेरे अन्दर?'

अन्दर-बाहर दोनों स्थानोंमें हैं। जो कहता है कि मेरे अन्दर-बाहर, उससे पूछो कि 'तुम्हारा मैं क्या है?' निश्चित रूपसे जो अपनेमें अन्दर-बाहरकी कल्पना करता है, वह अपनेको शरीर मानता है। उसका 'मैं' शरीर है। चामके भीतर-बाहर है। तुम अपनेको चाममें रखी गंदगीकी एक पोटली समझते हो। देहमें 'मैं' हुए बिना अन्दर-बाहरका भेद हो ही नहीं सकता।

इसलिए सनातनधर्मकी रीतिसे ईश्वरकी उपासना अन्दर भी हो सकती है और बाहर भी, क्योंकि अन्दर-बाहर भावमें है। यह देश है, देशका द्रष्टा चैतन्य आत्मा है। इस अन्दर-बाहरके दृश्यका अधिष्ठान अनन्त-अपरिच्छिन्न ब्रह्म है। अनुमानसे यदि इस दृश्यके अधिष्ठानका चिन्तन करें तो वह इतना बड़ा है कि परोक्ष रह जायगा। यदि हम केवल दृश्यके द्रष्टा बनकर भीतर रह जायँ तो परिच्छिन्नता रह जायगी। वेदान्त बताता है:

सपूर्ण दृश्य रज्जुमे सपके समान किस अधिष्ठानमे कल्पित है, वह 'तत्' पदाथ है और इस दृश्यका जो द्रष्टा है वह 'त्वं' पदाथ है, क्योकि दोना ही निर्विशेष ह । इसलिए

वैशिष्ट्याभावात् यदधिष्ठान तत् द्रष्टा,
यो च द्रष्टा तदधिष्ठानम् ।

यह बात वेदान्तके सिवा बतानेवाला और कोई नही है। अन्दरका द्रष्टा और बाहरका सवज्ञ-सवशक्तिमान् भो कल्पित है। दोनोकी कल्पनाका जो स्वयप्रकाश अधिष्ठान है, पुरकी जातियाँ और पुरका अभाव दोना जिसमे स्फुरित हा रहे हैं, वह अनन्त ब्रह्म सच्चिदानद अपना आत्मा है।

भानमात्र पर ब्रह्म । सपूण विश्व प्रपच, उसके अवान्तर भेद और उसकी समष्टि, बीजावस्था, भावाभाव जिसमे विवतरूपसे भास रहा है, (एक शरीर हा नही) वह ब्रह्म मैं हूँ। इसमे कोई ध्यान या योगाभ्यास नही है। यह तो एकबार दियासलाई जलायी कि अन्धकार मुक्त हुआ।

इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति ।

स्वग, साकेत, ब्रह्मलाक, गोलोक, कैलास अथवा हिरण्यगर्भमे जानेसे मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति यही मिलती है। यहाँ भी मरनेके समय नही, यही, अभी मुक्त हा। तुमने अपनेमे काम-कमका जा बधन माना है, वह भ्रान्ति है, अविद्या है।

एक आदमी अपने घरसे निकला और सीधा चौपाटी चला गया। प्रश्न होता है, किसीने हाथ पकडा नही, उसकी कमरमे रस्सी लगायी नही, कौन उसे खीचकर ले गया ? वासनाका बधन।

"यह काम तो हमें करना है, हमारा कर्तव्य है" तो कौन उसे वहाँ ले गया ? 'मैं कर्ता हूँ' का अभिमान। कर्मके साथ अपना मानना बधन ही बधन है, वह कर्म ही बधन है। स्वर्ग-नरकमे कौन ले गया ? कर्म। व्यभिचार अनाचार, चोरीके स्थानपर कौन ले गया ? वासना धसीट-घसीटकर ले जाती है। तो क्या वासना और कर्म जबरदस्त हैं ? नहीं, नही, अविद्या है।

जैसे कोई नशेम या मेस्मराइज्ड होकर यह समझ ले कि "कोई हमारे बेटेको घसीटकर-पकडकर ले जा रहा है' —यह भ्रम है। वैसे ही वासना और कमका बधन भ्रम है—कोई वासना या कर्म हमे कही खीचकर ले जाते हैं, ऐसा मानना। जैसे लोग समझते हैं कि कोई घडा ले जाता है। पोल तो नही जाती पर मालूम पडता है, जैसे पानी साथ जा रहा है। "वासना या कर्मरूप घडा मुझ सच्चिदानन्द अनन्त परब्रह्म परमात्माको घसीटे लिये जा रहा है।" ऐसा क्यो मालूम पडता है ? अविद्याके कारण। अविद्या कोई लाल पीली काली नहीं होती। उसमें वजन, रूप-रग वय, लम्बाई-चौडाई नही और न देश-काल-द्रव्य है।

मैं बचपनमें साधुओकी सभामे बैठा था। अविद्याकी निरुक्ति पर चर्चा हो रही थी। उस समय काशीमे काशी देवी मठमे व्याकरणाचार्य स्वामी रामानन्दजी महन्त थे। मै स्वामी योगानन्दजी महाराजके साथ ही वहाँ बठा था। प्रश्न हुआ 'अविद्या क्या है ?'

सद्भिन्नत्वे सति असद्भिन्नत्वे सति,
अनादिभावरूपा ज्ञाननिवर्त्या।

अर्थात् वह अविद्या सत्य भी नही, असत्य भी नही। अनन्त-भावरूप और ज्ञानसे निवर्त्य है।

मैंने स्वामी भागवतानन्दजीसे कहा "अविद्याका अर्थ मालूम पडता है 'न विद्यते इति'। अर्थात् जो विद्यमान न हो, सो अविद्या।"

बोले 'ठहरो, शास्त्रार्थ होने दो। भ्रान्तकी दृष्टिमे अविद्या सत्य है और जिज्ञासुकी दृष्टिमे अविद्या अनिर्वचनीय है। तत्त्व-विद्की दृष्टिमे अविद्या है ही नही।

अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते।

अष्टावक्र गीतामे कहा है "अविद्या नामकी कोई वस्तु नही है। तुम क्या समझना चाहते हो?" पंचदशीमे कहा है **नासीदस्ति भविष्यति**—न थी न है और न होगी। नैष्कर्म्यसिद्धिमे भी कहा है **विचारासहिष्णुत्वम्**। अविद्या विचार-असहिष्णु है।

जबतक तुम विवेक नही करोगे तबतक यह तुम्हारे दिमागपर छायी रहेगी और 'विचारेण निवर्तते'। मशालके सामने भूत नही दीखता, मशाल देखतेही वह भाग जाता है। ठूठमे भूत दीखेगा, पर मशालके सामने टिकेगा नही। विवेककी, ज्ञानकी मशाल जलते ही देखा कि अविद्यानामकी चुडैल न थी, न है और न होगी। यह बिलकुल भ्रम है। इसलिए ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति होती है, वह पहलेसे ही विद्यमान नही है। नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति होती है। अज्ञानकी निवृत्ति नही होती, अज्ञान नही है, ऐसा ज्ञान होता है। अविद्याका बाध होता है।

वेदान्तके शीर्षग्रन्थोमे यह बताया है कि ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नही होती। रज्जुसर्पवत् अज्ञानका भी बाध ही होता है।

ब्रह्मसे अविद्या कभी थी नही, है नही, होगी नहीं विमुक्तश्च विमुच्यते।

हम अपनेको वासनाके अधीन मानते हैं। जहाँ जानेकी वासना होगी, वहाँ हमे स्वर्ग या नरकमे, जाना पडेगा। जैसे राजा बनावटी शत्रुको देखकर आत्मसमर्पण कर दे, उसपर एक तलवार मारो, वह तो बनावटी है। शत्रु है ही नही, ऐसे ही यह बंधन अविद्या कृत है।

विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुन शरीर न गृह्णातीत्यर्थ । जीवन-कालमे जो मुक्ति है, वही मुक्ति है और मरनेके बाद जो मुक्ति है, वह तो उधार-कल्पित है। तुम किसी देवता-दानो, इतर-पितर, भूत-प्रेतके वशमे नही हो। वासना या कर्मके वशमे नही हो।

आप ऐसा कभी न समझे कि तत्त्वज्ञानी व्यवहारमें अज्ञानीसें कुछ विलक्षण होता है

नहि मोक्षदशायाम् आनन्दान्तरदशायाम् उत्पद्यते ।

शङ्कराचार्यजी कहते हैं कि अविद्याका बाध हो जानेपर जीवनकालमे ज्ञानीके अन्दर कोई नया विज्ञान, नयी चमक-दमक, नया आनन्द उत्पन्न होता होगा, ऐसा मत समझा। वह वैसा ही रहता है, जैसे सब रहते हैं।

एकबार मैंने श्री उडियाबाबाजीसे पूछा "ज्ञान होनेपर मस्ती तो आ जाती होगी न ?"

वे बोले "मस्ती तो जीवधम है, ब्रह्मधर्म नही। जीवमें ही वैराग्य हो तो मस्ती है, राग हो तो मस्तो नहीं। राग-वैराग्य दोनो जीवधर्म हैं, ब्रह्मधर्म नहीं।"

मस्ती हो त । क्या हुआ और मस्ती न हो तो क्या हुआ ? ब्रह्मपर इसका कोई प्रभाव नही पटता । बडा विलक्षण है । यदि स्वतन्त्रतासे इसका आपको विचार करना हो तो वेदान्तदर्शनके 'तदधिगम' प्रकरणका विचार करना चाहिए । चौथे अध्यायमें 'तत्' यानी परमात्मा बताया है और अधिगम=अनुभव । परमात्मा-का अनुभव हो जानेपर क्या हो जाता है ?

तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयो अश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् । पितरस्याप्येव असश्लेष्य पाते तु ।

जरा ध्यानसे देखेंग तो मालूम पडेगा कि परमात्माका ज्ञान हो जाने पर उत्तरकालीन जो पाप ह, उनका सश्लेप नही होता और पूवकालीन पापका विनाश हो जाता है । इसके भी भीतर घुसे तो स्पष्ट होगा—यह बात नही कही गयी है कि सब पाप नष्ट होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होगा । मल आपने धमसे धोया । विक्षेप आपने योगसे दूर किया । वासना आपने उपासनासे मिटायी, किंतु जिस आवरणके कारण मल विक्षेप रहते है, वह आवरण तो अभी मिटा ही नही । तीनोमे आवरण तत्त्वज्ञानसे नष्ट होता है । जब तत्त्वज्ञानसे आवरणका नाश होता है, तभी मल विक्षपका भी नाश हो जाता है ।

वे कहते हैं उत्तराघका असश्लेष हो जाता ह । ज्ञानके उत्तरकालमे जो कर्म होगा—पाप पुण्य, वह लगगा हो नही । इसका अभिप्राय है कि दुनियाकी दृष्टिमे जो कर्म पाप पुण्य हैं, वे यावज्जीवन होते रहेंगे । ज्ञानी होनेका अथ, आँख मुँह-धडकन बद हो जाना या दिमाग फेल होना नही है । ज्ञानी होनेपर

अच्छे-बुरे दोनों कर्म तो होंगे, लगेंगे नहीं। यहाँ मूलमें 'अघ' शब्द है और श्रुतिमें :

> नैवंविधि पापकर्म श्लिष्यते ।
> तद् यथा पुष्करपलाशे आपो न संश्लिष्यते ।

अर्थात् जैसे कमलके पत्तेपर जलका स्पर्श नहीं होता वैसे ही तत्त्वज्ञानीमें कर्मका स्पर्श नहीं होता।

> एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य
> न कर्मणा वर्धते नो कनीयान् ।

यही तो ज्ञानकी महिमा है। ज्ञानी कैसे रहेगा ? तो कहते हैं :

> यक्षन् क्रीडन् रममाणो यानैर्वा स्त्रीभिर्वा वयस्यैर्वा ।

वह खायेगा, खेलेगा, विहार करेगा, विमान पर चढ़ेगा, वह स्त्रियोंमें—हमजोलियोंमें रहेगा, परन्तु उसे कर्म का लेप नहीं होगा। उसकी मुक्ति कैसी है ? वह कर्म करता हुआ भी फलरूप पाप-पुण्यसे श्लिष्ट नही है। पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरककी प्राप्ति नही होती। तत्त्वज्ञानी यानी अंधा, गूँगा, बहरा नहीं। वह स्वयं मुक्त है और उसकी मुक्ति होती है।

एक शरीरमें चेतन है, वही सर्वशरीरका चेतन है। अपने शरीरमें 'मैं' नाम और सामनेवालेमें 'तुम' नाम रखते हैं। मैं-तुम सर्वनाम है। सब लोग "मैं-तुम" शब्दोंका प्रयोग करनेमें स्वतंत्र हैं। मैं सो तुम और तुम सो मैं। इनका अर्थ न्यारा-न्यारा नहीं होता।

२. अद्वितीय आत्माकी सर्वरूपता

सगति

प्रथम मन्त्रमें शरीरको अनेक दरवाजोवाला नगर और उसके स्वामीको 'अजन्मा' कहा गया। अजन्मा कहकर उसे पुरकी अपेक्षा विलक्षण बताया। अर्थात् पुरका तो जन्म होता है, पर उसके मालिक का जन्म नहीं होता। कर्मका जो प्रभाव, प्रतिक्रिया और फलभोग है, वह शरीरमे ही होता है, अजन्मामे नही। जबतक शरीरको 'मैं' समझोगे तबतक तुम पापी पुण्यात्मा और उसकी क्रिया प्रतिक्रिया, सुख-दुःखके भोक्ता बनोगे। अपनेको जन्मवाले शरीरसे अलग 'अज' जानते ही मुक्त हो जाओगे।

प्रश्न हुआ कि जीवात्माको जानकर तो कोई मुक्त नही हुआ? वह तो परिच्छिन्न है। मुक्त हुआ सो परमात्माको जानकर ही। जीव तो लाखों-हजारों हैं।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय॥

अर्थात् मैं इस शरीरमें स्थित पुरुषको महान्‌के रूपमें जानता हूँ। शरीरके जन्म-मरण, लम्बाई-चौड़ाई या वजनसे आत्मा प्रभावित नहीं होता। आत्मामें न जन्म-मरण है, न अज्ञानता-ज्ञानता और न सुखिता-दुःखिता। वह स्वयंप्रकाश और अविद्यासे परे है। आप परमात्माको जानकर ही मृत्युसे बच सकते हैं।

'अजस्य = आत्मनः, अवक्रचेतसः = परमात्मनः' ये दोनों षष्ठी विभक्तिके एकवचनमें प्रयुक्त हैं; इसलिए इसे वेदान्तकी रीतिसे 'सामान्याधिकरण्य' कहा जाता है। एक विभक्तिके दो पदोंका साथ-साथ प्रयोग सामान्याधिकरण्य है। अर्थात् जो 'अज' आत्मा है वही 'अवक्रचेतसः' परमात्मा है और जो 'अवक्रचेतसः' परमात्मा है वही 'अज' आत्मा है।

ब्रह्मसूत्रमें विवेचन है :

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। (२.१.१४)

इस प्रकरणका नाम है 'आरम्भणाधिकरण'। तुम जिसे दृश्य कहते हो, उससे भिन्न उसका द्रष्टा चेतन है। परमात्मा दृश्य जगत्‌से भिन्न है, उससे भिन्न यह जगत् नहीं, यह निरूपणकी शैली है।

तस्मात् नहि आत्मनि अन्योऽन्यस्मात् अन्यो भावो निरूपितः। तस्मादन्यस्मात् दृश्य-पृथक्भूतः आत्मनोऽन्यो भावो न विद्यते।

संपूर्ण दृश्यसे विलक्षण रूपसे जाने हुए परमात्मासे पृथक् इस जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं है।

एकबार जब अपनेको वृत्तिसे अलगकर परमात्मासे एक जान

सूय आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।
उदित्य जातवेदस देव वहन्ति केतव ।
चित्र देवानामुदगायनी ।

इस मन्त्रमे सृष्टिक्रमका भी वर्णन है—

ऋत च सत्य चाभिद्धात् तपसोऽध्यजायत ।

अर्थात् जो शरीर मे हैं वही सृष्टिमे है । गायत्रीमन्त्र भी देखिये

तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो न प्रचोदयात् ।

अर्थात् जो हमारी बुद्धिका प्रेरक है वही सृष्टिकर्ता है । यानी अल्पज्ञत्वोपलक्षित और सवज्ञत्वापलक्षित दोनो एक ही है, गायत्री सुस्पष्ट अद्वैतभाव है । वहाँ आत्माका सूर्यरूपमे वणन है ।

'सूय आत्मा जगतस्तस्थुपश्च' सृष्टिमे स्थावर, जगम दोना हैं । पेड-पौधोसे लेकर ब्रह्मा, विष्णु, महेशतक सबमे जो आत्मा है, उसीका नाम सूय है । ब्राह्मणमे याज्ञिक-परम्परासे सूयकी व्याख्या है और आध्यात्मिक उपनिषद्‌मे आध्यात्मिक व्याख्या है । भगवान् शङ्कराचायने आध्यात्मिक परपरासे उसकी व्याख्या की है । अन्तमे वे कहते है

यदाप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाप्यस्य आत्मस्वरूपत्व मादित्यस्येत्यङ्गीकृतत्वाद् ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोध ।

हस । हस निर्मल, उज्ज्वल है यानी द्वैतके सबध गधसे रहित है । 'हन्ति द्वैतम् इति हस '—जो द्वैतका हनन करे, बिलकुल अद्वैतरूप हो जाय । महात्माओको भी 'हस, परमहस' कहते ह । हसका अथ है ज्ञानस्वरूप । 'अह स ' वेदमन्त्रोमे आता है । 'सोऽह हस ', उसीको तो दुहराते हैं । योऽसावसौ आदित्ये पूरुष अर्थात् जो आदित्यमे पुरुष है, अह स —वही मैं हूँ ।

अह स हस इति उच्यते । परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा ।

महात्मा लोग कुछ छिपाकर बोलते हैं, जिससे अनधिकारी उसका दुरुपयोग न करें ।

हस = गच्छति, व्याप्नोति । वेदमे 'हन' धातु हिंसा और गति दोनो अर्थोमे प्रयुक्त होता है । 'हन् हिंसागत्यो' । 'हन्ति द्वैतम्, हन्ति गच्छति, व्याप्नोति ।' जो व्यक्ति पदार्थके स्वभावको चूर-चूरकर सर्वत्र व्याप्त है, उसीका नाम हस है । तुम हस हो, मानस-सरोवरके निवासी ।

हस =सूर्य । सूर्य दिन-रातका विभाग करता हुआ आकाशमे चलता रहता है, चलनेवाला होनेके कारण वह हंस है । हसकी चाल बडी कायदेकी होती है । स्त्रीकी कुशलता-प्रशसामे उसे 'हसगामिनी' कहते हैं । सूर्य बडे हो क्रमसे चलता है । चौदह जनवरीको मकरसक्रान्ति होती है तो उसी दिन सूय मकरराशिमें पैर रखता है । वह नियमसे न चले तो यह बात कैसे बने ?

वास्तवमे सूर्य तो चलता ही नहीं, चलती तो है पृथ्वी प्राचीन ज्योतिपशास्त्रमे तीन सिद्धान्त हैं १ सूयसिद्धान्त, २ आर्ष-सिद्धान्त और ३ ब्रह्मसिद्धान्त । सूयसिद्धान्तके अनुसार सूर्य गतिशील है । आषसिद्धान्तके अनुसार पृथ्वी गतिशील है और सूर्य स्थिर । तीनोंका गणित ज्यों का त्यो आता है । सूर्य चलता नही ।

यथा गगन घनपटल निहारी । झम्प्यो भानु कहैं अबिचारी ॥
निरखहि लोचन अगुली लाये । प्रकट जुगल ससि तिनकहैं भाये ॥
उमा राम विषयक अस मोहा । नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥

चलती है धरती । धरतीपर हम नावकी तरह बैठे हैं और मानते हैं सूर्य चलता है ।

नौकारूढ चलत जग देखा । अचल मोहबस आपुहि लेखा ॥

हम नावपर बैठे हो और नाव चलती हो तो मालूम होता है कि मैं स्थिर हूँ और नदीके दोनो किनारे चल रहे ह । इस आकाश-के महासमुद्रम हम पृथ्वीकी नावपर बैठे ह और मालूम पडता है सूय चल रहा है । अभिप्राय यह कि देह इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि-वृत्ति, अन्त करण सब नाव हैं । चलते ये है और मालूम पडता है, आत्मा चल रहा है । यह हम' स्वय तो चलता नही, चलता हुआ-सा भासता है । इसमे रति-मति-गति-श्रुति कृति धृति ये कुछ नही ह, फिर भा सभी मालूम पडती है, इसीलिए इसे 'हस' बोलते है ।

शुचिषद् । इसकी एक विशेषता है कि यह 'शुचिपद' है । कहाँ बठता है ? 'शुचिभि —पवित्र द्युलाकम सूय रहता है । **शुचयो दिति आदित्यात्मना सीदति इति शुचिषद्** । अर्थात् यह परमपवित्र, परब्रह्म, परमात्म स्वरूप आत्मा कहाँ रहता है ? मनने सब गडबडझाला बना लिया है । एक व्यक्ति साचता है—हम शराब पोये, मास खायें, जुआ खेले, व्यभिचार करें और फिर भी परमात्माको देखे । किन्तु मनुष्य जब बुरी वस्तु-पर दृष्टि लगाता है तो परमात्माका दशन प्रतिबद्ध हो जाता है । आँखपर पट्टी बाँध दें तो वस्तु सामने रहती हुई भी नहो दीखेगा । इसी प्रकार अन्त करण जब परिच्छिन्न पदार्थमे लग जाता है, मन अशुचिमे रच-पच जाता है तो परमात्मा नही दीखता ।

अशुचि=अपवित्र । वस्तु अपवित्र है या शब्द ? एक भी नही । उस शब्द और अर्थमे जो अपवित्र कामना जोडनेवाला अन्त -करण है, वही अपवित्र होता है । मिट्टी, पानी, आग कभी अपवित्र नही होते । अकार-उकार-मकार, क-ख-ग वर्णराशि, पदराशि,

वाक्य भी अशुद्ध नही होतो। यदि मन गन्दा हो और उसमे उस मनका भाव जुडे तो वह गन्दा होता है। हम अपने मनमें ही गदगी बनाकर उसे शब्द, अर्थ और वाक्यमे जोडते हैं।

वेदान्तके ग्रन्थ कभो मामूली विषयका विचार नही करते। श्रीमद्भागवतमे भी इसोको छायामे कहा गया है

हंसाय तस्मै शुचिषद्मने नम ।

अर्थात् मैं उस सूर्यनारायण हंसको प्रणाम करता हूँ जो 'शुचिषद्' मनमे रहता है। वह प्रकट कहाँ होता है? शुद्ध हृदयमें। तुम्हारे हृदयमे मिट्टी है तो वह अपवित्र नही है। उसमे राम-श्याम हैं तो अशुद्धि नही है। फिर भी मनमे जब चैतन्यको जड, आनन्दका दु ख, आत्माको अनात्मा, परम पवित्रको अपवित्र, मान, अहंता-ममता-मोहकी गदगीसे उसे लपेट देते हो तो वह गदा हो जाता है। परमात्मा शुचिमें, पवित्रमे निवास करता है।

वसु । 'वासयति सर्वान् इति वसु'। **ईशावास्यमिद सर्वम्**। अर्थात् उसने तुम्हें अपनेमे बसा रखा है। तुम अपनेमे उसे बसा रखो। तुम्हें मालूम नही कि उसने तुम्हे अपनेमें बसा रखा है। कभी ऐसा होता है कि माँ-बापकी गोदमे बच्चे बैठते हैं, लेकिन वे सामनेवाली वस्तुको देखनेमें इतने तन्मय हो जाते हैं कि हम माँ-बापकी गोदमे है, यह भी भूल जाते है। हमारा अहं-बच्चा परिच्छिन्न, सीमित है। वह अपरिच्छिन्नकी ही गोदमे बठा है, फिर भी उसे भूल गया और परिच्छिन्नमे ही तन्मय हो गया। यही गन्दगी है।

तब क्या करें? 'हे परिच्छिन्न, तुम अपरिच्छिन्नको अपनी गोदमे बसाओ।' दोनो एक ही है, चाहे वह उसे अपनी गोदमें

ले या यह उसे ले। यह लेना देना तो कल्पित है, फिर भी यही साधन है। इसीलिए इसे 'वसु' कहते ह। सबको यह ढँके हुए है। इसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नही—'आच्छादयति, वासयति,' सबका अधिष्ठान वही है।

वाय्वात्मनान्तरिक्षे सीदति। वही वायु है यानी प्राण है। हम सब मिट्टीके घोंधे हैं और अलग अलग मालूम पडते ह। हमारे बाबाको गाली देनेका अच्छा अभ्यास था। पुराने आदमी थे। बहुत बिगड जाते तो बोलते "माटीका घोघा है"। यानी अक्ल नही है। अतिशय बिगड जाते तो बोलते 'घोघाबसन्त है'। यह देहातकी गाली है। शरीरका नाम घोघा है और उसमे जो बस गया, वह घाघाबसन्त। मनुष्य जब शरीरको 'मैं' समझता है तो समझता है कि हम सब अलग-अलग ह। तब हम अपनेको क्या समझें? प्राण यानी श्वासोच्छवास समझो। शरीरमे साँस है तो म हूँ। जीवका अस्तित्व साँसके साथ ही है। सबकी साँसमे एक ही वायु आती-जाती है। हम सब एक प्राण और दो देही है।

स्वप्नमे कितने शरीर अलग-अलग दीखते ह? स्वप्नमे नाशिक, प्रयाग या हरद्वारका कुभ लग जाय तो वहाँ हजार-हजार शरीर होगे। उन सबकी साँस और मन एक है या नही? भले ही वे आपसम लडते हो। लडाईका स्वप्न हो तब भी एक ही मन दो रूप धारण करता है। इसी प्रकार हम सब कितने ही अलग-अलग हों, प्राणको क्या पता कि मैं हिन्दूकी नाकमे घुस रहा हूँ या मुसलमानकी, ईसाई या पारसीकी, जैन या बौद्धकी। इसीको प्राणोपासना बोलते हैं। अपनेको हडडी चाम मांसमे रखकर अलग मत देखो, उन्हीके साथ मिलाकर देखो। पंचभूत, मन, बुद्धि, अहंकृति,

प्रकृति, परब्रह्म परमात्माके साथ अपने आपको देखो। तुम्हारे सिवा अन्य कोई नहीं।

श्रीशङ्कराचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्या करते हुए भाष्यके अन्तमे कहा है

सर्वव्याप्यक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति मन्त्रार्थ ।

सपूर्ण मन्त्रका अर्थ है–"सम्पूर्ण जगत्का सर्वव्यापी आत्मा एक ही है। यही मन्त्रका निचोड है। नाम-रूपमे जो तत्त्व है, उसे निचोड दिया। सूप बनानेमे तरह-तरहकी सब्जीका रस निचोड लेते हैं, ऐसे ही सृष्टिमे मिट्टी-पानी आदि और अलग-अलग आकार-प्रकार मे जो नानापना दीख रहा है, इनका रस निचोडा जाय, स्वाद अलग कर लिया जाय तो नाम-रूपसे पृथक् करने मात्रसे एक ही सत्-चित् आनन्द अखण्डरूपसे परिपूर्ण है।

मन्त्र कहता है कि केवल एक शरीरमे रहनेवाला ही आत्मा नही है। देखने, काम करनेवाला ही आत्मा नही है, बल्कि यही एक आत्मा सर्वपुरवर्ती है। पुर ही अलग-अलग हैं।

एक मनुष्य पहले जैमिनिका शिष्य था। उन्होने उससे कर्म करवाकर स्वर्ग-प्राप्तिका मार्ग बताया। शिष्यने पूछा 'स्वर्ग कर्म-का फल है तो यह उससे अलिप्त कैसे रह सकता है और देश-विशेष है तो पूरा कैसे हो सकता है ? मजदूरीसे मजा मिला है, तो वह सदैव कैसे रह सकता है ?'

जैमिनि "हाँ बेटा, तूने सच कहा। मजदूरीसे जो मिलता है, वह सदैव नही रह सकता। एक देश-विशेषकी वस्तु दूसरी जगह नही मिल सकती। एक कर्मके फलस्वरूप जो मिलता है, वह नित्य नही मिल सकता। अब हमारे कर्मसे जो मिलता है, उसकी खोट

तुम समझ गये। तुम्हे तो वैराग्य हो गया। अब यहाँ मत आओ। पतञ्जलिके पास जाकर समाधि लगाओ।"

शिष्य योगाचार्य पतञ्जलिके पास पहुँचा।

पतञ्जलिने समाधि लगानेकी शिक्षा दी और वह तुरन्त वृत्ति-निरोधकर द्रष्टाके स्वरूपमे अवस्थित हो गया। निरोध सम्प्रज्ञातमे असम्प्रज्ञात, सबीजसे निर्बीज सविकल्पसे निर्विकल्प हो गया। बडी लम्बी समाधि लगी। अब तो वह समाधिमे रहने लगा।

बहुत दिनो बाद वह पुन पतञ्जलिके पास आया और उनके चरणोमे गिर पडा, बोला "समाधि सदैव तो रहती नही, टूट जाती है।"

पतञ्जलि "बावरे, तूने अभ्यास करके समाधिकी स्थिति उत्पन्न की है तो वह नित्य कैसे रहेगी?"

"तब मैं नित्य द्रष्टा कैसे रहूँगा? बार बार वृत्तिका सारूप्य हो जाता है। हमारी शिकायत है कि चौबीसो घण्टे हमारी वृत्ति द्रष्टामे नही रहती, दृश्यमे जाती है।"

पतञ्जलि "अभ्याससे जो सिद्ध होगी वह नित्य कैसे रहेगी? यदि निरोधकालमे ही तुम द्रष्टाके स्वरूपमे रहते हो और वृत्ति-सारूप्यकालसे अन्यसे तादात्म्यापन्न हो जाते हो तो एक तुम और एक अन्य, दो हो गये न?'

वह बोला "हाँ महाराज, गलती तो यही मालूम पडती है।"

पतञ्जलि "जबतक दृश्यकी सत्ता बनी रहेगी तबतक बार-बार द्रष्टा दृश्यको देखेगा और उसके साथ एक हो जायगा। पहले

भी द्रष्टा दृश्यको देखकर ही तादात्म्यापन्न हुआ है। बेटा, अब हमसे काम नही चलेगा। तुम व्यासदेवके पास जाओ।"

शिष्य व्यासदेवके पास गया तो वे बोले "भले मानुस, क्या तुम यह कभी सोचते हो कि मैं कौन हूँ?" कभी सोचते ही नही कि दृश्य क्या है, पूरा विचार तो तब होगा जब तुम यह सोचो .

कोऽहं कथमिदं जातं कोऽस्य कर्ता च विद्यते।

वेदान्त-विचार तो तब पूरा होगा न जब 'यह दृश्य क्या है' यह जान लिया जाय।"

उसने पूछा "महाराज, दृश्य क्या है?"

व्यास "तुम्हे जो यह नाम रूपात्मक दिखाई पड रहा है, वही 'दृश्य' है। इस शरीरमे बाहर-भीतर, अब तब जितने भी दृश्य मालूम पडते है, उनके अभिन्न निमित्तोपादानकारणकी जिज्ञासा करो। इस दृश्यकी उत्पत्ति, स्थिति, गति, लय जिसमे और जिससे है, उसे जाननेका प्रयास करो। बस यह समझ लो कि जो स्वयं सर्वज्ञ होकर इसे बनाता-बिगाडता और इसमे रहता है, वह कौन है?"

वह बोला "अहो! वह तो सर्वथा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है, चैतन्यमात्र है।"

व्यास "तो बेटा, चैतन्यमात्र है तो उस चैतन्यमात्रमे भेद कैसे होगा? 'तत्त्वमसि'। जो यह आत्मा है वही, सम्पूर्ण प्रपंचका विवर्ती अधिष्ठान है। अधिष्ठानता बाधित है। बाधित अधिष्ठान-वाला जो सत् है और बाधित अधिष्ठानवाला जो चित् है, वह सन्मात्र-चिन्मात्र और तुम्हारा दृङ्मात्र आत्मा एक है। यह दृश्य तो केवल प्रातिभासिक है। जो ज्ञाताका पारमार्थिक रूप

है, अल्पज्ञ तथा सव और सवज्ञका जो पारमार्थिक रूप है,
तुम्हारा आत्मा है। उसमे द्वैतका कोई चिह्न, लाञ्छन नह
चन्द्रमामे लाञ्छन है, वैसे परब्रह्म परमात्मामे अविद्यारु
लाञ्छनका कोई अश नही। अविद्यामे बैठकर ही अविद्याक
कल्पना की जाती है।

ब्रह्मदृष्टिसे न तो कभी अविद्या थी और न कभी होगी
अविद्या है ही नही, ब्रह्म ही ब्रह्म है। इसीलिए महात्मालो
यदि कोई शालिग्रामकी पूजा करे, उसमे परमात्माका भाव करे त
कहते है "यह उसका भाव है।"

यदि कोई 'मै' मे परमात्माका भाव कर सकता है तो 'वह
मे क्यो न कर पाता ? जब सृष्टिके प्रारम्भ और अन्तम परमात्मा
की कल्पना हो सकती है तो वह अब क्यो नही ? जो वहाँ मन्दिर
मे है, वह परमात्माका प्रतीक है तो यहाँ गुरु-माता-पिता पति
परमात्माके प्रतीक क्यो नही ? अभिप्राय यह कि जब अज्ञान
दशामे कल्पित प्रतीकको लकर ही परमात्माकी उपासना करनी
है तो चाहे मुसलमान, ईसाई, आयसमाजियोकी तरह 'वह' पर
मात्माकी उपासना करो, चाहे साकारवादी भक्तोकी तरह 'यह'की,
चाहे अहग्रहवादी 'कोऽह-कोऽह' कर अहकी उपासना करो,
जबकि सारी उपासनाओकी गतिविधि एक ही कक्षामे है। कारण,
अपना आत्मस्वरूप सर्वात्मक परमात्मामे भेद नामकी कोई वस्तु
है ही नही। फिर यह छोटा और यह बडा क्यो ? तीर्थंकर,
पैगम्बर, निराकार, साकार, अह-अह जिसकी उपासना करनी हो
करो। सत्य, सनातन, शाश्वत वेदान्तधममे सब सम्प्रदायो, सब
उपासनाओका सन्निवेश हो जाता है।

यह मन्त्र ईश्वरका रूप दिखाता है 'हंस, शुचिषद्।' वह

कौन है ? वह सूर्यके रूपमे द्युलोकमे प्रकाशित हो रहा है। अपना आत्मा हृदयाकाशमे सूर्यवत् प्रकाशमान है। हृदयाकाश निमल है, यानी शब्द-अर्थसे रहित है।

वसु अन्तरिक्षसद्। वसु =वासयति, जो सबको अपने अन्दर स्थान देता है सबको सत्तास्फूर्ति देता है, जिससे सत्तास्फूर्ति सिद्ध होती है, उसीका नाम आत्मा है और उसका नाम परमात्मा है। वह कहाँ रहता है ? वसु=वायु, सबके प्राण बनकर वायुदेवता अन्तरिक्षमे रहते है। परमात्मा भी अन्तरिक्षमे रहते हैं।

'अन्त ईक्षा=ईक्षणम्' अन्तर्दृष्टिमे ही रहते हैं। व्यासजीने दो ग्रन्थ लिखे 'सिद्धान्तदर्शन' और 'वेदान्तदशन'। वेद एवं सपूर्ण शास्त्रोका तात्पय ब्रह्म और आत्माकी एकतामे कैसे है, विरोधपरिहार और अविरोध आदि द्वारा कैसे सिद्ध किया जाय इसके लिए वेदान्तदशन है। किन्तु केवल अनुभव द्वारा ही ब्रह्म और आत्माको एकता बतायी जाय, इसके लिए सिद्धान्तदर्शन है। इसमे साख्य, बौद्ध और नैयायिकोका खडन नही, केवल अपनी प्रक्रिया और अनुभवोका निरूपणमात्र है। वे कहते हैं "श्रुति, उपपत्ति और अन्तरीक्षा परमात्माके साक्षात्कारमे ये तीन साधन हैं। प्रारम्भमे श्रवण, फिर युक्ति (उपपत्ति-युक्तियो द्वारा लोकको दृष्टिसे) है। श्रुति है

वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्यव सत्यम्।

और युक्ति या उपपत्ति है

एकेन मृण्मयेन विज्ञातेन सव मृण्मय विज्ञात भवति।

'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातम् भवति।' यह प्रतिज्ञा है। अर्थात् एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है। जैसे मिट्टीके एक

डलेके ज्ञानसे सारी मिट्टीका, सब विकार जान लिया जाता है यह युक्ति है, श्रुति-अनुगृहीत युक्तिका ही प्रामाण्य होता है।

लोग किसी बातको सिद्ध करनेमे अधिकतर अक्ल ही लगा हैं, किन्तु यदि कोई विज्ञानमे धम सिद्ध करे तो उसे न माने क्योकि विज्ञान जिसे सिद्ध करेगा उसे काट भी देगा। जिसके हाथो सिद्ध करना होता है, उसके हाथमे काटना भी रहता है। बुद्धि कोई वस्तु सिद्ध होगी तो किसी अवस्थामे उससे वह कट भ सकती ह। प्रमाण उसे कहते है जो न तो अन्यप्रमाणसे ज्ञात हो और न बाधित ही हो। नाक गधमे प्रमाण है, क्योकि अन्य किसी प्रमाणस मालूम नही पडती, न किसाम करती है।

इन्द्रियाँ, मनन, ध्यान, बुद्धि, युक्ति या साक्षीभास्य रीतिसे जो मालूम न पडे और कटे भी नही, ऐसे अनिवचनीय पदाथ सम्बन्धमे वेदान्त-प्रमाण है। ब्रह्म और आत्माकी एकतामे वेदान्त-प्रमाण है। दूसरा कोई प्रमाण उसे न काट सकता है, न सिद्ध कर सकता है।

देह हमसे अलग है, ऐसा नही सोचा जाता। यदि तुम भी अपने हाथसे देहको निकालोगे तो उसे रख भी सकोगे। वास्तवमे द्रष्टासे दृश्य अलग है ही नही। दृश्यसे द्रष्टाका विवेक किया जाता है कि "मै दृश्यसे पृथक् हूँ। जैसे दृश्य ऐन्द्रियक है, वैसे मैं ऐन्द्रियक नही हूँ। दृश्य साक्षीभास्य है, पर मैं नही।"

'पुद्गल'वाले कोई सज्जन आये कहने लगे कि पुद्गल मुझसे पृथक् है' तो वह तुम्हारा शत्रु है। वह तो रूप बदलकर तुम्हे फँसायेगा। अदिव्य नही तो दिव्य, असिद्ध नही तो सिद्ध, स्थूल नही तो सूक्ष्म बनकर आयेगा। पुद्गल रूपान्तरित होकर तुम्हे

फँसायेगा। वेदान्तकी प्रक्रिया यह नहीं कि "देह मुझसे पृथक् है।" उसकी प्रक्रिया है : "मै देहसे पृथक् हूँ।"

कोई एक व्यक्ति कहे कि 'घड़ेसे मिट्टी पृथक् है' और दूसरा कहे : 'मिट्टीसे घड़ा पृथक् है' तो प्रत्येकका परिणाम क्या निकलेगा ? दोनोंमें अन्तर है। मिट्टीके सिवा घड़ा तो कुछ होता ही नहीं। इसलिए घड़ा नहीं बना था तब, है तब और फूटेगा तब--तीनों अवस्थाओंमें मिट्टी ही रहेगी। यह कहा जाय कि 'घड़ेसे मिट्टी पृथक् होगी' तो मिट्टी घड़ेको अपनेमें मिला लेगी। किंतु घड़ा मिट्टीसे पृथक् होगा, तो क्या वह मिट्टीसे अलग होकर बना रहेगा ? घड़ेसे मिट्टी पृथक् है तो घड़ेमें केवल नाम-रूप, गुण-धर्म, आकार-स्वभाव सब बाधित या मिथ्या हो गया न ? घड़ेसे मिट्टी अलग होते ही घड़ेका नाम-रूप मिथ्या हो जाता है। उसका अधिष्ठान, उपादान ही अलग हो गया तो घड़ा क्या रहा ? प्रतीतिमात्र अर्थात् मिथ्या हो गया। और जब मिट्टीसे घड़ा पृथक् होगा तो ? वह नाम-रूप, गुण-धर्म, अवस्थासहित, अपने कर्मसहित बना रहेगा। घड़ा मिट्टीसे अलग होकर मुक्तिका दान नहीं कर सकता और मिट्टी घड़ेसे अलग होकर मुक्तिका दान कर सकती है। यह दृष्टान्त समझानेके लिए है कि द्रष्टासे देह पृथक् नहीं, देहसे द्रष्टा पृथक् है।

जो लोग पाँच-पाँच, दस-दस वर्षसे वेदान्तका स्वाध्याय करते है, उनके भी ध्यानमें यह सरलतासे नहीं आता। 'देहसे द्रष्टा पृथक् है' यह कहनेपर देह केवल नाम-रूप रह जाता है—तुच्छ, जन्म-मरणशील, असत्, जड़ और दृश्य हो जाता है। हम उससे असंग हो जाते हैं। किन्तु 'द्रष्टासे पृथक् देह हो जाय तो वह तो ज्यों-का-त्यों माटीका घोंघा बना रहेगा। देहको द्रष्टासे अलग

करनेपर असगता, वैराग्य आते हैं, जैसे कि ईश्वरसे प्रेम करनेपर देह और दैहिक भोगोसे वैराग्य होता है।

एक प्रतिबंध अवश्य है। 'मै' मे मानवका प्रेम स्वाभाविक है। जब हम सोचते है कि "मै ही हूँ" तो इस "मै" के साथ प्रेम, उससे वृत्ति बनी ही रहती है। तब चूकि देहमे यह 'मै' बैठा है तो देहके साथ भी वैसा ही प्रेम बना रहेगा। लेकिन यदि पहले देहसे प्रेम हटाकर ईश्वरके साथ जोड दें तो असगता सहज आ जायगी। वैराग्य दोनो प्रकारसे आता है १ देहमे 'म' अलग कर दो या २ प्रतीतिको ईश्वरमे जोड दो। ये दोनो तत्त्वज्ञान नही, वैराग्य-के ही हेतु है।

जब आप कहते है कि 'म'से घडीभर बाहर अलग, तो 'मैं' किसे कहते ह ? देहको मैं कहते हैं या नही ? कहते हैं 'मुझमे रक्त है' तो आप देहको मै बोलते ह या नही ? यदि आप सोचते है कि मुझमे परमात्मा या मुझसे बाहर परमात्मा है, तो इसका अभिप्राय होगा—परमात्माको देहसे बाहर मानकर 'यह वह कहा। तब यह देहको मैं मानकर ही कहा। मुझमे द्रष्टा है तो भी 'मै देह' और मुझसे बाहर शालिग्राम है तब भी 'म देह'। अत देहसे तो 'मै'को उठाना ही पडेगा। तभी नाम रूप तुच्छ होगा, मिथ्या या अनिवचनीय होगा। नही तो क्या भीतर और क्या बाहर, एक ही बात रहेगी।

'अन्तरिक्षसद्' अन्तरीक्षा या अन्तदृष्टि जाग्रत न हो तो ? आपकी अन्तर्दृष्टि इतनी बडी है कि उसमे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड समाये हैं। एक-एक ब्रह्माण्डमे एक-एक ब्रह्मा-विष्णु-महेश और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डामे सबमें एक-एक अहतत्त्व, एक महत्तत्त्व, एक हिरण्यगर्भ-तत्त्व, एक रुद्रतत्त्व, एक ईश्वरतत्त्व हैं। वह दृङ्-

मात्र वस्तु है। जिस परमेश्वरमे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोका उदय-विलय होता है, वह आपकी दृष्टिके एक कोनेमे रहता है। इतना बडा है आपका दृङ्मात्रस्वरूप। वह कहाँ है ? अन्तरिक्षमे रहता है 'अन्तरिक्षसद्'।

होता वेदिषद् । वह होता है। होता=अग्नि। पहले सूर्यरूपमे परमात्माका वर्णन किया और बादमे वायुरूपमे। अब अग्निरूपमें करते हैं :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

ब्रह्मणाहुतम्। होता यानी होम करनेवाला, जिसमे होम किया जाय वह और होम तीनो अग्नि हैं। प्रारम्भ और अन्त दोनो अग्नि। होता बनकर कहाँ बैठना है ? वेदीपर। अग्निदेवता वेदीपर बैठता है वेदिषद्। वेदी या धरती मिट्टीसे बनती है, इसलिए वह मिट्टीसे पृथक् नहीं है। स्वयं गार्हपत्य अग्नि वेदीपर बैठते हैं, सो स्वयं अग्निरूप ही हैं।

अतिथि। अतिथिरूपमें भी अग्नि ही आता है, ऐसा शास्त्रमे वर्णन है। जोरसे आग जलती है तो डर लगता है कि कहीं कपडे या घरमे वह लग न जाय। ऐसे ही घरमे अतिथि आनेपर प्राचीन कालमें बोलते थे "यह अतिथि नहीं, अग्नि है। होम करो अर्थात् उसके मुहमें कुछ डालो। यदि यह खाली हाथ लौट जायगा तो आग होनेके कारण जला देगा। वह कहाँसे आता है ?"

दुरोणसत्। घरके कोनेसे वह आता है।

अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् अग्निर्भूत्वा प्रविशति।

यह अतिथि अग्नि बनकर प्रवेश करता है। कठोपनिषद्में पहले

ही कहा जा चुका है कि यमराजने नचिकेतासे कहा "तू अतिथि नही, अग्नि है। हमारे घरमे नाचिकेत अग्नि आया है। यदि मै तेरी शान्ति नही करूँगा तो तू मेरा घर जला देगा।"

उस समय अतिथि सेवाके लिए कितना कडा नियम होगा ? न मोटर, न हवाई जहाज, न रेल। पैदल-यात्रामे कितनी बडी पोटली सिर या कधेपर या ऊँटपर लेकर मनुष्य चलता होगा ? उस समय यह नियम था कि जो लोग यात्राके लिए निकलें और किसीके घर पहुँचें, तो उन्हे रोटी खिलाकर ही भेजा जाय। अतिथि-सत्कारकी बडी भारी महिमा है। अतिथिरूपमे कौन आते है ? भगवान्। **वैश्वानर प्रविशति।**

अतिथि यानी सोम। वह कहाँ रहता है ? कलशमे। जलमे जो सोमरस है, वह परमात्मा है। यह न समझे कि समुद्रमे ही परमात्मा है। आपके घरके गिलासमे जो जल है, वह भी परमात्मा है। सोमरससे उपलक्षित सपूर्ण जल, यज्ञमे जो जल कलशमे तैयार करते हैं, वह सब परमात्मा है। परमात्मा कहाँ रहता है ?

नृषद्वरसदृत सद्व्योमसत्। जबतक परमात्मा सर्वत्र है, यह बोध नही होगा और आधे ईश्वरको पकडकर बैठोगे तबतक परिपूर्णका ज्ञान नही होगा। यदि जड ईश्वर नहीं तो वह आधा ईश्वर है। यदि जड़ ही ईश्वर है, जैसा कि वैज्ञानिक कहते है— 'जड ही सब कुछ है, चैतन्य कुछ नही है', तो आपका चैतन्य आत्मा बेकार गया, आधा रहा। जडको ईश्वर जानो तो आधा और चेतनको ईश्वर जानो तो भी आधा। दोनोमे ईश्वर मानोगे तो जड-चेतनका भेद ही मिट जायगा। बात मानने नही, जाननेकी है।

जो लोग वेदान्त-दर्शनका स्वाध्याय करते हैं, उन्हें मालूम है 'कि वाचस्पति मिश्रने अध्यात्म-भाष्यकी टीकामें कहा है कि 'अहम्-अहम्' तो आबालवृद्ध समथ सबको स्पष्ट है। इसका विचार क्यो करें ? क्या इसकी पूर्णता स्पष्ट है ? पूर्वादिकल्पनाका आधार जो देश है, वह हमारे चैतन्य आत्मामे कल्पित है। आत्माकी यह पूर्णता मालूम है ? नही।

भूत, भविष्य, वर्तमानकी कल्पनाका आधार काल तुम्हारे आत्मामे कल्पित है। तुम्हारा जन्म-मरण नहीं है। यह बात क्या तुम्हे मालूम है ? नही।

जितना यह दृश्य दिखाई पडता है, सब तुममे ही उत्पन्न, तुमम ही स्थित और तुममे ही नष्ट होता है—यह तुम्हें मालूम है ? नही।

तो ऐसे अहके ज्ञानसे क्या लाभ ? तुमने अपने आत्माको अविनाशी, परिपूण, अद्वय नही जाना, स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक नही जाना, अनन्तर, अपूव, अबाह्य, अनपर, अह्रस्व, अदीघ, अनणु, अदृश्य, अनिलयन, अनिरुक्त, अनिवच-नीय नही जाना तो वेदान्त जाननेका क्या फल ? यह तो अधूरे आत्माका ज्ञान है। थोडी देरके लिए सो लेना, बेहोश रह लेना, समाधि लगा लेना—क्या यही वेदान्त-ज्ञानका फल है ?

यक्षन् क्रीडन् रतिं विन्दन् इत्यश्रौसिनं किं श्रुतिम्।
ज्ञानिना चरितु शक्य सम्यक् राज्यादि लौकिकम्॥

पंचदशीकार कहते हैं कि जिज्ञासु ! तूने यह श्रुति नही सुनी कि खाते, खेलते, विहार करते, सोते-जागते, चलते या राज्य करते ज्ञानी अपने स्वरूपमे ही स्थित रहता है।

श्रीमद्भागवतमे आया है

सैन्यापत्यं च राज्य च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्य च वेदशास्त्रविदर्हति॥

राजा सेनापतिका काम कर रहा है, आदेश दे रहा है कि "चलाओ बम गोले।" कौन है? ज्ञानी है। राज्यशासन कर रहा है कौन? ज्ञानी। फाँसीकी सजा दे रहा है कौन? ज्ञानी। "लगाओ कोडे, भेजो जेलमे"—वही आज्ञा कर रहा है। वह दूसरेका थोडे ही सजा दे रहा है, अपने आपको ही सजा दे रहा है।

प्रश्न 'जो वर्णाश्रमी है, उसीको ज्ञान होता है या नही?'

उत्तर उसे भी होता है। शाङ्करभाष्यमे बताया है कि जो वर्णाश्रमी नही, उसे भी ज्ञान होता है। गार्गीका कौन-सा वर्ण आश्रम था? व्याधका कौन सा वर्ण-आश्रम था? उनको ज्ञान हुआ।

प्रश्न "बिना वर्णाश्रमधर्मका पालन किये अन्त करण शुद्ध नही होगा और अन्त करण शुद्ध नही होगा तो ज्ञान नही होगा। तुम कैसे कहते हो कि वर्णाश्रमके बिना भी ज्ञान हो सकता है?"

उत्तर सूत्र-अधिकरणमे साधनका वर्णन करते हुए बताया है कि सृष्टिका अनादि-चक्र चलता है। उसने पूर्वजन्ममे साधन कर लिया होगा। आश्रम, वर्ण, धर्म तो अब मलग्रहणके योग्य है। उसे अब धर्मपालनकी क्या अपेक्षा है? यदि किसीकी बुद्धि ब्रह्मको ग्रहण कर लेती है तो उसने पूर्व-पूर्व जन्ममे वर्णाश्रम-धर्मका पालन कर लिया होगा। मनुष्योमे भी वही है। जो जो

ऋत (सत्य) है सो-सो वही है। यज्ञमे, सत्यवचनमे, आकाशमें वही है।

अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋत बृहत्। घास, गेहूँ, यवरूपमें कौन है ? नदी-नाले कौन हैं ? वही। नाम-रूपका भेद काल्पनिक, प्रातिभासिक है। सबका जो पारमार्थिक स्वरूप है, अपना जो सच्चा स्वरूप है वह वही है।

बृहत्। हम लोग लम्बाई-चौडाईकी कल्पना करते हैं। यहाँ एक घडा रख दो। घडेमे छोटा पोलापन है, हॉलमें बडी पोल है और हॉलके बाहर तो बहुत विशाल पोल है। विशालतामे छोटे-बडेकी कल्पना की गयी है। महाकाशमे ही सुईके छोटे छेदकी और दरवाजेके बडे छेदकी कल्पना है। महाकाशमे ही ऊपर-नीचे, दाँये-बाँये मालूम पडता है। उसका ओर-छोर मानसिक-काल्पनिक होगा। जिस आकाशमें छोटे बडे भेदकी कल्पना होती है, वह मनसे होती है। उस मनका प्रकाशस्वरूप अधिष्ठान कौन है ?

एक सेकेण्ड, मिनट, घण्टा, वर्ष, युग, कल्प, महाकल्प—कहीं नीचे-ऊपर, दाँये-बाँये कालका ओर-छोर मिलता है ? मिलेगा तो नही, पर कल्पना होती है। कल्पना करनेवाले मनका जो स्वयंप्रकाश अधिष्ठान है, उसको वेदान्त कहता है आत्मा, ब्रह्म।

एक एम ए पास सज्जन सरकारमे बडे अफसर हैं। बीस वर्ष पूर्व जब हम दिल्लीसे रवाना हुए तो स्टेशनपर आये थे। हमसे उन्होने कहा "हमने तो ब्रह्मको जान लिया, अब क्या करें महाराज ?"

मैंने कहा 'अब ब्रह्मकी जिज्ञासा छोडो। तुम अपने अज्ञात कर्तव्यकी जिज्ञासा करो, उसीको जानो !'

अपनेको ब्रह्म जान लेनेके बाद क्या यह सवाल हो सकता है कि देह दूकानपर रहे या जगलमे ? कभी नही, जहाँ हो वही रहे। इससे कौन-कौन से काम हो ? कोई काम अच्छा-बुरा थोडे ही होता है। जिस काममे लगे हो, वही काम हो।

एक मन्त्रको छोडकर और किस मन्त्रका जप करें ? अभी तुम्हारा यही ध्यान रहता है न कि कौन-सा मंत्र घटिया और कौन-सा मत्र बढिया ? सब इष्टका रूप एक ही सोनेमे टिका है। सब मत्र अक्षरोसे ही बने है। परमार्थका गुरु केवल वही होता है जो आत्माको ब्रह्म लखा दे। दुनिया लखानेवाले तो स्कूलके मास्टर होते हैं।

एक आदमी जिज्ञासु हो और यह सोचे कि दूकानमे तो खानेभरको आना है, ऐसा काम कर कि इकट्ठा हो जाय तो उसमे कहाँ सगति है ? हम जिसे बोलते हैं वासनाक्षय, मनोनाश और तत्त्वज्ञान, वह सग्रहसे नहीं होगा। वासना जो जाग्रत्-कालमे मालूम पडती है, बिलकुल स्वप्नवत् बाधित है।

जाग्रत्-अवस्थामे भी अपना ही मन, अपना ही प्रकाश, अपना ही चैतन्य सब पार्टी बनकर लडते हैं। मनोनाशका यह अर्थ नही कि कोई काग्रेसी, कम्युनिस्ट या स्वतंत्र न हो। तीनोमे जो ऐक्यका दर्शन है, यही मनोनाश है। हमारा ही मन तीन रूपोमे भासता हुआ भी एक ही है। जैसे भारतकी प्रजामे कोई असमकी, पंजाबकी, केरलकी हो, पर है, भारतीय वैसे ही हमारे ब्रह्म स्वरूपमे भासती हुई कोई भी प्रजा, वस्तु ब्रह्म ही है।

न मै वासनावाला हूँ, और न वासनाका कोई विषय ही है। यह तो स्वप्नवत् भास रही है। हमने स्वप्नमे देखा कि एक पुरुष

कामवश किसी स्त्रीके लिए व्याकुल हो रहा है। न वहाँ स्त्री है, न कामी पुरुष। दोनों हमारा मन ही है। वहाँ वासना क्या हुई? न वहाँ विषय है, न विषयी। वहाँ वासना बाधित है या नहीं? जहाँ विषय और विषयी दो नहीं, वहाँ वासना भी बाधित है। वासना कबतक दुःख देता है? जबतक कि उसके बाधितत्वका ज्ञान नहीं होता।

जीवनमें ऐसा ब्रह्मज्ञान हुआ कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों और तीनोंकी समष्टि, एक शरीर और सब शरीर तथा उनका अभाव अपने स्वरूपसे पृथक् नहीं है। इसीको कहते हैं बाधित होना। यानी प्रतीत होते हुए भी जिसका वास्तविक होना किसी प्रमाण से सिद्ध न हो। एक ही ब्रह्ममें यह सारा प्रपंच भास रहा है, पर वह वस्तुतः नहीं है।

वेद सर्वसम्मत सत्य है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इसको 'ऋतम्' बोलते हैं। जैसे चार आदमी आपसमें लड़ते हों कि "यहाँ माला है, साँप है, दरार है या रस्सी है?" किन्तु 'यह कुछ है' इस बारेमें चारोंमें मतभेद नहीं। सब बोलते हैं 'हैं' अर्थात् सत्तामें, अस्तित्वमें किसीको मतभेद नहीं होता। उसका नाप-जोख कितनी, इसमें मतभेद होना संभव है। कोई वस्तु पास-में हो तो बड़ी दीखती है और दूर हो तो छोटी। वस्तुके दर्शन-पर इसका प्रभाव पड़ता है। इसीलिए जिस वस्तुको हम सब देख रहे हैं, वह एक वस्तु है। किन्तु जिस तरह एक देख रहा है, उसी तरह दूसरा भी देख रहा है, यह आवश्यक नहीं। देखनेमें दूरी, समय, वातावरण, आँख सभीका प्रभाव पड़ता है।

एक वस्तु है, जिसका नाम है, 'ऋत्'। वह बृहत् है यानी अपरिच्छिन्न, अद्वय, अनन्त अबाध्य है। सर्व देश, काल, वस्तुमें

वह विद्यमान है और उससे बडी है। वह उसमे अध्यारोपित है। उसके ज्ञानसे ये सब बाधित हो जाते है। ऋतम् यानी अबाध्य, अकाट्य सत्य जिसकी सत्तासे कोई इनकार नही कर सकता।

कल एक व्यक्ति आये थे। वे बोले "हमने श्री कृष्णमूर्ति, आचार्य रजनीश, स्वामी चिन्मयानन्द, स्वामी पूर्णानन्दका सत्संग किया है।" उन्होने पाँच-सात नाम गिनाये और बोले "जो सत्संगमे सुना, उसपर दृष्टि टिकती नही। हमे अपने मनके लिए कोई आश्रय चाहिए।"

हमने कहा "पाँच छ गुरु आपके सामने आते है, पाँच छ लक्ष्यमे आते है, तो मन टिके कैसे ?"

उन्होने बताया "रजनीश और कृष्णस्वामीने तो मूर्तिपूजा-का बिलकुल खण्डन किया है। मूर्तिका ध्यान करने लगता हूँ तो उनकी बातोपर ध्यान अधिक जाता है कि 'मूर्ति तो कुछ है ही नही।' स्वामी पूर्णानन्द और स्वामी चिन्मयानन्दने मूर्तिपूजाका खडन नही किया। उन्होने कहा कि "मूर्तिका आधार लेना।" जब मूर्तिका निषेध करने लगता हूँ तो उनकी बात याद आ जाती है। अब बताइये, हम क्या करें ?"

मैंने कहा "पाँच-छ तकलीफें तो आपने यो ही मनमे इकट्ठी कर रखी हैं, एक हमारी भी क्यो जोडते हो ? तकलीफ ही तो बढ़ेगी ?"

आदमी छोटी वस्तुको देखता है। उसे बडी वस्तु दिखाई जाती है या छोटी, इससे कोई मतलब नही है। एक आदमीको आप देखें तो क्या दीखता है ? दो पाँव, दो हाथ, दो आँखें, सिर,

दो कानवाला व्यक्ति। मनुष्य तो आँखसे दीखता है। आप पहचान जायँगे कि यह पशु नही, मनुष्य है। पर आपको एक विश्वसनीय आदमी बतायेगा कि "यह बडा विद्वान् है" तो आप हाथ जोडेंगे "पण्डितजी नमस्कार!" वह कहे "आप जिस आदमीको देख रहे हैं, वह चोर है" तो चित्तमे ग्लानि होगी। विद्वान् कहे तो श्रद्धा होगी। आपने तो मनुष्यको देखा, पर अज्ञात वैदुष्य और चोरीका ज्ञापक कौन है? हमें इन्द्रियोसे परिच्छिन्न सृष्टि दिखाई पडती है। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूपोमे अपने संस्कारके अनुसार जो अच्छा बुरा देखते हैं, यह अज्ञात-ज्ञापन करते हैं। जो तुम्हे इन्द्रियोंसे मालूम नही, उसे बुद्धि मालूम कर लेती है।

बुद्धिसे सहज ही सामान्य-ज्ञान होता है। विशेष-ज्ञान सस्कारजन्य होता है। 'पशु है या मनुष्य' यह ज्ञान बुद्धि-सामान्यसे नहीं होगा। किसी व्यक्तिके बतानेपर ही 'पशु' या 'मनुष्य' सज्ञा बनती है। सामान्य ज्ञान बुद्धिमे स्वाभाविक होता है, पर विशेषज्ञान आहित यानी अध्यारोपित, डाला हुआ होता है—चार पैरोवाला पशु होता है और दो पैरोंवाला मनुष्य।

सामान्य ज्ञान अज्ञानका निवर्तक नही होता, विशेष ज्ञान ही उसे निवृत्त करता है। किसीकी भी बुद्धि संस्कार-रहित नही होती। जिसकी बुद्धिमें उलटे सस्कार पड गये हैं, उसकी बुद्धिमें सीधे सस्कार डालना आवश्यक होता है। जो बात इन्द्रियाँ नहीं जान सकती, उनके बारेमे दूसरा मनुष्य अपना अनुभव बताता है। वहाँ वचन, आप्तवाक्य प्रमाण होता है। कोई कहे कि "आप्त तो अपने-अपने सस्कारके अनुसार बहुत से हैं?" इसका उत्तर है

"एक वाक्य ऐसा भी है जो कहता हे फि 'इदम्' और 'तत्' एक है और 'इदम्' दृष्टि कारणसे पृथक नही है, क्योकि कारण ओर द्रष्टा दोनो एक ह। कारणत्व वाधित हो जाता है और द्रष्टापन दृङ्मात्र रह जाता है।

उपासनाके सब आचाय एकबार मिले तो बोले "सृष्टि तो सवज्ञ ईश्वरसे ही हुई है, सवज्ञ ईश्वरमे ही है, सवज्ञ ईश्वरमे ही लीन होगी।" सवज्ञ ईश्वरसे ही सृष्टि बनी है, इसमे केवल तीन मत हैं

(१) ईश्वरने सृष्टि बनायी आरंभवाद।

(२) ईश्वर सृष्टि बन गया परिणामवाद। और

(३) ईश्वर सृष्टि बनता नही, बनाता सा मालूम पडता है विवतवाद।

आरभवाद ईश्वरने सृष्टि बनायी तो किसी देश काल-वस्तुसे बनायी होगी। तव तो ये तीनो वस्तुएँ पहलेसे रही होगी, किसी नियमके अनुसार, किसी आधारपर बनायी होगी। तो, कर्म भी पहलेसे चाहिए। इस प्रकार देश काल वस्तु और कर्मके आधारपर सृष्टि बनायी तो क्या बनायी ? वह तो पहलेसे ही थी। जिनके द्वारा ये क्रम किय गये, वे भी थे। तव ता ईश्वरने केवल पुर्जे जोडनेका काम किया। इसीका नाम है आरंभवाद।

परिणामवाद ईश्वर सृष्टि बन गया तो पूराका पूरा या कुछ बाकी रह गया ? संन्यासी होनेके बाद हम एकबार गीताप्रेस, गोरखपुर गये। किसी पुस्तककी बात थी। वहाँ एक चिट्ठी आयी "ईश्वर जब धरतीपर आता है तब गोलोक-वैकुण्ठसे पूरा-

का पूरा उतर आता है ? तब तो गोलोक-वैकुण्ठ खाली हो जाते हैं या वहाँ एक रूपमे रहता है और दूसरे रूपमे धरतीपर आता है ? जो होता है उसमे पूरा कौन होता है और बनावटी कौन ? वह या यह ?"

भाईजी तो बडे भोले, भावुक थे। उन्होने बताया "हमसे इस चिट्ठीका उत्तर देते नही बनेगा, तुम दे दो।"

पहले भी हम रहते थे तो चिट्ठियोका उत्तर तो देते ही थे। वे लोग बडे विकट-विकट प्रश्न करते थे। प्रश्न यह है कि ईश्वर सृष्टि बन गया तो समूचा बदलकर बन गया या कुछ बाकी भी रहा ? मान लें, बाकी रहा, तो ईश्वरके दो हिस्से हो गये। वह कट गया—एक जड और दूसरा चेतन। कहें कि जडता बनावटी, चेतनता सच्ची। तो वेदान्त-सिद्धान्त आ गया, क्योंकि वेदान्तमे जडता मिथ्या है और चेतनता सत्य। यदि कहें कि सबका सब सृष्टि बन गया तो ईश्वर ही गायब। यदि कहें कि उसमेंसे आधा कट गया तो ईश्वरका अग-भग हो गया !

तब उस उपासनाके आचायसे यह बात होने लगी कि चेतन्य परिवर्तित होता है या नहीं ? वे अयोध्याके थे। "ईश्वर यदि अपने आपको बदलकर सृष्टि बन जाता है तो चेतन्यमे परिवतन होनेसे चैतन्यका ज्ञाता होगा या परिवर्तित चैतन्यका ? परिवर्तन-ज्ञान चैतन्य है न ? वह तो ज्यों-का-त्यों रहा, परिवर्तित नहीं

हुआ। परिवर्तन दूसरी वस्तुमे होता है, यहाँ दूसरी वस्तु तो है ही नही, तब? ईश्वर ज्यो का-त्यो रहता हुआ ही सृष्टिके रूपमे भासता है।"

वे आचार्य बोले 'मैंने इस बातपर ध्यान नही दिया था कि ईश्वर यदि सृष्टि बनेगा तो देश-काल-वस्तु भी वही बनेगा और बननेवाला रूप तो बाद मे होगा, वह स्वयं पहलेसे होगा। बननेवाला रूप बिगड जायगा तो वह स्वयं रह जायगा। एक तो ऐसा रूप जो सृष्टिके पहले भी था, प्रलयके बाद भी रहेगा, और एक ऐसा रूप जो पैदा हुआ और मिट गया तो सचमुच पैदा हुआ या नही? ईश्वरमे काल कहाँसे आया? पैदा होनेके पहले और पैदा होनेके बाद! यह सब हम लोग देहमे बैठकर सोचते है तब नही मालूम पडता। जब ईश्वरमे बैठकर सोचते हैं तो ऐसा मालूम पडता है। ये सारी समस्याएँ अपनेको परिच्छिन्न देह माननेके कारण उत्पन्न हुई है। हम विचारकी कसौटीपर अपनेको दुनिया मानकर दुनियाके बारेमे सोचते है। इसलिए पूरी दुनिया हमारे विचारके भीतर नहीं आती। कुछ हमारे भीतर छिप जाती है।

जब हम अपनेको दुनियामे अलगकर सचमुच चैतन्य जानकर देश-काल-वस्तुका द्रष्टा जानकर दुनियाको कसौटीपर कसें तो उसका कही अस्तित्व ही नही मिलेगा। यह तो परम सत्य, ऋतम्, बृहत् है। परब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नही! ●

२. स्वरूपके अधिगमकी प्रक्रिया

संगति

द्वितीय मन्त्र उद्देश्य विधेयकी दृष्टिसे पढ़ने योग्य है। उसमें बताया है कि जो दिव्य आकाशमें रहनेवाला सूर्य है वह अबाध्य ब्रह्म है : शुचिषद् हंस ऋतं बृहत्। अन्तरिक्षमें विचरण करनेवाला वायु अबाध्य ब्रह्म है : अन्तरिक्षसद् वसु ऋतं बृहत्। अन्यत्र भी वेद कहता है त्वमेव वायो प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। वेदीपर प्रज्वलित होने-

वाला प्रकाशमान अग्नि 'ऋतम्' ब्रह्म है वेदिषद् होता ऋतं बृहत्। जो चन्द्रमा है, सोमरस है, अतिथि है, जो हमारे द्वारपर है, कलशमे जलरूपसे है वह ब्रह्म है दुरोणसत् अतिथि ऋत बृहत्। जो मनुष्य देवता, आकाश और यज्ञमे है, वह वही ऋतम ब्रह्म है: नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् ऋत बृहत्। जो पानी, धरती, सत्य और पर्वतसे पैदा होता है वह सब कुछ ब्रह्म ही है। अब्जा, गोजा, ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।

वेदान्तकी प्रक्रियामे विश्लेषण करनेके लिए एक ही वस्तुको अनेक भागोमें विभक्त कर विवेक किया जाता है। उसे अनेक वस्तुएँ इष्ट नही, फिर भी विचार अनेक प्रकारसे किया जाता है। यथा :

(१) अहम् इदम् (२) कार्य कारण (३) सुख-दुःख (४) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और इनका साक्षी (५) पचकोश और इनमें विद्यमान पुरुष (६) विश्व तैजस् प्राज्ञ और तुरीय (७) अकार उकार मकार।

ये सब समझानेकी प्रक्रियाएँ हैं। जो किसी एक ही प्रकारको पकडकर बैठ जाता है, उसका दृष्टिकोण सकीर्ण होता है परमात्मा-को व्यापक दृष्टिसे देखें। एक है सकोरा और एक है घडा। दोनोकी आकृति, वजन, धरा, आयु, कार्य अलग अलग हैं, फिर भी हैं दोनों मिट्टी ही।

प्रयागके मेलमें दो चार व्यक्ति बैठकर सत्सग कर रहे थे। एकने कहा : "जेवर तोड़कर गला दिया जाय, सिल्ली बना दी जाय तो क्या उसका नाम सोना होगा?"

"नहीं, उसका नाम तो सिल्ली होगा, सोना कैसे?"

"अच्छा, तो यदि उसे तोडकर कण-कण कर दिया जाय तो उसका नाम सोना होगा?"

"नहीं, तब यह स्वर्ण कण होगा।"

"कंगन हार तोड़ देंगे तो वह सोना होगा?"

नहीं, आप भ्रममें बिलकुल न पड़े। सोनेको जाननेके लिए उसका कोई आकार तोड़ना बनाना आवश्यक नहीं, कसौटीपर उसका खरा उतरना ही काफी है। यही सोनेकी पहचान है। इसी प्रकार इन सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी, जल, नक्षत्र, पशु, पक्षी, मनुष्योंका आकार तोड़कर ब्रह्म नहीं बनाया जाता। यह बात नहीं कि ये टूटी शक्लमें तो ब्रह्म हैं और बनी शक्लमें संसार। ज्यों-का-त्यों आकार रहते "एकके विज्ञानसे सबका विज्ञात होना" वेदान्तकी कसौटी है। उसपर कसनेपर नाम रूप, अवस्था, आयु, घेरा, वजन, गुणधर्म, शील-स्वभावका भेद होनेपर भी सब ब्रह्म हैं।

आत्मविज्ञानकी कसौटीपर कसी जानेवाली वस्तु विवेकदृष्टिसे देखी जाती है। इसमें नाम रूप बाधित ही हैं। एक नाम-रूपवाला दूसरे नाम-रूपवाला नहीं हो सकता। 'पशु' 'मनुष्य' का नाम नहीं हो सकता और न 'मनुष्य' 'पशु'का नाम ही। द्विपाद पशु नहीं और चतुष्पाद मनुष्य नहीं। पहली आकृति दूसरीसे और दूसरी पहलीसे बाधित है। पहला नाम दूसरे नामसे और दूसरा पहले नामसे बाधित है। नाम-रूप ही परस्पर बाधित होते हैं, अज्ञात और परोक्ष सत्ता नहीं। उनमें जो अखण्ड सत्ता है वही प्रत्यक्षायमाण, साक्षादपरोक्ष है। जो स्वर्गादिके समान परोक्ष नहीं और न घटादिके समान इन्द्रियग्राह्य-आकृति है जो कार्य-कारण, द्रष्टा-दृश्य और जीव-ईश्वरकी कल्पनासे विनिर्मुक्त है तथा जो अद्वितीय अखण्ड-सत्ता, प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न, ऋतम् और बृहत् है वही है ब्रह्म।

अब तुरीय मन्त्र द्वारा एक नयी प्रक्रियाका निरूपण किया जा रहा है, जिसमें बताया गया है कि परमात्मा जैसा खण्ड-खण्ड रूपमें है

वैसा प्रखण्ड रूपमे भी। उसमे खण्ड-प्रखण्डका कोई भेद नही। वामन को देखें तो 'त्रिविक्रम' पहचानमे आ जायगा। हमारे सनातनधर्मकी बड़ी विलक्षण रीति है। बलि बोले "हम धरतीके राजा हैं।" जो धरतीका राजा है, वह देहका भी राजा होगा। भले ही ये लोग धरतीके राजा बन जायें, देहके राजा नहीं बन सकते।

आजकल अखबारोंमे निकलता है 'लोकतन्त्रकी विजय!' एक रियासतके राजा कांग्रेसमे शामिल होते और प्रजासे कहते 'तुम सब कांग्रेसको वोट दो।' सारी प्रजा कांग्रेसको वोट देती है। जब वे कांग्रेसको छोड़कर स्वतन्त्र पार्टीमे जाते और प्रजासे कहते 'स्वतंत्र-पार्टीको वोट दो' तो प्रजा भी स्वतन्त्र-पार्टीको वोट देती। जब वे 'निर्दलीय' होकर खड़े हो जाते तो प्रजा 'निर्दलीय'को वोट देती। जब वे अपने किसी मेहमान मित्रको वोट देनेको कहते तो प्रजा उसीको वोट देती। प्रश्न है, यह लोकतन्त्रकी जीत है या गुलाम मनोवृत्तिका सबसे बड़ा नमूना? गुलामकी ऐसी मनोदशा है कि लोग स्वतन्त्र रूपसे सोच ही नहीं पाते कि क्या उचित है और क्या अनुचित? लोकतन्त्रकी जीत हो गयी तो गुलाम मनोवृत्ति बढ़ गयी। एक आदमीके पीछे पचीस-पचास लाख आदमी उसके कथनानुसार पार्टीको मत दें, उनका कोई स्वतन्त्र विचार, कोई स्वतंत्र निर्णय न हो तो यह लोकतन्त्रकी उन्नति हो रही है या अवनति? अतः आप घसीटे मत जाओ।

लोग अपने शरीरके, अपने मनके तो राजा नहीं और मानते हैं कि 'हम सारी धरतीके राजा हैं।' राजा यानी दूसरोंको गुलाम बनाने-का अधिकार। अब यह सामन्तशाही फिर लौटकर आनेवाली नहीं। कभी कालचक्र घूमकर आता है तो वैसे कभी आये तो आये।

साराश, बलिको ख्याल था कि "मैं तीनों लोकोंका राजा हूँ, मालिक हूँ। जिसे चाहूँ उसे धरती दे दूँ।" धरती बलिके बाप

विरोचन, दादा प्रह्लाद और परदादा हिरण्यकशिपुके हाथमें नहीं रही, तो उसके हाथमें कहाँसे रहेगी ? फिर भी अभिमान था कि 'धरती हमारी है !' अभिमानवश बलि बड़े बन गये और भगवान् छोटे। स्वयं बलिने भगवान्को छोटा बनाया या नहीं ? यह नहीं कि भगवान् छल कपट कर आये ! मनुष्य जब अपनेको बड़ा बनाकर सिंहासनपर बैठाता है तो ईश्वरको वहाँ छोटा हो जाना पड़ता है। सचमुच यह जीव मानता है कि मैं तो हूँ साढ़े-तीन हाथ और ईश्वर इस शरीरमें कहीं कोने अंतरेमें बैठा है।

बलि जब यज्ञ-याग दान करता है तो उसके सामने एक नन्हे से कणके रूपमें ईश्वर आता है। वास्तवमें ईश्वर कण नहीं, कण-सरीखा दीखता है। जिसे दहराकाश, हृदयाकाश बोलते हैं उसमें यह वामन है—वक्ता है, शब्दोंकी के = उद्‌गीरण, वमन करनेवाला 'वामन' है। 'वामयति इति वामन'—जो सबको सुन्दर बना दे, उसे 'वामन' कहते हैं। दहाराकाशमें एक नन्हीं-सी रोशनी प्रकट हुई और अन्तमें वह 'त्रिविक्रम' बन गयी। घड़ेमें जो आकाश प्रकट हुआ, उसे पहचान लिया तो वह महाकाश बन गया।

यह त्रिविक्रम कौन है ? विश्व, तैजस, प्राज्ञ त्रिविक्रम है। विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर त्रिविक्रम है। आया वामन और हो गया त्रिविक्रम। त्रिविक्रम होकर सारी सृष्टि अपनेमें नाप ली तो बादमें रहा ही क्या ? ज्यों-का-त्यों ! यह पुराणकी वामनकी कथा है। वेदमें यह मन्त्र आता है

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

शतपथ-ब्राह्मणमें भी आता है :

वामनो ह विष्णुरास।

जो वामन था वही विष्णु बन गया। जो जीव था, वही शिव हो गया। जो छोटा, परिच्छिन्न था वही व्यापक, अपरिच्छिन्न हो गया। पहले छोटे को ढूंढ़ लें तो बड़ा अपने आप मिल जायगा।

पहले जब सनातन धर्म और आर्यसमाजका झगड़ा चलता तो जिन जिन मन्त्रोमे 'वामन' शब्द आता, उन्हे लेकर सनातनी आर्य समाजीके सामने रखते और कहते "देख लो, यह वामन भगवान्का वर्णन है।"

जिज्ञासु प्रश्न करता "अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका स्वामी देशके किसी एक कोनेमें किसी एक विशेष आश्रम कैसे रहता है ?"

उत्तरमें कहा जाता "वह तो वैकुण्ठमें रहता है।"

प्रश्न "तो क्या वह धरतीपर नहीं रह सकता ? देवकी दिव्यता सातवें आसमानमे रह सकती है तो इस घिरे आसमान, मकानमें नहीं रह सकती ? जो वहाँ है, वह यहाँ भी दीख सकता है यदेवेह तदमुत्र। जो कार्यमे दीख सकता है, वह कारणमे भी दीख सकता है और जो कारणमे दीख सकता है वह कार्यमें भी। जो वैकुण्ठमें है, वह हृदयमें और जो हृदयमे है, वह वैकुण्ठमे। यह तो एक अनुसंधान, उपासनाकी प्रक्रिया है। दोनो प्रक्रियाओसे बात पहचानी जाती है। तो आइये, हम हृदयमें ढूंढे। इसी अपने मन त स्वरूपके अधिगमका जो साधन है, उसे बतानेके लिए यह तीसरा मन्त्र प्रवृत्त होता है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

जो प्राणको ऊपरकी ओर ले जाता है और अपानको नीचेकी ओर ढकेलता है, हृदयके मध्यमे रहनेवाले उस वामन—भजनीय-की सब देव उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। जो वायु हमारे शरीरमे ऊपर व्यापार करता दीखता है, वह 'प्राण' है और जो नीचे आता जाता दिखायी देता है, वह 'अपान' है। कई लोग कहते हैं कि 'नीचेके रास्ते अपानमे प्राणवायु मिल जाती है, विष्ठा-मूत्र हो जाती है। जब प्राणवायुमें अपान वायु मिल जाती है तो ऊपरके रास्ते निकलती है।' प्राणवायु अपानमे मिले और नीचेके रास्ते निकले तो मृत्यु हो जाय, ऊपरके रास्ते जाय तो समाधि लगे। इसकी बहुत अद्भुत गति है।

हृदयाकाशमें न पचभूत हैं, न हड्डी-चाम-मास, चरबी, खून, नस-नाडी हैं। वह एक ऐसी जगह है जो बिलकुल खाली है।

मध्ये वामनमासीनम्। एक वामन भगवान् हैं। वे प्राण-अपान-के बीच बैठे हैं। वे बडे सुन्दर हैं, चिन्मात्र वस्तुरूप। उनमे जडता-का कोई ससर्ग नही। ये सारी इन्द्रियाँ उन्हीकी उपासना करती हैं। वास्तवमे वामन विष्णु यानी व्यापक परमात्मा हैं। वे केवल हृदयाकाशमें सीमित नही।

शरीरमे एक प्राण, एक अपान, एक विश्वेदेवा, एक उसकी उपासना और एक स्थिर बैठा हुआ वामन है। ब्रह्म न विद्याका प्रवर्तक है, न अविद्याका निवर्तक। उसमे तो जो भासे वही ठीक।

'अदिति' ब्रह्मविद्या है और उसके पति हैं 'कश्यप' यानी द्रष्टा, पश्यक। 'पश्यति इति पश्यको भवति'—देखनेवाला 'पश्यक' कह-लाता है। वर्णव्यत्यय करके 'पश्यक' का ही 'कश्यप' बन गया है। इसी अदितिके उदरसे वामन आविर्भूत हुए हैं। नन्हें-मुन्ने बटु-के रूपमें उन्ही वामनने बलिके निकट जाकर तीन पग धरती माँगी। बलिके संकल्प करते ही उन्होंने एक पगमें यह लोक नाप लिया, दूसरे पगमें परलोक और तीसरेमे बलिका अहम्

पद तृतीय कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनो अवस्थाएँ, सत्त्व, रज, तम तीनो गुण, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनो देव, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण त्रिपुटी—सारा वामनने त्रिविक्रम बनकर नाप लिया। त्रिविक्रम यानी विराट्, हिरण्यगभ, ईश्वर। जिसे तुम इस शरीरके भीतर नन्हा मुन्ना चेतन वामन समझते हो, वह नन्हा मुन्ना चेतन वामन नही ह, यह तुम्हारे घर का कोई छगन-मगन नही है। वह 'त्रिविक्रम' है। वह अपना देहाभिमान छोडकर प्रथम चरणमे विश्व-चैतन्य, विराट् हुआ, दूसरे चरणमे तैजस् चैतन्य, हिरण्यगभ हुआ आर तीसरेमे प्राज्ञ, ईश्वर चैतन्य हुआ। तीन पगोमे त्रिविक्रमने सारे प्रपचको नाप लिया। त्रिविक्रम कौन है? तीनो विक्रम हैं, बलि कौन है? उसके व्यक्तित्वका बलिदान हो गया।

विश्वे देवा उपासते। बीचमे बैठे विश्वेदेवा इस वामनकी उपासना करते ह। ये कौन है? ये ऑखोमे सूय, कानोम दिशाएँ नाकमे अश्विनीकुमार, जिह्वाम वरुण और अग्नि, त्वचामे वायु और हाथोमे इन्द्र ह। सारे शरीरमे देवता ह। विश्वे=सब और देवा=इन्द्रियाँ। ये क्या करती ह? बडे प्रेमसे, भक्तिपूवक उसकी पूजा करती हैं, जैसे प्रजा राजाकी करती है।

प्रेमके बारेमे लोगोको भ्रम होता है। एक प्रेमी होगा तो कहेगा "हे हृदयेश्वरी, प्राणेश्वरी! हम तुम्हारी पूजा करते है, तुमपर बलि होनेको तैयार हैं।" लेकिन यह बिलकुल गलत बात है। क्योंकि आँख बाहर दिखायी पडनेवाले रूपका मजा लेती है, वह बाहर देखती है या भीतर? आपने चमेली, गुलाब या कमलका फूल सूँघा तो क्या आपकी नाक वह सुगध प्रेयसीको जाकर देती

है ? वह तो जो भीतर बैठा है उसे देती है। तो, आप प्रेम किससे करते हैं, बाहरवालेसे या भीतरवालेसे ?

न वा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

अर्थात् अपने ही प्रेमके लिए पति पत्नीसे और पत्नी पतिसे प्रेम करती है। वास्तविक प्रेम अपने लिए है। ये इन्द्रियाँ अपने आपसे यानी सब इन्द्रियोके बीच यह जो सुन्दर बटु वामन, नन्हा मुन्ना बैठा हुआ है, उसीसे प्रेम करती हैं। इसीलिए कहते हैं 'विश्वे देवा उपासते।'

हाथ कर्म करके, पाँव चलकर, गुदा विसर्जनकर तथा मूत्रेन्द्रिय आदि शेष सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्म करके इसीको सतुष्ट करती है। यह सब इसीकी प्रजा है। शरीरमे किसका जीवन है ? नीचेसे अपान वायु निकलती है, ऊपर प्राणवायुका व्यापार चलता है। इन्द्र कर्मका देवता है तो उपेन्द्र गतिका। चलना इस साँवरेमे ही हो रहा है। आकाश साँवरा है, उसमें सूर्य चलता है। बिना अवकाशके चलना नही होता। इसीलिए गतिका देवता विष्णु, व्यापक है। स्वर्ग, नरक, सामने-पीछे, ऊपर नीचे, दाँये बाँये चाहे कहीं जाओ, बिना गतिके चलना हो ही नहीं सकता। सपूर्ण गति अवकाशात्मक विष्णुमें ही होती है। वही अवकाशात्मक विष्णु हृदय-कमलमें विराजमान है

हृदयपुण्डरीकाकाश आसीनम्।

यह हृदय कैसा है ? गणेशका सा आकारका है

खर्वं स्थूलतनु गजेन्द्रवदनम्।

खव=वामन। गणेशके पाँव छोटे-छोटे होते ह और पेट बडा। हाथी बडा बुद्धिमान् होता है। "हृदय कमलमे हाथीकी तरह वह बैठा है" ऐसा ध्यान करो तो साकारकी कल्पना बन जायगी। 'हृदयकमलम कोई शरीरधारी वामन बैठा है," अथवा "एक छिद्र है—सुशिर, जैसे बाँसुरीमे पोल होती है।" यह हृदय छिद्र ह। देखनेमे वह छोटा लगता है, क्योकि हमारी कल्पनामे वह मास पिण्डसे घिरा ह। किन्तु उसमे जो चैतन्य आकाश है, उसके लिए छादोग्य-श्रुतिमे दहर-उपासनाके प्रसगम बताया है कि दहर यानी पुण्डरीक देशमे उतना ही बडा आकाश है जितना बडा वह बाहर दीखता है

ब्रह्मपुर पुण्डरीक वेश्म।
यवेतस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरे पुण्डरीक वेश्म।

जितना बडा आकाश बाहर है, उतना ही शरीरके भीतर दहरमे—इसका अभिप्राय यह है कि घडे या मकानकी दीवारसे यह आकाश छोटा लगता है, पर छोटा नही है। हृदयकी दीवारके कारण भल ही वह छोटा लगे, पर छोटा नही है, वह चिदा-काश है। एक चिदाकाश है, एक चित्ताकाश और एक भूता-काश। उपाधिपर दृष्टि पडनेके कारण छोटा मालूम होता है। कमलकी आकृतिपर दृष्टि होनेके कारण छोटा मालूम पडता है। कमलके पेटम गट्टा होता है, वैसे यह नही है। वह हृदय-कमलसे परिच्छिन्न होनेपर भी हृदय-कमलसे परिच्छिन्न नही है।

भाष्यमे श्री शकराचाय कहते हैं

बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनम् ।

बुद्धिमे जिन जिन विज्ञानोकी अभिव्यक्ति होती है–घडा, कपडा,

मकान, अणु, राकेट, विमान—सब विषयभेदके कारण अलग-अलग मालूम पडते है पर वे सर्वथा एकमात्र रहते हैं। शाम, रात, सुबह, दिन—ये चारो विज्ञान अपने कालरूप विषयमे भेदकी कल्पनाकर अलग-अलग होते हैं, पर यह कालभेदसे भिन्न-भिन्न नही होता। घडेमे छोटा आकाश, मकानमे बडा आकाश और बिना मकानके सबसे बडा आकाश—यह विज्ञान वही प्रकाशित कर रहा है। जिन-जिन विज्ञानोकी अभिव्यक्ति होती है, उन सबका वह प्रकाशक है।

बुद्धिमें अभिव्यक्त होनेवाले सभी विज्ञानोको—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिको, बुद्धिके भावाभावको भी वह प्रकाशित करता है और जिस शीशेमे दुनिया दीख रही है, उसे भी प्रकाशित करता है।

यह 'मैं' वामन है। वेद बताते हैं कि यह जो वामन बैठे हुए हैं - **अहम् अहम् इति साक्षात्** ये ही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिको, पाताल, मर्त्यलोक, स्वर्गको, नीचे-ऊपर विद्यमानको, भूत, भविष्य, वर्तमानको, प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणको, त्रिकाल, त्रिदेश, त्रिपुटीको, त्रिवस्तु, त्रिगुण, त्रिदेवोंको नापते हैं। सबको माप लेनेवाले मापक ये ही वामन हैं। मापकके अन्तर्देश या बहिर्देशमें स्थित होकर यह प्रपञ्च और यह भेद भी प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस समयके या प्राक्कालीन संस्कार अभिव्यक्त हो रहे हैं। वर्तमान प्रतिबिम्बनका हेतु पूर्वसस्कार और पूर्वसस्कारका हेतु उसका पूर्वसस्कार—ऐसा उत्तरोत्तर क्रम लगा है, किंतु यह पूर्वसंस्कार सत्य है या मिथ्या ? मिथ्या सस्कारकी भी अनुभूति होती है। यह संस्कार बिलकुल मिथ्या हैं, नही है, नही होगा। उसी मिथ्या संस्कारजन्य जो दृश्य है वह विश्वके रूपमे अपने स्वरूपमें प्रतिबिंबित हो रहा है। बुद्धिमे प्रकाशित सभी विज्ञानोका संभजनीय

बनकर वामन बैठा है। यह रूपादि विज्ञानरूप बलिका अपहरण-कर प्रजा-राजाकी तरह है।

तादर्थ्येन अनुपरतव्यापारा भवन्ति। उसीके लिए मन-प्राण सब इन्द्रियाँ काम कर रही हैं। वायुमे पाँच प्राणोका भेद नही, यह कम-वृत्ति है। एक ही बिजलीका नाम रोशनी, पखा, हीटर है। निम्न-गामी वायु अपान है और ऊर्ध्वगामी प्राण, सामजस्य = समान, उकारादि=उदान। अर्थात् इस शरीरमे वही वामन हाथ हिलाने और साँस चलानेका हेतु है। क्रियाशक्तिविशिष्ट प्राण और सस्कार-शक्तिविशिष्ट चित्त काम कर रहा है, यह औपाधिक है। सम्पूर्ण उपाधियोका निरसन और परित्याग कर देनेपर जो अपना आपा है, उसका अबाध अस्तित्व है।

यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापारा, सोऽन्य सिद्ध इति वाक्यार्थ।

जैसे मोटरमे बैठनेवाले मालिकके लिए उसके अलग-अलग पुर्जोंका सघात है और मालिक ही उसका संचालन करता है वैसे ही शरीरमे बैठा वामन शरीरका सचालन करता है। शरीरकी उपाधिसे यह वामन है। 'नेति-नेति' कर जहाँ शरीरको छोडो, (सस्कृतमे छोडनेका अर्थ मारना नही, बुद्धिसे छोडना होता है।) वही तुम्हे अपने आत्मस्वरूप, ब्रह्मात्मैक्यका बोध हो जायगा।

तुमने अपने 'मैं' को देहमे बिठा रखा है। बुद्धिसे इसी 'मै' को 'भूताकाश' और 'चित्ताकाश'के अधिष्ठान 'चिदाकाश'मे जोड दो ! एक आकाश वह होता है जिसे हम बाहर देखते हैं। वास्तवमे आकाश दीखता नही, हम नीलिमा पर्यंत देखते है। क्या आकाश नही दीखता ? अंधेरा होता है तो कहाँ नीलिमापर्यन्त देखते है ? तुम प्रकाश देख रहे हो। नेत्रका विषय नीला-श्वेतरूप है, आकाश नही ! तो आकाश कैसा है ? जिसमे चिडिया उडती हैं, अंधेरा आता है।

यह कितना बडा है ? ध्यान करोगे तो अवश्य तुम्हारे चित्तकी असमथता आकाशके सिर पडेगी और तुम उसे चित्ताकाश देहसे परिच्छिन्न बनाते हो ? पेट-मुँह, देहके भीतर पोल है। देहसे आकाशको परिच्छिन्न बनाते हो या आँख बदकर चित्तसे आकाशको परिच्छिन्न बनाते हो ? न भूताकाश है और न चित्ताकाश। चिदाकाश जो अपना आपा है उसके न होनेकी कल्पना न कालमे है, न देशमे, न वस्तुमे। इस अखण्ड-अनन्त वस्तुमे 'मैं' क्या है ? यह बिलकुल सस्कारसे मालूम पडता है। बच्चेको जब सस्कार डाल देते हैं कि तुम्हारा अमुक नाम मोहनलाल, तब कोई मोहनलालको गाली देने लगे तो वह बिगडता है, नाराज होता है। उसे यह सिखाओ कि 'गाली मोहनलालको दी है, तुम्हारा नाम तो सोहनलाल है, तुम्हें गाली नही दी है तो वह क्या जल्दी मान लेगा ? नही। पहले जो तुमने मोहनलाल होनेका संस्कार उसकी बुद्धिमे बैठा दिया, अब सोहनलाल होनेका सस्कार बुद्धिमे बैठता ही नही, क्योकि पहले वह मान बैठा है कि "मैं मोहनलाल हूँ।"

आपका नाम जीव है। भले ही नाम बदल दें, ब्रह्म नाम रखें, पर आप अपनेको मानेंगे देह ही।

एक आदमी कहता है "ईश्वर तो साकार है।"

"हाँ, जहाँ तुम बैठते हो, वहाँसे ईश्वर साकार मालूम पडता है। कैमरेसे फोटो जिस कोणसे लें वैसा फोटो खिचता है। लम्बा आदमी नाटा और नाटा लम्बा, कुरूप सुंदर और सुदर कुरूप, मोटा दुबला और दुबला मोटा दीख सकता है। शीशेमे ऐसा कोण बना देते हैं कि तुम्हारा मुँह गधेकी तरह हो जाय। कपडे उठते जाते हो, तो हम नगे हों रहे हो ऐसा दीख पडता है।

क्या तुमने जाँचकर अपने शरीरमे मैं' को बैठाया है ? जहाँ अपने 'मैं' को भूताकाशमे बैठाया कि धरती गायब। ये ग्रह-

नक्षत्र गायब ! जितने तारे चमकते है वे सबके सब गायब ! अपने-को चित्ताकाशमे बैठाओ तो बाहरके खयाल सब गायब हो जायगे और चिदाकाशमे बैठाओ तो न तुम पापी पुण्यात्मा, न सुखी, न नरक-स्वर्गमे जाने-आनेवाले। फिर दुनियाकी जाँच करना, खास ढगका चश्मा लगाना और फिर दुनियाको देखना—यही मुख्य कारण है कि हमे ठीक ढगका पता नही चलता।

इसलिए उस वामनतक पहुँचो जो त्रिविक्रमसे वामन और वामनसे त्रिविक्रम हो जाता है, जो जीवसे ईश्वर और ईश्वरसे जीव हो जाता है, जो विद्यासे परे होकर फिर विद्यामे आता है और फिर विद्यासे परे हो जाता है। उसके साथ एक होकर देखो कि यह सृष्टि कैसी मालूम पडती है। जिसके लिए यह सृष्टि है और जिसकी प्रेरणासे इन सारी इन्द्रियोका व्यापार चलता है, वह इस परिच्छिन्नतासे पृथक् है। परिच्छिन्नता उसमे कल्पित है। यदि आपने बिना जाँच किये कल्पना कर ली कि "मै अणु हूँ" तो वेदान्त कहता है "देखो, तुमने विना जाँच किये अपनेको अणु मान लिया है तो जाँच करके अपनेको बृहत् मानो। अनु-सधान करनेपर जानोगे, तो वह ठीक ही होगा। बिना अनु-सधान किये जैसी कल्पनासे तुमने अपनेको जीव माना, ठीक वैसा ही सजातीय कल्पनासे अपनेको ब्रह्म मान लो। फिर सोचो कि "मै तो ब्रह्म हूँ, मेरे किस हिस्सेमे यह सृष्टि है? मुझमे सृष्टिका भार कितना है—सेरभर या मनभर? सृष्टिका वय कितना है—एक कल्प या दस कल्प? मेरे स्वरूपमे यह सृष्टि कितनी फैली है?" आप देखेगे कि इस कल्पित ब्रह्मदृष्टिके आगे न काल-की आयु है, न देशका विस्तार है और न वस्तुका वजन। यह सब देखनेभरके लिए रह जायगा।

●

३. देहातिरिक्त चेतनकी पहचान

संगति

हम राजस्थानमें रतनगढ़में रहते थे। चाँदनी रातमें बालूके मैदानोंको देखते। वहाँ मीलोंतक बालूके सिवा कुछ नहीं है। बालूके बड़े-बड़े टीले हैं। हवा आकर बालूको इधरसे उधर कर देती है। हम रातको गाँवके बाहर दो मीलतक दूर ऊँचे टीलेपर बैठ जाते। चाँदनी रातमें मालूम पड़ता कि वहाँ बड़ा भारी समुद्र है। दिनमें आकर निर्णय कर लिया कि यहाँ पानीका कोई दरिया नहीं है। रातमें कहीं वह गहरा मालूम पड़ता, कहीं पाँच-दस या पचास हाथ गहरा दीखता। उसमें ज्वार भाटा दीख पड़ता, घड़ियाल उछलनेका आभास होता। लेकिन उस प्रतीयमान समुद्रके अधिष्ठान मरुस्थलके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जानेके कारण समुद्र बाधित हो गया।

अनन्त, अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, अविनाशी, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न चैतन्य तो अबाधित सत्य है। उसके मिथ्यात्वका दर्शन कभी हो ही नहीं सकता। यद् बृहन्न भवति ऋतं न भवति। जो अपरिच्छिन्न, अनन्त, अद्वय नहीं, वह सत्य नहीं। उससे पृथक् होकर कोई वस्तु सच्ची नहीं हो सकती। बादमें श्रीशंकराचार्यने यह प्रश्न उठाया कि इस बृहत्का अनुभव कैसे हो? आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते।

तृतीय मन्त्रमें स्वस्वरूपके अधिगमकी युक्ति बतायी गयी। आनन्दविज्ञानाचार्य और गोपालस्वामी कहते हैं कि नचिकेताने पहले प्रश्न किया : "मरनेके बाद आत्मा रहती है या नहीं? येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये।

यह सशय है कि मनुष्यके मर जानेपर आत्मा रहती है या नही ? इस संशयका निवारण करनेके लिए तीसरा मन्त्र प्रारम्भ किया और आत्माके अस्तित्व द्वारा ब्रह्माधिगमकी प्राप्तिका उपाय बताया। इसके लिए विवेककी प्रणालीका निरूपण किया।

जीव किसे कहते हैं और देह किसे ? साँस कभी बाहर निकलती है तो कभी भीतर जाती है। कभी नीचेसे अपान वायु निकलती है तो दोनो क्रियाएँ होती हैं। मुँहमें ग्रास उठाकर रखना चाहते है। आँखें देखना, हाथ पकडना और पाँव चलना चाहते हैं। ये पाँव जिसके लिए चल रहे हैं, उसीके लिए आँखे देखती हैं, हाथ उठ रहा है और मुँह खाता है। इन्द्रियोंके ये काम तो अलग अलग हैं, पर किसी एकके लिए हो रहे हैं। रथके दोनो पहिये घूमते हैं, घोडा जुडता है, बैठनेकी जगह उसीमें होती है, किन्तु रथकी चेष्टा चेतनके लिए होती है या नही ? इसी प्रकार प्राणों-इन्द्रियोंके सब काम चेतनके लिए और चेतनके करवाये होत हैं, क्योकि ये सब तो जड चेष्टाएँ है। आत्मा हड्डी मास चाम आदि शरीरसे, हाथ पाँव आदि इन्द्रियोसे, प्राण-अपान वृत्तियोसे भी पृथक् है। ये सब रथकी तरह ह और उसमें चेतन जीव है जो इनसे पृथक् है। शरीरके छूटने टूटनेपर जिसके लिए यह शरीर है, वह टूटता-छूटता नहीं।

अब यह चतुर्थ मन्त्र चेतनकी पहचान करानेके लिए प्रवृत्त होता है।

अस्य विस्रसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥
एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

जानेपर भला इस शरीरमें क्या रह जाता है ? [अर्थात् कुछ भी नहीं रहता] यही वह [ब्रह्म] है ।। ४ ।।

इसी शरीरमें बैठा जो शरीरका स्वामी है; जिसके कहनेसे हाथ उठ गया, जीभ बोलने लगी; जो इस शरीरमें वक्ता, श्रोता, द्रष्टा, मन्ता और विज्ञाता है; जो इनमें रहकर शरीरका संचालन करता है और जिसके लिए शरीर काम करता है, वह शरीरसे पृथक् है। उसकी खोज करें कि वह क्या है? वह ज्ञान, वह चेतना शरीरके भीतर कहाँ बैठी है या वह सबसे पृथक् है? वह तो ब्रह्म है। यदि तुम्हें यह बात मालूम हो जाय कि वह ब्रह्म है तो तुम्हें फिर और जानना शेष नहीं रहेगा।

जहाँ हम जान गये कि उसका नाम जीव नहीं, ब्रह्म है तो प्रयोजन पूरा हो गया। नामके बदले नाम मत रखो। मनुष्य संन्यासी होता है तो नाम बदल जाता है। 'घसीटाराम' 'रामानन्द' हो जाता है। नाम बदलनेसे तो काम नहीं चलता। यह जीवात्मा ब्रह्म है, यानी यह किसी लम्बाई-चौड़ाईसे सीमित नहीं है। प्रस्तुत संसारमें जो और लंबाई-चौड़ाई मालूम पड़ती है वह इसीके कारण है। वस्तुओंमें आयु और वजन इसकी सत्तासे ही कल्पित है और मास, वर्ष, युग, कल्प, मन्वंतर भी।

कोई आदमी आकर कहता है : "हम जान तो गये कि हम ब्रह्म है, पर यह वृत्ति टिकती नहीं, क्या करें?" तो उससे पूछिये : 'तुम्हारी वृत्ति कहाँ जाती है?' यदि वह कहे कि 'अन्य वस्तुओंमें जाती है' तो पूछिये : "यह कैसी बात है कि तुम अपनेको ब्रह्म जान गये और वृत्ति भी रह गयी, अन्य वस्तु रह गयी और वृत्तिका जाना-आना भी रह गया?" जब तुम ब्रह्म हो तो अन्य वस्तु है ही नहीं। न मन मर गया और न देह! देह और

वृत्ति भी अन्य नही है, उसका जाना-आना और प्रपच भी अन्य नही है। तब तो तुम्हारी वृत्तिमे जो स्फुरण है वही ब्रह्म है

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधय ॥

ब्रह्मसे भिन्नताका भान होनेके कारण ही तुम्हारे लिए अभी वृत्तिका लगना-टूटना बना रहा। वृत्ति भी सत्य है और जिसमे वृत्ति गयी वह भी सत्य है, तो तुम अपनेको ब्रह्म नही, देह जानते हो। विचार विवेक करना पडेगा कि वास्तवमे हम देहसे पृथक् ह। जो लक्षण देहका है, वही मेरा है या कुछ अलग है ? पहचान ही भिन्न है, वस्तु नही।

यह शरीर जिसके लिए है, उसका नाम है जीवात्मा

शरीर चेतनतेय चेतनाय भवति।

यह चेतनके लिए है। रामानुज सम्प्रदायमे जीव शेप है और परमात्मा शेषी। जीव परमेश्वर चेतनका शेप है। शेपकी गोदमे भगवान् रहते ह। शेप बडा ह, उसका विस्तार लम्बा चौडा है, उसकी गादमे रहनेवाल विष्णु भगवान् नन्हे-से ह। शेप जिस क्षीरसागरमे रहते हैं वह तो और विशाल है। क्षीरसागर जिस विशालताम रहता है, उस विशालताका तो पूछना ही क्या ? अनन्तमे क्षीरसागर, क्षीरसागरमे शेष और शेपकी गोदमे नारायण जो वामन (उपेन्द्र) है।

देहमे बचपन, जवानी, बुढापेके रग बदलते रहते है। देहमे मनुष्यपन, ब्राह्मणपन, सन्यासीपन आरोपित है। यह देह किसके लिए काम करनो है ? पाँवसे चलना, जीभसे खाना और बोलना, कानसे सुनना किसके लिए है ? किसके आनन्दमे शरीरमे क्रिया-प्रतिक्रियाएँ हो रही है ? उसीका नाम 'जीव' है।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिन । जब यह शरीरसे पृथक् होता है। देह = ढेर, 'दिह उपचये'। इस विकीर्ण होने-वाले शरीरमें स्थित देहीमें ज्ञानोका ढेर हो जाता है। एक ही वस्तुके विषयमे एक नहीं, अनेक प्रकारके ज्ञान होते हैं। जैसे किसीको यह शका हो जाय कि जिस रास्तेसे हम चल रहे हैं, उसकी दाहिनी ओर हमारा घर पड़ता है या बायी ओर? कभी बुद्धि बतायेगी कि दाहिनी ओर है, तो कभी बतायेगी बायी ओर। ऐसे दो ज्ञानोका इकठ्ठा होना सशय है। 'एकधर्मीमे उभयकोटचा-वगाही ज्ञान'का नाम 'सशय' या सन्देह है।

सन्देह = सम्यक् देह। देह क्या है? इसमें तुम हड्डी-मास-चाम, विष्ठा-मूत्र क्या हो? यह सब टूट-फूटकर विशीर्ण हो जाता है, इसलिए इसे 'शरीर' बोलते है 'शीर्यते यत् तद् शरीरम्।' यह सोनेका सा शरीर किसी काम नही आयेगा।

हमारे एक मित्र हिन्दू विश्वविद्यालयसे एम० ए० हुए देखनेमे बडे सुन्दर और मधुर थे। जब उनके सामने चर्चा आती कि "शरीरमे हड्डी मास चाम विष्ठा मूत्र है और यह विकीर्ण हो जायगा" तो कानम उँगली डाल कहते 'राम-राम।' लेकिन क्या बतायें? हमारे देखते देखते उनका सुचिक्कण शरीर वैसा सुन्दर नही रहा। उनके काले बाल सफेद हो गये, चमकते दाँत टूट गये, कमर लटक गयी, पर मन नही लटका। बडे रसिया हैं। देहमे झुर्रियाँ पड गयी, मुँह पोपला हो गया, गाल पिचक गये, फिर भी भीतर रसिक बना कौन बैठा है? 'शरीरस्थस्य देहिन' इस बिखरे शरीरके भीतर एक देही है जो बोलता है 'मैं हूँ हाथ-पाँववाला, नाक आँखोवाला।'

देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। लेकिन जब यही शरीर विस्र समान होता है तब वह केवल इसकी वासना ही लेकर इसमेसे उडता है। इस जीवन, इस शरीरमे क्या रखा है, यह तो बताओ ?

एकबार हम लोग एक ऐसे आश्रमम गये जहाँ दिव्य स्वगको धरतीपर उतारनेके लिए प्रयोग जारी है। वे कहते है "हम धरतीपर स्वग उतार लगे और धरतीको स्वर्ग बना देगे।" हम सब लोग वेदान्ती थे। मै, सनातनदेवजी (सब उपनिषदोकी हिन्दी उन्होने की है जो गीताप्रेससे छपी है। उनका नाम पूर्वाश्रममे मुनिलालजी था, वृन्दावनमे हमारे पास ही रहते है। हमारे आश्रमके वे ट्रस्टी भी है।), रामनारायणदत्त शास्त्री (गीताप्रेसके) और पडित रमाकान्त त्रिपाठी थे। हम लोग गये और एकने पूछा "जब यह सृष्टि दिव्य होगी तो बच्चे पैदा करनेकी क्रिया भी दिव्य होगी या नही ? धातुस्खलन होगा या नही।' बिलकुल खुल्लमखुल्ला प्रश्न किया।

फिर एकने पूछा "धरतीपर स्वग उतर रहा है, मनुष्य दिव्य हो रहा है तो यह पाँव कसे टूट गया ?"

जो दिव्य स्वर्गको धरतीपर ला रहे थे, वे मर गये।

बगालमे यह रिवाज है कि लोग मरे हुए शरीरको मसालेमे बदकर रखते हैं। उनकी यह धारणा होती है कि पचास-सौ दो-सौ वष बाद ये जिदा होगे। यही शरीर उठकर फिर लोगोमे धमका प्रचार करेगा। लेकिन यह बात अनुभव और शास्त्रसे सिद्ध है कि यह शरीर 'शरीर' है, बिखर जायगा। जैसे पेडके शीण होने, गिर जानेपर चिडिया वहाँसे उड जाती है, इसी प्रकार जड चेतनके सबंधका भाव भी, छूट जायगा।

'देहाद्विमुच्यमानस्य' अब क्या रहेगा ? शरीर भी नहीं रहा, इसमेसे दुर्गंध निकली। वह सड गया।

शरीरकी अंतिम गति यही है। किन्तु शरीरमे जो 'मैं' है उसकी पहचान दूसरी है। वह टूटने-फूटनेवाला नही, प्रकाशक है। उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता अस्तित्व भी है और उसके बिना यह देह कुछ भी नही है। जैसे पुरस्वामीका विद्रवण होनेपर पुरवासी लोग भाग जाते हैं, इसी प्रकार सारे शरीरका कार्यकलाप, सारे शरीरमे रहनेवाला द्रव्य और इद्रियाँ 'हतबल विध्वस्त भवति'। इसमे कोई बल नही रहता, यह विध्वस्त, विनष्ट हो जाता है। न वह नाम रहता है, न वह रूप।

आत्मा इस शरीरसे भिन्न है यह बात युक्तिसे सिद्ध हो सकती है। दोनोंकी पहचान और लक्षण अलग-अलग हैं, भिन्न नही।

वेदान्त बताता है "यह देह विस्रसित हो जाता है। इसमें जो देहस्थ है, वह देहसे अलग होते ही 'किमत्र परिशिष्यते'—क्या रह जाता है ? जो रह जाता है, वह 'एतद्वै तत्'। देह नही, प्रकाशक रहता है, अध्यस्त नही, अधिष्ठान रहता है।

प्रश्न "तब तुम देह और ब्रह्मके बीच जीवकी कल्पना क्यो करते हो ?"

उत्तर "बिलकुल शास्त्रसे ही जीवकी कल्पना होती है। नरक-स्वर्ग और जीवका कर्तृत्व-भोक्तृत्व विज्ञानसिद्ध नही है। इसीलिए ब्रह्मत्वको भी विज्ञानसिद्ध होनेको आवश्यकता नही। क्योकि ब्रह्म विज्ञानका विषय नहो है। जो किसीका विषय होगा, वह अनन्त ही नहीं होगा। ब्रह्म अनन्त है। 'मैं भी होऊँ और ब्रह्म भी हो' तो दो हो गये। मैं भी होऊँ और जगत् भी हो, यह संभव नहीं।

पाँच प्रकारके भेद कल्पित किये गये हैं

(१) जगत् जगत्का भेद—स्त्री-पुरुषका, गाय-बैलका, भैंस-घोडेका भेद। (२) जगत्-जीवका भेद—जड-चेतन। (३) जीव-जीवका भेद—पापी पुण्यात्मा। (४) जीव ईश्वरका भेद—अल्पज्ञ-सर्वज्ञ। (५) ईश्वर-जगत्का भेद।

ये पाचो प्रकारके भेद जिसमे कल्पित या अध्यस्त है, जो इनका कल्पित अधिष्ठान है, कल्पित प्रकाशक है, स्वयंप्रकाश है, जो अपनेसे भिन्न नही है, ऐसे अपने आपका ही नाम ब्रह्म है और ब्रह्मसे भिन्न यह जगत् नही है—'एतद्वै तत्'।

'किमन्यत्परिशिष्यते' देहमे तो कुछ नही रहता, तब क्या रहता है ? जो "कुछ नही" जिसमे रहता है, जिसमे मालूम पडता है। श्रीशकराचाय कहते है "शून्य ही शून्य है, अभाव भी नही, जो भावसापेक्ष अभाव है सो भी नही। बौद्ध लोग उसे नही जानते। घट नही, घटाभाव नही। जब घट होगा तब घटाभाव न होगा ? घटाभावका ज्ञान किसे होगा ? जिसे घटका ज्ञान होगा "अब तो घडा नही है, पहले तो घडा था" यह भाव और अभाव दोनो नही है, शून्य है। दोनो नही हैं, शून्य है यह बात कैसे मालूम पडी ? जो इस बातको देखता-जानता है, वह कौन है ? तुम अज्ञात शून्यताकी बात कर रहे हो या ज्ञात शून्यताकी या ज्ञाताज्ञातसे विलक्षण शून्यताकी ? यदि शून्यता अज्ञात है तो तुम शून्यताकी कल्पना कर रहे हो, यदि शून्यता ज्ञात है तो अनुभवका विषय है और ज्ञाताज्ञातसे विलक्षण है तो अनिवचनीय अनुभव है। अपना आत्मा अनुभवस्वरूप है, वाङ्मनसागोचर है, ब्रह्म है, 'एतद्वै तत्'।

•

४. प्राणातिरिक्त आत्मा ब्रह्म

सगति ·

"शरीरसे अतिरिक्त आत्मा ही ब्रह्म है" इसकी व्याख्या चतुर्थ मन्त्रमें की गयी। अब पञ्चम मन्त्रमें प्राणातिरिक्त आत्माके रूपमें ब्रह्मका निरूपण किया जा रहा है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।। ५ ।।

कोई भी मनुष्य न तो प्राणसे जीवित रहता है और न अपानसे ही । बल्कि वे तो, जिसमे ये दोनो आश्रित है, ऐसे किसी अन्यसे ही जीवित रहते है ।। ५ ।।

एक हवा खाये हुएको भीतर ले जाती है और एक बाहर निकालती है । एक हवा शक्तिको बाहरसे खीचकर भीतर पहुँचाती है । है तो सब हवा, पर उनकी वृत्ति, जीविका, व्यापार भिन्न भिन्न होता है । जैसे भगी झाडू लगा देता है, नौकर बाजारसे सामान ला देता है, रसोइया भोजन पका देता है, परसनेवाला परस देता है और खानेवाला खा लेता है । हैं तो सब आदमी, पर सबकी जीविका, वृत्ति अलग-अलग होती है । इसी तरह शरीरमे रहनेवाले जो प्राण-अपान है उनकी वृत्तियाँ अलग-अलग है । शरीरके भीतर वायु तो सब जगह है और सबमे एक-सी है । किस मालिकके लिए हवाने इतने भिन्न भिन्न रूप ग्रहण किये ? ये किसके लिए जीवित रहते है ? किसके न रहनेपर हवा अपना काम करना बन्द कर देती है ?

यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ । प्राण-अपानसे मनुष्य जीवित नही रहता, मनुष्य मरणधर्मा है। प्रस्तुत प्राण और अपान दोनो जिसके आश्रयमे रहकर जिसकी सेवा करते है, वही असली जीवन है—सत्य, अनन्त परमार्थ जीवन ।

जीवनका कोई ऐसा स्वरूप है जो रागद्वेषरहित है ? परिपूर्ण अविनाशी, अद्वय, अबाध्य है ? कभी जिसका निषेध न किया जा

सके, ऐसा सत्य क्या हमारे जीवनका स्वरूप है ? है तो पता कैसे चले ? नामरूप-कर्मसे पृथक्कर जो जीवन है, वह अनन्त, अद्वय, परिपूर्ण, अविनाशी, चिन्मय है। न दृश्य रूपसे कोई दूसरा है न द्रष्टारूपसे, न परोक्षरूपसे। वह साक्षादपरोक्ष है।

मनुष्यके इन्द्रियगम्य जीवनकालमे प्राण और अपान दिखायी पडते हैं। प्राण-अपान क्या होता है ? धरतीमे बीज डालते हैं तो उसकी जड नीचेकी ओर और अकुर ऊपरकी ओर निकलता है। बीज एक होनेपर भी दो दिशाओमे क्यो गति होती है ? बीजमे भी प्राण अपान हैं। जितनी क्रिया-प्रतिक्रिया सृष्टिमें देखनेमे आती है, सबमें ये दोनो शक्तियाँ होती हैं—चान्द्रीशक्ति और सौर्यशक्ति, प्राण-रई, अग्नि-सोम यानी गरम-शीतल, ऋण-धन। आम, अगूर, नीम, अनार करेला जो पदा होता है, उसमे पचभूतका नाम 'करेला' है या उसके आकार-प्रकारका ? आकार-प्रकार तो मिट्टी और प्लास्टिकमे भी बनाकर रख देते हैं। आकार-प्रकारका नाम करेला, आम, अंगूर नही है। पचभूत तो सबमे समान रहते हैं। उसका भी नाम नहीं है।

पहले एक बीज रहता है। उसमेंसे जड नीचे और अकुर ऊपर निकलता है। कई बीज ऐसे होते हैं जिनमें नीचे अंकुर निकलता है और ऊपर जड। किसी-किसीमे अकुर-जडका पता ही नहीं। आकाशवल्ली पेडपरसे ही एकसे दूसरेपर लिपट जाती है, आपसमें लगी नही होती, धरतीसे खाना-पीना नही लेती, पौधेसे ही ले लेती है।

बीज एक बीज है, वह नाम रूपसे न्यारा है। उसमे न करेले-का नामरूप है, न फल, न तना। आमके स्वाद, नाम-रूप, गुण-स्वभावसे न्यारा आमका बीज होता है।

एक आदमी कहता है "आमका जन्म नही होता।" क्यो ? "वह तो पचभूत मात्र ही है। मिट्टी-पानी आदि छोडकर उसमे और है क्या।" एक आदमी कहता है "उसमे नाम रूप ही है। उसमे और क्या है ?"

लेकिन आपको यह देखनेमे आता है या नही कि उसमे एक बीज है ? उससे अङ्कुर निकलता है और वह अङ्कुरका कारण है। अङ्कुरसे फिर बीज निकलेगा, फिर उससे अङ्कुर निकलेगा। वह तत्त्व नही है। बीज पचभूतसे पृथक् नही है। उसका समूचा वजन पचभूत ही है। आम अगूरसे न्यारा है और अगूर आमसे न्यारा। विशेषवती सत्ता—विशेषवत् पंचभूत विशेष सस्कारसे-भेदसे युक्त होनेके कारण उसे 'आम' कहते है। आम जडका नाम है या तनेका ? न जडका नाम आम है और न तनेका। उसमे आमके सस्कारसे युक्त जितना पचभूत है, उसका नाम आम है।

जीव नाम रूप पहले भी था और बादमे भी रहेगा। जीव का यह नामरूप पहले भी नही था और बादम भी नही रहेगा। इसमे जो सच्चिदानद है, क्या वह बदलेगा जो अस्ति-भाति प्रिय है ? नही, वह नही बदलेगा। वह एकरस ही रहता है। जैसे आमसे करेलेको न्यारा और करेलेसे आमको न्यारा करनेवाला, आम-करेलेसे अगूरको न्यारा करनेवाला बीज-सस्कार होता है, वैसे सस्कार-विशेषसे युक्त सच्चिदानन्द जीव है। सच्चिदानन्दमे जन्म मरण नही है। नामरूप तो तत्त्व ही नहीं है तो उसके जन्म-मरणका सवाल नही। बीजसत्ताको जडताकी प्रधानतासे बीज और चेतनताकी प्रधानतासे जीव बोलते हैं। अक्षरको ही उलट दिया है। संस्कृतमे 'बवयोरभेद' माना जाता है, किन्तु है दोनो विशेष विशेष, खास खास संस्कारसे युक्त।

हर स्त्री-पुरुषमे विशेष प्रकारके सस्कार होते हैं और हर पेड-पौधेमे भी। सस्कारकी यह परम्परा न जाने कबसे चली आ रही है और कबतक चलती रहेगी। ब्रह्मा-विष्णु-महेश इसीमें रहते हैं। कीडे-मकोडे, जीव-जन्तु भी इसीमे होते हैं।

अब तर्क यह उठा कि क्या अकुर है और क्या जड ? जड काटें तो अकुर सूख जाय और अकुर काटें तो जड निकम्मी हो जाय। दो तरहके पेड होते हैं १ ऊपरसे अकुर काट दो तो फिरसे अकुर निकले। २ कोई ऐसे होते हैं कि एकबार ऊपरसे काट दिया तो फिर अकुर न निकले, एक ही बार अकुर निकलता है।

इस मनुष्यमे बीज है। बीज क्या मांसे निकला ? पितासे निकला ? पिता तो एक नामरूप है, पोली धौंकनी है मांका शरीर। पिताके शरीरकी धातुसे बीज निकलता है। अमुक प्रकारके जल, वातावरण और मनोभाव, इन सबके मिलनेसे बीजयुक्त बीजसे शरीररूप अकुरकी सृष्टि होती है। प्राण और अपान उसीके आश्रय-में हैं। प्राण-अपानका ध्वस हो जानेपर जीव भी मर जाता है श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं

स्यान्मत प्राणापानाद्यपगमात् एवेद विध्वस्त भवति।

यह मन्त्रकी उपक्रमणिका है। अपानवायु नीचे निकल गयी, प्राणवायु ऊपर तो क्या वह जीव मर गया ? चनेके दानेमें न जड है, न पौधा तो क्या उसका बीजत्व मर गया ? बिना अकुर और जडके भी दानेमें बीजत्व बना रहता है। इसी प्रकार प्राण-अपानके बिना भी जीवमे जीवत्व बना रहता है। उसे आगमें जलाओगे तब उसका बीजत्व मिटेगा, क्योकि उसमे जडताकी प्रधानता है, सस्कारावस्था चिपकी है। आगमें जलनेसे ही वह निवृत्त होगी।

चैतन्य जीवमें जो संस्कारावस्था है, वह स्वीकृति यानी भ्रान्ति-पूर्वक है। यदि तुम चाहते हो कि हमें यह चाहिए और हम यह भोगें तो तुम्हारे अन्दर वासनाका संस्कार बना है। "हम तो ऐसे चैतन्य, निर्मल उज्ज्वल हैं जिसमें संस्कारका लेश नहीं। न पहले था, न अब है और न आगे होगा। हम संस्कारसे रहित, आवागमनसे मुक्त, सच्चिदानंदघन हैं। जन्म-मृत्युसे रहित, क्रिया, भावना, गुणधर्म, प्रकृति और इन सबको स्वीकृति देनेवाली अविद्या-से मुक्त सच्चिदानन्दघन हैं"—अपने आपको इस प्रकार जानोगे तभी इस संस्कारावस्थासे छुटकारा मिलेगा।

तुम मृत्युसे डरते हो या नहीं ? सत्ताकी तो मृत्यु होती नहीं। मिट्टी थोड़े जलेगी ? वह तो राख होकर रह जायगी। आखिर बीजका संस्कार ही जलेगा। जिन संस्कारोंके कारण तुम अपनेको जन्मा मनुष्य मानते हो और आगे अमुक-अमुक वस्तुएँ चाहते हो, वे जबतक तुममें जुड़े रहेंगे तबतक तुम जीवभावसे मुक्त कैसे होओगे ? शास्त्रका अभिप्राय स्पष्टतः यही है।

जबतक तुम यह कहते हो कि "हमारी यह जाति है, यह वर्ण और आश्रम है, हम मनुष्य हैं। हमें यह-यह भोग चाहिए" तबतक अपनेको वासनासे विवश मानकर इधर-उधर दौड़ रहे हो। तुमने अपने 'मैं'को वासनासे मुक्तरूपमें; मुक्तरूपमें भी परि-च्छिन्न रूपमें नहीं, ब्रह्मरूपमें; ब्रह्मरूपमें भी केवल परोक्ष-कल्पित ब्रह्मरूपमें नहीं, साक्षादपरोक्ष ब्रह्मरूपमें जबतक नहीं जाना, तबतक इस संस्कारावस्थासे मुक्ति नहीं मिल सकती। भले ही वह अविद्यासे हो, पर जबतक तुम्हें लगता है कि मैं अविद्यावान् हूँ, तबतक मुक्ति नहीं मिल सकती। अविद्या है ही नहीं ? चुड़ैल किसको लगती है जो चुड़ैलकी सत्ताको मानता है

उसे। जबतक तुम अविद्याका अस्तित्व स्वीकार करते हो, मैं— अद्वितीय ब्रह्मको नहीं जानते, अपनेको द्रष्टा तो जानते हो, पर 'दृश्य भी मैं हूँ' यह नहीं जानते, 'दृश्य बाधित है और मैं ब्रह्म हूँ' यह नहीं जानते तबतक तुम्हें अविद्या लगेगी और तबतक वह तुम्हें संस्कारवान् बनाकर जन्म-मरणमें ले जायगी, जैसे अब जन्म-मरणमें पड़े हो।

यथा प्रज्ञं हि संभवः। संभवः = प्रजा। लोगोंका जन्म कैसे होता है? जबतक तुम अपनी अक्लसे अपनेको परिच्छिन्न मान रहे हो, तबतक तुम्हारी प्रज्ञाके अनुसार जन्म-मरण होता रहेगा। संसारको तुमने स्वयं मूल्य दे रखा है—'यह चाहिए, वह चाहिए।' भले हो चनेमें प्राण-अपान न दीखे, वे उसके साथ जुड़े रहते हैं: 'यस्मिन् उपाश्रितौ।' जब प्राण-अपान रहेंगे तो किसीमें अपानकी प्रधानता होगी, किसीमें प्राणकी। जिसमें अपानकी प्रधानता होगी, वह ऊपर स्वर्गमें जायगा।

जीव=प्राण-अपानको धारण करनेवाला। धौंकनीका चलना, धौंकनीके बंद रहनेपर भी चलनेकी शक्ति रखना—यदि आप दोनों प्रकारके कर्मोंका अपनेको कर्ता मानते हैं और अवनतिसे डरते हैं तो अपान आपके साथ है और उन्नति चाहते हैं तो प्राण आपके साथ है। आप कबतक अपनेको प्राण-अपानवाला मानते हैं? जिस उन्नतिको आप चाहते हैं, वह इस जीवनमें आपको नहीं मिली तो कहाँ जायगी—आपके पड़ोसीके घर? आप जिस अवनतिसे डरते हैं, उसे प्राप्त करानेवाला कर्म आप करेंगे तो वह अवनति क्या आपके दुश्मनके घर जायगी, आपके घर नहीं आयेगी? आपने स्वयं उन्नति-अवनतिकी इच्छारूप प्राण-अपानको अपने साथ जोड़

रखा है और जब स्वयं आपने जोड़ रखा है तो दूसरा कोई उसे क्या काटेगा ?

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। प्राण-अपानसे ऊपर-नीचे जाने-आनेवाली वायुमें क्रिया है। क्यों बीजमेंसे एक क्रिया नीचे और एक ऊपरको जाती है ? क्यों जीवके साथ रहकर अपानवायु नीचे और प्राणवायु ऊपरकी ओर जाती है ? यह उन्नति-अवनति, प्राण-रई, अग्नि-सोमकी दो क्रियाएँ जो शरीरमें प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं, इस इच्छाके साथ, इस क्रियाके साथ आपका संबंध है या नहीं ?

इतरेण तु जीवन्ति। मनुष्यका कर्म कैसे होता है ? श्रुतिमें बताया है—प्रज्ञा और कर्मके अनुसार ही यह जन्म हुआ है और आगे भी जन्म होगा।

कई लोग विलकुल पोतना फेर देते हैं। हमारे एक बड़े प्रसिद्ध वेदान्तके जानकार, अनुभवी महात्मा हैं। आप लोग वैज्ञानिक तर्क-वितर्क, यन्त्रमें अधिक विश्वास करते हैं, उसकी सुननेके अधिक आदी हैं। ये महात्मा कहते हैंः "जो जन्म-मृत्यु, आवागमन नहीं मानते उन्हें हम उपदेश ही नहीं करेंगे, क्योंकि वे जिज्ञासु नहीं हैं। जन्मके पूर्व हम थे, मृत्युके बाद हम रहेंगे। यदि तुम्हें जन्म-मरण नहीं मानना है, नरकके भयसे मुक्त नहीं होना है तो तुम हमारे पास 'तत्त्वमसि' सुनने क्यों आते हो ? मत आओ।"

संसारी आदमी कहता है : "हम तो मानते ही नहीं।"

महात्मा : "किन्तु तुम इंग्लैंड, न्यूयार्क, राष्ट्रपति, ऊँची कुर्सी तो मानते हो न ? अधिक धनसंग्रह मानते हो या नहीं ?'

**मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च राजेन्द्र तथा च न भविष्यतः॥**

इस समय मनुष्यका जो मन है, उससे दो बातें सिद्ध होती हैं: (१) कहाँसे आया है और (२) कहाँ जायगा? यदि कोई कोयलके घरसे आयेगा तो उसके कपड़ेमें कोयला लगा रहेगा या नहीं? कहाँ जाना चाहता है? भले मानुससे मिलने जाना होगा तो भली पोशाक चाहिए। मनकी पोशाक कैसी है? अच्छी या बुरी? वह वासनावासित है—हल्की वासना या गाढ़ी? वह इस जीवनमें जीवन्मुक्त हो जायगा या नहीं? यह सब वर्तमान मनसे पता लग जायगा।

हमारे मनमें वासना पूरी होनेका संकल्प उठता है या मिटानेका। कब सुखी होनेका खयाल है? यदि संकल्प पूरा करके सुखी होनेका खयाल है तो तुम संसारमें बह रहे हो। यदि संकल्प मिटाकर सुखी होनेका खयाल है तो तुम जीवन्मुक्तिकी ओर बढ़ रहे हो। अनेकों वासनाजालसे समावृत मन जीवन्मुक्तिका पूर्वरूप नहीं है।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ। इतरेण—ये प्राण अपान तो मिलकर काम करते हैं। जैसे: दो हड्डियाँ जोड़ दी गयी हों वैसे दो हवा जोड़ दी गयी हैं। इसमें क्रिया है। दो क्रियाएँ हो रही हैं, एक आगे बढ़नेकी, एक पीछे हटनेकी। उस क्रियाके मूलमें कोई वस्तु है।

मध्ये वामनमासीनम्। बीचमें यह वामन है अवश्य। जिसके आश्रित प्राण-अपान हैं, जिस बीजमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमनकी क्रियाशक्ति है, उस वासनाको मैं-मेरी और सच्ची जाननेवाली अविद्या यानी भ्रान्ति है। उस भ्रान्तिवाला तो यह जीव है। उसे ढूँढो कि वह जीव कौन है? ●

५. जन्म-मृत्युकी भ्रान्तिका निवारण

संगति :

पञ्चम मंत्रमें बताया कि प्राण और अपानके नष्ट हो जानेपर भी जीवनका नाश नहीं होता। जिस चनेमें जड़ उगने और अंकुर निकलनेकी शक्ति है, उसमें बीज विद्यमान है। तुम्हें जन्म-मृत्यु और स्वर्ग-नरक लगे हैं तो तुम वासनावान् जीव ही हो। जिसमें ऊर्ध्वगति और अधोगतिकी क्रियाशक्ति है, वह प्राण-अपानसे पृथक् है। वासनामुक्त होनेपर जीव अपनेको साक्षादपरोक्ष ब्रह्म जान लेता है।

षष्ठ मंत्र तुम्हारे मनमें बैठी यह बात कि 'तुम बार-बार जनमते-मरते हो', काटनेका साधन बतानेके लिए ब्रह्मज्ञानका प्रकरण है। अर्थात् जहाँ-जहाँ मनमें कमजोरी है उसे ढूंढ़कर, उसके पूर्वपक्ष और उत्तर-पक्षका विचारकर उसका तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं—यह बताना है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह जीवात्मा पापी है। सामान्यतः लोग चार प्रकारकी मान्यतावाले देखनेमें आते हैं :

(१) कई लोगोंकी आदत होती है कि वे अपनेको और दूसरोंको भी पापी समझें। वे पामर हैं। ये तो अपना अभिमान भी खो बैठे हैं।

(२) कुछ ऐसे हैं जो मानते हैं कि तुम सब तो पापी हो, पर मैं नहीं। यह अभिमानी है।

(३) तीसरा साधक समझता है कि "तुम पापी नहीं हो, सब अच्छे हैं, पर मैं अभी पापमें पड़ा उससे छूटना चाहता हूँ।" दूसरोंको पापी देखनेवाला विषयी या पामर होता है, पर साधक नहीं।

(४) चौथा है सिद्धपुरुष जो मानता है, न तुम पापी, न हम। 'तब कौन पापी है, ईश्वर ?' 'ना-ना, पाप-पुण्यका, कर्मका अस्तित्व

हीं नहीं है। हम भी ब्रह्म और तुम भी ब्रह्म। हम-तुमका अर्थ अलग-अलग नहीं। ब्रह्ममें न हम हैं और न तुम।'

आपकी मनोवृत्ति कहाँ टिकती है? "आजकल सब पापी होते हैं।" अरे भाई, हम भी तो वैसे ही हैं! दूसरा भी धरतीपर लेटा हैं, नंगा है और तुम भी। दूसरे सब पापी और हम पुण्यात्मा, ऐसा मानो तो तुम अभिमानमें अंधे हो गये। सब पापी हो जायँगे तो तुम अच्छे कैसे रहोगे? साधक जब कहता हैं: "सब अच्छे, हम बिगड़े" तो अपनेको सुधारनेका यह अच्छा ढंग है, पर जैसे सबमें अच्छाई है, वैसे ही तुममें भी है, तुम उसे पकड़ नहीं पाते! वास्तवमें तो सबमें एक ईश्वर एक परमात्मा, एक ब्रह्म है; उसे पकड़ो।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

हे गौतम! अब मैं फिर भी तुम्हारे प्रति उस गुह्य और सनातन ब्रह्मका वर्णन करूँगा, तथा [ब्रह्मको न जाननेसे] मरणको प्राप्त होनेपर आत्मा जैसा हो जाता है [वह भी बतलाऊँगा] ॥ ६ ॥

हन्त। अर्थात् पुनः पुनः। अहो, एक, दो, तीन बार कहनेसे भी तुम नहीं समझते तो फिर समझाते हैं: **हन्त इदानीं पुनरपि ते तुभ्यम् इदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि।**

गुह्य ब्रह्म। कौन-सा ब्रह्म? गोपनीय, जो न बीज है और न जीव। जिसमें न बीजत्व हैं, न जीवत्व, न संस्कारत्व और न अविद्यावत्त्व। यह रूमाल ज्ञान है या अज्ञान? यदि जड़ है तो अज्ञान है। कारण जिसमें ज्ञान न हो, वह अज्ञान और जड़ होता है।

फिर प्रश्न होगा : 'यह अज्ञान, जड़ रूमाल किसका है ?' यदि कहो मेरा तो तुम कौन हुए, अज्ञानी ही न ? जैसे कि धनवाले धनी होते हैं। नोटके बंडलको तो यह ज्ञान नहीं कि मेरा मालिक कौन है ? वह ज्ञानरहित है। तुमने कहा : 'नोट मेरा' अर्थात् 'अज्ञान मेरा' तो तुम अज्ञानी हुए।

सारांश, जो जड़ और दृश्य वस्तुको 'मैं-मेरी' समझता है, वह अज्ञानी है और अपने अतिरिक्त उसे सत्य समझता है, इसलिए भी अज्ञानी है। जैसे धनका मालिक धनी, वैसे ही अज्ञानका मालिक अज्ञानी। दुनियामें दुनियाका 'मैं-मेरा' समझना अज्ञान है।

'हन्त' : गुरुदेव कृपाविष्ट, दयाविष्ट होकर कहते हैं कि "हाय-हाय, इतनी बार समझानेपर भी नहीं समझते ? मैं पुनः प्रवचन-कर तुम्हें समझाता हूँ। युक्ति, तर्क और अपौरुषेय अनुभवसे सम-झाता हूँ। क्या ? जिसमें जीवत्व-बीजत्व, संस्कारत्व, अविद्यावत्त्व भास रहा है, उसे।

इदं गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। 'मैं' पदका अर्थ 'गुह्य यानी गोप-नीय सनातन ब्रह्म है। अधिकारी-विशेषको बतानेकी वस्तुको 'गुह्य' कहते हैं। वास्तवमें गुप्त वस्तुको जाननेकी लोगोंके मनमें इच्छा होती है।

'गोपनीयता' यानी ढूँढ़नेवालेका ध्यान जहाँ न जाय, वह छिपनेका स्थान। हमलोग बचपनमें आँखमिचौनीका खेल खेलते हैं। ब्रह्मकी गोपनीयता यही है।

गुह्य क्या ? जहाँसे और जो ब्रह्मको ढूंढनेके लिए निकलता है, वही और वही ब्रह्म है। ढूंढा जाता है सो नहीं।

पुराणोंमें एक कथा आती है। हिरण्यकशिपुको भगवान्ने मार डाला तो प्रह्लाद उनके भक्त बन गये। प्रह्लाद जब भक्त

बन गये तो विरोचन पैदा हो गये। दैत्योंने विरोचनको समझाया : 'बेटा विरोचन! प्रह्लादने हमारे वंशके विपरीत काम किया है, वह तो क्रान्तिकारी है। तुम्हारे बापने जो काम नहीं किया, वह तुम करके बताओ।'

विरोचनने पूछा : "क्या करें ?"

दैत्योंने कहा : "जिसने तुम्हारे दादाको मारा, उसे तुम मारो।"

यह सुनकर विरोचन डर गया। तब लोगोंने उसे समझाया : "तुम्हारे पक्षमें एक प्रबल युक्ति है। नृसिंहने तुम्हारे पिताको वर-दान दिया है कि जो तुम्हारे वंशमें पैदा होगा, उसे मैं नहीं मारूँगा। इसलिए तुम अवध्य हो। नृसिंह भगवान् तुम्हें तो मारेंगे ही नहीं, तब तुम उन्हें मार डालो।"

अब विरोचनने अपना शस्त्र उठाया। भगवान् डर गये कि इसे तो हम मार नहीं सकते ! यह हमें बहुत सतायेगा। भगवान्ने सोचा—अब तो हमें भागना ही होगा, कभी स्वर्गमें तो कभी वैकुण्ठ-गोलोकमें।

जहाँ विरोचन गदा लेकर जाय वहाँसे भगवान् अदृश्य हों, भोग्य हो जायँ। जो भोग्य मानी सुखद होता है वह दुःखद भी होता है। यह तो बदलता रहता है। कहीं भगवान्को शान्तिसे बैठनेकी, छिपनेकी जगह नहीं मिली।

तब उन्होंने सोचा—"ऐसे छिप जायँ कि ढूँढ़े भी न मिले। वे विरोचनकी आत्मामें जाकर बैठ गये।

विरोचनने सारी दुनियामें भगवान्को ढूँढ़ा, पर अपनेमें नहीं ढूँढ़ा। उसे नारायण नहीं मिले। नारायणका तो विक्षेप मिट गया

परं वह विरोचनको लग गया। जिसे दृश्य, भोग-विषयमें रुचि हो वह 'विरोचन' है।

विरोचनने सोचा कि नारायण डरकर भाग गया तो यज्ञ किया जाय और सारी सृष्टिको जीत लें।

देवताओंने सोचा : यदि यह विरोचन यज्ञ करेगा तो भगवान् इसे मार नहीं सकते, यह हमें बहुत सतायेगा। अतः वे ब्राह्मणका रूप धारणकर आये और बोले : "विरोचन, ईश्वर भी तुझसे डर-कर भाग गया तेरे जैसा शक्तिशाली और कोई नहीं है। हम तेरे भक्त प्रशंसक हैं, कुछ दान तो कर! पहले तो हम जो माँगते थे सो मिलता था। अब तू ही हमें दे।"

विरोचनने कहा : "वाह-वाह जो कहो सो देगें। हम क्या नहीं दे सकते? हम अजर-अमर हैं।"

देवता बोले : 'यह अपना शरीर तू हमें दे दे।'

विरोचनने ब्राह्मणोंको अपना दान कर दिया तब ब्राह्मणोंने उसे काबूमें कर लिया। उसी विरोचनके पुत्र बलि हुए।

भगवान् कहाँ छिपे हैं? ईश्वर तुम्हारे मर्मस्थानमें छिपा है। वह कैसा है? **सनातनम्**। वह कालसे कभी नहीं कटता, न जाग्रत स्वंप्न-सुषुप्तिमें और न सृष्टि-स्थिति-प्रलयमें। जो सदैव रहे उसे 'सनातन' कहते हैं। जिस समय तुम पापी-पुण्यात्मा होते हो, उस समय भी ब्रह्म तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाता। तुम्हारो आत्मासे अलग ब्रह्म हो ही नहीं सकता। वह न कभी अलग हुआ, न है और न होगा। यह सनातन सत्य है।

ब्रह्म कभी आँख-कान-नाक, स्त्री-पुरुषमें आता-जाता होगा! ब्रह्मचारी तो ब्रह्मको अपने शरीरमें रखते हैं, गृहस्थ अपने बच्चोंमें भेज देते हैं। वानप्रस्थ कहता है कि "जो गया सो गया, अब जो

है उसे बचाओ !" कोई ब्रह्मको शरीरमें रोक रहा है, कोई बाहर भेज रहा हैं, कोई बचा रहा है, लेकिन ब्रह्ममें आना-जाना नहीं है।

अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथात्मा भवति ।

उसके अज्ञानसे ही तुम मानते हो कि मरनेके बाद जन्म होता है या हमारा जन्म हुआ है; हम मरेंगे-जनमेंगे। उसे जान लोगे तो जनम-मरणके चक्करसे मुक्त हो जाओगे।

एक महात्माके पास जाकर एकने कहा : "हम ईश्वरका दर्शन करना चाहते हैं।"

महात्मा : ईश्वर तो सारे विश्वमें रहता है और तू साढ़े तीन हाथके शरीरमें देखना चाहता है ? पहले अपनेको देख ले ! साढ़े-तीन हाथवालेको नहीं देखेगा तो सारे विश्ववालेको कैसे देखेगा ?'

गाँवमें बोलते हैं : कुएँ में भाँग पड़ गयी। कबीरजीने भी कहा हैं :

केहि केहि समझावौं सब जग अंधा।

हम सब पूर्वग्रहसे पीड़ित हैं। पूर्वग्रह यानी देहमें कल्पित अथवा देहके करणोंका उपयोग करनेवाले, देहसे घिरे, देहसे परिच्छिन्न, किसी वस्तुको पहले हम "मैं" मान लेते है, फिर अनन्तकी खोज करना चाहते हैं। जिसे तुम मैं मान रहे हो उसकी तो पहले खोज कर लो; हाथ-कंगनको आरसी क्या ? पहले यह जान लो कि यह देह 'मैं' है या नहीं ? यही पूर्वग्रह हैं। शंकराचार्य भगवान्‌ने कहा :

सशरीरत्वस्य अविद्यानिमित्तत्वात् ।

अपने स्वरूपको न जानकर हीं अपनेको शरीर और शरीरवाला मानते हो।

यद्विज्ञानात् सर्वसंसारोपरमो भवति ।

जिसके विज्ञानसे जन्म-मृत्यु, शोक-मोह और भूख-प्यास इन छः वृत्तियोंकी आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है और जिसके कारण ही तुम अपनेको इन छः उर्मियोंवाला मान रहे हो उसीका हम वर्णन करते हैं : **अन्ततः तम् इदं प्रवक्ष्यामि।**

ब्रह्म तुम्हारी मैं में छिपा है जो गुह्य=स्वामी कार्तिक है, 'गुह्यं, ब्रह्म सनातनम्' है, वह तुम्हारी आँखकी पुतलीमें छिपा है, तुम्हारे मैं-मैं की स्फुरणामें छिपा है। बाहर-बाहरसे देखोगे तो वह मालूम नहीं पड़ेगा। जरा गम्भीरतासे देखोगे तो वह मालूम पड़ेगा।

गुह्यम्=प्रत्यक्चैतन्याभिन्न। ब्रह्म=अनन्त। सनातन=अविनाशी। तुम्हारा स्वरूप अनन्त अविनाशी है, जिसमें द्वैतका नाममात्र नहीं है।

हे नचिकेता, तुम अग्नि हो या नहीं! अर्थात् तुम अपने सिवा सबको जलानेको तैयार हो या नहीं? तुम्हें कहाँ डर लगता है? एक कीटसे लेकर ईश्वरतक, एक तृण से लेकर प्रकृतितक कौन है जिसे ज्ञानाग्निमें जलाते समय तुम्हें संकोच होता है! जरा अपने आपको तोल लो। हे ज्ञानाग्निस्वरूप जिज्ञासु नचिकेता! यदि तुम सबको भस्म करनेको तैयार हो तो तुम्हारे लिए किसके मिलने-बिछुड़नेका दुःख है? वह स्वतन्त्र हो गया।

क्या स्वातंत्र्य है? ज्ञानाग्निमें सबको भस्म करनेसे कोई वस्तु नहीं जलती केवल भ्रान्ति जलती है। स्त्री, पुत्र, धन, पति, मकान, धरती, आसमान सब ज्यों-के त्यों रहेंगे। ये ज्ञानाग्निसे परिप्लुष्ट हो जायँगे-संबन्ध हो जायेंगे। तुम ऐसी जलती आग हो। किसी देश-काल-वस्तुमें फँसो मत। हे नचिकेता! अपनी अन्तर्दृष्टि-आत्मदृष्टिसे सबका बाध कर दो।

६. कर्मके अनुसार जीवकी गति

संगति :

षष्ठ मन्त्र का अर्थ है कि मनुष्य पूर्वजन्ममें आबद्ध हो जानेके कारण बार-बार तत्त्व वस्तुको समझानेपर भी समझ नहीं पाता। किसी ऐसे ग्रहकी उसे कल्पना हो गयी है जो चित्ताकाशमें कभी पैदा ही नहीं हुआ, है ही नहीं और होगा भी नहीं। वह सोचता है—उस ग्रहकी दृष्टि हमपर पड़ रही है। वह चौथे, सातवें, आठवें स्थानमें है और सता रहा है।

पूर्वाग्रह यह है कि हम अपनेको किसी विशेष स्थितिमें बैठाकर वस्तुके बारेमें सोचने लगते हैं। वस्तुकी स्थिति क्या है, यह देखने-जाननेका यत्न करते हैं, पर हम कैसे अनुचित स्थानपर बैठकर उसे देखने-जाननेका यत्न करते हैं, इधर ध्यान ही नहीं जाता। मुख्य बात यही है। हम अपनेका जीव और ब्रह्मको परिच्छिन्न बनाकर उसे देखना चाहते हैं।

यथार्थमें यदि तुम ईश्वर-ब्रह्मकी जाँच, अनुसंधान करना चाहते हो तो पहले यह जाँच लो कि मैं ठीक स्थानपर बैठकर जाँच रहा हूँ या नहीं ? अदालतमें मुकदमा पेश होता है तो न्यायाधीश इसका भी विचार करता है कि उसे इस मुकदमेपर विचार करनेका अधिकार है

या नहीं ? बड़े-बड़े न्यायाधीशोंको इस बातपर मात खानी पड़ती है और स्वीकार करना पड़ता है कि "यह मुकदमा हमारे अधिकारमें नहीं आता।' हम देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अद्वय, परिपूर्ण, द्रष्टा-दृश्य भेदसे रहितको आँख, मन, बुद्धिसे देखेंगे या 'अपने'को देखेंगे ? आप अद्वय-परिपूर्णको कैसे देखोगे ? पहले 'हमको' तो देख लें।

अब सप्तम मन्त्रमें बताते हैं कि अज्ञानी लोगोंकी क्या गति होती है और ज्ञानीका स्वरूप क्या है ? :

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

अपने कर्म और ज्ञानके अनुसार कितने ही देहधारी तो शरीर धारण करनेके लिए किसी योनिको प्राप्त होते हैं और कितने ही स्थावर-भावको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ७ ॥

नास्तिक मरणके अनन्तर आत्माका आना-जाना, पुनर्जन्म नहीं मानता। आत्माका अस्तित्व ही नहीं मानता। ब्रह्मज्ञानी भी नहीं मानता। तब क्या दोनों एक हो गये ? फिर दोनोंको भिन्न-भिन्न क्यों मानते हो ?

आप बच्चोंकी परीक्षा ले, गणितका प्रश्न पूछें और एक बच्चा मनमानी तौरपर अंक लिख दे, दूसरा गणित लगाकर ठीक-ठीक लिखें। संयोगवश दोनोंके उत्तर, अंक एक ही निकल आयें तो ठीक कौन ? स्पष्ट है कि जो गणित नहीं जानता, वह अविवेकी है।

एक व्यक्ति किसी नास्तिकके संग रहता था। उसने कहा : 'मैं ईश्वरको कुछ नहीं जानता।' पूछा गया : "क्यों ?"

"मैं सुनकर आया, वह अविवेकी है।"

आस्तिक-नास्तिक दोनों अंधश्रद्धालु होते हैं। जो अपनेको केवल हड्डी-मांस-चामका शरीर मानता है उसे भी पुनर्जन्म, नरक-स्वर्ग नहीं और जो अपनेको ब्रह्म जानता है, उसे भी नहीं हैं। आप ऐसे समदर्शी हैं कि दोनोंको एक ही तराजूपर तौल लें।

सारांश, बीज-अंकुर दोनोंको एक ही दृष्टिसे देखें। बीज भूमिमें गाड़नेपर नष्ट हो जाता है, उसमेंसे अंकुर निकलता है। अंकुरसे बीज निकलता है और अंकुर नष्ट हो जाता है। हर अंकुर और हर बीजको जन्म-मृत्यु होती है। दोनोंका जीवनकाल एक या दस वर्ष का होता है परिच्छिन्न जीवन हुआ न? इसमें अनन्त जीवनका कहीं ज्ञान है? बीज (जीव)में संस्कार है, वह अंकुरमें आया। अंकुरमें है, वह दूसरे बीजमें गया। वही परम्परा-वासनावती (संस्कारवती) सत्ता प्रवाहरूपसे नित्य है। दो स्थितियाँ आती हैं, दोनोंका व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है, किन्तु संस्काररूपसे एकसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें और तीसरेसे चौथेमें प्रवाहित होती हैं, वहाँ चेतनताके सुषुप्त रहनेसे कर्तृत्व नहीं है, इसलिए वे चेष्टासे अपनेको जहाँ-तहाँ नहीं ले जा सकते।

किन्तु यह जीव है। केवल मिट्टीका नाम बीज नहीं, संस्कार-विशिष्ट मिट्टीका नाम बीज है। इसी तरह केवल चैतन्यका नाम 'जीव' नहीं, संस्कारविशेषको अपनेमें स्वीकार करनेवाला 'जीव' (बीज) है। अपने स्वरूपके अज्ञानसे देहका जीवन जो प्रतिक्षण, प्रतिव्यक्ति नष्ट होता है, उसे हम अपनी मृत्यु मानते हैं। कोई वस्तु दस वर्षमें तभी मरती है जब प्रति-मिनट मरती रहती है। जिस दिन बाल उगने लगते हैं, उसी दिन उनकी सफेदी घोषित हो जाती है, पर वह बुढ़ापा आते-आते मालूम पड़ती है।

वाला प्रकाशमान अग्नि 'ऋतम्' ब्रह्म है वेदिषद् होता ऋतं बृहत्। जो चन्द्रमा है, सोमरस है, अतिथि है, जो हमारे द्वारपर है, कलशमे जलरूपसे है वह ब्रह्म है दुरोणसत् अतिथि ऋत बृहत्। जो मनुष्य देवता, आकाश और यज्ञमे है, वह वही ऋतम ब्रह्म है : नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् ऋत बृहत्। जो पानी, धरती, सत्य और पर्वतसे पैदा होता है वह सब कुछ ब्रह्म ही है। अब्जा, गोजा, ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।

वेदान्तकी प्रक्रियामे विश्लेषण करनेके लिए एक ही वस्तुको अनेक भागोमें विभक्त कर विवेक किया जाता है। उसे अनेक वस्तुएँ इष्ट नही, फिर भी विचार अनेक प्रकारसे किया जाता है। यथा :

(१) अहम् इदम् (२) कार्य कारण (३) सुख-दुःख (४) जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति और इनका साक्षी (५) पचकोश और इनमें विद्यमान पुरुष (६) विश्व तैजस् प्राज्ञ और तुरीय (७) अकार उकार मकार।

ये सब समझानेकी प्रक्रियाएँ हैं। जो किसी एक ही प्रकारको पकडकर बैठ जाता है, उसका दृष्टिकोण सकीर्ण होता है परमात्मा-को व्यापक दृष्टिसे देखें। एक है सकोरा और एक है घडा। दोनोकी आकृति, वजन, धरा, आयु, कार्य अलग अलग हैं, फिर भी हैं दोनों मिट्टी ही।

प्रयागके मेलमें दो चार व्यक्ति बैठकर सत्सग कर रहे थे। एकने कहा : "जेवर तोड़कर गला दिया जाय, सिल्ली बना दी जाय तो क्या उसका नाम सोना होगा ?"

"नहीं, उसका नाम तो सिल्ली होगा, सोना कैसे ?"

"अच्छा, तो यदि उसे तोडकर कण-कण कर दिया जाय तो उसका नाम सोना होगा ?"

"नहीं, तब यह स्वर्ण कण होगा।"

"कंगन हार तोड़ देंगे तो वह सोना होगा?"

नहीं, आप भ्रममें बिलकुल न पड़ें। सोनेको जाननेके लिए उसका कोई आकार तोड़ना बनाना आवश्यक नहीं, कसौटीपर उसका खरा उतरना ही काफी है। यही सोनेकी पहचान है। इसी प्रकार इन सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी, जल, नक्षत्र, पशु, पक्षी, मनुष्योंका आकार तोड़कर ब्रह्म नहीं बनाया जाता। यह बात नहीं कि ये टूटी शक्लमें तो ब्रह्म हैं और बनी शक्लमें संसार। ज्यों-का-त्यों आकार रहते "एकके विज्ञानसे सबका विज्ञात होना" वेदान्तकी कसौटी है। उसपर कसनेपर नाम रूप, अवस्था, आयु, घेरा, वजन, गुणधर्म, शील-स्वभावका भेद होनेपर भी सब ब्रह्म हैं।

आत्मविज्ञानकी कसौटीपर कसी जानेवाली वस्तु विवेकदृष्टिसे देखी जाती है। इसमें नाम रूप बाधित ही हैं। एक नाम-रूपवाला दूसरे नाम-रूपवाला नहीं हो सकता। 'पशु' 'मनुष्य' का नाम नहीं हो सकता और न 'मनुष्य' 'पशु'का नाम ही। द्विपाद पशु नहीं और चतुष्पाद मनुष्य नहीं। पहली आकृति दूसरीसे और दूसरी पहलीसे बाधित है। पहला नाम दूसरे नामसे और दूसरा पहले नामसे बाधित है। नाम-रूप ही परस्पर बाधित होते हैं, अज्ञात और परोक्ष सत्ता नहीं। उनमें जो अखण्ड सत्ता है वही प्रत्यक्षायमाण, साक्षादपरोक्ष है। जो स्वर्गादिके समान परोक्ष नहीं और न घटादिके समान इन्द्रियग्राह्य-आकृति है जो कार्य-कारण, द्रष्टा-दृश्य और जीव-ईश्वरकी कल्पनासे विनिर्मुक्त है तथा जो अद्वितीय अखण्ड-सत्ता, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, ऋतम् और बृहत् है वही है ब्रह्म।

अब तुरीय मन्त्र द्वारा एक नयी प्रक्रियाका निरूपण किया जा रहा है, जिसमें बताया गया है कि परमात्मा जैसा खण्ड-खण्ड रूपमें है

बारेमें एकमत हैं। दुनियाँमें सैकडों मत और पन्थ बने हैं, अभी हैं और आगे बनेंगे। वे मानते हैं :

(१) देह ही आत्मा है इसलिए जन्म-मरण है किंतु पुनर्जन्म नरक-स्वर्ग नहीं हैं। ब्रह्मत्वकी यह अस्वीकृति नास्तिकों की परंपरा है।

(२) केवल ब्रह्म आत्मा होनेके कारण न पुनर्जन्म है, न भूख-प्यास; न शोक-मोह है और न जन्म-मरण। लेकिन तुम जीव नहीं हो। इसमें अपनेको ब्रह्म मानकर जीवत्वका बाध कर दिया जाता है। यह महात्माओंकी परम्परा है।

यदि तुम बीजके अस्तित्वको ही अपना अस्तित्व मानोगे, लेकिन बीजमें जो संस्कार हैं, वे धरतीमें डालनेसे नष्ट नहीं होते, अंकुर रूपमें उगते हैं। उस अंकुरको तुम अपना 'मैं' मानो तो अंकुरके नष्ट होनेपर तुम नष्ट हो जाओगे। लेकिन अंकुरमें जो संस्कार है, उसे अपना मैं मानो तो अगले बीजके रूपमें तुम फिर उत्पन्न हुए। यह तुम्हारा ही प्रवाह रूपसे नित्य अस्तित्व है। आंशिक दृष्टिसे, परिच्छिन्न दृष्टिसे या व्यक्ति दृष्टिसे देखो तो गेहूँ-चनेमें प्रकाररूपसे जन्म-मरण होकर अस्तित्व समाप्त होता है। संस्कारवत्ताकी दृष्टिसे देखो तो उसकी कार्यावस्था और कारणावस्था दोनो हैं।

अपनी देहका विचार करो। यह देह अंकुर है या बीज? समुद्रमें ज्वारका होना या न होना कैसे संभव है? कोई निमित्त आकर्षण-विकर्षण शक्ति, हवाके बिना ज्वार नहीं आता। हवाके कारण एक प्रकारकी बालूमें लहरदार लकीरें पड़ जाती हैं। स्वयं बालू वैसी नहीं होती। किसी वस्तुके गरम-ठंडा होनेमें सूर्यका ताप निमित्त होता है। इसी प्रकार एक ही पंचभूत सबके शरीरमें

है किन्तु संस्कारवश स्त्री-पुरुषका पशु-पक्षीका, भेद बनता है। पौधोंको जातियोंमें भी अलग-अलग संस्कार होते हैं।

ये संस्कार कहाँसे आते हैं ? कर्म और भोगसे। मनुष्यके जीवनमें जैसा कर्म-भोग होगा, जैसी बुद्धि होगी, वैसा ही संस्कार होगा। बृहदारण्यक-उपनिषद्में इसका बहुत सुंदर वर्णन है। जब तक अपनेको हम ब्रह्म, अनन्त, परिपूर्ण, अद्वय, अपरिच्छिन्न, शुद्ध चैतन्य नहीं जानते—जिसमें देश-काल वस्तु नहीं, दूसरी कोई वस्तु नहीं, तबतक कहीं न कहीं परिच्छिन्नमें ही हमारा मैं रहता है। व्यक्तिदृष्टिसे परिच्छिन्न 'मैं' की मृत्यु हो जानेपर संस्कार-दृष्टिसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें वह प्रवाह रूपसे बहती रहेगी। कारणरूपसे उसके अन्दर उसका व्यक्तित्व बना रहेगा। बीजके व्यक्तित्व-संस्कार-प्रवाहको काटनेके लिए जड़ सत्ता होनेके कारण उसे स्थूल आगमें जलाना पड़ेगा। चेतन सत्तामें जो संस्कारकी स्वीकृति है, उसे जलानेके लिए ज्ञानाग्निकी आवश्यकता पड़ेगी।

तुम बन गये देही, मोटरमें बैठ गये और उसे मेरी मानने लगे। भोगकी वासना इतनी बढ़ गयी कि एक शरीरसे पूरी नहीं होती, तब भिन्न-भिन्न योनियोंमें जाना पड़ेगा।

स्थाणुमन्येऽनुसयंति। दूसरे लोग जड़ जातियोंमें ही चले जायँगे, क्यों ?

यथाकर्म यथाश्रुतम्। जैसा सिखा दिया जायगा वैसा कर्म होगा। जैसा कर्म किया जायगा वैसा भाव बन जायगा। जैसी पूर्व-पूर्वकी प्रज्ञा होगी, उसका प्रभाव पड़ेगा। इसके अनुसार मनुष्यकी **यथा प्रज्ञं हि संभवाः** उत्पत्ति होगी। श्रवण, भाव, भोग, कर्मके संस्कारसे युक्त होकर वैसी-वैसी रीति स्वीकार करनी पड़ेगी। ●

७. गुह्य ब्रह्मोपदेश

संगति :

कर्म और ज्ञानके अनुसार मनुष्य शरीरधारी होनेके लिए कोई योनि पाता है तो अन्य कितने ही स्थावरभाव प्राप्त करते हैं—यह सप्तम मन्त्रमें बतायी गयी। कारण, आप विचार करके देखें कि इस झगड़ेसे छूटनेका उपाय क्या है ?

न तो व्यक्तित्वकी दृष्टिसे आपकी मृत्यु हो, न वासनावानकी दृष्टिसे आपका जीवन नित्य-प्रवाही हो और न कारणकी दृष्टिसे निष्क्रिय-नित्य हो। न तो आपका जीवन प्रकृतिका हो, न पंचभूतोंका और न देहका। देहका जीवन जन्म-मृत्युसे ग्रस्त है। पंचभूत प्रवाह रूपसे है। प्रकृतिसत्ता कारणरूप है। इन सबसे बचनेका उपाय है—इनके साक्षी, द्रष्टा प्रकाशक, अधिष्ठानके बारेमें विचार करना।

अब अष्टम मन्त्रमें कहते हैं कि सबके सो जानेपर जो जागता रहता है वही ब्रह्म, वही आत्मा है।

'कैसे पता चले कि सबके सो जानेपर कौन जागता रहता है?'

दूसरेकी कही बात मानोगे तब तो विश्वास करना ही पड़ेगा। दस आदमी एक जगह सो गये थे। सबेरे उठकर एकने कहा: "तुम सब तो सो रहे थे, मैं जाग रहा था।"

उसकी बात तो माननी पड़ेगी। यह दूसरेकी वस्तु नहीं है, अपनी वस्तु है। यह एक ही वस्तु है अपना आत्मा, जो काम करते समय, सपना देखने समय और बिलकुल सो जानेके समय भी रहता है:

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्॥ ८॥

प्राणादिके सो जानेपर जो यह पुरुष अपने इच्छित पदार्थोंकी रचना करता हुआ जागता रहता है वही शुक्र (शुद्ध) है, वह ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। उसमें सम्पूर्ण लोक

आश्रित हैं; कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। निश्चय यही वह [ब्रह्म] है ॥ ८ ॥

एक दिन हमने सपनेमें देखा कि विराट भगवान् प्रकट हुए। रामायण और भागवतमें जिस विराट् भगवान्का वर्णन है और अर्जुन, यशोदा, धृतराष्ट्र, उत्तंक, कौशल्याने जिसे देखा है, उन्हीं विराट् भगवान्के हमें स्वप्नमें दर्शन हुए। एक विराट् भगवान् था और एक मैं था अर्जुनकी तरह। मैंने देखा कि विराट् भगवानके सिरमें ब्रह्मलोक था और पैरमें पाताललोक। रोम-रोममें भगवान् थे। मैंने उन्हें प्रणाम किया, उनकी स्तुति की।

उन्होंने कहा: "तुम क्या चाहते हो?"

जो मैंने माँगा सो उन्होंने दिया। उसके बाद सपना टूट गया।

हम पूछते हैं कि उस समय स्वप्नमें जो दीख रहा था, क्या वह व्यष्टि, पदार्थ या मनुष्य यानी अखण्डानन्द और दृश्यमान विराट् समष्टि दोनोंका अधिष्ठान एक था या दो? जो स्वप्नका अधिष्ठान था, वही व्यष्टि-समष्टि दोनोंका अधिष्ठान था या नहीं? वही व्यष्टि-समष्टि दोनोंका द्रष्टा था या नहीं? जो अखण्डानन्द व्यष्टिको देख रहा था, वही किंभूत-किमाकार समष्टि, विराट्को देख रहा था या नहीं? दोनोंका द्रष्टा-चैतन्य भी एक था और दोनोंका अधिष्ठान-चैतन्य भी एक था। व्यष्टि और समष्टिकी वासनासे वासित अन्तःकरणमें जो व्यष्टि और समष्टिकी स्फुरणा हुई, उस स्फुरणामात्र व्यष्टिका अधिष्ठान-द्रष्टा वही था जो समष्टि-स्फुरणाका अधिष्ठान-द्रष्टा। जो इस शरीरमें 'मैं' कह-कर जाग्रत्में बैठा है और समष्टिको देख रहा है, दोनों एक ही द्रष्टा हैं। दोनोंका अधिष्ठान एक है। अधिष्ठान और द्रष्टामें व्यष्टि-

समष्टिका भेद नहीं। नाकमें गंधकी पहचान होती है कि यह चमेलीकी गंध है और यह गुलाबकी गंध! जो नाकको जाननेवाला है, वही गंधको जाननेवाला है या अन्य? जो घ्राणवृत्तिका द्रष्टा और अधिष्ठान है, वही गन्धवृत्तिका द्रष्टा और अधिष्ठान है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मदेव अद्वितीय हैं। इस दृष्टान्तको इस उपनिषद्में स्पष्ट करके समझाया है।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। अपना आपा अमृत है। **कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्** यह वेदान्तदर्शनका सूत्र है। यदि रोगीको औषधिसे लाभ न हो तो आयुर्वेदशास्त्र व्यर्थ है? मनुष्यके जीवनमें आयुर्वेद, कानून, डॉक्टरी उपयोगी है। मनुष्यकी चोरी छुड़ाकर उसे साहूकार बनाया जा सकता है। ऐसे हार मत मान लो, अपने आपको गाली मत दो।

स्वप्नमें हम देखते हैं कि वासनाके अनुसार पदार्थोंका निर्माण होता है। उसी समय आँखके मार्गसे रूपका, कानके मार्गसे शब्दका प्रतिबिम्ब अन्तःकरणमें पड़ रहा है सो बात नहीं। सब गोलक अपनी-अपनी जगह पर सो गये हैं।

य एष सुप्तेषु जागर्ति। वह जाग रहा है अर्थात् दृङ्मात्र ही जाग रहा है।

गाढ़ सुषुप्ति और स्वप्नावस्थामें अन्तर है। जाग्रत्-स्वप्नमें अन्तर है। जाग्रदवस्थामें बाह्यवस्तुका प्रतिबिंब पड़ रहा है, स्वप्नावस्थामें बाह्यवस्तुका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ रहा है। यदि साक्षी स्वप्नावस्थामें पदार्थोंकी सृष्टि करता है तो गाढ़ सुषुप्तिमें क्यों नहीं? अर्थात् वासना जब अभिव्यक्त होती है तब पदार्थोंका निर्माण होता है। इसका अभिप्राय है कि जहाँ अत्यन्त शान्ति है,

वहाँ पदार्थोंका निर्माण नहीं होता। अत्यंत व्यवहार तो स्थूल पदार्थ हैं। हमारी वासना ही पदार्थोंका निर्माण करती है: **कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।** अब स्वप्नके पदार्थ देखें। सर्वत्र जहाँ भ्रान्तिजन्य मानस-पदार्थ होते हैं, वहाँ विषय-विषयीका अधिष्ठान एक ही होता है। भ्रान्तिसे जितनी भी वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं, उसमें भ्रान्तिकी कल्पना और भ्रान्तिका विषय अलग-अलग नहीं है।

चन्द्रमापर जानेके लिए अभी अमेरिकाके एक सर्वेयरने कहा है: "वहाँ पन्द्रह दिनकी रात और पन्द्रह दिनका दिन होता है। वहाँ इतनी अधिक गरमी होती है कि मशीनें गल जायँ।" चन्द्रमामें पन्द्रह दिनकी रात और पन्द्रह दिनका दिन तो हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखा है। शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, सब दिन-रात, मास-वर्ष, युग-कल्प-मन्वंतर मिलाकर जो सर्वात्मक काल होता है सो नहीं। सर्वात्मक कालका संबंध तो कारणसे है। जैसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरका सम्बंध कारणसे है।

माण्डूक्य उपनिषद्में बताया है:

> **एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञः, एषोऽन्तर्यामी।**
> **एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥**

यह तो हुआ सर्वज्ञ-प्राज्ञ। 'अह्रस्वम्, अदीर्घम्, अनणुम्, अचिन्त्यम्, अलक्षणम्, अव्यपदेश्यम्' जो है सो तो इससे न्यारा है। सर्वात्मक काल जिस अधिष्ठानमें भास रहा है, वह तो अकाल है—कालातीत है, कालाभावसे उपलक्षित है। उस कालातीतसे उपलक्षित भावमें हमारे मनकी जो कल्पना हो रही है, उसका प्रकाशक-अधिष्ठान ही कल्पित सर्वात्मक कालका भी अधिष्ठान और प्रका-

शक है। देश, काल और पदार्थ तीनोंका विषयरूपमें प्रतीत होना, उनके विषयमें कल्पना होना और अपनेमें जीव-ईश्वर, व्यष्टि-समष्टिके रूपमें कल्पनापनका अभिमान होना दृङ्मात्र वस्तुमें केवल भानमात्र है।

जीव कल्पना करता है, ईश्वर कल्पित होता है। इन दोनोंका अधिष्ठान एक है। दोनों दो देश, दो काल और दो रूपोंमें नहीं होते। पदार्थ-कालिक चित्त और चित्तकालिक पदार्थ दोनों एक हैं। स्वप्नके पदार्थ जितनी देर पदार्थ दीखते हैं, उतनी देर तदाकार मन होता है और जितनी देर तदाकार मन होता है, उतनी देर पदार्थ होता है।

देश-काल-वस्तुके हिस्से और जोड़ इनकी समष्टि जिस अनन्तमें कल्पित है, उसी अनन्तमें उसकी कल्पना भी है और जिस अनन्तमें कल्पना है, उसीमें वह कल्पित भी है। अर्थात् ब्रह्म और आत्मासे अतिरिक्त न कल्पित है और न कल्पना। इसलिए कल्पित और कल्पनासे विलक्षण आत्मा और ब्रह्म एक है। इसका अभिप्राय है कि पहले भेदका बोध था, उसे दूर करनेके लिए समझदारीकी आवश्यकता तो हुई, किन्तु एक बार समझदारी आ जाने पर भेदका बोध ही निवृत्त हो गया।

य एष सुप्तेषु जागर्ति : 'कदाचिन्न स्वपित्ती इत्यर्थः।' अर्थात् जो कभी सोता ही नहीं। 'नींद नहीं आती' इसकी चिन्ता छोड़ दो। कारण, तुम कभी सोते ही नहीं।

उत्तर-प्रदेशमें अबसे पचीस वर्ष पूर्व आगरेके पास खाँड़ा-गाँवमें वेदान्तियोंका जमघट हो गया। वेदान्तमें 'वृत्ति-प्रभाकर' एक बड़ा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है। 'विचारसागर' में गंभीर वेदान्तकी सार-सार-प्रक्रियाका वर्णन है। एकने कहा : "यह तो बच्चोंका

ग्रन्थ है प्रक्रियाका नहीं। प्रमाणका निरूपण करो तब तुम्हारे पाण्डित्यका पता लगे।" तब 'वृत्ति-प्रभाकर' ग्रन्थका निर्माण हुआ। वहाँ इसके सिवा अन्य किसी ग्रन्थका पाठ ही नहीं होता था। वहाँ जाकर लम्बे-नारायण, अच्युतमुनिजीका लोग सत्संग करें।

एक बार वहाँ भारी उत्सव हुआ। श्री करपात्रीजी वहाँ गये। युवावस्थाकी घटना है। मैं तब गीताप्रेसमें नहीं गया था। श्री करपात्रीजी गुरु थे। विश्वेश्वराश्रमजी, श्री उड़ियाबाबा, हर-नामदास, अभयानन्द, उधरसे वेदान्ती पण्डित जीवनदत्तजी, अखिलानन्दजी सबके सब आये थे।

खाँडेवालोंने एक प्रश्न किया : "हमने सपना देखा, हम सोये" यह स्मृति किसे होती है ? 'हमने सपना नहीं देखा, गाढ़ी निद्रा देखी' यह कौन पूर्वानुभवका स्मरण कर रहा है ?"
उत्तर : 'साक्षी !'

प्रश्न : 'क्या साक्षीको स्मृति होती है ? जिसमें संस्कार होता है उसीको स्मृति होती है ?

उन्होंने श्री उड़ियाबाबाजीके सामने बड़े घटाटोपके साथ यही प्रश्न रखा तो बाबा बोले : "सुषुप्तिकी स्मृति होती ही नहीं। यह तो नयी स्फुरणा है।"

स्फुरणाका अर्थ है—जैसे आप स्वप्न देख रहे हों कि मैं अभी छह घंटे सोकर उठा हूँ तो क्या आप सपनेमें छह घंटे सोकर उठते हैं ? स्वप्नमें आपको अपनी आयु पचीस-पचास या सौ वर्षकी मालूम पड़े तो यह भी मालूम पड़ेगा न कि हम सोते हैं ? यह सच्चा नहीं है।

जाग्रत्‌में हमें देह आदि जो भी वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं, सब वासनाजन्य हैं। जैसे स्वप्न और सुषुप्तिमें साक्षी असंग होता है, वैसे ही इतने पदार्थ बनने-बिगड़नेपर भी वह असंग ही है। जैसे स्वप्नकी सृष्टि होनेसे जाग्रत्‌में कोई बाधा नहीं पड़ी, वैसे जाग्रत्‌की सृष्टि होनेसे उसकी अद्वैततामें बाधा नहीं पड़ती।

किसीको विश्राम करनेमें मजा आता है तो किसीको श्रम करनेमें। एक आदमीने नौ घंटेका नाचनेका रिकार्ड बनाया। उसे हाथ-पाँव, चिबुक, आँख नौ घंटे हिलाने-डुलानेमें क्या मजा आया? जो लोग कहते हैं कि शान्तिमें ही आनन्द है, उन्हें जानना चाहिए कि नृत्यसे भी आनन्द आता है। कई लोग कहते हैं कि 'उपवास करनेमें आनन्द है।' उपनिषद्‌में तो लिखा है "पन्द्रह दिन उपवास करोगे तो इन्द्रियोंकी शक्ति क्षीण हो जायगी।" भोजनमें आनन्द है या नहीं? जब तुम कहते हो कि 'उपवासमें आनन्द है' तो सत्यके एक पहलूका निरूपण करते हो और जब कहते हो कि 'भोजनमें आनन्द है' तब भी सत्यके एक पहलूका निरूपण करते हो। सत्यके ये दोनों पहलू समान कक्षामें कल्पित हैं। यदि मजा है तो दोनोंमें है, नहीं है तो दोनोंमें नहीं। मजा अपने आपमें है, जिसमें तुम रहोगे, उसीमें मजा है।

सदैव हाथ-पाँव बाँधकर तो बैठे नहीं रह सकते, इसलिए शान्ति-विक्षेप दोनोंमें मजा है। इसी कारण तत्त्वज्ञ महापुरुषको बन्धन-मोक्ष दोनोंमें मजा आता है।[1] जिसमें हम रहते हैं, उसीका नाम 'मजा' या आनन्द है।

एक बार एक महात्माने हमसे कहा: "तुम हमारे साथ रहो।"

---

१. देखिये: कठोप० २. २. १।

हमने कहा : "हमारा खाना-पीना, सोना-जागना, बोलना-चलना, भजन करना सबको ज्यों-की-त्यों स्वीकृति देते हो तब तो हम रह सकते हैं। यदि तुम्हें कुछ खट-खट करनी है कि कर्ता मत बनो, द्रष्टा बन जाओ, या द्रष्टा मत बनो, कर्ता बन जाओ; भूखे रहो तो यह सब हमें भी स्वीकार नहीं।"

वेदान्त-विद्याकी विशेषता ही यह है कि जो गाढ़ सुषुप्तिमें है, वही स्वप्नावस्थामें है और वही व्यवहारमें है। न सत्यतामें परिवर्तन होता है, न आत्मामें और न ब्रह्ममें। परिवर्तन मात्र जड़में हो तब तो सच्चा है।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म। जिसके सान्निध्यमें वासनाएँ सोती और जागकर अर्थाकार प्रतीत होती हैं—अर्थका निर्माण करती हैं। एक ओर ज्ञान होनेके लिए बोलते हैं: **रागो लिङ्गम् अबोधस्य।** संसारमें रागद्वेष होना अज्ञानकी पहचान है। कोई-कोई कहते हैं: "हम पहचान गये, हम परमात्मा हैं" तो कहा गया : **सन्तु रागादयो बुधेः।** जिसे वह ज्ञानीके रूपमें दीख रहा है, 'अपना आत्मा है' ऐसा नहीं दीखता, वह अन्यके रूपमें दीख रहा है। जो अन्य दीख रहा है उससे राग-द्वेष करे, जो उसे अन्यरूपमें देख रहा है, वह उसमें रागद्वेष देखा करे, लेकिन जो अपनेको ब्रह्मरूप देख रहा है, परिच्छिन्न देखता ही नहीं तो राग-द्वेष किससे करें?

ये राग द्वेष मारे हुए हैं। पञ्चदशीकार कहते हैं:

> **तिष्ठत्वज्ञानं तत्कार्यं स वा बोधेन मारिता।**
> **न भीतिर्बोधिसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः॥**

अर्थात् यह बोधरूपी सम्राट है। उसने रागद्वेषकी जड़ उखाड़ फेंकी है। यह बाधित हैं, सिनेमाके पर्देपर हैं। ये राग-द्वेष तमाशे

हैं। यह 'न अर्थाध्यासे' और न संसर्गाध्यासे' हैं। न यह क्रिया सच्ची है, न वस्तु। न उसके साथ सम्बंध सच्चा है और न ज्ञानाध्यास।

तुम्हारा यह 'मैं' शुक्र यानी स्वच्छ, निर्मल है। उसमें कोई मायामल लगा नहीं है। अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानना कर्ममल है। इसे आणवमल भी कहते हैं। इससे अभिमानपूर्वक कर्मसे तादात्म्य होता है। जब सदैव यह वृत्ति बनी रहती है कि "मैं अकर्ता हूँ" तब तो दोनों हाथ तुम्हारे हथकड़ीमें पड़ गये और जेलखाना ही आश्रय रहेगा।

यह निश्चित समझ लो कि जो बात सुषुप्तिमें नहीं भासती, वह कल्पित है। उसका नाम चाहे कुछ रख लो—गोलोक, बैकुण्ठ, साकेत, कैलाश, समाधि, ईश्वर, जीव, आत्मा, परमात्मा। जो वस्तु कभी सुषुप्तिमें रहती ही नहीं, वह अज्ञानके पेटमें होती है, अज्ञानके पेटमें रहती है और वहीं समा जाती है। जिस अज्ञानका ब्रह्ममें अस्तित्व ही नहीं, उस वस्तुकी क्या चर्चा? तुम्हारा मनुष्यपन, हिन्दूपन, ब्राह्मणपन, संन्यासीपन, स्त्रीपन, पुरुषपन क्या गाढ़ सुषुप्तिमें रहता है? जो अज्ञानान्धकारमें लीन हो गयी, वह अस्तित्वाज्ञानान्धकारमें निद्रादोषसे भूतकी तरह भासती है। अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति? स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक स्वयंब्रह्म—'**तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म**। शुक्रम् यानी द्वैतके मिश्रणसे रहित।

वृत्ति बनानेके लिए वेदान्त नहीं है। वेदान्त सत्यका उद्घाटन करनेके लिए है। चाहे याद रखो या न रखो, स्थिति-वृत्ति हो या न हो, न हो तो निष्ठाके लिए वेदान्त नहीं है। निष्ठाका बोध उड़ा देनेके लिए वेदान्त है। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ नहीं होता, जीव

या मनुष्य ब्रह्मनिष्ठ होता है। ब्रह्मज्ञानी तो ब्रह्म है। यदि अन्तः-करण नामकी कोई वस्तु है तो अन्तःकरण ब्रह्मनिष्ठ होगा। **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।**

ऐसी श्रुति नहीं कि **ब्रह्मवेद ब्रह्मनिष्ठो भवति।** जो ब्रह्मको जान लेता है, वह ब्रह्म हो जाता है, ब्रह्मनिष्ठ नहीं।

अन्तःकरणके सिवा सब कुछ सो जाय और अविद्या स्वप्ना-कार, कामाकार जो अन्तःकरणका परिणाम है, उस रूपमें दिखाई पड़े तो वह तो अपना अज्ञान ही दिखायी पड़ता है। अर्थात् है तो अपना आपा और दीखता है दूसरा। यह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंमें है और एक है। जैसे घड़ी आये या जाय, पुस्तक खुली रहे या बंद, पुस्तक यहाँ रहे या न रहे, देखनेवाला एक है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्थान-काल और वस्तुका भेद होता है, देखनेवालेमें भेद नहीं होता। नेत्रादि पंचेन्द्रियोंके भेदसे भी उसमें कोई भेद नहीं होता ; अपनेको कभी पापी माना, कभी पुण्यात्मा, कभी ज्ञानी तो कभी अज्ञानी, शांत या विक्षिप्त, सुखी या दुःखी, किन्तु देखनेवालेमें कहाँ भेद है ? वह तो एक ही है।

हमारी इन्द्रियोंने विषयका प्रतिबिम्ब लेकर विषयका लेना छोड़ दिया। पाँचों इन्द्रियाँ सो गयी। किंतु तुम नहीं सोये; क्योंकि तुम कहते हो कि "मैं तो बिलकुल गाढ़ अन्धकारमें था। ऐसी गाढ़ी निद्रा आयी कि कुछ मालूम ही नहीं पड़ा।" बड़ी अन्धेरी गुफामें घुसकर तुम वहाँका नजारा देखकर आये हो।

कभी-कभी हम ऐसी गुफामें गये हैं जहाँ कुछ न दीखे। देहरा-दूनसे सात-आठ मीलपर एक ऐसा नाला बहता था। जो तीन मील तक भीतर ही भीतर आता था। ऊपर मिट्टी, अगल-बगलसे दीवार और भीतरसे नाला बहता था। शौकीन लोग नालेका

नजारा देखकर, इधरसे घुसकर उधरसे निकलते। अब वह छोटा हो गया। उसकी धरती गिर गयी। अब तीन मीलका नहीं, दो-तीन फर्लाङ्गका है। हम वहाँ बड़ी गाढ अंधेरी गुफामें गये थे।

हम गोविन्दनाथजीकी गुफा देखने गये। वह बीस-इक्कीस गज थी। कोई-कोई गुफा पाँचसौ गजकी भी होती है। यह सुषुप्ति घोर गुफा है पर उसमें आने-जानेवाला कौन है? तुम हो या नहीं? गुफामें एक ऐसी स्थिति देखनेमें आई जहाँ न माटी है न पानी, न आग है-न हवा, न आसमान; न पूरब-पश्चिम, न घंटा-मिनट, न नातेदार-रिश्तेदार और सब दीख गये।

एक मत ऐसा है कि जीवके जो कर्म बहुत हल्के-फुल्के होते हैं और जिनका फल वह जाग्रत्में नहीं भोग सकता, उन कर्मोंका फल देनेके लिए ईश्वर ही स्वप्न बना देता है। नहीं, वहाँ तो पञ्चभूत नहीं हैं, ईश्वर तो पञ्चभूतकी सृष्टि करता है। इसका उपनिषदोंमें बड़ा विवेक है। ईश्वर लोक बनानेवाला नहीं है, क्योंकि लोक तो वासनाके अनुसार बनते हैं। तुम जो दो-चार मंजिलवाला मकान बनाते हो वह ईश्वरने बनाया है, क्योंकि तुम्हारे हृदयमें ईश्वर बैठा है। यह तो भक्तिकी बात हुई! वास्तवमें मकान तो तुमने वैसा बनाया जैसी तुम्हारे मनमें वासना थी। लेकिन पंचभूत तुम्हारी वासनाने नहीं, ईश्वरने बनाया है।

स्वप्न कोई मिट्टी-पानी-आग नहीं है। अपनी वासनाका बनाया लोक है। वहाँ जीवमें वह स्वयं ज्योति रहती है, स्वप्नका कर्ता जीव नहीं है। शास्त्रोंमें बताया गया है कि मनुष्यके मनमें दुःखीपनका भाव (अभिमान) होनेपर निश्चय ही उसने कहीं, कभी, कोई पाप किया है और सुखीपनका भाव हो तो पुण्य।

उसमें कर्तापन अवश्य रहेगा। स्वप्नमें जीवमें संकल्प या कर्तृत्व नहीं है। वह तो दीखता जाता है। वासना है, पर उसकी पूर्तिके लिए अपेक्षित कर्म नहीं होता। केवल वासनासे सब काम नहीं बनता।

यथा कर्म यथा श्रुतम्। मनमें केवल वासना ही वासना हो और वह पूरी होती जाय तो लोक नहीं रहेगा, स्वर्ग हो जायगा। वासना कभी अंधी होकर गलत स्थान पर ले जाती है और गलत भोग देती है। उसमें न संकल्प है और न कर्तापन। स्वप्नमें देखी-बनायी वस्तुका जागनेपर बाध भी हो जाता है। सब कुछ देखनेके बाद भी वह झूठ-मूठ मालूम पड़ता है। पर्दे पर देखो कि अशर्फियाँ गिर रही हैं, पर क्या उनमेंसे एक भी लेकर घरमें आ सकते हो? वह तो झूठ-मूठ की थीं। बादमें जो वस्तु झूठ मालूम होती है वह बाधित हो जाती है।

एक देशमें जो कर्मकाण्ड माना जाता है, और दूसरे देशमें मिथ्या या जो एककालमें सत्य माना जाय और दूसरे कालमें मिथ्या तो वह बाधित हो जाता है। एक अवस्थामें सच्चा मालूम पड़नेवाला दूसरी अवस्थामें मिथ्या हो जाय तो भी वह बाधित हो जाता है। जो देखनेमें सच्चा मालूम पड़े वह अधिष्ठानमें झूठा हो जाय तो भी बाधित हो जाता है। जो देखनेमें सच्चा मालूम पड़े पर देखनेवालेके लिए झूठा हो तब भी वह बाधित हो जाता है। 'बाध'का अर्थ 'किसी वस्तुका मालूम न पड़ना'। इतना ही नहीं उसका अर्थ है, किसीके बारेमें जो सत्यत्त्वबुद्धि है वह बदल जाय और उसकी जगह मिथ्यात्व-बुद्धि उदित हो जाय। जैसे पहले रस्सीमें सर्प मालूम पड़ता,

सत्यत्व बुद्धि होती है, परन्तु रस्सी देखनेपर वह मिट जाती है और मिथ्यात्व बुद्धि हो जाती है। वह कैसे हुई? 'यह रज्जु है' इस प्रकार अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे।

ब्रह्मसूत्रके तीसरे अधिकरण के दूसरे पादमें और अन्य भी अनेक अधिकरणोंमें स्वप्न-पदार्थकी व्याख्या मिलती है। उसकी सूचना तो मिलती है, परन्तु जिसकी सूचना मिले वह वस्तु सच्ची ही हो, यह आवश्यक नहीं। झूठी वस्तुकी भी सूचना मिलती है। सीपमें चाँदीका भ्रम होनेपर प्रसन्नता होती है, पर उसके मिथ्यात्वका बोध होनेपर वह प्रसन्नता, वह सुख बाधित हो जाता है। पहले जिस अंगूठीके हीरेका मूल्य दो हजार समझकर प्रसन्न होते हैं, वह काँच मालूम होते ही प्रसन्नता मिट जाती है। पहले हम जिसे चेतन समझते थे, वह जड़ मालूम होते ही चैतन्यताकी भ्रान्ति कट जाती, अध्यास मिट जाता है। पहले एकको ही अनेक-अनेक रूपोंमें देख रहे थे। पर मालूम हुआ, यह तो अनेक नहीं है, एक है तो बाध हो गया, अनेकता उड़ गयी।

यह 'बाध' पूर्वमीमांसासे ही शब्द आया है। वहाँ दसवें अध्यायका नाम ही 'बाधाध्याय' है। स्वप्नमें किया हुआ पाप मनुष्यको क्यों नहीं लगता? स्वप्नके समय तो मालूम पड़ता है— 'हमने चोरी-बादमाशी की', पर जागनेपर वह बुद्धि बदल जाती है: 'हमने कुछ किया ही नहीं।' तब स्वप्नका पाप नहीं लगेगा। स्वप्नमें किये भोगका संस्कार बनेगा या नहीं, क्या वह अगला जन्म देगा? नहीं, कारण जाग्रतमें स्वप्नका बाध हो जाता है।

एक बार काशोमें वहाँके सब विद्वानोंको बुलाया था। ढाई-तीन सौ अध्यापक और पाँच सौ विद्यार्थी थे। स्वप्नके बारेमें विचारके लिए बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ। प्रश्न थे:

१. स्वप्न ईश्वर-निर्मित होनेसे सत्य है ?

२. उपनिषद्में वर्णन है कि 'स्वप्नमें अमुक-अमुक वस्तु देखें तो यह फल होता है', इसलिए यह सत्य है।

यदा काम्येषु कर्मसु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धं विजानीयात्।

शंकराचार्यने इसपर विचारकर स्पष्ट कहा है : 'मंत्र या देवताकी आराधना-शक्तिसे स्वप्न आये तो वह स्वप्नकी सत्यता नहीं, वह तो मंत्रशक्ति—आराधनशक्तिकी सत्यता है'।

एकबार किसी एकको स्वप्न आया : 'हमने आज सफेद साँप देखा।' बेचारा घबड़ाया हुआ आया।

मैंने पूछा : 'उसने तुम्हें काट लिया या नहीं ?'

बोला : 'नहीं, बच गया।'

वह तो डरा हुआ था। मैंने कहा : 'जा तुझे एक हजार रुपया मिलेगा। काट लेता तो पाँच हजार मिलता।'

तुरन्त उसका दुःख दूर हो गया, बड़ा प्रसन्न हुआ। मैंने बताया : 'यह तो बहुत अच्छा स्वप्न है।'

इसपर कई गरीब लोग सोचेंगे कि 'हे भगवान्, हमें ऐसा ही स्वप्न दो ! भले ही सफेद साँप काट जाय, पर पाँच हजार तो मिलेगा।'

वह आदमी नाई था, प्रेमकुटीके पास (बम्बईमें) रहता था। दूसरे-तीसरे दिन उसने फोन किया : 'स्वामीजी, आपने हमें एक हजार रुपया मिलनेको कहा था तो वह एक जगह पड़ा मिल गया, लेकिन आधा ही है।' इससे सपना सच्चा नहीं हुआ। स्वप्न तो बाधित हो गया।

उन विद्वानोंने निर्णय दिया, एक युक्ति याद करलो तो और काम बन जाय :

बाधितं भवतु वा न वा।

'स्वप्नके अनन्तर यह बुद्धि होती है या नहीं कि मैंने जो कुछ देखा वह मिथ्या है ?' होती है तो बाध हो गया।

तत्त्वज्ञानीको स्वप्न टूटनेपर यह प्रपंच मिथ्या है, यह बोध नहीं होता। प्रपंचरूप स्वप्नके भासमान रहनेपर ही उसके अधिष्ठान आत्माका ज्ञान हो जानेसे अपने अखण्ड, अद्वय आत्मामें जो प्रतीति हो रही है वह अपने अभावके अधिष्ठानमें भास रही है। भासती हुई भी मिथ्या है।

कामं-कामं पुरुषो निर्मिमाण। क्या जीव स्वप्नका निर्माण करता है ? वेदान्तदर्शनमें **निर्मातारं चैके** कहकर २-३ अध्यायोंमें इसका भी विचार है। श्रुतिका तात्पर्य यह बतानेमें नहीं है कि 'जीव स्वप्नका निर्माता है।' ईश्वर पंचभूत, हिरण्यगर्भ लोक तो जीव दुःख बनाता है। किन्तु ईश्वर दुःख नहीं बनाता, वह तो सर्वथा आनन्दरूप है। उसके पवित्र हाथों कभी दुःखका निर्माण नहीं होता। वह तो जिसे छू देता है, वही सुख हो जाता है। लेकिन जीव अपनी भूलसे दुःख बनाता है। यह जीवसृष्टि है। प्राकृत सृष्टिमें भी दुःख नहीं है। हम मनसे किसी वस्तुको पकड़कर बादमें उसे छोड़ना नहीं चाहते, यही दुःखका कारण है। जो वस्तु तुम्हारे पास नहीं उसे बुलाना चाहते हो और जो पास है उसे भगाना, तो यही दुःखका कारण है। दुःख बुद्धिका भ्रम है। सारा वेदान्तदर्शन मानता है कि जीवने अपने लिए मेरा-तेरा (ममता-मोह) करके दुःखकी सृष्टि कर ली है।

प्रश्न होगा—यदि स्वप्न जीवका बनाया हुआ ही नहीं तो उसका वर्णन क्यों? उत्तर है, स्वप्नमें आत्माके स्वयंज्योतित्वका निरूपण करना। यह बिना देश-काल-वस्तुके, बिना सम्बन्धीके बन जाता है। यह स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व बिना सूर्य, चन्द्र और नेत्रके भी दीखता है, बिना अग्नि और जीभके बोलता है। स्वप्नमें इसका स्वयंज्योतिष्ट्व स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए स्वप्नका वर्णन किया जाता है।

तदेव शुक्रम्। वही जो स्वप्न देखता है, जो सुषुप्तिमें शान्त होता है और स्वप्नमें विक्षेप देखता है, जो जाग्रत्‌में अपनेको द्रव्य यानी देह मानता है (जिसे प्रयोगशालामें गला सकें या कठोर बना सकें, वह द्रवणशील, परिणामी, विकारी, रूपान्तरित किया जानेवाला पदार्थ 'द्रव्य' कहलाता है)। यह देह द्रव्य है। वह जवान-बूढा होता है, उसका मरण होता है, उसे ऑपरेशन-इञ्जेक्शन दिया जाता है, वह खाता-पीता है और मूढ़ हो जाता है, जो स्वप्नमें अपनी प्रयोगशालामें नयी सृष्टि बनाता और सुषुप्तिमें जाकर आराम करता है, जो देश-काल-वस्तुकी कल्पनाको अपने साथ लिये जागता है और ये सारी कल्पनाएँ सो जानेपर भी स्वयं जागता रहता है, वह चैतन्य, द्रष्टा कौन है? उसके बारेमें तीन बातें हैं:

(१) यह चाहते हो कि अमृतत्वकी प्राप्ति हो! यह प्रयोजन है, फल आनन्द-दृष्टि है।

(२) हम कौन हैं? हमें यथार्थका ज्ञान हो। स्वरूपज्ञान आनन्द-दृष्टि है।

(३) उसका शुद्ध रूप क्या है, यह द्रव्यदृष्टि है। इससे जीवनमें साधनता आती और अन्तःशुद्धि होनेपर परमात्माका

साक्षात्कार होता है। जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिका द्रष्टा स्वयं ही साधन, स्वरूप और फल भी है।

तदेव शुक्रम् शुद्धम्=तद्ब्रह्म (ब्रह्मस्वरूपम्) तदेव अमृतम्=फलम् : तुम स्वयं किसी दूसरेके साथ मिश्रित नहीं।

गृहस्थ कहते हैं कि हम बच्चोंके साथ इतने हिल-मिल गये हैं कि उनके सिवा रह ही नहीं पाते। एक व्यक्तिका जवान बेटा डाकेमें पकड़ा गया तो वह बोला : 'इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।' तब क्यों अपनेको सम्बन्धसे बचाना चाहते हैं? एक पुरुषने कहा : 'हम पति-पत्नीमें बड़ा प्रेम है।' लेकिन एक दिन उसकी पत्नी पर-पुरुषके साथ पकड़ी गयी तो वह भी दूसरी स्त्रीके साथ रहने लगा। ऐसा क्यों, पुरुषकी तो बड़ी घनिष्ठता थी न? एक पतित हुआ तो क्या दूसरेको भी पतित होना चाहिए? अपना-अपना काम अपने-अपने पास है। आप तो अपनेको एक मानते थे। यह अलगाव कहाँसे आ गया? तात्पर्य यह कि आप स्वयंको सदैव शुद्ध रखना चाहते हैं या नहीं? संसारी मनुष्य क्या है?

एक आदमीने कहा : 'महाराज, अब तो ईमानदारीका धर्मका नाश हो जायगा!'

मैंने कहा 'बिलकुल नहीं होगा।'

उसने पूछा: 'क्यों?'

मैंने बताया : 'सभी लोग चाहते हैं कि हमारे अन्दरसे तो धर्म, ईमानदारीका नाश हो जाय, हमें धन-भोग मिले, लेकिन दूसरेमें धर्म-ईमानदारी बनी रहे। हम अपनी पत्नीसे चाहे जितना झूठ बोलें, चाहेंगे कि वह हमारे साथ सच ही बोले। हम धर्मसे रहें

या न रहें, पत्नी धर्मसे रहे। धर्म पड़ोसीके घर अवश्य रहे, हमारे घरमें रहे या न रहे। जब इतनी बड़ी माँग है कि हम अपने सिवा सबको ईमानदार चाहते हैं तो हमारा संकल्प बड़ा शुभ हुआ! इसलिए हमेशा धर्म-ईमानदारीकी माँग सदैव बनी रहेगी। केवल हम उसे अपने लिए नहीं चाहते, यही संसारीपन है। कारण, हम अपने स्वरूपसे भ्रष्ट हो गये हैं।

वास्तवमें हम जिन सद्गुणोंको दूसरेमें देखना चाहते हैं, वे हममें रहने चाहिए या नहीं? हम अपने लिए सबको छोड़नेको तैयार हैं। हम कितने ही झूठे, चोर, पापी हों, अपनेको दूधका धुला दिखानेको तैयार रहते हैं। इसका अर्थ है कि हमारी नसमें, स्वभावमें, स्वरूपमें कहीं-न-कहीं से शुद्धता आयी है। इसे मिटाने-का यत्न करने पर भी हम मिटा नहीं पाते!

'तदेव शुक्रम्' : अपने आपको देखो। जब तुम सबको छोड़कर सो सकते हो, तो समाधि क्यों नहीं लगा सकते?

बचपनमें मैं अपने बाबाकी गोदमें सोता था। वे सो जाते तो, मैं धरती पर गिर जाता। उनका इतना प्यार था तो मुझे अपनी गोदसे छोड़ते ही नहीं।

कोई पति-पत्नी रातभर जग लें पर सूर्योदय होते-होते सो जाते हैं तो दस बजे तक सोये रहते हैं। यदि उनमें इतना प्रेम है तो एक-दूसरेको छोड़कर क्यों सोते हैं?

वास्तवमें अपना विश्राम, सुख और अपनी शांति अपने साथ है। व्यवहारमें चाहे हम सबसे मिल लें, सुषुप्ति यह बात घोषित कर देती है कि तुम्हारा अकेलापन शाश्वत है। साधनकी दृष्टिसे

तुम्हारा अकेलापन है। सिद्धि तो वह है जो साधन-असाधन दोनोंमें तुम्हें छोड़कर कहीं न जाय।

शुक्रका अर्थ है माया-अविद्यासे रहित, शुक्ल या जड़ताके सम्बन्धसे रहित। यह जो अशुद्धि मालूम पड़ती है, वह सर्वथा बाधित है। कोई आदमी बता दे कि उसका अमुक भाव सदैव रह सकता है! ये सब तो आगन्तुक, बनावटी हैं। उस समय भाव बढ़िया था, अब बदल गया तो बाधित हो गया, अर्थात् वह तुम्हारा स्वरूप नहीं।

हमने अपनेको शुद्ध जान लिया, यह ठीक है। किन्तु अपनेको जेलखानेमें मान लेना यानी समझना कि 'हम कलेजेकी धड़कन या मांसपिण्डमें रहते हैं' यह समझना निरी अज्ञानता है! वस्तुतः आधार-आधेय भावसे कभी विचार किया नहीं जाता। हमें लगता है कि माटी पर पानी रहता है। ऐसा नहीं लगता कि पानी पर माटी रहती है। यथार्थमें मिट्टीके दो कण मिलकर डला बना है इसलिए उसमें कुछ-न-कुछ पानी अवश्य है। स्नेहके बिना पिण्डीभाव होता ही नहीं। तब बतायें कि मिट्टीका आधार पानी है या पानीका आधार मिट्टी? घड़ेमें पोल है या पोलमें घड़ा? आकाशके स्वरूपका तबतक ज्ञान नहीं होगा जबतक यह न समझें कि घड़ेका आधार पोल है, पोलका आधार घड़ा नहीं।

जबतक 'मैं'को शरीर समझते हैं तबतक विपरीत ज्ञान है। शरीरमें ज्ञान नहीं, ज्ञानमें शरीर है। वास्तवमें 'मैं शरीर हूँ' यह ज्ञान ही शरीर है। ज्ञान आधार और शरीर आधेय है। अर्थात् तुम चिदाकाश ब्रह्म हो। कई मजहब जीवको आकाशमें उड़नेवाली आगकी चिनगारी या जुगनू (खद्योतकी) तरह टुकड़े-टुकड़े मानते हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं, यह चैतन्य ब्रह्म है, अनन्त-अमृत है।

एक गेहूँके दानेको गेहूँ माना तो वह नष्ट हो गया और गेहूँ-पनेके संस्कारसे संस्कृत मिट्टीको गेहूँ माना तो नष्ट नहीं हुआ। संस्कार तो विद्यमान है—नित्य प्रवाहरूप है। जिससे गेहूँपना अभिव्यक्त होता है उस अव्यक्तको देखो तो वह मिटता-बदलता रहता है, लेकिन गेहूँके साक्षी, तन्मात्र अधिष्ठानको देखो तो **अमृतमुच्यते**। तुम अमृत हो। तुम यदि हड्डी, चाम और मांसके पुतले हो तो एक दिन पैदा हुए थे और एक दिन मर जाओगे, इतना ही तुम्हारा जीवन है। यदि तुम कर्म, वासना, प्रज्ञा, और अध्ययन अपने जीवनके साथ लिये हुए हो तो इतना ही तुम्हारा जीवन नहीं है। लेकिन यदि तुमने अपनेको कर्म, वासना, बुद्धि और अध्ययन इससे भी मुक्त-चिन्मात्र जान लिया तो चिन्मात्र तो देश-काल-वस्तुकी कल्पनासे विनिर्मुक्त है। वही चेतन तुम हो तो तुम ब्रह्म हो और ब्रह्म हो तो तुममें बन्धन नहीं। बन्धन छोटेका होता है, बड़ेका नहीं। यदि कोई कहे कि 'आज मैं रस्सीमें बाँधकर आकाश ले आया हूँ 'तो क्या तुम्हें विश्वास होगा?' आकाश रस्सीमें बाँधनेकी वस्तु नहीं। इसीतरह जो देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका साक्षी होता है वह ब्रह्म है और वह कर्म, वासना, बुद्धि या विज्ञानसे कभी नहीं बँधता।

संसारी सोचता है कि हम अभी बद्ध हैं, आगे मुक्त होंगे। लेकिन उसने जब बिना सोचे-समझे अपनेमें बद्धताकी यह कल्पना कर ली है, तो मुक्ति कैसे प्राप्त हो? जब तुम जान लोगे कि 'मुझसे अतिरिक्त दूसरी कोई बाँधने, फाँसने या सटनेवाली वस्तु नहीं, निमित्त नहीं और देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान, परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वितीय, सन्मात्र तथा सम्पूर्ण प्रकाशोंका प्रकाश मैं स्वयं प्रकाश हूँ' तभी तुम्हारी वास्तविक मुक्ति होगी।

एकने कहा : 'अब तक तो मैंने रस्सीमें साँप की कल्पना कर रखी थी, आजसे फूलमालाकी कल्पना करता हूँ।' भले ही वह वैसी कल्पना करले, पर जानेगा तो रस्सी ही जानेगा। अपनेको मुक्त होनेकी कल्पना कर लेना दूसरी बात है और अपनेको मुक्त जानना दूसरी बात। वास्तवमें तुम ही मुक्त हो। तुम सहज स्वभावसे ब्रह्म हो, तुम सहज स्वभावसे शुद्ध हो। तुम्हें न तो अन्तःकरणशुद्धिकी, न ब्रह्म होनेकी और न मुक्ति पानेकी ही अपेक्षा है। तुम सर्वदा मुक्त हो।

उच्यते। यह भी बात कहनेकी है, क्योंकि तुमने अपनेको बद्ध, जन्ममृत्युवाला जीव मान लिया है। तुम्हें समझा रहे हैं कि तुम शुद्ध हो, ब्रह्म हो, अमृत हो, आनन्द हो! 'उच्यते=उपदिश्यते।' क्योंकि तुम्हारी मान्यता, प्रज्ञा, जानकारी इसके विपरीत हो गयी है।

भव-वारिधि मृगतृषा समाना।
अनुछिन यह भाषत नहि आना॥

संत तो उसे कहते हैं जिसकी प्रत्येक वाणीसे यह ध्वनि निकलती है कि मृगतृष्णाके समान दिखाई पड़नेवाला यह नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपंच मिथ्या है, आत्मतत्त्वके सिवा अन्य कुछ नहीं है।

किसीने कहा : 'तुम्हें भूत लग गया।'

'अब ?'

'पाँच रुपया ले आओ तो छुड़ा दें।'

यह सन्तका काम नहीं। संत देखता है कि तुम शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म होनेपर भी अपनेको अशुद्ध, बद्ध जीव मान रहे हो तो

वह तुम्हारी वह मान्यता ही मिटा देनेकी युक्ति करता है। जो तुम्हारी मान्यतामें 'हाँ में हाँ' मिलाये और कहे कि 'जी हुजूर! सचमुच यह जीव बड़ा पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुखी, है' तो ऐसे नौकरको मालिक पहलेसे ही मारकर घरके बाहर निकाल दे!

तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे। इस ब्रह्माभिन्न आत्मामें ही सारे लोक भास रहे हैं।

तदु नात्येति कश्चन। देश-काल-वस्तु या अंतरंगताकी दृष्टिसे, अधिष्ठानता-तात्त्विकताकी दृष्टिसे ब्रह्मका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।

एतद्वै तत्। यह आत्मदेव वही ब्रह्म है, दूसरे नहीं! इस 'तत्त्वमसि'का 'अहं ब्रह्मास्मि' रूपमें बोध होना चाहिए। आप महावाक्य श्रवण करते हैं। 'अहं अस्मि' इतना बोले तो महावाक्य हुआ या नहीं?

"मैं हूँ" यह बात चींटी-मच्छर भी जानता है। कोई उसे मारता, उड़ाता है तो वह क्यों भागता है? 'मैं हूँ' यह तो जुएं मच्छर, पागल-बेवकूफ, सबको मालूम है। इसलिए यह तो वाक्य है। यदि आपको इतनेसे ही संतोष हो जाय तो यह कहना पड़ेगा कि जन्म-मरण, राग-द्वेष होते हुए भी 'आप हैं।' वेदान्त-महा वाक्यजन्य अनुभवको 'मैं हूँ' रूपमें मानकर यह समझना कि 'मुझे वेदान्त-बोध हो गया' बिलकुल गलत है।

महावाक्य बोलता है: **अहं ब्रह्म अस्मि।** इसमें एक बात और आ गयी। तुम्हारा एक नाम था और दूसरा नाम आ गया 'मैं ब्रह्म हूँ।' यह दूसरा नाम क्यों रख रहे हो? 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ समझ लो। अन्यथा 'मैं'को ब्रह्म समझना व्यर्थ जायगा।

ब्रह्मका लक्षण बताया गया है : **सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म** ।
'सत्य' यानी जिसको कभी (समय), कहीं (देश), कोई (व्यक्ति) किसी भी वस्तु (अवस्था)में 'ना' न बोल सके वह। कोई भी मनुष्य चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक, वैदिक हो या अवैदिक, किसी भी प्रकारसे-समाधि, उपासना, विवेकसे जिसे 'ना' न कह सके उसका नाम 'सत्य है। सत्य=अबाध्य, जिसके मिथ्यात्वका निश्चय न हो सके।

ज्ञानम्=जो स्वयंप्रकाश है। कोई सत्य हो और जड़ हो तो ? नहीं चलेगा। उसे चैतन्य होना चाहिए। इसीतरह वह चैतन्य हो, पर क्षणिक हो तो भी नहीं चलेगा, उसे 'अनन्त' भी होना चाहिए। अनन्तम्=परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वय, अपरिच्छिन्न वस्तु-का नाम ब्रह्म है। 'अस्मि' कहता है 'जिसे तुम 'मैं' कह रहे हो और 'ब्रह्म' कह रहे हो ये दोनों दो नहीं, एक है।'

उपासकोंने इसमें झगड़ा लगाया। यह महावाक्य तो है ही। जैसे हम बोलते हैं कि 'शालिग्रामकी शिला या नर्मदाशंकर देखने-में तो छोटेसे हैं, गोलमटोल शालिग्राममें नारायणत्व और लंबे नर्मदाशंकरमें शिवत्व शास्त्रजन्य प्रज्ञासे आरोपितकर उपासना करते हैं, वैसे अहंमें ब्रह्मत्वका आरोपकर उपासना की जाती है कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' पहले अहंको जानो, ब्रह्मको जानो, अहंमें ब्रह्मत्वका आरोप करो।

उपासक लोगोंने कहा : 'यह भी एक उपासना है कि देखनेमें गोलमटोल शालग्राम शिला और लम्बी-लम्बी नर्मदाकी शिला जड़पाषाण है और वह अल्प-देशकाल-रूपमें है। किन्तु जैसे उनमें ईश्वरत्व ब्रह्मत्वका आरोपकर उनकी उपासना करते हैं, वैसे ही अहंमें भी ब्रह्मबुद्धि कर उपासना करनी चाहिए। इसप्रकार ब्रह्मबुद्धि उपासनाका ही अंग है। इसतरह उपासक लोग कहते हैं

कि जैसे 'इदम्' में ब्रह्मबुद्धि आरोपित है, वैसे अहंमें भी ब्रह्मबुद्धि आरोपित है।

किन्तु अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं : 'इदम्में तो ब्रह्मबुद्धि आरोपित है, पर 'अहम्में' ब्रह्मबुद्धि आरोपित नहीं, वास्तविक है; क्योंकि 'इदम्' पदका जो भी अर्थ होता है, वह 'अहम्' पदके आश्रित होता है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति स अहम् जो जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओंमें न रहकर भी, सुषुप्तिमें रहकर सुषुप्तिको प्रकाशित करता है, उसका नाम 'अहम्' है। 'अहम्' यानी द्रष्टा, स्वयंज्योति। जो जाग्रत्-अवस्थामें पाप-पुण्य कमा सकता है वह कमाऊ बेटा है। जो स्वप्नावस्थाकी प्रयोगशालामें सारी सृष्टिका 'मॉडेल' तैयार करता है, वह प्रयोगशालामें विद्यमान तैजस्-तेजस्वी अपने तेजसे सारी सृष्टिका निर्माण कर सकता है। तैजस यानी स्वयंज्योति। जो प्रज्ञाका घनीभाव होनेपर, उसमें लीन हो जानेपर भी सुषुप्तिमें जागता है। इसतरह जो जाग्रत्में 'विश्व', स्वप्नमें 'तैजस्' और सुषुप्तिमें 'प्राज्ञ' संज्ञा धारण करता है और वस्तुतः तीनों अवस्थाओंमें एक होनेपर भी तीनों से न्यारा है, वही अहं द्रष्टा या स्वयंज्योति है।

जाग्रत्में स्वप्न-सुषुप्ति नहीं, स्वप्नमें जाग्रत्-सुषुप्ति नहीं, सुषुप्तिमें जाग्रत्-स्वप्न नहीं, पर आत्मा तीनोंमें विद्यमान है और जाग्रत्-स्वप्नके देश-काल-द्रव्यसे न्यारा है। सुषुप्तिमें घनीभूत देश-काल-द्रव्य जो कि दृष्टिवृत्तिमें लीन हो गये हैं, अलीन आत्मवस्तु वस्तुतः देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है और ब्रह्म भी देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। आत्मा स्वयंप्रकाश है और ब्रह्म भी स्वयंप्रकाश है। 'मैं' भी परम प्यारा है, 'अनन्तता' भी

ईश्वर यथार्थतः ब्रह्म है इसलिए ईश्वरसे भिन्न सृष्टि नहीं और हमारा अहं यथार्थतः ब्रह्म है, इसलिए इससे भी भिन्न सृष्टि नहीं चाहे जैसे बोलो : 'सब ईश्वर है, सब ब्रह्म है, सब मैं हूँ', क्योंकि मैं ब्रह्म हूँ और मुझसे अतिरिक्त सृष्टि नहीं है। इस तरह 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' कहकर 'त्वं' पदार्थका निरूपण किया गया जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका द्रष्टा है।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। अरे, यही तो शुक्र है। इसमें शुद्ध अन्तःकरण होनेकी प्रतीक्षा नहीं है। तद् ब्रह्म—यह यह स्वरूपसे ही परिपूर्ण सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म है।

'य एष सुप्तेषु जागर्ति तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तस्मिन् ब्रह्मणि ब्रह्माभिन्ने और **'य एष सुप्तेषु जागर्ति तस्मिन्**।' जो सबके सोनेपर जागता रहता है उस द्रष्टामें और उस शुक्र-अमृत-ब्रह्म यानी ब्रह्माभिन्न आत्मतत्त्वमें। **'तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे'**— जैसे कोई आकाशमें मानसिक गन्धर्वलोक बनाये तो वह बनानेवालेके सकल्पसे भिन्न नहीं है। यह सब दृश्यपन—एक चींटीसे लेकर प्रकृति तक द्रष्टा और दृश्यके मेलसे बनी। जितना स्थावर-जङ्गम दीख पड़ता है वह सारा-का-सारा वैसा ही है जैसे स्वप्नमें पहाड़ और उसपर यात्रा करता हुआ मैं। मैंने कई बार स्वप्नमें अपनेको बदरीनाथकी यात्रा करते देखा है। रातको हिमालय चमचम चाँदीकी तरह चमकता और सन्ध्या समय स्वर्णकी तरह सुनहला चमकता हुआ, उसपर पहाड़, नीचे गंगा तथा बीचमें-से खोदकर रास्ता बनाया मालूम पड़ता। सपनेमें ऐसा दीखता कि एक महात्मा वहाँ बैठे हैं और उनके पेटपर बरफ जम जाती है। उसे वहाँसे पोंछकर वे अपने सिरपर लगा देते हैं। तब वह गलकर गिर जाती है। मैंने जाकर उन्हें 'ॐ नमो नारायणाय' कह दिया। वे उठकर खड़े हो गये और बोले : 'वाह !'

सोचिये कि वह महात्मा, हिमालय पहाड़, प्रणाम करनेवाला मैं, सब कौन था ? जो पर्वतावच्छिन्न चैतन्य है वही महात्मा-वच्छिन्न चैतन्य और वही यात्री अवच्छिन्न चैतन्य मैं। तीनोंका अधिष्ठान प्रकाशक एक ही है। तीनोंका मैं एक है, मेरे 'मैं'के सिवा इनमें-से एक भी नहीं!

मान लें कि सपनेमें आपको अपना शत्रु मिल जाय, गुत्थम-गुत्थी होने लगे, वह आपको तलवार मारे और शरीरसे रक्त निकले तो वहाँ आपका वह शत्रु कौन है ? आप ही हैं न ? घायल करनेवाला और घायल हुआ दोनों 'शत्रु' और 'मैं'के रूपमें आप ही एक हैं। तलवार भी आपकी 'मैं' है।

जब इस देहसे ऊपर उठना होता है तो साधना की जाती है कि 'मैं देहसे न्यारा हूँ' और जब अपनेको ब्रह्मके साथ मिला दिया जाता है तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'सब मैं ही हूँ!'

तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। जैसे स्वप्न द्रष्टाकी दृष्टिमें संपूर्ण हिमालय, महात्मा और यात्री 'मैं' ही हैं, वैसे ही ये सारे लोक, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड, इनकी मूलभूता प्रकृति, उसका अधिष्ठान ब्रह्म, उसका प्रकाशक द्रष्टा, हमारा 'मैं' उस एक परमतत्त्व-आत्मतत्त्वमें प्रतीयमान है। अर्थात् ईश्वर, जगत् और ब्रह्मके रूपमें अपना 'मैं' ही प्रतीत हो रहा है।

ये करोड़ों मन वजनवाला और करोड़ों मीलका देश, करोड़ों वर्षका काल खींची हुई मानसिक लकीर है।

योगवासिष्ठमें प्रश्न किया गया है : 'ये सब अपने आत्मामें कैसे हैं ?''

उत्तर दिया गया : 'एक कारीगर पत्थरके पहाड़के पास पहुँचा। बहुत बढ़िया चट्टान देख उसने सोचा : 'इसमें यहाँ-यहाँ

टाँकी मार दी जाय तो एक मूर्ति निकल आये। हाथ, आँख, कान, नाकके छेदसे इतना होठ और गलेके पाससे इतना निकाल लें तो महारानीकी मूर्ति निकल आये। लेकिन उसने अभी हथौड़ा उठाया ही नहीं, टांकी लगायी ही नहीं और खुली आँखों देखा तो उस पहाड़में उसे मूर्ति दीखने लगी!' आखिर उसे वह मूर्ति कहाँसे दीखी? मनमें बने संकल्पसे। इसीतरह यह ब्रह्म ठसाठस चट्टानकी तरह है। इसमें संपूर्ण विश्व, शत्रु,-मित्र, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, पूज्य, पूजा, पुजारी—ये सब क्या हैं? कारीगरके मनमें जैसी उस चट्टानमें मूर्ति है वैसी ही द्रष्टाकी दृष्टिमें यह सारी सृष्टि दीख रही है।

तदु नात्येति कश्चन इस अनन्त ब्रह्मरूप अधिष्ठानका अतिक्रमणकर कोई रह जाय तो सही! यह कभी नहीं हो सकता कि कोई महाकाल मूर्तिमान् होकर आये और कहे कि 'मैं तो हूँ, लेकिन ब्रह्म नहीं है।' **महद्‌ भयं वज्रमुद्यतम्**—बड़ा विशाल आकार वृत्रासुर बनकर आये और कहै 'मैं हूँ', पर ब्रह्म नहीं' तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। उसका तो कण-कण ब्रह्मसे भास रहा है! ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें कण-कण प्रतीतिमात्र है।

कोई कहे कि 'मैं हूँ, तुम नहीं हो' तो क्या यह हो सकता है?

'मैं सच्चा, तुम झूठे' कहें तो क्या तुम कभी अपनेको झूठा मान सकते हो?

एतद्वै तत् यही, जो किसीके मिटाये-काटे मिट-कट नहीं सकता, जो किसीके दबाये दब नहीं सकता, जिसे महाकाल दबोच नहीं सकता, जो कभी जड़ता से बेहोश हो नहीं पाता, वही स्वयं-प्रकाश चैतन्य अधिष्ठान ब्रह्म है और वही तुम हो। ●

८. सर्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म

संगति :

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ।

मनुष्यकी जैसी जानकारी, जैसे कर्म, जैसी पूर्वजन्मकी बुद्धि होती है, उसीके अनुसार शरीरका आरंभ होता है, यह बात सप्तम मन्त्रमें बतानेके बाद अष्टम मन्त्रमें कहा गया कि हम अनुभव करते हैं कि पाँचों इन्द्रियाँ सो गयीं। हमें यह पता नहीं कि हम रजाई ओढ़े हैं

या चद्दर ? जिस समय भीतर बाहरसे विषयोंका बिलकुल आभास नहीं होता उस समय भी अन्तःकरणमें विषयोंका दर्शन होता है। यह विलक्षणता हुई न ! घड़ी तो तब दीखती है जब कैमरेकी तरह उसका प्रतिबिम्ब आँखोंमें पड़े। भीतर मनमें उसका प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है कि यह घड़ी है। लेकिन स्वप्नमें बाहर-भीतर घड़ी नहीं होती, उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। इसीको कहते हैं 'वासनात्मक शरीर'। स्थूल पदार्थका प्रतिबिम्ब वर्तमानमें बिलकुल नहीं पड़ रहा है, भूतका पड़ा प्रतिबिम्ब ही गृहीत हो रहा है। इसका अर्थ हुआ, कैमरा कैमरा ही नहीं, उसके भीतर फिल्म भी भरी है जो डाली और निकाली जाती तथा बदली जाती है।

फिल्म बदल जानी चाहिए, तब इस शरीरको—अपनेको तुम जैसा चाहो वैसा बना लो।

एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। उस समय हम हाथी-घोड़ा महात्मा, मैदान बनाते हैं। एक दिन, दो-तीन दिन, घड़ी-मूहूर्त बनाते हैं। सारांश स्वप्नमें जो स्थूल-सूक्ष्मका भेद मालूम पड़ता है वह उस समय उसमें विद्यमान वासनाके कारण है। वासनामें जो दृश्य दिखाई पड़ते हैं, वे ही स्थूल रूपसे मालूम पड़ते हैं। उस समय वासना स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपोंसे दृश्यमें परिवर्तन करती है।

अड़तालीस या सोलह संस्कारोंका विधान भी इसी अभिप्रायसे है। एक ब्राह्मण बालकको चोटी रखवायी, जनेऊ पहनाया, उसे पीला कपड़ा पहनाया, बाल बनवाये, कुछ कर्मकाण्ड करवाया कि उसके मनमें यह बात बैठ गयी कि 'मैं ब्राह्मण हूँ।' फिर पिताने समझाया 'बेटा, रोज संध्यावन्दन-अग्निहोत्र किया करो, विद्या पढ़ो, बलि-वैश्व-

देव करो।' एक प्रकारका संस्कार करने पर जब वह अपनी अहंता स्वीकार कर लेगा तो अपना कर्तव्य ठीक-ठीक निबाहेगा।

सनातन धर्ममें पहले अधिकारी और पीछे उसके लिए कर्तव्यका निर्णय होता है, क्योंकि यहाँ चैतन्यकी प्रधानता है। जैसे, एक सिपाहीकी परीक्षा ली जाय, उसे ड्यूटी सौंपी जाय, उसके अधिकार-का निर्णय कर दिया जाय, तब उसे कर्तव्य सौंपा जाता है कि अब तुम चौराहेपर खड़े होकर मोटरोंका नियंत्रण करने लग जाओ, तुम सिपाही हो। कर्मके आधारपर कर्तव्यका बँटवारा नहीं होता। चैतन्यमें जो अहंता है, उसीके आधारपर कर्तव्यका बँटवारा होता है।

जब आदमीको मालूम हो जाय कि 'मैं ब्राह्मण हूँ' तो वह स्वयं समझकर ब्राह्मणके कर्तव्यका पालन करेगा। अहंकारमें एक प्रकारका संस्कार दोषापनयन और गुणाधान—किया जाता है, हीनांग-पूर्ति की जाती है। जिसे हाथ नहीं, ऐसे व्यक्तिको हमने पेड़पर चढ़ते देखा, पाँवके सहारे लोटा माँजते देखा। जिनके हाथ नहीं होते ऐसे लोग पाँवसे लिख भी लेते हैं, तब क्या संस्कार कोई वस्तु नहीं? भेड़ियाके बालक रामूको खड़ा होकर चलना सिखा दिया गया। बोलना भी संस्कारसे आता है। बच्चेको छोड़ दें कि जो आये सो बोलो तो वह बिल्लीकी तरह 'म्याऊँ-म्याऊँ' करने लग जायगा। हम जो भाषा बोल रहे हैं, वह 'नेचर' (प्रकृति) नहीं है। यह ब्रह्म या प्रकृति भी नहीं है। आवाज करना, 'कें-कें, में-में' बोलना 'नेचर' है। लेकिन व्यवस्थित ढंगसे बोलना जिससे हम अपनी बात दूसरेको समझा सकें और दूसरेकी बात समझ सकें, यह बिना संस्कारके नहीं हो सकता। क्या आपका बालक बिना अंग्रेजी अक्षर सिखाये अंग्रेजी पढ़ लेगा?

अतः इस मनरूपी बालकको भी उच्छृङ्खल, उद्दण्ड, निर्मर्याद न छोड़ें। इसका भी संस्कार करना होगा। इसमें जो दोषकी आदतें हैं उन्हें दूर करना होगा और गुणोंका आधान करना होगा। इसलिए वेदान्त देहके स्तर पर संस्कार द्वारा आपके मनुष्यत्वमें विशेष उत्पन्न कर विशेष-विशेष धर्मका विधान करता है। संन्यासी हुए तो विरक्त होकर घूमो, मन्त्री हुए तो राजकाज संभालो, यह हुआ विशेष। सभी मनुष्य तो हैं ही, सबके भीतर 'अहं-अहं' स्फुरता है। मन्त्रीका 'अहं' कर्तव्यपालनके लिए दूसरे प्रकारकी जिम्मेदारी रखना तो चपरासीका 'अहं' कर्तव्यपालनके लिए दूसरे प्रकारकी जिम्मेदारी। चपरासी, क्लर्क, अफसर, मिनिस्टर, सबके 'अहं' अलग-अलग ढंगके कर्तव्यसंयुक्त हैं और सब 'अहं' से उत्पन्न हैं। यह नेचरसे नहीं आये उत्पादित हैं जिससे प्रत्येक मनुष्य ठीक-ठीक अपने कर्तव्यका पालन करता है। वेदान्त-दर्शनमें इसका बड़ा ही अच्छा निरूपण है। **कर्ता शास्त्रार्थत्त्ववात्** (ब्रह्म०)। यह आत्मा कर्ता है, जो द्रष्टा है, वह तो कर्ताका भी द्रष्टा है। हाथसे उठाने-पकड़ने, पाँवसे चलने और मुँहसे बोलनेका काम होता है। इन सब इन्द्रियोंमें कर्ता एक ही है। इन्द्रियोंके भेदसे कर्तामें भेद नहीं। जड़-सत्ताकी प्रधानतासे अपनेमें कर्म स्वीकारकर जो कानून बनेंगे, वह कर्ताके लिए बनेंगे। पाप-पुण्य, अपराध-सजा कर्ताके लिए होंगे। वह सृष्टिके व्यवहारको ठीक चलायेगा। इसलिए बच्चेको, शरीरको और मनको आप यों ही न छोड़ दें।

अब नवम मन्त्र अग्निके उदाहरण द्वारा अन्तरात्माके सहज स्वरूपका निरूपण करता है।

अग्निर्यथैको भुवने प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥९॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण भुवनमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप (रूपवान वस्तु) के अनुरूप हो गया, उसीप्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा उनके रूपके अनुरूप हो रहा है तथा उनसे बाहर भी है ॥ ९ ॥

एक दिन एक सज्जन आये और बोले : 'आप लोग अपनी समझसे बात तो बहुत अच्छी कह रहे हैं, लेकिन आजकलके पढ़े-लिखे लोग इन्हें पसन्द नहीं करते। दैनिक पत्रोंके संपादक बैरीस्टर, डॉक्टर, जज इन बातोंका आदर नहीं करते।'

मैं कहता हूँ : 'यह तो उनका दुर्भाग्य है जो वे अपनेको परम सुख-शांति-आनन्द देनेवाली, रागद्वेष निवृत्त करनेवाली विद्याको पसन्द नहीं करते ! यदि ये शिक्षित लोग ऐसी विद्याका आदर नहीं करते जो मित्रताके कारण अन्याय-पक्षपात नहीं करती और न शत्रुताके कारण कोई क्रूरता करती है तथा अपने हृदयको शुद्ध करती है तो यह उनका दुर्भाग्य ही मालूम पड़ता है।'

कई लोग बड़े कुतार्किक होते हैं, उनके पास कुबुद्धि ही होती है। यदि ऐसे लोगोंका संग मिले और कुबुद्धि पैदा हो जाय तो हमारे अन्तःकरणको विचलित कर देती है :

प्रमाणोपपन्नम् अप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमपि। प्रमाण-से सिद्ध है कि एक ही आत्मा सर्वकाल-देश-वस्तुमें भी है और उनका बाध करके भी है। भले कोई ब्राह्मण हो, पर जिनकी बुद्धि दावपेचमें पड़ गयी है। उन्हें बार-बार समझानेपर

भी उनके चित्तमें यह बात नहीं आती। लेकिन श्रुतिका तो आग्रह है कि कैसे भी तुम समझो कि 'सबमें तुम्हारी ही आत्मा है।' श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने इस मन्त्रकी यह भूमिका लिखी है।

गाँवका एक आदमी बकरीका एक बच्चा कंधेपर रखकर भागा जा रहा था। तीन ठगोंने देखा और आपसमें परामर्श कर निर्णय किया कि किसी भी तरह बकरीके इस बच्चेको हम लोग ले लें। उनमें-से एक उस आदमीके पास आया और बोला : 'पण्डितजी, पालागन! क्या आश्चर्य है, तुमने कंधेपर कुत्तेको बैठा लिया है! तुम तो कुत्तेको छूते भी नहीं!'

वह बोला : 'धत! यह कुत्ता नहीं, बकरी है।' उसने पहले ठगकी बातपर ध्यान नहीं दिया।

दूसरे ठगने आकर उसके पाँव छुए और बोला : 'पण्डितजी, बड़ा आश्चर्य है कि आपने कंधेपर कुत्ता क्यों रखा? ऐसा तो आप कभी नहीं करते!'

उसी आदमीने पहली बार तो देखा नहीं था, दूसरी बार देखा और बोला : 'कुत्ता नहीं, बकरी है! तुम्हारी आँखोंमें दोष है।'

दूसरा ठग बोला : फिरसे एकबार ठीक-ठीक देख लीजिये पण्डितजी! कहीं आप भूल तो नहीं कर रहे हैं।'

वह आदमी : 'तुम्हारी आँखें अंधी हो गयी हैं? यह तो बकरी है, कुत्ता नहीं!'

इस ठगने बार-बार वही बहस की जब वह न माना तो बोला : 'भले ही हमारी बात न मानिये हमने आपके भलेके लिए ही कहा! हम तो जाते हैं!'

उस आदमीके मनमें शंका तो हो गयी थी। तीसरे ठगने आकर कहा: 'पंडितजी, आप तो बड़े पवित्र स्वभावके हैं, बड़े विद्वान् और धर्मात्मा हैं! यह कुत्ता क्यों कधेपर रखा है? यों आप स्वतंत्र हैं, चाहे जो करें। पर क्यों रखा, यह बताइये!'

उस आदमीने सोचा: यह इतना श्रद्धालु होकर कुत्ता बता रहा है तो बात कुछ-न-कुछ अवश्य होगी! उसने कहा: 'लो बाबा, छोड़ देते हैं!' बकरो छोड़ वह चला गया और तीनों मिलकर उसे उठा ले गये।

जो बात सत्य नहीं, उसे सत्य बतानेके लिए बार-बार कहनेपर विपरीत भावना हो जाती है। यदि दो-तीन व्यक्ति आपसमें तो मिले हों, पर अकेलेमें तुमसे उनकी निन्दाकी बात कह दी जाय और दो-तीन दिन वही सुनाया जाय तो इस निन्दक व्यक्तिसे आपकी शत्रुता हो जायगी। भले ही आपको यह अभिमान हो कि हम बकरीवाले पण्डितजी नहीं, हम बड़े बुद्धिमान् हैं। एक ही बात दो-तीन जनें कहेंगे तो मनमें द्वेष आ जायगा।

हाँ तो ऐसे ही कुतार्किक लोग कहते हैं—देखो, तुम्हारी जन्म-मृत्यु अलग-अलग है। सब प्राणियोंके मन और उनकी इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं। एक साथ सबके मनमें एक ही संकल्प नहीं आता, एक काम नहीं करते। इसलिए सबकी आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। यह भी देखनेमें आता है कि एक आदमी सत्त्वगुणी है, एक रजोगुणी तो एक तमोगुणी है तब तीनों एक कैसे? थोड़ी बुद्धि लगाकर सोचनेपर मालूम पड़ेगा कि इन सबके अलग होनेपर भी आत्मा एक है। यह तर्क सांख्यका है।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

हमारे विद्वानोंने कहा है : 'हे सांख्यवादी ! तुम हेतु देते हो दूसरेका और दोष देते हो दूसरेको, यह तो तुम्हारे तर्कमें भारी दोष है ! तुम्हें इतना भी नहीं सूझता कि स्थूल-शरीरमें जन्म-मरण है तो स्थूल-शरीरका भेद सिद्ध होगा ! एकका जन्म, दूसरे-की मृत्यु, करण, प्रवृत्ति, संकल्प, मन ये सब शरीरमें हैं, आत्मामें नहीं। ये तो स्वयं ही प्रकृतिके कार्यमें होते हैं। तुम प्रकृतिको भी एक मानते हो, वहाँ भी अलगाव नहीं मानते। तुम प्रकृतिमें अभेद बताते हो और पुरुषमें भेद सिद्ध करते हो ! यह कैसी बुद्धि-मानीकी बात है ? यह युक्तियुक्त नहीं। तुम अनेक पुरुष क्यों मानते हो ? प्रकृतिमें अनेक शरीर हैं। हम आमका पेड़ पूछें और तुम नीमका पेड़ बताओ ! **'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् ब्रूसे'** यह कहाँका न्याय है ? प्रकृतिपर तुम्हारी दृष्टि इतनी जम गयी कि पुरुषका अभेद दिखायी ही नहीं पड़ता ?

नैतत् स्थाणोऽपराधो यदेनमन्धो न पश्यति ।—यह ठूंठका दोष नहीं कि अंधा आदमी उसे न देखे !

देखो, तुम्हारा मत अश्रौत है। श्रुति युक्तिपूर्वक सम-झाती है :

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः। 'भुवनम् = भवन्ति लोकाः अस्मिन्निति भुवनम्।' अर्थात् जिसमें वासनाकी लकीर खींच-कर तरह-तरहके दृश्य बना दिये जायँ, वासनाके रंगसे नाना प्रकारकी झाँकी पैदा कर दी जाय उसका नाम है, भुवन। तुम समझते हो कि राहु-केतु तुम्हें खा जाता है और चन्द्रमा तुम्हें वरदान देता है ? नहीं, तुम्हारे दुःखका कारण आकाशमें नहीं, चित्तमें है। तुम्हारी भूल ही तुम्हें दुःख देती है। 'ग्रह' तुम्हारे शत्रु नहीं, 'आग्रह' ही तुम्हारा शत्रु है। लोग बताते हैं—पाँच

रुपये चले गये, क्योंकि मंगल आठवें आगया था, क्या मंगल तुम्हारे पाँच रुपये चुराकर ले गया ? नहीं ! दुःख किसने दिया ? तुम्हारे मनमें जो आग्रह था कि पाँच रुपये हमारी मुट्ठीसे और कहीं न जायँ, उसने दुःख दिया। दुःख न मंगलने दिया, न शनैश्चरने। 'पाँच रुपये मरे' तो पंडितजीको पूछो !

"आदमी मरे तो अन्त्येष्टि क्रिया करते हैं, पाँच रुपये मरे हैं तो एक रुपया हमें भी दो'—ऐसा पंडितजी कहेंगे।

तुम बोलोगे : 'दुःखी हुए, पाँच रुपये गये, एक-दो और छीनेंगे !'

अतः स्पष्ट है कि दुःख आग्रहसे हुआ, ग्रहसे नहीं !

श्रीमद्भागवतमें दस-ग्यारह श्लोक इसी विषयपर हैं। 'व्यापारमें अमुक पैसा लगाया तो अमुक आमदनी होनी ही चाहिए'—यह पूर्वग्रह बैठा लेते हैं। फिर उतना न आया तो सोचते हैं, क्यों नहीं आया ? कहेंगे : 'शनैश्वरने नहीं दिया।' लेकिन मनमें जो लाखका आग्रह था, वही वास्तवमें ग्रह है। उसीने तुम्हें दुःख दिया है। वासनासे लकीर खींचकर ही मंगल-बुध-बृहस्पति बनते हैं।

मनमें बैठी कल्पना ही दुःख देती है। अतः तत्त्वपर दृष्टि जानी चाहिए। वासनाकी खींची लकीरसे ही मित्र-शत्रु अपना-पराया और लाभ-हानि बनते हैं।

सबके भीतर एक आत्मा है, एक परमात्मा है। सारे भुवनमें एक ही अग्नि है। लकड़ीका जैसा आकार होगा—बड़ा-छोटा, लंबा, गोल, वैसी ही आग दीखेगी। बल्बके हरे-पीले, लाल-सफेद रंगके कारण रोशनी उसी रंगवाली दीखती है। इसी प्रकार देहों-

के आकार-प्रकारोंमें चाहे कितनी भी विविधता हो— गोरा-काला, लंबा-नाटा, किन्तु उन सबमें ईश्वर एक है, वह बदलता नहीं! इन्द्रियोंसे शरीर काले-गोरे दीखते हैं, यह रोशनीका चक्कर है।

दृष्टिसे देखनेपर आत्मा अनेक मालूम पड़ता है। 'यह-मैं-तुम-वह' इसी भेद-भ्रान्तिके कारण संसारमें अहंकार होता है। 'मैं सबसे बड़ा' या 'मैं सबसे छोटा'—ये दोनों अहंकार हैं। चींटी या हाथी अपनेको समझना भी अहंकार है। जो वस्तु 'यह' रूपमें मालूम पड़ रही है, चाहे शरीर, भावना, कर्म, स्वप्न, सुषुप्ति समाधि जो हो, हमारी आँखके सामने यह बनकर आती-जाती है, वह 'मैं' नही है। उस वस्तुको 'मैं' मान बैठना अहंकार है। अहंकार यानी 'इदम्' = अनहम्को अहम् कहना। जो मैं नहीं है, उसे 'मैं' मानना।

सन्तो, आवे-जाय सो माया!
है प्रतिपल काल महँ जाके,
ना कछु आया ना कछु जाया!!

यह मैं न जाने कहाँसे आता है, 'यह' बनकर सामने खड़ा होता है और थोड़ी देरके बाद जाने कहाँ चला जाता है। हम उसे 'मैं' मान लेते हैं। अहं यानी होना नहीं, जो अहम् नहीं है उसे अहम् कर लेना। यह देह जो अनजानसे एक बूँद पानीसे टपक पड़ी, अनजान ही सामने खड़ी है और अनजान ही चली जायगी! इसे 'मैं' मान लेना भ्रान्तिके सिवा कुछ नहीं।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः। अग्नि जैसे एक है और सारे भुवनमें प्रविष्ट यानी घुसा हुआ है। साकारवादी अग्नि दो तरहके मानते हैं: (१) जो लकड़ीमें पहलेसे विद्यमान है और

(२) जो दियासलाई लगानेके बाद आगमें जलता है। गोस्वामी तुलसीदासने साकार-निराकारका दृष्टान्त दिया है :

एक दारुगत देखिय एकू।
पावक - जुग ब्रह्म - विवेकू॥

एक लकड़ीमें एक अग्नि निराकार रूपसे लकड़ीके अस्तित्व-को ही सिद्ध कर रहा है और दूसरी दियासलाई लगानेपर प्रकट हुआ और लकड़ीको जला रहा है। इसी प्रकार एक ब्रह्म निरा-कार है, तो एक ब्रह्म साकार। यह तो दृष्टान्त है।

हम लोग भी ब्रह्मको दो तरहका मानते हैं: (१) जो अविद्याका प्रकाशक है,' 'अविद्या है और वह मिट गयी' दोनोंको जो जानता है। (२) जो वृत्त्यारूढ होकर अविद्याको नष्ट करता है। मूल प्रश्न यह है कि वृत्तिमें ब्रह्मका आधान कौन करता है?

यह न भूलें कि जो स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म है, वही वृत्तिको, वृत्तिके अभावको, और 'ये वृत्तियाँ सत्य हैं' इस भ्रान्ति-को भी प्रकाशित करता रहता है। वह विषय, वृत्तियाँ, वृत्तियोंकी शान्ति और विक्षेप, वृत्तियोंमें सत्यत्वकी भ्रान्ति और मिथ्यात्व बुद्धिको ज्यों-का-त्यों प्रकाशित करता है। लेकिन दियासलाई तो लगी नहीं और लकड़ी ज्यों-की-त्यों? दियासलाईमें आग दीखती नहीं और रगड़कर लकड़ीको जला दिया। वैसे दियासलाईमें बत्तीका नाम है 'वृत्ति'। अन्तःकरणमें वृत्तिरूप बत्ती है। महा-वाक्यसे वृत्तिमें जलती आग प्रकट होती है। 'ब्रह्म ऐसा-ऐसा' और ब्रह्म चुप!

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं :

सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा।
दीपसिखा सोइ परम प्रचण्डा॥

यह प्रचण्ड ज्ञानाग्नि है। जब यह आग जलती है तो स्वयं-प्रकाश, निराकार अग्निका नाश नहीं होता, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। फिर भी यह अग्नि वृत्त्यारूढ होकर प्रज्वलित होकर अविद्याका नाश कर देती है। इस प्रकार एक ब्रह्म अविद्या-प्रकाशक तो दूसरा अविद्या-दाहक। दाहकका अर्थ है 'अविद्या थी ही नहीं' यह बोध हो जाना। अविद्याका भी बाध ही होता है, निवृत्ति नहीं। अविद्या निवृत्त हुई तो वृत्ति ही निवृत्त हो गयी। वृत्ति बाधित हो गयी तो वृत्तिमें बैठा ब्रह्म, जिसे वृत्ति-ज्ञान कहते हैं, वह भी भस्म हो गया। साकार-आग बुझ गयी। वृत्ति-ज्ञान-उदयके समकाल अविद्यान्धकारका नाशकर वह स्वयं भी नष्ट हो गया।

फिर भी स्वयंप्रकाश तुम नहीं मिटे, तुम तो अविद्याको प्रकाशित करनेवाले हो। जिसने अविद्याको नष्ट किया, सो तुम नहीं हो। वह तो वाक्यजन्य ज्ञान है जिसने अविद्याको नष्ट किया और नष्ट हो गया। जो पैदा होता है, वही मिटता है। इस नकली अविद्याको मिटानेके लिए असली ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती। नकली अविद्याको मिटानेके लिए नकली ज्ञान ही पर्याप्त है। यह नकली ज्ञान वाक्यके सिवा अन्य किसी प्रमाणसे पैदा नहीं होता। अतः वेदान्त-विद्याकी भी आवश्यकता स्पष्ट है।

शंकरानंदी गीताकी टीकामें **प्रभास्मि शशिसूर्ययोः** की व्याख्या करते हुए लिखा है: 'वास्तवमें जल और पृथ्वी दोनों अग्निसे ओत-प्रोत हैं।' बिना अग्निके द्रवता अर्थात् जल टिक नहीं सकता। गरमी कम होगी तो द्रव पदार्थ जमता जायगा। पहाड़में गरमी कम होनेसे पानी बरफ हो जाता है। गरमो

अधिक हो तो लोहा और सोना भी गल जायँ। यह द्रवता अग्निका कार्य है।

यह पृथ्वी भी कभी सूर्य थी। धीरे-धीरे, अलग रहते-रहते, ठंडी होते-होते यह पृथ्वीरूपमें बन गयी है। जल और पृथ्वी दोनों अग्निसे उत्पन्न हुए हैं, अग्निमें स्थित हैं और अग्निमें लीन होते हैं। प्रलयाग्निमें सब भस्म हो जाता है। समुद्रमें भी आग लगती है। वास्तवमें अग्नि ही देश-काल-परिस्थितिकी उपाधि-से पृथ्वी बनी है। लकड़ीमें, चकमक पत्थरमें आग है। यज्ञमें दो लकड़ियोंकी रगड़से आग पैदा होती। लकड़ीमें पहलेसे विद्य-मान होनेके कारण ही वह प्रकट हो जाती है।

दो पदार्थ सामान्य रूपसे रहते हैं, पर उन्हें मिला देने पर ऐसी दवा बन जाती है कि वह जल उठती है। सन् ४२ के आंदो-लनमें लैटरबक्समें ऐसी दवा डाली जाती थी कि थोड़ी ही देरमें लिफाफा जल जाता था।

गीलेमें भी आग है और सूखेमें भी आग। जलीय और पार्थिव सब पदार्थ अग्निमें उत्पन्न हैं, इस कारण वे अग्नितन्मात्र ही हैं।

भुवनं प्रविष्टः। भुवं च, वनं च। वन=पानी वनज=कमल। वन, पृथ्वी, पानी सबमें अग्नि है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। अंगारे गोल हों तो आगका आकार गोल, लम्बा हो तो लम्बा दीखे। एक-एक रूपमें प्रतिरूप होकर, पदार्थके अनुरूप बनकर वहाँ अग्नि स्थित है अग्निमें आरंभ और परिणाम, उसका बनना और बदलना भासता है, किन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। एक जगह आगके पैदा-होने या

बुझ जानेसे सब जगह आग न पैदा होती है और न बुझती है। जन्म-मृत्युसे सबकी जन्म-मृत्यु नहीं होती। एक आगसे मुर्दा जलाते हो, तो दूसरी आगसे रसोई पकाते हो। लालटेनमें एक आग है और एक आगसे तापते हो! आग सर्वत्र आग है, उसमें उपाधि या व्यवहारका भेद नहीं।

अन्ततोगत्वा सब वस्तुओंकी वैसी ही गति है। कार्यकी उत्पत्ति और विनाश होनेपर भी तत्त्व अपने स्वरूपका परित्याग नहीं करता। घड़ा बने तो भी मिट्टी है और टूटे तो भी मिट्टी। आकारका ही अध्यारोप और अपवाद होता है, उसका अधिष्ठान तत्त्व है।

अमेरिकी, रूसी, चीनी, पाकिस्तानी! यहाँ-वहाँके मुट्ठीभर नेताओंकी दुर्बुद्धिके कारण सम्पूर्ण जनतासे द्वेष जोड़ लेना, अपने हृदयके द्वेषकी प्रधानतासे ही होता है। आखिर अपने दिलमें आग क्यों जलाते हैं? यदि अभी वहाँकी राजनीति और नेता बदल जायँ तो क्या भाई-भाई नहीं हो जायेंगे? हमारा प्रेमास्पद आत्मा ही सर्वत्र सब देश-जाति-काल-वस्तुमें है। तीन-चार घंटे या वर्ष तक रहनेवाली छोटी-छोटी वस्तुओंपर हमारी दृष्टि जाती है तभी द्वेष होता है। वह मैं हूँ जो सबके दिलमें 'मैं-मैं' फुदक रहा है।

जगन्नाथपुरीमें एक चूल्हेमें पाँच-छह छेद होते हैं और उन सबपर एक-एक हाँडी रखते हैं। जब पकने लगे तो सबमें फुदर-फुदर होता है। वहाँ हाँडी और चूल्हेके छेद अलग होते हैं, पर आग एक है। इसी तरह 'अहम्-अहम्' सबमें एक-सा फुदक रहा है। हिन्दू-मुसलमान, पारसी ईसाई, जैन, बौद्ध :

'सबके सीनेमें धड़कता एक-सा है दिल मेरा।'

'अहम्-अहम् इति साक्षात् ब्रह्मरूपेण भाति।'

ये सब जाति नहीं, ब्रह्म हैं। जैसे मनुष्य अलग-अलग हैं, जाति एक है, वैसे नहीं!

वही प्रत्येक रूप है। वही प्रत्येक रूपसे शरीरके बाहर-भीतर है, जैसे आकाश। आकाश परिच्छिन्नतासे परिच्छिन्न नहीं होता इसी प्रकार असंग, अलेप, अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय अपनी अन्तरात्मा केवल 'मैं' सर्वत्र परिपूर्ण है। आत्मा जातिरूपसे एक नहीं है, जैसे मानवता जातिरूपसे एक है। घड़ेमें घटत्व, गायमें गोत्वरूप जाति एक है, पर आत्माका एकत्व जातिरूप नहीं, तत्त्व-रूप है; क्योंकि वह बाहर-भीतर परिपूर्ण है।

ज्ञान और अज्ञानका लक्षण : १ + १=२।२ + १=३।१ + १०= ११। इस तरह जोड़ते चले जायँ तो अरब-खरब, पद्म-महापद्मकी संख्या बनेगी। ५० या १०० बिन्दुके बाद क्या ५१ या १०१ बिन्दु नहीं हो सकता? तुम भले ही गिनतीका नाम नील-महानील, अरब-खरब रख लो लेकिन बिन्दुके बाद यदि बिन्दु बढ़ता जाय तो उसका कहीं अन्त मिलेगा? लोग कहते हैं : 'इससे हम पूर्णता तो समझ सकते हैं।' ऐसे नहीं समझ सकते, अज्ञात पूर्णताकी कल्पना कर सकते हो। एक पर ५०, १००, हजार, लाख क्यों रखते हो? असंख्य बिन्दु रखो, पर संख्याकी पूर्णता कल्पित पूर्णता होगी, वास्तविक नहीं। पूर्णता पानेमें गणित फेल हुआ। वह आत्माकी पूर्णताको नहीं पा सकता। भौतिक पदार्थमें गणित काम आता है।

१ + १=२ होता है तो १ संख्याको सावयव मानना पड़ेगा, नहीं तो वह किसीसे जुड़ेगी ही नहीं। १/२, १/१०, १/अरब कैसे होता, यदि

१ सावयव न होता ? तो १, १ जोड़कर जो भी अज्ञात संख्या बनेगी सो भी सावयव होगी।

लेकिन साक्षी सावयव नहीं है। वह अद्वितीय है। पूर्ण है। ०+०=दो शून्य नहीं होता और ०००-०= भी शून्य ही होता है। ०×१ = भी शून्य और ०÷१= भी शून्य क्योंकि शून्य निरवयव है। ऐसे ही जो साक्षी है, वही एकता और पूर्णता दोनोंका अधिष्ठान है, प्रकाशक है। इसलिए आत्माको ही 'ब्रह्म' कहते हैं। अपने सिवा कोई दूसरा ब्रह्म होगा तो वह या तो एक होगा, या वही पूर्ण होगा। इसलिए उसकी पूर्णता वास्तविक नहीं होगी। एक भी अज्ञात है, पूर्णता भी अज्ञात है। आत्माके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने पर जो आत्मसत्ता है, स्वरूप है वही ब्रह्म है।

प्रातिभासिक सत्ता यानी रज्जुकी सत्ता व्यावहारिक है, वह प्रमाण-प्रतिपत्ति है। खूब जाँच कर, देखकर उलट-पलटकर उसे उसे पहचान सकते हैं और पहचानने पर भी रस्सी रस्सी ही रहेगी। किन्तु उसमें दूरी या अन्धकारके दोषसे, नेत्रके मान्द्यके दोषसे जो आरोपित सर्प है वह रस्सीका ज्ञान न होने तक है। रस्सीका ज्ञान हो गया तो ? तो प्रमाणसे सिद्ध व्यावहारिक सत्ता में, उस व्यावहारिक वस्तुके रहते हुए ही जो वस्तु आरोपित होती है और मिट जाती है उसे 'प्रातिभासिक' कहते हैं। वह प्रतिभास है नहीं। अर्थात् व्यावहारिक सत्ता वह है जो जिस प्रमाणसे मालूम पड़े उस प्रमाणसे न कटे। जैसे आँखसे रस्सी दीख गयी तो जब दीखेगी तब ठीक दीखेगी—रस्सी ही दीखेगी। लेकिन रस्सीको ठीक न देखकर जो जो चीजें मालूम पड़ेंगी—डण्डा, माला, सांप, भूछिद्र—वह सब प्रातिभासिक होगा।

जाग्रत्-अवस्था व्यावहारिक है। जो कल था सो आज है।

वही मकान, वही शरीर, जहाँ सोये थे वहीं जगे। जो नाम कल था वही आज है, जो बेटा-बेटी, बैंक-बेलैंस कल था वही आज है। बीचमें जो सपना आया कि यहाँ गये, वहाँ गये, इससे-उनसे मिले, गरीब-धनी हुए, दूसरे-तीसरे हुए, इतना समय बीता यह सब व्यावहारिक जाग्रत्के रहते हुए ही मिथ्या हो गया। इसलिए उसे बोलते हैं 'प्रातिभासिक'। स्वप्नके पदार्थोंकी सत्ता प्रातिभासिक है और जाग्रत्के पदार्थोंकी सत्ता व्यावहारिक। जाग्रत्में भी जो सत्ता भ्रान्तिके कारण मालूम पड़ती है वह 'प्रातिभासिक' है और जो प्रमाणसे मालूम पड़ती है वह 'व्यावहारिक' है। इसप्रकार व्यवहार, प्रतिभास और दोनोंका अभाव, इनके परस्पर बाधित होनेपर भी अपना आत्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। स्वप्नमें जाग्रत् नहीं भासता, सुषुप्ति में जाग्रत्-स्वप्न दोनों नहीं भासते, लेकिन अपने आपका होना अनिवार्य है या नहीं? आत्मसत्ताकी दृष्टिसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों बदलनेवाली, प्रातिभासिक हैं। परमार्थ तो आत्मसत्ता ही है।

व्यवहारमें एक बात देखनेमें आती है कि जब रज्जुका ज्ञान हो जाता है तो सर्पका भान नहीं होता। आत्माका ज्ञान होनेपर जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका भान नहीं होना चाहिए। इसके समाधानके लिए बताया कि ब्रह्म दो प्रकारका है: सोपाधिक और निरुपाधिक। हरा चश्मा लगानेपर सफेद वस्तु हरी दीखती है; सफेदका ज्ञान होनेपर भी तबतक उसको हरियाली दीखती रहेगी जबतक आँखपर चश्मा लगा रहेगा। चश्मा उतर जायगा तो हरियाली भी उतर जायगी।

परिच्छिन्न अहंकार यानी अन्तःकरण चश्मा है और आत्मा अन्तःकरणका यही चश्मा लगाकर इस प्रपंचको पृथक सत्यके

रूपमें देख रहा है। जब यह अन्तःकरणका चश्मा उतर जायगा तो **विमुक्तश्च विमुच्यते**। परिच्छिन्न खुर्दबीन लगाये रखनेके कारण हमें पदार्थ परिच्छिन्न दिखायी पड़ रहे हैं। यदि हम अन्तः-करण द्वारा विचार न करें, इस अन्तःकरणको बही-खातेमें डाल दें और देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित आत्मदृष्टिसे देखें तो प्रपंच रहेगा ही नहीं। जैसे हरे चश्मेसे देखी हरियाली मिथ्या होती है, वह वस्तुनिष्ठ नहीं होती, वैसे ही परिच्छिन्न अन्तःकरणमें मैं-मेरा कर देखनेसे यह परिच्छिन्न, अन्य प्रपंच रंगीन दृश्यके समान मालूम पड़ता है।

पारमार्थिक सत्तामें व्यावहारिक सत्ता भी प्रातिभासिक है। व्यावहारिक सत्तामें जैसे निद्रा-दोषजन्य स्वप्न प्रातिभासिक है, रज्जु और नेत्रका अंधकार आदिके दोषसे ठीक-ठीक संयोग न होनेके कारण रज्जुमें सर्प भ्रान्तिजन्य दोषसे प्रातिभासिक है और व्यावहारिक दृष्टिसे प्रातिभासिक सत्ता मिथ्या होकर भासती है, उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टिसे व्यावहारिक सत्ता भी मिथ्या भासती है।

जिसे हम मिथ्या कहते हैं, उसे हम अधिष्ठानरूप कहते हैं। सर्प मिथ्या है यानी रज्जु ही है। अर्थात् जिसे तुम प्रपंच समझ रहे हो, वह ब्रह्म ही है। तात्पर्य, यह कि तुम्हें शत्रु-मित्र, चीन, पाकिस्तान, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर यह सब जो दीखता है, वह वास्तवमें क्या है? जैसे सब धरती, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन हैं, वैसे ही यह सब आत्मा है और एक आत्मा-परमार्थ सत्ता यानी संपूर्ण अर्थोंका परमरूप ही अद्वैत ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्म सब है।

हमारा कटिवस्त्र आज तुम्हें पुराने जमानेकी पोशाक लगती

है, पर अगले जमानेमें यही 'मॉडर्न' लगेगा, क्योंकि स्त्रियोंने सर्ट पहनना शुरू कर दिया है। अभी तो ये हमसे पिछड़ी हुई हैं। जरा-जरा वस्त्र पहनती हैं न! आगे जब वह हम लोगोंकी कक्षामें आयेंगीं तब हम लोगोंकी तरह रहने लगें। जंगली स्त्रियाँ ऐसे ही रहती हैं। अभिप्राय यह कि नूतन पुराना हो जाता है और पुराना नूतन! नूतनत्व और पुरातनत्व भी प्रातिभासिक हैं, पारमार्थिक नहीं।

कट्टर धर्मात्मा लोग भूतको पकड़कर उसे वर्तमानमें रखना और भविष्यमें ले जाना चाहते हैं। उनके लिए भूतका बोझ दुःखद होता है। कुर्सीधारी लोग—मेयर, मिनिस्टर, मेम्बर सब 'में-में' करनेवाले हैं। ये लोग कहते हैं: 'वर्तमान भले नष्ट हो जाय, हम अपनी वर्तमान कुर्सीको भविष्यमें ले चलेंगे'। ये वर्तमानमें चिपक गये, मोहग्रस्त हो गये।

प्रगतिशील लोग कहते हैं: 'चाहे वर्तमान नष्ट हो जाय, भूतकी बिलकुल याद न आये, अनहुआ भविष्य जो अभी पैदा नहीं हुआ है, वह अभी आजाय। पाँच वर्ष बाद वाली बात आजाय'।

ये तीनों दुःखके कारण हैं। विराट्के रूपमें साँप-बिच्छू, भूत-प्रेत और मुर्दा भी चमकता है। विराट्के रूपमें जो मर चुके हैं, जो जीवित हैं और जो मरनेवाले हैं वे सब चमक रहे हैं। सब ब्रह्म ही हैं **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**।

और **ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्**। तब असंतोष और अशान्तिका कारण ही कहाँ?

तेषां सुखम् शाश्वतम् नेतरेषाम्।
तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।

भूतकी याद और भविष्यकी कल्पना तथा वर्तमानमें जो प्रतीत होता है, वह ब्रह्मकी एक-एक चमक है। तीनों प्रतीति-मात्र हैं और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव एक परब्रह्म-परमात्मा सच्चिदानन्दघन अविनाशी परिपूर्ण अद्वितीयके सिवा और कोई है ही नहीं।

'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।' **'सर्वभूतान्तरात्मा'**: सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्मा एक है यानी भूत अलग-अलग हैं। भूतका अर्थ है जिनकी उत्पत्तिकी कल्पना होती है वह। 'भवन्ति इति भूतानि।' मनके कमजोर और डर-पोक लोगोंको श्मशानमें भूत दीखता है, उसकी आयु भी दीखती है। भूतका क्या पता? सैकड़ों-हजारों वर्षका भी हो। इन पदार्थों-में जो भूतत्व दीखता है वह मनमें है। जैसे स्वप्नके प्राणीकी आयु उस प्राणीमें नहीं, मनमें है, श्मशानमें दीखे भूतप्रेतकी आयु उनमें नहीं, मनमें है, वैसे ही संसारकी जो आयु मालूम पड़ती है, वह वस्तुनिष्ठ नहीं, मनोनिष्ठ है। भूत होनेसे वे अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं। कोई आदमी बात-बातमें तुम्हें भूत कह दे तो तुम उसे मारे बिना नहीं छोड़ोगे। लेकिन श्रुति कहती है—'जब पंचभूतके पुतलेको तुमने 'मैं' माना तो वेदने तुम्हारा नाम रखा 'भूत'। भूत किसी दूसरेके शरीरमें घुसकर बोलता है कि 'मैं भूत हूँ।'

सर्वभूतान्तरात्मा। किसी दूसरेका नाम भूत नहीं है। मेरा-तुम्हारा नाम ही भूत है। जीवकी प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कल्पना भूत है।

१६-१७ वर्षकी वयमें एकबार मेरे मनमें यह प्रश्न उठा। उस समय मैं किसी अफसरके यहाँ ठहरा था और बिलकुल अकेला

होनेके कारण बंद कमरेमें बैठा हुआ था, 'शरीरमें आत्मा कहाँ रहता है ?'

कोई मानते हैं आत्मा दिलमें रहता है तो कोई मानते हैं सिरमें या मूलाधार, मणिपूरक या आज्ञाचक्रमें रहता है। परा-वाक्के उपासक आत्माको मूलाधारमें, अघोरपंथी मणिपूरक में, उपासक दिलमें, कबीरपंथी आज्ञाचक्रमें, अष्टांगयोगी शून्य-शिखर ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर मानते हैं। हमने सवासौ-डेढ़सौ सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंको रटकर याद कर रखा था कि किस मत में कहाँ आत्मा-का निवास मानते हैं। अब वह भूल गया। यह चक्कर ऐसा है कि कोई पैरके तलवेमें आत्माका निवास बताते हैं तो कोई नाखूनके सिरेपर। ऐसे आत्माका निश्चय नहीं होता। रक्तकी एक-एक बूँदमें करोड़ों-करोड़ों कीटाणु होते हैं। उनका शरीर बदलता भी रहता है। लाल भूरे और भूरे लाल हो जाते हैं। रक्त सारे शरीरमें दौड़ता है। अंगूठेको काट दें तो कितने जीवाणु निकल पड़ेंगे ?

देहातमें हिंसाकी वृत्ति रही होगी, ऐसा मत समझो। बचपन-में हम खेल-खेलमें धरती पर पेटके बल पर चलनेवाले कथमीर कीड़ोंको (केंचुओंको) दो टुकड़े कर देते थे। दोनों चलते, जिन्दा रहते हैं। उनकी आत्मा कहाँ रहती है ? अगले हिस्सेमें या पिछले हिस्सेमें ? एक कीड़ा होता है, उसे डॉक्टर लोग पालते हैं। थोड़ी देरमें एकके दो, दोके चार, आठ बढ़ते जाते हैं और लाखों हो जाते हैं। एकमें-से इतने कहाँसे निकलते हैं, यदि प्रत्येक कणमें चैतन्य न होता ? चैतन्यको कहींसे आना नहीं पड़ता, कहीं जाना नहीं पड़ता। जितने घड़े बनाओगे उनमें आसमान रहेगा, इसी-प्रकार जितनी उपाधियाँ चैतन्यका आधार ग्रहण करने योग्य बनेंगी, उनमें जो अनन्त आकाशवत् परिपूर्ण चैतन्य है, रहेगा।

वह न कहीं आता है, न कहीं जाता है। वह उसमें भासने लगता है। शीशेमें आदमी या आसमान घुसते थोड़े ही हैं! आसमान तो पहलेसे ही रहता है। इसीप्रकार हममें-तुममें, खड्ग-खम्भमें एक ही आत्मा परिपूर्ण है। जबतक यह अज्ञात है तबतक तो मालूम पड़ता है कि प्राणीमें आत्मा रहता है, किन्तु जब उसका स्वरूप-ज्ञान होता है तब मालूम होता है कि आत्मामें ये उपाधियाँ स्वप्नके समान आने-जानेवाली हैं।

आत्मामें शरीर कल्पित है, शरीरमें आत्मा नहीं। इस बातमें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनोंके दो पहलू हैं :

(१) जड़से चैतन्य उत्पन्न होता है, यह जड़वाद है।

(२) चित्से शरीर उत्पन्न होता है, यह है अध्यात्मवाद।

वासनाके अनुसार जैसा चित्त और शरीर होता है, वैसी ही जड़-वस्तुएँ-धातुएँ उसके आसपास इकट्ठी हो जाती हैं और वैसे ही आकृति बन जाती है। लोहेके चूरे में एक आड़ा-टेढ़ा चुम्बक डाल देनेपर उसके आसपास चारों ओर लौहकण लग जायँगे और उसके सरीखी एक लंबी-गोल या आड़ी आकृति बन जायगी। यह चुम्बककी आकर्षणशक्ति है। 'चित्तकी प्रधानतासे देहका निर्माण होता है यह अध्यात्मवाद है'। 'पंचभूतकी प्रधानतासे देहका निर्माण होता है' यह अधिभूतवाद है। लेकिन जिस चैतन्य आत्माकी हम चर्चा करते हैं, वह न तो शरीरको बनानेवाला चित्त है न चित्तको बनानेवाला अधिभूत। जड़-चेतन दोनोंकी कल्पना साक्षीमें हो रही है और वह साक्षी बिलकुल ब्रह्म है। प्रत्येक कल्पनाके (अन्तःकरणके) साथ अनुगत चैतन्य ही जीव-चैतन्यके रूपमें भासता है, जैसे प्रत्येक घड़ेके साथ अनुगत आकाश घटाकाश।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

इसका मैं विचार करने लगा तब समझमें आया कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो अन्तःकरणशून्य हो। भूत यानी पेड़-बबूलके भी हृदय होता है। उसके बीचोबीच उसका हीर यानी सार होता है। यही उसका हृदय है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो आज स्थिर-अचल है, कल अस्थिर-चल न हो जाय, स्थावर-अचर जंगम-चर न हो जाय। इसलिए 'सर्वभूतान्तरात्मा' एक है। एक और एक-एक-एककी समष्टि और एक-एक और सर्वकी कल्पना, कल्पनाका साक्षी और साक्षीका ब्रह्मत्व-प्रतिपादन श्रुति करती है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।

घड़ा यानी विश्व। जो गणित घड़ेके बारेमें काम देगा, वही सम्पूर्ण विश्वघट-ब्रह्माण्ड-घटके बारेमें भी काम देगा। जितने रूप हैं, उन सबमें वही रूप है ब्रह्म। किसी भी रूपका असली रूप है ब्रह्म।

केनोपनिषद्में भी—'कं ब्रह्म' कहा है। **प्रतिबोधं विदितं मतम्**। 'बोधं बोधं प्रति प्रतिबोधम्' जैसे आपको यह ज्ञान होता है कि 'यह लाल फूल है, यह सफेद फूल' तो लाल-सफेद अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, दोनोंका ज्ञान होता है। ज्ञान तो ज्ञान ही है। प्रकाशमें ही दोनों मालूम पड़ते हैं। सफेद फूल भी प्रकाश है और लाल फूल भी प्रकाश है। यह तो विज्ञान भी बताता है। लाल-सफेद आदिका भेद सूर्यकी किरणोंका ही वक्रीभाव है। प्रत्येक रंगमें जैसे एक ही प्रकाश है, वैसे ही प्रत्येक विषयके ज्ञानमें एक ही ज्ञान है। स्त्री, पुरुष, पुस्तकका ज्ञान ब्रह्म है। घड़ी, स्त्री, फूल, लाउडस्पीकर आदि विषयोंके अलगावके ज्ञानको प्रकट करनेवाला ज्ञान एक ही तरहका—प्रकाश-सा है और वह अपना आत्मा है। वही भिन्न-भिन्न रूपमें प्रकाशित हो रहा है।

मैं स्त्री-पुरुषको नहीं देख रहा हूँ, ब्रह्मको देख रहा हूँ। मैं लाल-सफेदको नहीं देख रहा हूँ, प्रकाश देख रहा हूँ। ज्ञानको देख रहा हूँ। यह ज्ञान ब्रह्म है। घटज्ञान ब्रह्मज्ञान ही है। ज्ञान ज्ञान है, ज्ञानको अलग करनेवाले देश-काल-वस्तु नहीं होते; क्योंकि उनकी सत्ता भी ज्ञानसे ही सिद्ध होती है। उनका अधिष्ठान भी ज्ञान ही है।

भूतम् प्रसिद्धं च परेण यत् यत्
तदेव तस्मादिति मे मनीषा।

'आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्ति। आनन्दो ब्रह्मे इति व्यजानात्।'

गुड़ खानेमें एक मजा आता है, रोटी, दाल, चावल, कढ़ी खानेमें एक मजा आता है, तो गुलाबजामुन, रसगुल्ला खानेमें एक मजा आता है। सब चीजें अलग-अलग हैं, पर मजा एक ही है। मजेमें कड़वा, मीठा, खट्टाका भेद नहीं होता। ब्रह्मानन्द और गुडानन्द एक ही है।

पंचदशीका 'ब्रह्मानन्दे विषयानन्द-प्रकरणम्' पठनीय है। उसमें अन्तिम पाँच आनन्दोंका वर्णन है। सत्ताका प्रतिपादन करनेके लिए विवेक है। प्रकाशका प्रतिपादन करनेके लिए पाँच प्रकरण अस्तित्वदीप हैं, आनन्दका प्रतिपादन करनेके लिए पाँच प्रकरण आनन्द हैं। पंचदशी सत्-चित्—आनन्दका प्रतिपादन करती है। गुड़ और जीभको छोड़कर देखो तो आनन्द ब्रह्म है। स्त्री और पुरुषकी उपाधिको मत देखो, आनन्द ब्रह्म है। नृत्य-क्रियामें क्रियाको, संगीतमें गलेकी उपाधि आलाप-क्रियाको मत जोड़ो, आनन्द ब्रह्म है।

जैसे आनन्द और ज्ञान सर्वात्मक है वैसे ही सत्ता भी

सर्वात्मक है। वास्तवमें सत्ताके बिना प्रकाश क्षणिक होगा, जड़ होगा। सत्ता और प्रकाशके बिना आत्मा शून्य होगा। सत्ता और प्रकाश ही आत्मा है। आत्मा होनेसे सत्ता और प्रकाश परमप्रिय हैं। अपना आत्मा परमप्रिय परमानन्द स्वरूप है। वही परम प्रकाश है और वही परमार्थ-सत्ता है। अर्थात् ब्रह्मात्माके सिवा न दूसरा आनन्द है, न दूसरा ज्ञान है, न दूसरी वस्तु है। ब्रह्मानन्द ही सर्व आनन्द, सर्व ज्ञान, सर्व वस्तु है—सर्व ब्रह्म ही ब्रह्म है।

रूपके अलगाव कारणिक, ऐन्द्रियक हैं—अन्तःकरणिक हैं, पर एकत्व स्वाभाविक है। चाहे रूप कोई भी दीख रहा हो, वही सत्, वही चित्, वही परमानन्द आत्मा है। लोग कहते हैं; 'ब्रह्म सत् और चित् तो मालूम पड़ता है, आनन्द नहीं मालूम पड़ता।' ब्रह्म इसलिए आनन्द नहीं मालूम पड़ता कि तुम अपने आपको आनन्द-स्वरूप जानते हो। स्त्री, पुत्र, धन प्यारा नहीं है, सबसे प्यारा तो अपना आपा है। जब उससे अलग ब्रह्मको देखोगे तब सत्-चित् तो मालूम पड़ेगा, पर आनन्द मालूम नहीं पड़ेगा। अपनेसे अभिन्न कर ब्रह्मको देखोगे तो सब परमानन्द-स्वरूप ही मालूम पड़ेगा। सिनेमाके पर्दे पर जैसे मृत्यु-बिछोह, सर्प-व्याघ्र भी आनन्ददायक हैं, वैसे ही परब्रह्म प्रकाशात्मकके परदे पर जो कुछ प्रपंचमें हो रहा है, वह सब आनन्दात्मक, प्रकाशात्मक, सत्तात्मक है। ब्रह्मसत्ताके सिवा और कोई नहीं है।

बहिश्च। जितनी देर, जितनी दूर जो रूप भासता है, वही ब्रह्म नहीं है। इसके बाहर जो तुम देखनेवाले खड़े हो (देश-काल-वस्तुकी दृष्टिसे बाहर नहीं), उनकी सत्ताशून्यतामें स्वयं तुम सद्रूपसे जो विद्यमान हो, यही तुम्हारा स्वरूप है। ●

९. सम्पूर्ण क्रियाओंसे मुक्त आत्मा

संगति :

नवम मन्त्र में अग्निके दृष्टान्तद्वारा द्रव्यकी प्रधानता उपाधिसे ब्रह्मका निरूपण किया गया। संसारमें जितने पदार्थ हैं, सब अग्निरूप हैं। लकड़ी और आकृति भिन्न-भिन्न हैं पर अग्नि अलग-अलग दीखता हुआ भी एक है। इसी तरह मनुष्य, पशु, पक्षी अलग-अलग होने-

पर भी उनमें एक ही भूतान्तरात्मा व्याप्त है। जितनी दूर यह है, उतनी दूरमें यह नहीं है। वह इनमें रहकर इनसे बड़ा है, इनसे बाहर है। वेदमें वर्णन है : **अत्यतिष्ठत् दशांगुलम्**। परमात्मा हर वस्तुसे दस अंगुल बड़ा है। इसका अर्थ है, जो भी वस्तु दीखती है वह किसी स्थान-पर दीखती है। उसके चारों ओर आकाश, देश, दिशाओंकी कल्पना दीखती रहती है। जो भी वस्तु दीखती है वह वर्तमान, भूत, भविष्य कालसे घिरी दीखती है। जो पदार्थ दीखता है उसका नील-श्वेत, लाल, काला, पीला, सफेद रूप और आड़ी-टेढ़ी आकृति दीखती है। फिर एक-एक आकृति तथा एक-एक रूपका भी अलग-अलग नाम होता है। नाम, रूप, आकृति, वजन, स्थान, समय सब अलग-अलग हैं और ये सब मनीरामके पेटमें ही दीखते हैं।

वेदान्ती आत्माको अत्यन्त विशाल बताकर अपने ही आत्माके उदरमें सम्पूर्ण सृष्टिको मानते हैं। इसे 'दृष्टिसृष्टिवाद' कहते हैं। आभास भी पेटमें ही है। कैमरामें बाह्यपुरुषका आभास भी अन्तस्थ ही है। अवच्छेद भी, दृष्टि-सृष्टि, प्रतिबिम्ब, अणु-मध्य-परिमाण, विभु-परिमाण भी अन्तस्थ है। एकता तथा अनेकता भी अन्तस्थ है। यह मनीरामका ही खेल है।

जो लोग आत्माको इतना बड़ा नहीं मानते, वे भी हर हालतमें इस सृष्टिको ईश्वरके संकल्पमें ही मानते हैं। इस मान्यता से बात नहीं बदलती। जब आत्मा-परमात्माकी एकता हो जायगी तो जो परमात्माके संकल्पमें है, वही हमारे संकल्पमें हो जायगा। ईश्वर आकर मिल जाय तो जो हमारे संकल्पमें है, वही ईश्वरके संकल्पमें हो जायगा। संकल्प शान्त हो जानेपर अलगावकी स्फुरणा ही नहीं और संकल्प उदित होनेपर तो अलगावकी स्फुरणा मालूम पड़ेगी।

अब दशम मन्त्रमें क्रियाकी प्रधानता, उपाधिसे निरूपण करते

हैं वायुमें और असंगतासे निरूपण करते हैं सूर्यमें। आत्मा यानी हृद्देशस्थके रूपमें निरूपण करते हैं कि सर्वभूतान्तरात्मामें सर्वाधिष्ठानता है :

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्

वहां क्या है ? शान्ति है, शाश्वती शान्ति है और "**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा**में हृद्देशस्थ प्रकाशका निरूपण है। सर्व द्रव्य, सर्व क्रियाएँ, असंग, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अपना आत्मा और सर्वाधिष्ठान ब्रह्म एक ही है। यह उपनिषद्‌की प्रतिपादन शैली है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

जिस प्रकार इस लोकमें प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है, उसीप्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूपके अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है ॥ १० ॥

जब ईश्वरने यह सृष्टि बनायी तो धातुकी भी सृष्टि की या केवल रूपकी ही ?

ईश्वरने पंचभूतोंकी सृष्टि की यह तो मालूम पड़ता है। लेकिन अपनेमें ही की, अपनेसे ही की या किसी और से ?

काहेकी करनी काहेकी भरनी।
काहेका ताना काहेका बाना।

हे तन्तुदाय जुलाहे ! सृष्टि-रूप इस वस्त्रका ताना-बाना, करनी-भरनी क्या है ? वास्तवमें जैसे शुद्ध सोना ही सोना हो,

उसमें एक चित्र बनाये—एक घर और एक मनुष्य तथा उस मनुष्यका उस घरमें प्रवेश दिखायें तो तीनों सोना ही सोना, एक ही एक वस्तु होती है। ठीक वैसे ही परमात्मा सृष्टि बनाता है अर्थात् अपने स्वरूपमें ही सृष्टिकी कल्पना या संकल्प करता है। उसमें अपने सिद्ध प्रवेशको ही प्रवेश करनेके समान दिखाता है :

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

लोहेके गोलेमें अग्निने प्रवेश किया या गोलमें लोहेने प्रवेश किया? व्यापकताका क्या अर्थ है? कहते हैं, यह मनुष्य बहुत व्यापक है यानी उसकी जान-पहचान बहुत है। इस सृष्टि-शरीरमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड-गोलक हैं और उनमें परमात्माने आविष्ट हो लोहेके गोलेमें आविष्ट आगकी तरह उन्हें व्याप्त किया है! लोहा और आग अलग-अलग वस्तु हैं, तभी न आगने लोहेमें प्रवेश किया?

वेदान्ती इसे नहीं मानते हैं—अग्नि और लोहेमें भेद ही नहीं है। अग्नि ही द्रवावस्थापन्न होकर विशेष काठिन्यको प्राप्त होता है, तो उसका नाम लौह, पत्थर या पृथ्वी हो जाता है। उपादान रूपसे अग्नि सबमें व्याप्त है इसलिए जैसे गोलेमें लोहा है, वैसे ही परमेश्वर सर्वत्र सृष्टिमें व्याप्त है?

वेदान्ती कहते हैं : "यह दृष्टान्त भी जड़ पदार्थका है, चैतन्यका नहीं। व्याप्तिमें तो दृष्टान्त है, पर जड़की व्याप्तिका और जड़की व्याप्ति तथा चैतन्यकी व्याप्तिमें जो विवेक होता है, वह यहाँ नहीं किया गया है।"

स्वप्नके गोलेमें स्वप्नकी आग प्रविष्ट हुई भासती है, पर वहाँ लोहेका गोला भी ज्ञानात्मक है, आग ज्ञानात्मक और उनका

परस्पर अनुप्रवेश भी ज्ञानात्मक है। जड़का जड़में प्रवेश उपादान कारणरूपसे होता है। जबकि चैतन्यका जड़में प्रवेश निमित्त-कारणरूपसे किंवा अभिन्ननिमित्तोपादानरूपसे होता है। निमित्त-कारणरूपसे हो तो परमात्माके सिवा पहलेसे दूसरी वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी। ब्रह्मविद्याके प्रसंगमें वह बात नहीं आयेगी। डॉक्टरी, वकालत, इन्जीनियरिंगकी तरह ईश्वरविद्या, जीवविद्या, जगत्विद्या अलग-अलग हैं। हम तो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वैत ब्रह्मका निरूपण करनेवाली विद्याको 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। इस-लिए यह ब्रह्मविद्याका निरूपण नहीं।

अद्वैत वेदान्तमें जिसका निरूपण करते हैं वह कारणमें कार्यका निमितता नहीं या कार्यमें तटस्थकी व्याप्ति नहीं है। वह तो अभिन्ननिमित्तोपादानकारणकी व्याप्ति अर्थात् स्वयं निमित्त, स्वयं ही उपादान होता है स्वयं माटी और स्वयं ही कुम्हार। सारांश चैतन्य ही सर्वशक्तिमान् है और सर्वरूप भी। यह तो अभेदेन व्याप्ति होगी। उसमें न माया है और न छाया!

मानलें कि जड़-रूपसे प्रतीयमान प्रपंचमें चेतन अभिन्न-निमित्तोपादान करणरूपसे व्याप्त है। लेकिन वह चेतन परिणामी होकर व्याप्त है या विवर्ती होकर? चेतन वह होता है जो परि-णामका भी साक्षी होता है। हुआ और बदल गया, हुआ और बदल गया! बदलनेवाला भी वही और जो बदला जाता है वह भी वही! यह बदलना भी किसे मालूम पड़ता है? क्या एक हिस्सेसे बदल रहा है। और एक हिस्सेसे बदलना देख रहा है? तब तो उसमें भी दो हिस्से होंगे? नहीं, वास्तवमें वह बदलता नहीं, बदलता-सरीखा भासता है। इसलिए अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूपसे प्रपंचमें ब्रह्मकी जो विवर्ती अवस्थिति है, उसीको

'प्रविष्ट' कहते हैं। प्रपंचदृष्टिसे तो वह प्रविष्ट है, पर ब्रह्म-दृष्टिसे स्वयं-स्वयं ही है। वहाँ प्रविष्टानुप्रविष्टका किसी प्रकारका भेद नहीं, स्वयं ब्रह्म ही है। पदार्थ तत्त्वकी दृष्टिसे जिसमें सब नाम-रूप-आकृति, कर्म अध्यारोपित और अपवादित होते हैं तथा जो स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक, सर्वाधिष्ठान अद्वितीय, प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप है उसीको 'ब्रह्म' कहते हैं।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टः—वायु तो सारे कमरे में एक ही है। 'एति=व्याप्नोति+गच्छति, अधीयते'—सबमें व्याप्त हो, सो एक है। 'यथा एकासंख्या सर्वासु संख्यासु व्याप्ता भवति' —जैसे एकत्व संख्या सब संख्याओंमें व्याप्त होती है, वैसे ही सृष्टिका मूलभूत तत्त्व अपने सम्पूर्ण कार्योंमें अनुगत रहता है। उसे 'एक' कहते हैं। श्रुति कहती है :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'

वही एक जो वस्तु है, वह 'एक' है। वायु एक है। सबके शरीरमें धौंकनी अलग-अलग होती है जो वायुको पकड़कर बैठती है। वायु उससे बाहर निकलती और उसमें खिच आती है। छोटे-छोटे कीड़ोंके अंडे फूटते हैं, उससे निकला प्राणी फूलने-पटकने लगता है, साँस लेने लगता है। सबके शरीरमें साँसके पृथक्-पृथक् केन्द्र (गोलक) होनेपर भी वायु तो एक है। वह केवल दृश्यमान चींटी, चिड़िया, पशु, मनुष्य आदि जंगम प्राणियोंमें ही नहीं है। प्रत्युत ये पौधे उगते हैं, गेहूँ बोते हैं तो अंकुर निकलता है, आमकी गुठली बोनेपर ऊपर पेड़ और नीचे जड़ बढ़ती है—यह

सब प्राणका ही कंपन है। हम चलते हैं तो बिना हवाके क्रिया सभव ही नहीं। हवासे ही डकार, हिचकी, धड़कनकी क्रिया होती है। पागलपनका अर्थ है वायु बढ़ गयी। पक्षाघात यानी वायु लग गयी। ये सब वायुके ही भेद हैं।

उनचास वायुओंको 'मरुद्गण' कहते हैं। उपाधिभेदसे प्राणके पाँच प्रकार हैं: प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। अन्त-र्वायुके भेदसे नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय नाम पड़ गये हैं। शरीरमें नस-आँख फड़कने आदिकी अनेक क्रियाएँ वायुसे ही होती हैं। जहाँ शब्द, गति गरमी, ठंडक, स्पर्श है, वहाँ वायु हैं। बहिःस्पर्श और अन्तःस्पर्श दोनोंमें वायु है। पृथ्वी वायुसे टिकी है जल वायुसे बहता है, अग्नि वायुसे प्रज्वलित होता है। प्राणियोंके शरीरमें होनेवाली सभी क्रियाओंमें—ऊपर उठना, नीचे गिरना, दायें-बायें चलना,—अन्तर्बाह्य जितना भी हिलना-डुलना है, सबमें वायु विद्यमान है।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। उपाधिके भेदसे इस भुवनमें वायु अनेक रूपोंमें देखनेमें आता है। इमलीके पत्तेपर वायु लगे तो कोई आवाज सुनायी नहीं देती। लेकिन पीपलके पत्ते कड़े होनेके कारण उनमें टकराहटसे सबसे अधिक आवाज आती है। इनमें चमक होनेके कारण प्रकाश पड़नेपर ये चमकने लगते हैं। छुई-मुई या लाजावन्तीको जरा-सा छू दीजिये तो सिकुड़ जाय, यह वायुकी ही करामात है। वायु पीछे बैठकर जीभ हिला रहा है।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

वही भीतर शब्द-स्वर उत्पन्न करता है। अपनी-अपनी वायु होने-के कारण सबको अपनी आवाज सबसे अधिक प्रिय लगती है:

निज कवित्त केहि लाग न नीका। वेद ने तो **नमस्ते वायो! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि'** से वायुको साक्षात् ब्रह्म कहा किन्तु यहाँ वायु ब्रह्मके दृष्टान्तरूपमें आया है।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा। यह जो सर्व मालूम पड़ता है, पैदा होता और मिटता है, भासता है और नहीं भासता है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति भासती है और नहीं भी भासती—सब वही ब्रह्म आत्मा है।

घड़ेकी अन्तरात्मा कौन है? मिट्टी। कारण, मिट्टीका अर्थ है घड़ा बनानेके पूर्व कुम्हार द्वारा चक्र पर रखा गया माटीका लोंदा। वही घड़ेकी शक्ल बन जाने पर कार्य–मिट्टी होती है। जिसने मिट्टीका लौंदा न देखा हो उसके लिए कारण-मिट्टीका अस्तित्व नहीं है। उसे वह लौंदा कहाँसे ज्ञात होगा? कारणत्व स्मृतिमूलक है और कार्यत्व कल्पनामूलक, यथार्थतः वह मिट्टी है। मिट्टी है अधिष्ठान। उसमें कारण-लौंदेको और कार्य-घटकी आकृति कल्पित हुई। तो कारणभूत विठरवत् और जठरवत् मृत्तिकामें विठर-जठर, पेट और कलाप-खोपड़ी सबको दिखाई पड़ते हैं। वास्तवमें मिट्टी जो पहले थी, सो अब है। मिट्टीके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर मिट्टीमें कारणपन और कार्यपन भी नहीं रहता। अधिष्ठानके याथार्थसे कारणत्व और कार्यत्व दोनोंका बाध हो जाता है।

'यह जगत् पहले अव्यक्त था, अब व्यक्त हुआ है।' यह तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी दृष्टिसे बोलते हैं। इनका विचार करनेसे क्यों डरते हो? जिस ज्ञानको ये तीनों दीखते हैं, वही ज्ञान तुम हो।

सर्वभूतान्तरात्मा। जैसे स्वप्नमें हजार घड़ेमें हजार आकाश दीखते हैं, वैसे ही जाग्रत्में हजार धौंकनियोंमें हजार वायु, हजार स्त्री-पुरुषकी हजार साँसें मालूम पड़ती हैं। इनमें व्याकृत-अव्याकृतकी कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अव्याकृत कल्पना कारण-कल्पना है और व्याकृत-कल्पना कार्य-कल्पना। जिसमें विशेष आकृति बन गयी—वह 'व्याकृत', नहीं बनी वह 'अव्याकृत', लेकिन विशेष आकृति बनी या नहीं बनी, यह प्रश्न नहीं। प्रश्न तो चैतन्यके प्रकाश, सत्ता और उपस्थितिका है। सच्चिदानंदघन चाहे कार्य बने या न बने, कारण बने या न बने, वह तो बिलकुल एक-सरीखा है। केवल कार्य-कारण, देश-काल-वस्तु उसका स्वरूप नहीं। मिट्टीके लौंदेका काल, घड़ा बननेका काल, उसमें अन्तर्देश-बहिर्देश, कारणदेश-कार्यदेश, कारणद्रव्य-कार्यद्रव्य—ये एक ही स्वयंप्रकाश, अधिष्ठानमें तीन युगल या छह जोड़े पदार्थ बिना हुए ही कल्पित होते हैं। कारण-कार्य देशसे बाहर यानी अन्तर्बहिः से बाहर, कारण-कार्य कालके बाहर यानी प्रलय-सृष्टि से बाहर, लीन और प्रकट-द्रव्यकी दोनों स्थितियोंसे बाहर अपना यह स्वरूप है।

अग्नि द्वारा बताया गया कि पदार्थ चाहे कोई भी हो, वह परमात्मा ही है। अब वायु द्वारा बताया जा रहा है कि क्रिया चाहे कोई भी हो, वह परमात्मा ही है।

अब आगे बताते हैं कि कर्मके जो फल हैं—पाप-पुण्य, सुख-दुःख, राग-द्वेष, ये आत्माके साथ किसी तरह का सम्बन्ध नहीं जोड़ते भले ही हम जोड़ लें कि हम पापी-पुण्यात्मा तो हमारे स्वातंत्र्यमें उसका भी सन्निवेश है।

एक मिनिस्टर को मालूम हुआ, जेलमें कैदियोंको बड़ा दुःख होता है। उसने कहा 'अब हम चलकर कैदमें रहेंगे। हमारे वहाँ रहनेसे कैदियोंका दुःख दूर हो जायगा।'

यह स्वातंत्र्य मिनिस्टरमें है।

राजा जनक और युधिष्ठिरका दृष्टान्त है। उनसे कुछ भूल हुई थी तो यमराजने कहा—'तुम्हें इसका फल भोगना पड़ेगा।'

उन्होंने पूछा : क्या ?

यमराजने बताया : 'तुम्हें नरकके रास्ते ले चलेंगे।'

जब उनको नरकके रास्तेसे लेगये तो नरकके जीवात्मा नारे लगाने लगे 'ठहर जाओ, यहीं रहो, मत जाओ।'

जनकने दूतसे पूछा : 'क्या बात है ?'

दूतने बताया : वे कहते हैं कि तुम यहीं रहो। आप जब यहाँसे निकले हैं तो आपके शरीरकी सुगंध लेकर हवा नरकमें पहुँच गयी और उसके स्पर्शसे उन्हें सुख मिला। इसीलिए वे कहते हैं कि 'तुम यहाँ रहोगे तो हमें सुख मिलेगा।'

जनकने कहा : 'तब तो हम यहीं रहेंगे। हम स्वर्गमें नहीं जायँगे।'

जनक और युधिष्ठिरमें स्वातंत्र्य है कि 'हम यहीं रहेंगे, नहीं उठेंगे।' इसीतरह आत्मदेव भी इतने स्वतन्त्र हैं कि वे अपनेको पापी मानें तो कोई उन्हें रोकता नहीं। भले ही वे अपनेको रागी-द्वेषी मानें, भोग मिलने पर सुखी और न मिलने पर दुःखी मानें, वास्तवमें वेद पूर्ण स्वतन्त्र हैं। ●

१०. आत्माकी असंगता

संगति :

दशम मन्त्र में बताया गया कि जैसे एक ही वायु सारे भुवनमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपके अनुरूप दीखती है, वैसे ही सर्वभूतान्तरात्मा एक है। वह रूप-रूपमें प्रविष्ट होकर प्रत्येक रूपके समान मालूम पड़ता है। उपाधिके अनुसार वह दीखता है। उपाधि—उप= पास, आधि=रखी हुई। 'शहनाई और रणभेरीकी आवाजमें अन्तर होनेका कारण तद्-तद् उपाधि है। अनेकता वायुका नहीं, उस द्रव्यका, देश-काल-परिस्थितिका धर्म है जिनके साथ जुड़कर वह भी अनेकरूप मालूम पड़ता है।

'इदम्'की अपेक्षा या जो अन्तर वस्तु है उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं। 'इदम्' या 'यह' तो हजारों होता है—घड़ी, मकान, स्त्री, पुरुष, पुस्तक। इन हजारों 'यह-यह'को देखनेवाला 'मैं' एक होता है और देहको पास रखकर जो 'मैं-मैं' अलग-अलग बोला जाता है उन सबमें वह सर्वभूतान्तरात्मा है। वह एक शरीरमें नहीं, सर्व शरीरमें रहता है गीता कहती है :

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

अर्थात् सर्व-क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ एक ही है। 'दृश्यते जलचन्द्रवत्'—जैसे जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा अलग और बर्तनमें अलग मालूम पड़ता है; पर द्वैत एक ही है, वैसे ही हमलोग जो अलग-अलग

'मैं-मैं-मैं' बोलते हैं वह शब्दमात्र है। बुद्धिमें 'मैं-मैं' अलग सोचते हैं लेकिन वास्तवमें शब्द, देह या अन्तःकरणके भेदसे भी 'मैं'में भेद नहीं होता।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥—गीता

सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाली जो जीव-प्रकृति है, वह एक है। इसीलिए—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥—गीता

चाहे किसी भी रूपमें हो, रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं, सर्वभूतान्तरात्मा एक है। जहाँ तक सर्वभूतका घेरा है वहीं तक वह नहीं है। पूर्वभूतका घेरा तो छोटा है। वह इस छोटे-बड़े घेरेके विभागको पार कर अवस्थित है।

इसपर प्रश्न उठता है कि जब एक ही सर्वभूतान्तरात्मा है, एक ही सर्वात्मा है तो संसारमें जितना दुःख है उन सबके आत्माको दुःखी होना चाहिए।

सर्वभूतान्तरात्मा—यदि हम सबके 'मैं-मैं-मैं' बन जायँ तो हम = अहम्को भी संस्कृतमें बहुवचनमें बोल सकते हैं। प्रथमा बहुवचन, द्वितीया बहुवचन, पंचमी बहुवचन और षष्ठी एकवचनमें 'अहम्' पदका प्रयोग कर सकते हैं। 'अ' का लोप तो हम् या अ हम्+अ = हम 'हम' मिथ्या बहुवचन है। जैसे 'तुम-तुम-तुम', 'तुम लोग—यह व्यावहारिक सत्य हुआ, वैसे ही 'वह-वह-वह' 'वे लोग'। 'मैं-मैं-मैं' और हम ऐसा नहीं होता! यह अव्यावहारिक है। किसीको यह नहीं होता— 'मैं-मैं-मैं'। दूसरे शरीरमें स्थित व्यक्तिके लिए 'मैं' शब्दका व्यवहार नहीं होता। इसलिए मैं शब्दका बहुवचन अव्यावहारिक

है। व्याकरणकी रीतिसे 'मैं' शब्दका बहुवचन नहीं होना चाहिए। इसलिए 'आत्मा शब्दो नित्यम् एकवचनान्तः'। आत्माका 'आत्मानः नही होता। सबके हृदयमें आत्मा है सबके दुःखसे उसे दुःखी नहीं होना पड़ता।

वास्तवमें आत्मा कभी दुःखी होता ही नहीं। वर्तमान असह्य हो जानेके कारण मरनेकी इच्छा होती है, क्योंकि मरनेके बाद दुःखसे छूट जायँगे' यह भ्रान्ति होती है।

लेकिन मरनेसे तो कोई दुःखसे छूटता नहीं। जीवन मरनेके पहले जहाँ रहता है, वहीं बादमें भी रहता है। जीवनव्रतकी यही विशेषता है। यह अमृत है। सोनेके पहले जहाँ रहते हो, वहीं जागनेके बाद भी रहते हो। इसी तरह मृत्यु, बेहोशी, दुःख और भेदभाव ये चारों आत्मामें अस्वाभाविक हैं। आत्माके स्वभावके सर्वथा विपरीत हैं। गम गलत करनेके लिए ऐसी दवा खा लेते हैं कि थोड़ी देरके लिए बेहोश हो जायँ, पर सदाके लिए तो नहीं?

ये आत्मदेव संसारके दुःखसे दुःखी नहीं होते। ये सबकी आत्मा होनेपर भी सबसे न्यारे हैं। इसीकी व्याख्याके लिए ग्यारहवाँ प्रवृत्त हुआ है। आत्मदेव अपने स्वातन्त्र्यका दुरुपयोग कर दुःखी हो रहे हैं। यदि वे अपने स्वातन्त्र्यका सदुपयोग करें तो अभी, इसी क्षण वे सुखी होकर सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि इनका सहज स्वभाव है छोड़ना :

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण लोकका नेत्र होकर भी सूर्य नेत्रसम्बन्धी बाह्यदोषोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तरात्मा संसारके दुःखसे लिप्त नहीं होता ; बल्कि उनसे बाहर रहता है ।। ११ ।।

यह तो प्रत्यक्ष ही मालूम पड़ता है कि यदि प्रकाश नहीं होता तो हमारी आँख कुछ देख नहीं पाती—न लाल, न काला, न पीला। सारे रूपभेद अंधकारमें विलीन हो जाते हैं। इसलिए सूर्य ही सब लोगोंकी आँख है। 'चक्षिन्' धातुसे 'चक्षु' बना है—जिसके द्वारा देखा जाता है वह चक्षु है। सबकी आँखोंमें वही बैठा है। आँखोंसे शौच, पेशाब आदि गंदी वस्तुएँ दीखनेपर क्या आँखें गन्दी हो जाती हैं ? नहीं। आँख तो अलग होती है।

धर्मशास्त्रमें इसके लिए विधान है कि 'गन्दी वस्तुपर आँख पड़े तो वह गन्दी नहीं होती, मुँहका जायका बिगड़ जाता है। मनमें एक प्रकारकी ग्लानि आ जाती है। जिसके मनमें पवित्रता के संस्कार हैं, उसे ग्लानि मिटानेके लिए सूर्यकी ओर देख लेना चाहिये। ग्लानि क्यों मिटेगी ? उसमें भी अकल होगी तो ग्लानि मिटेगी, अन्यथा नहीं। अकल यह कि 'सूर्यका प्रकाश उस शौच-पेशाब, साँस, हड्डीपर पड़ रहा है। सूर्यको तो ग्लानि नहीं होती ! प्रकाश गन्दा नहीं होता तो हमारी आँख उसपर पड़ जानेपर गन्दी कैसे होगी ?

समरथको नहिं दोष गुसाईं।
रवि पावक सुरसरि की नाईं।।

सूर्यको देखते ही तुरन्त आँखोंमें सूर्यका भाव आता है और उसे भी दोष नहीं लगता। अशुचि आदि दर्शन-निमित्तक जो आध्यात्मिक पापदोष हैं, बाह्य अशुचिका जो संगदोष है, जो ज्ञानदोष है, वह कुछ नहीं रहता।

जैसे सूर्य आकाशमें रहकर सबकी आँखको देखनेकी शक्ति देता है, वैसे ही यह आत्मदेव सबके भीतर बैठकर सबको — अन्तः करणमें प्रतिबिम्बित होकर अन्तःकरण बहिष्करणको प्रकाश दे रहा है, जो सुषुप्तिमें भी बाधित नहीं होता।

जैसे घर-घरमें 'मेन चित्र' (main sw.ech) होती है और पावर-हाउसमें भी। फिर भी पावर-हाउससे आयी बिजली ही घर-घर काम देती है, वैसे ही अनन्त आकाशके अधिष्ठानरूपसे विद्यमान, आकाशका प्रकाशक आत्मदेव तो सर्वत्र परिपूर्ण है। उसके बारेमें यह निश्चय नहीं होता कि वह सोते समय नहीं था। आप अपने ऊपर बाह्य जीवनकी कोई वस्तु आरोपित न करें। जैसे मूत्र, हड्डी-मांस आदिका प्रभाव सूर्यपर नहीं पड़ता, वैसे बाहरकी गन्दगीका प्रभाव आँखोंको प्रकाश देनेवाले पर नहीं पड़ता। किसीकी जबान गन्दी हो तो? आपके कानको प्रकाश देनेवालेपर उसका प्रभाव नहीं पड़ेगा।

मोतीलाल नेहरूने मालवीयजीसे कहा : 'मालवीयजी, आप सौ गालियाँ देंगे तब भी हम जवाब नहीं देंगे।'

मालवीयजी : 'हम अपनी जबान गन्दी क्यों करें?'

सारांश, जबान या कान गंदे होनेपर भी उन्हें प्रकाश देनेवाला गंदा नहीं होता। जो संसारकी इन वस्तुओं, इन्द्रियों और देहका प्रकाशक है वह मनोवृत्तियों की गंदगीसे गंदा नहीं होता। शरीरमें हड्डी-मांस-चाम, मूत्र-विष्ठा भरे हों तो भी उसे प्रकाश देनेवाला गंदा नहीं होता। बुद्धि गंदी होगी, परन्तु बुद्धिको प्रकाश देने-वाला गंदा नहीं होगा। गीतामें कहा है :—

(१) यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

(२) सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।

(३) न स भूयो हि जायते ।

उसी आत्माकी ओर हमें अपना ध्यान देकर चलना होगा ।

एक बात और ! इस'मैं' में—आत्मदेवमें इतनी पवित्रता है कि इसके सम्पर्क में अपवित्र भी पवित्र हो जाता है । अज्ञानी लोग अपने शरीरको 'मैं' समझते हैं और शरीरके बाहरको पराया । थूँक मुँह में हो तो गंदा नहीं लगता, पर बाहर थूँक दिया तो गंदा हो गया । विष्ठा-मूत्र भी शरीरमें हों तब तक गंदे नहीं, बाहर निकालनेपर गंदे लगते हैं । तो, गंदगी कहाँ है ? जहाँ आत्मबुद्धि नहीं, अन्यथाकी भ्रान्ति है वहीं गंदगी है ।

एकबार एक आर्यसमाजी सज्जनने कहा (आर्यसमाजियोंके तर्क कुछ न्यारे ढंगके होते हैं ।) "क्यों जी; तुम्हारे भगवान् तुम्हारे पेटमें रहते हैं तब राम-कृष्ण कहाँ रहते हैं, हृदयमें ?'
सनातनधर्मी सज्जनने कहा : 'हाँ ।'

वे बोले : 'तो वे लघुशंका—शौच करते होंगे , थूकते होंगे ! तुम तो बिलकुल गन्दे हो ।'

सनातनधर्मी : 'क्यों जी हम तुम्हारे निराकार ईश्वरके पेटमें रहते हैं या नहीं ?'

वे बोले : 'हाँ ।'

सनातनधर्मी : 'हम उसमें मूत्र-विष्ठा करते हैं तो तुम्हारा निराकार ईश्वर गन्दा होता है या नहीं ?'

वे बोले : 'जो वस्तु अपने पेटमें होती है उससे हम गन्दे नहीं होते ।'

जिस परब्रह्म परमात्माके पेटमें यह सृष्टि है, उसके जन्म-मरणसे,

पाप-पुण्यसे, रागद्वेषसे या सुख-दुःखसे परमात्मा लिप्त नहीं होता। 'वह परमात्मा बड़ा है और हम छोटे हैं' ऐसी भ्रान्ति हो गयी है। 'हम छोटे हैं' यह नकली 'मैं' है और परिपूर्ण ब्रह्म ही वास्तवमें असली 'मैं' है। असली मैं के एक कल्पित देश-काल-रूपमें ये परिच्छिन्न पदार्थ दिखायी पड़ रहे हैं। जब सारी-की-सारी परिच्छिन्नता ही कल्पित है तो कल्पित वस्तु अकल्पित वस्तुमें गुण या दोषका आधान कैसे कर सकती है? इसके लिए शंकराचार्य भगवान्ने बताया: जैसे रस्सीमें साँप, सीपमें चाँदी, ऊसरमें पानी या आकाशमें नीलिमा दिखाई पड़ रही है। तब क्या रज्जुका दोष है सर्प? सीपका दोष है चाँदी? रस्सी, सीप, ऊसर, आकाशको तो मालूम ही नहीं कि मुझे कोई साँप, चाँदी, पानी या नीलिमा देख रहा है? सारांश, अध्यस्त वस्तुसे अधिष्ठानका किंचित् भी संसर्ग नहीं होता। इस अद्वितीय अखण्ड आत्मदेव, परमात्मदेवमें संपूर्ण प्रपंच अध्यस्त है। यह सूर्यवत् स्वयंप्रकाश और आकाशवत् परिपूर्ण है तथा अपरिणामी है।

संसर्गेण विपरीत बुद्ध्याऽध्यासनिमित्ताच्च दोषवत् विभाव्यन्ते।

आपने अपने आपको झूठ-मूठ संसर्गी बनाकर दृश्य, अन्यसे मिला दिया है। किसी-किसीका वेदान्त सुनते-सुनते ऐसा खयाल हो जाता है कि हमारे साथ कोई अविद्या नामकी वस्तु चिपक गयी है। सुषुप्तिका गाढ़तम भी आपके साथ चिपकता नहीं। सुषुप्ति तो थोड़ी देरके लिए आकर चली जाती है। वेदान्ती लोग नहीं मानते कि आत्मामें, ब्रह्मविद्यामें 'अविद्या' नामकी कोई वस्तु है। जब कोई कहता है कि 'हम देह हैं' तब वे कहते है: 'तुम मूर्ख हो।' जैसे सीप बोलने लगे कि 'मैं चाँदी हूँ, मैं चाँदी हूँ' तो कोई कहेगा कि 'तुम मूर्ख हो, तुम नहीं जानते हो कि तुम

सौपके सिवा और कुछ नहीं हो।' रस्सी अपनेको साँप कहे तो बोलना पड़ेगा कि 'तुम मूर्ख हो, क्योंकि रस्सी साँप नहीं है।' 'तुम ब्रह्म हो।'

जब तुम अपनेको जीव, सुखी-दुःखी, रागी-द्वेषी, पापी-पुण्यात्मा, शरीर, हिन्दू-मुसलमान, ईसाई, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, संन्यासी-उदासी बोलते हो और दुःखी होते हो तब वेदान्त कहता है: 'यह तो तुम्हारी अविद्या है, भ्रान्ति है, तुम अपने आपको समझ नहीं रहे हो।' राजकुमार अपनेको कंगाल कहता है तो उसे मूर्ख ही कहना पड़ता है। तुम बादशाह होकर अपनेको कंगाल क्यों मान रहे हो? हमें यह नहीं बताना है कि कोई अविद्या नामकी वस्तु अनादिकालसे तुम्हारे साथ लगी हुई है और अनन्तकाल तक लगी रहेगी। किसीको ताना, डण्डा या धक्का मारकर बेवकूफीसे बचाया जाय, वैसे इस बेवकूफीसे बचानेके लिए उसे बेवकूफ या मूर्ख कहते हैं।

भगवान् शङ्कराचार्यको जब ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई तो उन्होंने बहुत-से ग्रन्थ लिखे। उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, गीतापर भाष्य लिखे थे। यह संन्यासी सम्प्रदायका संघटन था! कहाँ कन्याकुमारी और कहाँ बदरीनाथ! कहाँ पुरी, द्वारका, और कहाँ कामाख्या! लेकिन वे देशभर घूमते रहे। ब्रह्मविद्या-प्राप्तिके बाद भी उनकी कलम चलती रही, जीभ बोलती रही। वे भोजन करते थे; दिन-रात आँखें बन्द किये समाधिमें बैठे नहीं रहते थे। ब्रह्म-विद्या स्थिति-विशेष प्राप्त करनेके लिए नहीं होती। वह होती है सत्यका, यथार्थ-का साक्षात्कार करनेके लिए। उसमें तुम समाधि लगाना चाहो तो लगा सकते हो। अपने मनको कृष्णाकार बनाये रखना चाहो या धर्म, राजनीति, समाजसेवा करना चाहो तो भी कर सकते

हो। ब्रह्म-विद्यामें किसी कर्म, साधन, स्थितिकी बाध्यता नहीं। वह नहीं कहती कि तुम गुरु, मन्त्र, इष्ट बदल दो या जनेऊ पहनो या तोड़ दो। तुम यज्ञोपवीतके अधिकारी हो, तो रखो; संध्या-वन्दन-अग्निहोत्र करो। इससे ब्रह्म-विद्याका बाल बाँका न होगा और न उसमें पाप-पुण्य ही चिपक जायगा।

ब्रह्म-विद्याका अर्थ घर-परिवार छोड़ना नहीं और न संन्यासी बन जाना है। ब्रह्मविद्याका अर्थ है स्वतन्त्र, निर्भय और सम जीवन प्राप्त करना जो जीवनका अमृत है, रस है।

विशेष-विशेषमें जो अद्वितीय सम है, उसका साक्षात्कार हो जाने पर चाहे लाल दीखे या पीला। सूर्यके प्रकाशमें कभी लाल, कभी पीलेका युग आता है। बौद्धभिक्षु पीला पहनता है, तो संन्यासी लाल। वैष्णवका वस्त्र दूसरे ही रंगका होता है। स्त्रियाँ अपने लिए भिन्न-भिन्न प्रकारके रंग लेती हैं। रंग बदलता है और उसका आदर, महत्त्व भी बदलता है, लेकिन है सब-का-सब प्रकाशका ही रूप! जो पहचानता है उसके लिए कोई भी रग पहनो, वह तो प्रकाशमात्र है! उसमें रागद्वेषकी कोई बात नहीं। स्वयंप्रकाश, अधिष्ठान न दोषी होता है न गुणी। मनुष्यने अपने स्वरूपको न जानकर नासमझीसे अपनेमें गुणीपन और दोषीपन आरोपित्त कर लिया है।

'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। हाथरससे अलीगढ़ जाते समय बीचमें 'साथनी' गाँव पड़ता है। वहाँ एक महात्मा रहता था। उसका एक काम था—गाँवके लोगोंके उठनेके पहले सुबह सारे गाँवमें झाड़ू लगाकर एक पेड़के नीचे बैठ जाना। वह कहीं रोटी माँगने भी नहीं जाता था। कोई दे जाता तो खा लेता।

एक था जीवन्मुक्त महापुरुष ! वह घास छीलता और पशुओंको दे देता। न पूजा-चंदन, न माला। आप लोगोंका अन्तःकरण जैन-वैष्णव-धर्मसे प्रभावित होनेके कारण तिब्बतके लामाको जीवन्मुक्त देखना जल्दी पसंद नहीं करेगा। किन्तु उसका खानपान तो बिलकुल न्यारे ढंगका होता है।

हमलोग जाते थे मोकलपुरके बाबाके पास। गंगाके किनारे-किनारे तीन मील तक चलना पड़ता था। बीचमें एक बड़ा भारी आमका बगीचा पड़ता। हमने वहाँ एक महात्मा देखा। उसका शरीर काला था। दाढ़ी बढ़ी हुई थी। उसके हाथमें मछली पकड़नेको बंशी थी। गंगा-किनारे वंशीमें कीड़ा डालकर और गंगाजीमें वंशी डालकर बैठे हुए हमने उसे देखा। चार-पाँच मछली पकड़ी तो उठ गया। आमके बगीचेमें जाकर इधर-उधरसे पत्ते इकट्ठे कर मछलीको भूनकर खा लिया। क्या कोई जैन-वैष्णव इसे मानेंगे ?

हमने उसके पास जाकर प्रणाम किया। वे मौन रहते थे, गाँवमें नहीं जाते और न किसीसे कुछ माँगते ही थे।

मैंने पूछा : 'आप क्यों मछली पकड़ते हैं ?'

बोल पड़े : 'पंडितजी, हम तो जनमके मल्लाह हैं, बचपनसे खाते थे। पहले भी मछली पकड़ते थे, अब भी पकड़ते हैं।'

आप कभी यह न मान लें कि भगवान् ईसाई, जापानी, चीनी, रूसी या तिब्बतीको दर्शन दे ही नहीं सकते।

वे महात्मा बोले : 'जनमके मल्लाह होनेसे पहलेसे मछली खानेकी आदत है। परमात्मा मिल गये तो हम रोज गंगामैयासे अपनी भीख ले लेते हैं। किसी आदमीके दरवाजे पर जानेकी

आवश्यकता नहीं पड़ती। नंगे रहते हैं। बगीचेमें सो लेते हैं। अपन मस्त पड़े हैं।'

आप चाहें उसे जीवन्मुक्त मानो या न मानो, वह अपनेको 'जीवन्मुक्त' मानता था। उसकी निष्ठा थी कि 'हम जीव नहीं, ब्रह्म हैं, हम द्वैती नहीं, अद्वैत हैं।'

जनक राजा राज्य करते, भोग करते और राज्यकी मर्यादाका पालन करते हुए भी जीवन्मुक्त थे। रहनीके साथ ब्रह्मविद्याको मत जोड़ो। ब्रह्मविद्या आत्मविषयक एक अनुभूति है, एक साक्षात्कार है, सत्य है। ब्रह्मविद्यासे कोई बेटा नहीं छूटता, नहीं तो महात्मा लोग चेला क्यों बनाते? मकान भी नहीं टूटता। बाबाजी मठ बनाते हैं तो उनकी ब्रह्मविद्या नहीं बिगड़ती तो तुम्हारी क्यों बिगड़ेगी? क्या दूकानसे ब्रह्मविद्या बिगड़ती है? हमने तो साधुओंकी बहुत सारी दूकानें देखी हैं। कुंभमेलेमें परस्पर लाउडस्पीकरोंकी टक्कर किस दूकानसे कम होती है? 'हमारे पास आओ, हमारे पास आओ, उनके पास मत जाओ!'

ब्रह्मविद्यासे इन सब बातोंको मत जोड़ो। यह मत सोचो कि तुम कहाँ सोते-बैठते हो, किस मन्त्रका जप करते हो, किस देवता-का ध्यान करते हो? समाधि-विक्षेप भी मत देखो। यह देखो कि तुम कौन हो? 'मैं हूँ' इसमें यदि तुमने अपनी 'मैं' की परिच्छि-न्नताको काटकर उसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मरूपमें जान लिया तो तुम्हें समाधि लगती है या नहीं, वृत्ति ब्रह्माकार रहती है या नहीं, तुम राजनीतिक नेता हो या सामाजिक, धार्मिक अथवा व्यापारी हो, इसकी कोई परवाह नहीं। प्रश्न तो यह है कि तुम अपने आत्म-चैतन्यको द्वैतसत्तासे रहित अद्वितीय आत्मसत्ताके रूपमें जानते हो या नहीं?

'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा।' सम्पूर्ण प्राणियोंकी अन्तरात्मा एक है। जितने प्रेमास्पद तुम स्वयं हो, उतने ही प्रेमास्पद तुम्हारे सब हैं। इस शरीरकी उपाधिसे उपहित आत्मा 'मैं' जितना प्यारा लगता है, दूसरोंके शरीरसे उपहित आत्मा वही है। वही तुम्हारा परम प्रेमास्पद, ज्ञानस्वरूप, अविनाशी, अद्वय आत्मा इस शरीरको उपाधिसे जितना प्यारा, ज्ञानस्वरूप, अविनाशी, अद्वितीय है, उतना ही सबके शरीरकी उपाधिमें स्थित, सबके शरीरकी उपाधिका आश्रय परमात्मा वही है, दूसरा है ही नहीं। देह अलग-अलग हैं, आत्मा नहीं। सर्वभूतके अन्तरमें आकाशवत् अगम्य होनेके कारण जैसे पहलेसे शरीरके भीतर आकाश है, वैसे ही पहलेसे शरीरके भीतर आत्मा है।

लोकदुःखेन न लिप्यते। उसपर दुःखका असर नहीं होता। दुःख तो आते-जाते रहते हैं। मनुष्यने अपनी मान्यताके वशीभूत होकर संसारमें प्रिय-अप्रियका भेद बना रखा है। हम पचासों कारण दुःखी होनेके लिए उपजा सकते हैं। माँ मर गयी, बाप मर गये, आज किसीने हमारी ओर टेढ़ी नजरसे देखा, कड़वी बात कह दी, आदि। सुख-दुःख बनानेमें मनुष्य पूर्ण स्वतंत्र है। ईश्वर किसीको सुखी या दुःखी नहीं बनाता। जो खाता है, उसका शौचालयमें जाना स्वाभाविक है। इसपर रोनेवाला पागल है। वैसे ही पैदा होनेवालेका मरना स्वाभाविक है, अनिवार्य है। फिर भी मोहवश हम दुःखी होते हैं, चाहते हैं कि यह शरीर बना रहे। जो एकदिन आकर मिलेगा, वह कभी बिछुड़ेगा ही। पति-पत्नी साथ-साथ आसमानसे थोड़े उतरे हैं? यहाँ मिल जाते हैं तो यह कल्पना हो जाती है कि हम साथ ही साथ सातवें आसमानसे उतरे हों और साथ-ही-साथ मरेंगे। लेकिन जैसे वे साथ-

साथ जन्मे नहीं वैसे ही उनका साथ-साथ मरना भी मुश्किल है। यह तो सहज-स्वभाव है, इसमें दुःख किस बातका ?

कोई कहते हैं : 'दुःख वासनासे होता है।' यदि यह सत्य है तो जितने कालतक वासना रहती है उतने ही कालतक दुःख होगा। कोई वासना ऐसी नहीं जो जीवनमें लगातार पाँच मिनट रहे। यदि पाँच मिनट तक वासना रहे तब तो तुम तन्मयता-को प्राप्त हो जाओगे। बीच-बीचमें और खुराफातें आती रहती हैं, पर हमें मालूम नहीं पड़ता।

शुरू-शुरूमें एक महात्माने हमसे पूछा : 'क्या दीखता है ?'

हमने कहा : 'दो उंगली।'

फिर पूछा : 'दोनों एक साथ दीखती हैं या अलग-अलग ?'

आँख दोनों कोण मिलाती है तो एक ही उंगलीको एकबार देख सकती है, दूसरीको देखनेके लिए दुबारा प्रयत्न होता है, पर इतनी जल्दी-जल्दी आँखकी ज्योति एकसे दूसरेपर और दूसरे-से पहलेपर जाती है कि उसकी तेजीको हम ग्रहण नहीं कर पाते। ये दो उँगलियाँ दो बारमें दीखती हैं। क्या तुम समझते हो कि तुम्हारी वासना तुम्हारे चित्तमें बहुत देरतक रहती है ? वह तो बड़ी तेज, चंचल है, जाती-आती रहती है।

जिस दिन आपके घरमें कोई आनेवाला हो और आपका प्यारा हो, तो दसबार दरवाजे और खिड़कीसे देखोगे। वैसे ही दिलके घरमें बैठकर वासना भी चंचल हो जाती है। हमारा मन लगातार एक ही बातको सोचता रहे तब तो समाधि ही लग जाय। मनका स्वभाव ही है नाचना। हर क्षणमें वह थोड़ा इधर-उधर, आगे-पीछे, दाँये-बाँये देश-काल-वस्तुकी अपेक्षासे दौड़ता रहता है। तुम्हें मालूम पड़ता है कि तुम वासनाके मारे विकल

हो रहे हो; पर नहीं, तुम विकल नहीं हो रहे हो। जिस समय तुम अपनी वासनाके रंगमें खूब रंगे हो और मन-ही-मन रंगीन कल्पना कर रहे हो, उस समय कोई सँड़सीसे आगका जलता कोयला उठाकर आपके शरीरपर रख दे तो उसे दूर धकेल दोगे और चिल्लाओगे : 'हाय-हाय, बड़ी तकलीफ होने लगी।' जिस-की वासना है वह भी मिट जायगा और वासना भी मिट जायगी, क्योंकि शरीरको बचानेकी वासना उससे अधिक प्रबल है। वासनामें न्यूनाधिकता, कमीवेशी, तारतम्य होता ही है।

सपनेमें भी वासना और दुःख होते हैं। सपनेमें वियोग और मृत्युके दुःखसे तुम रोने-चिल्लाने लगते हो, पर सपना टूटनेपर सपनेकी सारी चीजें मिट जाती हैं। सपनेमें कौन दुःख दे रहा था ? वासना। जागनेमें दुःख क्यों मिट गया ? कहेंगे कि 'वह हमारी की हुई वासना नहीं थी, झूठी थी। चीज भी झूठी थी।'

वास्तवमें दुःख कर्तृत्व-भोक्तृत्वके भ्रमसे पैदा होता है। हम अपनेमें कर्तापनको सिद्ध मानकर यह सोचते हैं कि हमारे संकल्प और कर्तृत्वमें संसारमें परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य है। मैं चाहूँ तो सृष्टिके प्रवाहको बदल सकता हूँ। हमारी बुद्धिमें यह भ्रान्ति आ गयी है, आत्मामें नहीं। आत्माको इन सब बातोंसे कोई काम नहीं कुछ भी भोगा—किया, भोग रहे हो या भोगोगे तो उससे आत्माका सम्बन्ध नहीं है। यह सब तो बाह्य है और आत्मा चिन्मात्र, स्वयं-प्रकाश, अधिष्ठान है। वह तो ज्यों-का-त्यों रहता है।

जब तुम कहते हो कि 'मैंने यह किया तो यह पाया' तब यह भूल जाते हो कि वह वस्तु तुम्हें मिली थी अलग प्रवाहमें और कर रहे थे अलग प्रवाहमें। लेकिन कर्म और भोगका सम्बन्ध, कार्य-कारणका सम्बन्ध भूतसे तुमने झूठे ही जोड़ लिया है। पाँवसे चलने-

पर इतना सुन्दर दृश्य देखनेको मिला, हाथसे उठानेपर मुँहको इतना सुन्दर भोजनका स्वाद मिला। भोजनका प्रवाह अलग है और हाथका कर्म अलग। हाथके उठानेपर स्वादिष्ट भोजन ही मिलेगा, यह निश्चित नहीं, कड़वी मिर्च भी मिल सकती है। पाँवसे चलनेपर भी सुन्दर दृश्य देखनेको मिले, यह नियत नहीं लेकिन कर्म और फलका सम्बन्ध जोड़कर उसमें अपनेको कर्मका कर्ता और फलका भोक्ता मानकर हम अपने मनका हुआ तो सुखी होते हैं और विपरीत हुआ तो दुःखी। पैसा आया तो सुखी होते हैं और गया तो दुःखी। लेकिन न तो सुख-दुःख आता है और न जाता है। तुम अपने मनसे 'परीत' होनेको सुख और 'विपरीत' होनेको दुःख बोलते हो और अपने आपको कर्मी-भोगी मानते हो।

भले ही सुख-दुःख हो, उससे हमें क्या मतलब ? हम गये थे बदरीनाथ! वहाँ देखा बरफसे चमकता पहाड़। बहतो हुई धारा। हरा-भरा जंगल। नन्दप्रयाग, विष्णुप्रयाग, देवप्रयाग, कर्णप्रयाग, अलकनन्दा, भागीरथी, हर-हर करती गंगा! लेकिन यह खयाल नहीं हुआ कि यह गंगा सदैव हमारे सामने बहती रहे। यह हमारी है; बरफका पहाड़ हमारा है, तो उसे उठाकर घरमें ले आयें या घर उठाकर वहाँ ले जायँ। वहाँ गये, देखा, मजा लिया और छोड़कर चले आये। हम उसके अभिमानी नहीं बने। वास्तवमें सुख बहती गंगामें, बरफमें, हरियालीमें नहीं। हमने उसमें सुखका आरोप किया और सुख लिया भी, किन्तु जिसे हमने सुख माना उसे अपना तो नहीं बनाया ? हम उसके कर्ता-भोक्ता नहीं बने। अपनी ममता उसके साथ नहीं जोड़ी।

इस संसारमें तुम कपड़े, मकान, स्त्री, पुत्र, पति धनको सुख

मानते हो। उसको वैसा ही रहने दो, जैसा बहती गंगाका सुख है, खड़े पहाड़का सुख है, आकाशमें छिटकती चाँदनीका सुख है, लहराते समुद्रका सुख है! उसके साथ मैं-मेरा क्यों जोड़ते हो? वह दृश्य प्रकृतिका है, तब भी मैं-मेरा नहीं है, ईश्वरका है, प्रतीति मात्र है, ब्रह्म है, किसी भी प्रकार वह सुख मैं-मेरा नहीं है। तो फिर सुखी क्यों होते हो? 'मैंने इतना प्रयत्न किया, ऐसे-ऐसे भोग भोगे' और अपनेको मान लिया सुखी-दुःखी! यह बिलकुल ऐसा ही जैसे कोई अपने हाथसे अपने शरीरमें मैल लगा ले और फिर रोये, छाती पीटे कि 'हाय-हाय, हमारे कपड़ेमें मैल लग गयी! शरीर खराब हो गया!' अरे, अपने आप ही तो नालीमें गिरे, शरीरमें गंदगी लगायी और फिर रोते हो?

न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। यदि आप अपनेको कर्म और फलकी परम्परामें न डालें तो आप अमृत हो जाते हैं। जिसे आप स्नेहपूर्ण हाथसे छू लेते हैं, प्यार-भरी दृष्टिसे देख लेते हैं। अनुकूलतासे मनमें खयाल करो तो सुख हो जाय। तुमने ही सुख बनाया और दुःख भी तुम ही बनाते हो। अपनेको परिच्छिन्न माननेका यह दण्ड है। जब तुम किसी स्वाभाविक वस्तुको स्वीकार नहीं करते हो, अस्वाभाविक वस्तुको चाहते हो, उसके साथ मैं-मेरा जोड़ते हो, तब जीवनमें दुःख आता है।

योऽन्यथा सन्तमात्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

हमारे वाल्मीकि रामायण, महाभारत, विष्णुपुराण कहते हैं कि 'मनुष्य है कुछ और, मानता है अपनेको कुछ और। है बादशाह और अपनेको मानता है चोर। है नट और अपनेको मानता है अभिनेय व्यक्ति।' सौ-दोसौ वर्ष पहले काशीमें रामलीला हो रही

थी। एक पात्रने दूसरे पात्रपर लीलामें ऐसा प्रहार किया कि सामनेवाला मर गया और कानून द्वारा उसपर हत्याका अभियोग लग गया। उसने बयान दिया कि 'मैं तो नाटक कर रहा था। हमें खयाल नहीं था कि यह मर जायगा। मैं तो वही हो गया था जिसका नाटक कर रहा था। हमने यही समझा कि यह रावण है, मैं राम हूँ, उसे मार डालूँगा।'

उससे पूछा गया: 'क्या तुम्हें नाटकमें इतनी तन्मयता होती है? तुम अब दशरथ बनो!'

उसे रामलीलामें दशरथ बना दिया गया! वह दशरथ बन गया, रामके विरहमें वह मर गया! उसे मरना तो पड़ा।

सिद्धान्तकी दृष्टिसे, यथार्थ-सत्यकी दृष्टिसे यह अपराध है कि तुमने अपनेको ब्रह्मसे अलग, परिच्छिन्न जाना है। तुमने ब्रह्महत्या करनेकी कोशिश की है! अपनेको देह मानना आत्महत्याकी कोशिश है। जैसे आत्महत्या और ब्राह्मणकी हत्या महापाप है वैसे ही सृष्टिमें अपनेको ब्रह्मसे अलग, परिच्छिन्न मैं मानना महापाप है।

है तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म, पर मान रहा है अपनेको अशुद्ध, जीव, बद्ध, तुमने तो अपने आपको बड़ा सताया! कभी गरमी-सर्दी, सुख-दुःख आते-जाते हैं; संयोग-वियोग, जन्म-मृत्यु ये सब होता हुआ-सा मालूम पड़ता है। इसमें जब तुम लिप्त हो जाते हो, अपनेको संगी मान बैठते हो कि 'मेरे साथ सुख-दुःख चिपक गया' यही लेप है।

यह आत्मा देहसे, दुःखसे, लोकसे, सर्वभूतसे बाह्य है। यह आकाशवत् स्वतः सिद्ध है। लोक-दुःखके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

११. आत्मदर्शी नित्यसुखी

संगति :

एकादश, द्वादश और त्रयोदश, इन तीन मन्त्रोंमें एक ही प्रयोजनकी पूर्तिके लिए तीन बातें बताते हैं। ११वें मन्त्रमें बताया है कि **न लिप्यते लोकदुःखेन** अर्थात् संसारके दुःखसे वह दुःखी नहीं होता, 'मैं दुःखी हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करता। अब १२वें मन्त्रमें बताते हैं कि **तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्**। अर्थात् उन्हें सुखकी प्राप्ति होती है यानी दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। १३वें मन्त्रमें 'शाश्वत शान्ति'की प्राप्ति कही गयी है। तीनों प्रयोजनोंको दृष्टिमें रखकर यहाँ परमात्माके स्वरूपका निरूपण कर रहे हैं। वास्तवमें प्रयोजन तीन नहीं, एक है। प्रयोजन

यानी जिसे जानकर हम उसे अपने लिए ही चाहें : **अवगतं तद् आत्मनि इष्यते** । वह हमसे कभी दूर न हों । दुःखकी निवृत्ति होने पर हम चाहते हैं कि सदैव बनी रहे, फिरसे कभी दुःख न आये ! सदैव सुख और शान्ति रहे, यह भी हम चाहते हैं । शान्ति, सुख और दुःखनिवृत्ति तीनों तीन नहीं, एक हैं । जबतक वस्तु आत्मसात् नहीं हो जायगी, तुम वही वस्तु न बन जाओगे तबतक वह तुमसे दूर ही रहेगी ।

आत्मा निर्विक्षेप, शान्त और निराकार है, इसका अनुभव करना हो तो नमूनेके रूपमें समाधि है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यह अनुभव करना हो तो द्रष्टारूपमें अपना अनुभव करो । आत्मा परमानन्द-स्वरूप है, यह अनुभव करना हो तो परम प्रियतमके रूपमें ईश्वरका दर्शन करो । ये तीनों अलग-अलग कबतक हैं ? जबतक कि अज्ञान है । अज्ञान मिट गया तो समाधि और विक्षेप, द्रष्टा और दृश्य, प्रेमी और प्रियतम अलग-अलग नहीं रहते । फिर चाहे खेलो, खाओ, हँसो या गाओ :

> एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
> एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
> स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

जो एक, सबको अपने अधीन रखनेवाला और सम्पूर्ण भूतोंका अन्तरात्मा अपने एक रूपको ही अनेक प्रकारका कर लेता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्मदेवको जो धीर (विवेकी) पुरुष देखते हैं, उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है औरोंको नहीं ॥१२॥

परमात्मा एक है, प्रातीतिक अनेकतामें एक। अनेककी अपेक्षासे एक है। एक तो प्रकृतिको भी कहा जाता है :

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्।

हिरण्मगर्भको भी एक कहा जाता है :

हिरण्यगर्भः समदर्थताग्रे भूतस्य जातः पतिः एक आसीत्।
ईश्वरको भी एक कहा गया है।

वास्तवमें अनेककी अपेक्षासे ही एक शब्दका प्रयोग होता है। गेहूँका तना एक-दो हाथ लंबा होता है। जड़में बीज लेकर निकलता है। उसके सिरेपर भी गेहूँ निकलता हैं। तो क्या तना कारण और गेहूँ कार्य है ? नहीं। कार्यका लक्षण है कि वह अपने कारणमें लीन हो जाय। गेहूँका तना गेहूँके बीजमें तो लीन नहीं होता। अथवा—तना कारण और ऊपरवाला गेहूँका बीज कार्य मानें तो ऊपरवाला गेहूँ तनेमें लीन नहीं होता। सच तो यह है कि गेहूँ भी कार्य-कारण नहीं है और तना भी नहीं। एक पंचभूत है। उसीमें दोनोंका आकार-प्रकार उठता-मिटता है। गेहूँका उपादानकारण तना नहीं और न तनेका उपादान गेहूँ-बीज। तना और बीज दोनों पंचभूतरूप ही हैं। जलाने पर दोनों की राख ही रहेगी और वह राख ही उन दोनोंका मूल उपादान-कारण है।

जिसे यह संस्कार है कि एकमें से अनेक निकलता है, उसीकी बुद्धिमें कार्य-कारण-संस्कार है अर्थात् अध्यास-अध्यारोप है। जैसे पंचभूतमें गेहूँ और तना कार्य और कारण नहीं, पंचभूत ही हैं वैसे ही जगत्‌के मूलतत्त्वमें कारणावस्था 'प्रकृति' और कार्यावस्था 'जगत्' नहीं है। कार्य-कारणकी कल्पना बुद्धिमें विशेष प्रकारका

संस्कार डालनेपर मालूम पड़ती है। क्या तुमने प्रकृतिको बुद्धिसे देखा ? बुद्धि जहाँ रहती है, वहाँ प्रकृति तो रहती ही नहीं। बुद्धि तो उदित होती है, वह प्रकृतिका कार्य है। जहाँ प्रकृतिकी मूलावस्था, साम्यावस्था है, वहाँ बुद्धि नहीं है। जहाँ बुद्धि है, वहाँ साम्यावस्था स्थगित हो चुकी है। फिर दोनोंमें कार्य-कारण सम्बन्ध कैसे मालूम हुआ ? यदि कहो, अनुमानसे, तो अनुमानके लिए भी कोई व्याप्तिग्रहण करनेवाला, देखनेवाला होना चाहिए। यहाँ न तो कार्यजगत् है और न कारण-प्रकृति। एक ही परमात्मामें कार्य-कारण-संस्कारसे संस्कृत बुद्धि द्वारा कार्यत्व-कारणत्व दोनों आरोपित हैं। एककी अपेक्षासे अनेक, अनेककी अपेक्षासे एक—ऐसे एक-अनेकके संस्कारसे संस्कृत जिसकी बुद्धि है, वही इसकी कल्पना करता है।

किसीने सुन्दरदाससे पूछा : 'महाराज, परमात्मा एक है या दो ?'

सुन्दरदास : 'परमात्मा न एक है और न दो।'

एक और दो, यहाँ और वहाँ, दोनोंके अत्यन्ताभावका जो प्रकाशक है, वह परमात्मा है। परमात्मा न यहाँ है न वहाँ! यहाँ-वहाँके संस्कारसे संस्कृत बुद्धि वैकुण्ठ-स्वर्गकी कल्पना करती है। भूत-भविष्यके संस्कारसे संस्कृत बुद्धिमें स्मृति और कल्पना है। कार्य-कारण तो एक-अनेक हैं।

जो एक होकर भी वीर हो, स्वतन्त्र हो, उसे किसीकी सहायता नहीं चाहिए। उसकी बराबरीका कोई नहीं है तो उससे अधिक कहाँसे होगा ? वह एक ही है : न [illegible]कः कुतोऽन्यः।

वशी । (१) 'वश्' धातु अधीन करनेके अर्थमें है । इन्द्रियाँ जिसके वशमें रहें, उस महात्माको 'वशी' कहते हैं ।

(२) वशी=कमनीय, सुन्दर । कठके प्रारम्भमें 'ऊषन्' है, यानी 'वश'के 'व'का 'उ' हुआ है । उसका वशी ही अर्थ है । यह परमात्मा किसीके वशमें नहीं, सब उसके वशमें हैं ।

मनुष्य समझता है कि अमुक प्रकारकी विशेष स्थितिके बिना हम कैसे रहेंगे ? पर उसकी यह विचार-शैली गलत है ।

पाकिस्तानमें एक पत्थरका बहुत बड़ा व्यापारी था । बड़े सुखसे रहता था । लेकिन अब उसका लाखों रुपयेका व्यापार, दूकान, सामान सब वहाँ छूट गया । वह फटा-मैला कपड़ा पहनता और वृन्दावनमें रहता है । यदि समृद्धिकी स्थितिमें उसे यह कल्पना होती कि 'हम फटी धोती-कोट पहनेंगे और गली-गली घूमेंगे' तो निश्चय ही कहता : 'हाय-हाय, हम मर जाना पसन्द करेंगे, पर वैसे नहीं रहेंगे ।' लेकिन अब कहता है : 'भगवान्ने बड़ी कृपा की । हमारा वह राजसी ठाट-बाट छूट गया । दिन भर रुपये-पैसेका चक्कर छूट गया ! व्यापार छूट गया । भगवान्ने बड़ी कृपा की कि पाकिस्तान बन गया । आपका सत्संग मिला, वृन्दावनका वास मिला । इसीमें बड़ा आनन्द और शान्ति है ।'

जो लोग यह समझते हैं कि हम ऐसी ही परिस्थितिमें रह सकते हैं, वे मछली थोड़े हैं कि पानीके बिना न रह सकें ? एक मकान नहीं तो दूसरे मकान में रहेंगे ! एक शरीर नहीं तो दूसरे शरीरमें रहेंगे । बिना शरीरके भी रहेंगे !

वशी यानी यह आत्मदेव बड़े मजेदार हैं । श्री शंकराचार्य कहते हैं : '**वशी—सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते** ।

महाभारतमें वशीका अर्थ आया है :

जगद्वशे वर्तते यः कृष्णस्य सचराचरम् ।

माण्डूक्य-उपनिषद्के भाष्यकी आनन्दविज्ञानाचार्यकृत टीका में तुरीयका वर्णन किया गया है। विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, तुरीयको नमस्कार किया है : **कृष्णनाम धृते नमः ।**

माण्डूक्य-उपनिषद्में जिसका 'तुरीय' कहकर वर्णन किया गया, उसीका एक नाम है 'कृष्ण'। महाभारतमें वशीकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि नामका आग्रह होनेपर ब्रह्म नाम सुनते-सुनते ब्रह्म नामका संस्कार हो जाता है। 'कृष्ण' नाम भी वैसा ही है।

प्रातःकाल रेडियोमें आवाज सुनी : सैनिकोंका प्रोग्राम— 'होशियार, होशियार, होशियार! सरहद के उसपार दुश्मन मँडरा रहे हैं।' सैनिकोंमें उत्साह-जोश जगानेका हो इसका तात्पर्य है। जिसका जैसा निर्माण करना हो, उसके मनपर वैसे ही शब्द, भाव और रूपोंके संस्कार डालने चाहिए। इसीको साधना, भजन या प्रक्रिया कहते हैं। उसका संस्कार गाढ़ा, परिपक्व होने दो।

'वशी—अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम् ।'

शरीरके भीतर रहकर जीवात्मा हाथपर शासन करता है कि 'उठ, झुक, शान्त बैठ।' वह शरीरके अवयवों पर शासन करता है। पाँवसे कहेगा : 'चल'। जीभ से कहेगा : 'बोल'। आँख से कहेगा : 'उधर देख।' वेदमें कहा गया है : 'परमात्मा सम्पूर्ण प्रपंचका शास्ता है।' वहाँ अनुशासन शब्द है इस अर्थमें।

गुरु नानकने कहा : 'परमात्मा हुक्मी है। उसका हुक्म सारी दुनिया पर चलता है।'

यस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।

अर्थात् सूर्य और चन्द्र जिसके प्रशासनमें धृत हैं, वह वशी है । इसकी राजधानी कहाँ है ?

यह एक है—बेजोड़, अनुपम, अद्वितीय, सर्वोपरि ।

यह करता क्या है ? सबको अपने वशमें रखता है, जैसे शरीरमें जीव !

सर्व देश-काल-वस्तु सम्पूर्ण विश्वमें ईश्वर कहाँ बैठकर शासन करता है । हृदयमें ही रहता है । इसकी राजधानी स्वर्ग,ब्रह्मलोक या वैकुण्ठ नहीं, हमारा हृदय ही है; क्योंकि वह है सर्व-भूतान्तरात्मा ।

यह कैसे सबको वशमें रखता है ? सर्वभूतान्तरात्मा जो है ।

बृहदारण्यक उपनिषद्के छठे अध्यायमें नियम्यनियन्ताके वर्णनमें 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' वैष्णवोंका प्रिय प्रसंग है ।

सर्वान्तरात्मनि सर्वं नियमयति असौ
यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीं यमयति ।
पृथिवी यस्य शरीरम् । यं पृथिवीं न वेद ।

अर्थात् जो पृथ्वीमें रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, उसे काबूमें रखता है, पृथ्वी जिसका शरीर है, पृथ्वी जिसे नहीं जानती ।

एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः ।

यह कौन है ? जलमें रहकर जलका नियन्ता है, जल उसका शरीर है । जल उसे नहीं जानता है । अग्नि, वायु, आकाश, विज्ञान सबका वह नियन्ता है । सब उसके शरीर हैं । वे उसे नहीं

जानते। समष्टिमें जो शास्ता परमेश्वर है, वही तुम्हारा भी अन्तर्यामी है, आत्मा है, अमृत है।

परमात्माको कहाँ ढूँढ़ें? शरीरके भीतर, हृदयमें। इसीका नाम है हृत्=हरि, हर, रहीम, रहेमान, ह्रीम्। हृत्=हरण करनेवाला। हरति=जो संस्कारोंका आहरण करता है। आँखसे आज सबेरेसे हमने क्या-क्या देखा, इसे हम याद करें तो भीतरसे निकालकर देख सकते हैं। आज सबेरे मैंने वृक्षका, ठाकुरजीका फूलका, मंदिरका दर्शन किया। कमरेमें बैठकर फिरसे हम दिलसे निकालकर देख सकते हैं—अव्यक्तको व्यक्त कर सकते हैं। वे कहाँ रहते हैं कि व्यक्त होते हैं?

पाँचों इन्द्रियोंसे गृहीत विषयोंके संस्कारोंका स्थान 'हृत्' है। इन्हें निकालें। कितने तमाशे इसमें भरे हैं? नये-नये संस्कार-दृश्य आ रहे हैं और कितने आगे देखेंगे, किन्तु देखनेवाला एक है।

'हृदये-हृदयाख्ये' इस एकको हृत्-अहमर्थ कहते हैं। इस हृदयके रहनेपर ही तो सारी सृष्टि भासती है। इस प्रक्रिया पर विचार करो। 'इदम्-इदम्' के रूपमें जो कुछ मालूम पड़ता है, 'वह-वह'के रूपमें, जगत्-ईश्वरके रूपमें जो कुछ मालूम पड़ता है, वह हृदयको ही 'अहम्'के होनेपर ही मालूम पड़ता है। ईश्वर वंशीधारी, धनुषधारी, शान्त कपिलरूप, अवधूत दत्तात्रेय, साकार, निराकार है। यह हृदयमें ही मालूम पड़ता है। अच्छा-बुरा भी हृदयमें मालूम पड़ता है। सबके शरीरोंमें अलग-अलग हृदय मालूम पड़ता है। सबके हृदयमें हृत्-नामक पदार्थमें जो एक है, उसे खोजो।

कल रातको मैं 'रमण-गीता' देख रहा था। उसके नवें अध्यायमें एक श्लोक आया : **पामरैखि रूपादि**। जैसे संसारके पामर मनुष्य देखते हैं, ये शब्दादि विषय हैं, स्त्री-पुरुष हैं, बाहर-भीतर, अपना-पराया 'अहम् इदम्' सबमें ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्मको, आत्माको ही देखता है : **ब्रह्मैव दृश्यते, आत्मैव दृश्यते**। क्या सुन्दर रागद्वेष-रहित समत्वका–अभेदका दर्शन है। सर्वभूतकी अन्तरात्मा है !

यतः एकमेव सद् एकरसं आत्मानं विशुद्धविज्ञानघनरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधा अनेकप्रकारेण यः करोति।

सर्वभूतान्तरात्मा। वह सबके भीतर बैठा हुआ है और एक है। सत्स्वरूप, विशुद्धविज्ञानघन और अपना आत्मा है।

एक बात ध्यानमें रखें। मिट्टीके बने सकोरे आदिको देखें तो मिट्टीकी सत्ताको देखेंगे और आप केवल देखनेवाले होंगे और वह सत्ता आपसे अलग होगी। सत्ता निर्विशेष है, और देखनेवाला भी निर्विशेष। निर्विशेष-निर्विशेषमें भेद नहीं है।

सत्ता आत्मासे पृथक् नहीं है और न आत्मा सत्तासे पृथक् है। जो सत् है, वही विज्ञानघन आत्मा है और जो विज्ञानघन है, वही सत्ता है और वही एकरस।

कोई कोई कहते हैं : 'हमने अद्वितीय ईश्वरको पा लिया।'

'कैसे ?'

'अद्वितीयके रूपमें पाया।'

मैं पूछता हूँ : 'खोया कहाँ था कि पाया ?'

एक बात गंभीर विचार करनेकी है। यदि तुम ईश्वरमें मिलोगे तो कभी निकल भी आओगे। यही उपासना धर्म है। जब

अणु अनन्तमें मिलेगा तो वह अपने आत्मत्वका नाश नहीं कर सकता। वह उससे निकल भी आयेगा। लेकिन यदि अनन्त अपने-में मिल जाय तो अणुत्व फट जायगा, नष्ट हो जायगा। आत्मा अनन्त है, अणुत्व भ्रान्तिवश और औपाधिक है।

वेदान्तका विचार यह है कि देश-काल-वस्तुकी समष्टिके संचालनका जो अन्तर्यामी ईश्वर और समष्टि है, दोनों हमारी दृष्टिमें है। इसीलिए यह एक दृष्टिकोण मात्र है कि यह जगत् जड़ है और इसका निर्माणकर्ता ईश्वर चैतन्य है। जिसका दृष्टिकोण है, दृष्टि उससे पृथक् नहीं है। इसलिए दृङ्मात्र आत्मवस्तुके सिवा दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है।

एकं रूपं बहुधा यः करोति। नामरूपादि अशुद्ध उपाधियोंके वश वही अपने आपको बहुधा कर रहा है। जड़का बहुधा होना और चेतनका बहुधा होना, अलग-अलग है। जो अपनेसे अन्य होता है, सममुच वह बहुत होता है। अपना आपा, चैतन्य बहुत हो गया, यह कभी किसीके अनुभवका विषय नहीं होता। किसीको यह मालूम नहीं पड़ता कि 'मैं अनेक हो गया।'

एक जोगी था। वह अपनेको अनेक कर लेता था। वास्तवमें वह था तो एक ही, पर अपनेको अनेक रूपों में दिखा देता था। बीचमें एक मूर्ति और उसके चारों ओर चार शीशे रख दें तो वह एक ही मूर्ति चार रूपोंमें दीखती है पर क्या वह चार हो जाती है? नहीं, वह तो एक ही रहती है।

एकबार ईश्वरके मनमें इच्छा हुई कि हम अपना आनन्द बढ़ायें, जरा स्वयंको फैलायें! किन्तु उन्हें फैलनेके लिए स्थान ही नहीं मिला, क्योंकि जितना स्थान था वह तो ईश्वरके आनंद-से पहलेसे ही भरा था। ईश्वरने सोचा: 'अच्छा, हम अपनी

आयु बढ़ायेंगे।' पचासकी जगह सौ वर्ष कर लें तो भोगका आनन्द दूना हो जाय! पर उन्हें कालके पेटमें कहीं जगह ही नहीं मिली। वह तो पहलेसे ही भरा था। तब वे सोचने लगे: 'किसी वस्तुके रूपमें हम आनन्द बन जायँ तो हमारा आनन्द और बढ़ जायगा!' उन्होंने देखा, सारी वस्तुएँ उनसे पहलेसे ही भरी थीं। अब ईश्वरके पास ऐसी कोई युक्ति नहीं कि वह अपने आनन्दको लम्बा-चौड़ा करे, घनीभूत करे या उसकी आयु बढ़ाये, क्योंकि नाशवान् आनन्द था ही नहीं? तब उसे बड़ा दुःख हुआ। दुःख न हो तो आनन्द न आये।

कृष्ण भगवान् माँका दूध-माखन खाना चाहते और न मिलनेपर रोते थे, क्योंकि दुःख हुआ! ऐसे ही ईश्वरको भी अपनी इच्छा पूरी न होनेसे दुःख हुआ तो बोले: 'हाय-हाय, इतने ज्ञान-वान्-ज्ञानस्वरूप होकर भी हमें यह युक्ति नहीं आती कि हम अपने आनन्दको बढ़ायें! यह तो हमारे ज्ञानमें ही कमी हुई! अच्छा, हम अपना ज्ञान ही बढ़ा लें।' लेकिन सब देश-काल-वस्तु पहलेसे ही ज्ञानसे भरपूर थे। इसलिए ईश्वरने संकल्प किया: 'अब हम स्वयं ही बढ़ जायँ।'

अभिप्राय यह कि आनन्द और ज्ञानके सिवा ईश्वर कुछ है ही नहीं, तो वह क्या बढ़ेगा? वही सत् है। ईश्वरको यह दुःख हुआ कि 'न हम अपना आनन्द बढ़ा सकते हैं, न अपने आपको और न अपने ज्ञानको। हम बिलकुल निर्विशेष, निर्वृत्तिक निष्क्रिय हो गये तो किस कामके रहे?' तब उनके मनमें एक युक्ति सूझी— 'हम तो ज्यों-के-त्यों रहें। सत्-चित्-आनन्द, आनन्द-चित्-सत्, चित्-सत्-आनन्द। लेकिन इसके अनुभव करनेवाले करणोंको कई कर दिया जाय।'

अगर मूर्ति अनेक नहीं हो सकती है तो शीशे अनेक कर दिये जायँ, अन्त:करणकी अनेकता कर दी जाय। ईश्वरने अनेक अन्त:-करण क्यों बनाये? सभी आनन्द लें इसीलिए। कभी चींटा बनकर चींटीके साथ शक्करका आनन्द लूटें, कभी नर चिड़ियोंके साथ मादा चिड़िया बनकर चहकें, कभी घोड़ा तो कभी गाय बनें! सभी अन्त:करणोंमें परब्रह्म परमात्माका अनुभव हो सकता है। दत्तात्रेय, व्यास, शुकदेव, कृष्ण, राम, जनक, शङ्कराचार्य बनकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे वह अपने आपको ही प्रकाशित कर रहा है।

'**रूपं रूपं बहुधा यः करोति।**' यह बुद्धिमानीकी बात हुई कि जब वह अपनेको बढ़ा नहीं सका, अपने स्वादको भी नहीं बढ़ा सका तो स्वाद लेनेके लिए इतनी जीभें बना दीं कि जो चाटे, जो उसीको स्वाद आये। जितने अन्त:करण अपनेको ब्रह्मरूपमें अनु-भव करें, उन्हें स्वाद आये। अन्त:करणरूप उपाधि द्वारा अपने आपको छोटे-बड़े, ज्ञानी-अज्ञानी, सुखी-दु:खी रूपमें वही अनुभव कर रहा है। वह अनेक रूपोंवाला है।

'निरुपादान सम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

कैसी अद्भुत कला है! न भीत, न रंग, न तूलिका, न शरीर-धारी रचयिता, और अपने आत्मामें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका चित्र दिखाई पड़ रहा है! यह चित्रकला आनन्दकलाका दृष्टिकोण बताता है: **एकं रूपं बहुधा यः करोति।**

आप जानते होंगे कि ये चित्र लेनेमें अत्यन्त निपुण लोग सामने दीखनेवाले खंभेका ऐसा चित्र ले लेते हैं कि बिलकुल छोटा मालूम पड़े अथवा ४००० फुट ऊँचा मालूम पड़े। यह कैमरेका

कोण लेनेकी युक्ति है। इससे मोटीको दुबली, नाटीको ऊँची या कालीको गोरी भी दिखाया जा सकता है। पर क्या उसमें वस्तु बदल जाती है? नहीं, वस्तु ज्यों-की-त्यों रहती है, उसके फोकस-की यह करामात है।

तुम जैसे हो वैसे ही ब्रह्म है। एक ही आत्मदेवने अपनेको नाना रूपोंमें दिखा रखा है।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। ज्ञानकी अखण्डता, सत्ताकी परिपूर्णता और प्रत्येक दुःखके हृदयमें जो सुख छिपा है उसे देख लो। **तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः।** अपने शरीरमें ही देखो। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं: **'तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेण अभिव्यक्तम्।**

मनमें देह है या देहमें मन? चार्वाक और मार्क्स कहते हैं: देहसे मन बनता है, देहमें मन बनता है और देहकी मृत्युके साथ वह मर जाता है।'

विज्ञानवादी: 'मनसे देह बनती है यानी विज्ञानसे देह बनती है।'

जैन: 'देह और मन दोनों एक ही है।' न देहसे मन बनता है और न मनसे देह। मन ही घटता-बढ़ता और स्थूल-सूक्ष्म होता रहता है। यही चींटी-हाथी होता रहता है इसे आत्मा कहते हैं।

यहाँ मनकी बात है। वेदान्त यह नहीं कहता है कि मनसे ही देह बनती है या देहसे ही मन। वह दोनों स्वीकार करता है। त्रिसत्तावादी या आभासवादी कहते हैं: 'बाह्य पदार्थ हैं तब मालूम पड़ता है। सत्ता है तो प्रतिभास है।'

दृष्टि-सृष्टिवादी कहते हैं: 'पहले दृष्टि है तब सृष्टि। दोनों समान ही हैं।

वेदान्तमें आत्मसत्तावादी मानते हैं : 'न देहमें चित्त है, और न चित्त में देह। देह है तो देहमें बाँयी ओरसे चलनेवाली सुषुम्ना नाड़ीमें अनाहत चक्र है और दायीं ओर हृदय है। योगमें अनाहत-चक्र मानते हैं जिसे कुंडलिनी खाती चलती है—मूलाधार, मणिपूरक, स्वाधिष्ठान, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रको खाया और सहस्रारमें जाकर लीन हो गयी। कुंडलिनी जिस चक्रको खाती है, वह हृदय नहीं, हृदय बिलकुल अलग वस्तु है। योगीके अनाहतचक्रको कुंडलिनी खा जाती है तो भी वह हँसता-बोलता, खाता-खेलता रहता है। यह सारा व्यवहार हृदयसे होता है।

तात्पर्य यह है कि तुमने अज्ञानसे शरीरको अपना मैं मान रखा है, उसके भीतर ही उसे देखना है। मांसपिण्डमें नहीं, अपने शरीरमें हृदय है, हृदयमें आकाश है, आकाशमें बुद्धि और बुद्धिमें जो चेतनता भासती है, जिसका आभास बुद्धिमें अभिव्यक्त हो रहा है, उसे देखो। आत्माका आधार शरीर नहीं। घड़ेका आधार आकाश है, वैसे ही देहरूप घड़ेका आधार आत्मा है :

मयि पूर्णे महाम्भोधौ अनन्ता विश्ववृत्तयः।
उद्यन्ति, घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥

मैं हूँ एक महान, अनन्त महासमुद्र ब्रह्म, आत्मा। पृथ्वी नहीं, मनुष्य-शरीर नहीं, धीर पुरुष जिसे देखते हैं :

पश्यन्ति तमनुपश्यन्ति।

वे उसकी दृष्टिसे अपनी दृष्टि मिलाकर देखते हैं।

तुम जिस किसी इष्टदेवतासे प्रेम करते हो—राम, कृष्ण या शिवसे, उसकी दृष्टिसे दृष्टि मिली या नहीं ? इसके मानी यह नहीं कि वह सामने खड़ा है और हम उसे देखें, और वह हमें देखे।

चार आँखें होनेका अर्थ है जिस दृष्टिसे तुम्हारा इष्टदेव विश्वको देखता है उस दृष्टिसे तुम विश्वको देखते हो या नहीं ? वह जिसे प्यार करे उसे तुम प्यार करते हो या नहीं ? वह जिसे अपने दिल-में धरता है, उसे तुम अपने दिलमें धरते हो या नहीं ? यदि दृष्टि नहीं मिली तो अपने प्रियके प्रति तुम्हारा प्रेम न्यून है।

एक बार कोई आन्दोलन छिड़ा था। सब भगत लोग टूट पड़े। हम तो ठहरे भारी-शरीरके व्यक्ति ! किसीसे लड़ाई भी न कर सके। और कोई मारे तो भाग भी न सकें ! कैसे कूदें ? किसी-ने हमसे पूछा : 'तुम आन्दोलनमें क्यों नहीं गये ?'

मैंने कहा : ये लोग भगत तो हैं बड़े-बड़े, पर दिन-रात भग-वान्‌के कान खाते रहते हैं कि 'हे ईश्वर, तुम यह कर दो, वह कर दो ! ये ईश्वरसे अपने मनका काम करवाना चाहते हैं। हम इस प्रतीक्षामें हैं कि ईश्वर हमसे कहे कि तुम हमारा काम कर दो। हम क्यों ईश्वरसे कहेंगे ?'

श्रीउड़िया बाबाजीसे कभी कोई बात होती तो वे कहते : 'ईश्वरको कुछ करना हो तो हमसे पूछकर करे, हम उससे पूछने नहीं जायँगे।'

मूल बात यह कि तुम ब्रह्मसे मिल गये या नहीं ? क्या उससे एक हुए ? अधिष्ठानकी दृष्टिमें जैसा अध्यस्त है, रज्जु-उपहित चैतन्यकी दृष्टिमें जो रज्जु और सर्पका स्वरूप है, वही तुम्हारी दृष्टिमें विश्वका स्वरूप है या नहीं है ? क्या तुम कह सकते हो कि 'विश्वप्रपंच जैसे ब्रह्मदृष्टिमें है, वैसा ही मेरी दृष्टिमें है ?

एक बार किसीसे हरिबाबाजीने कहा : 'जब मालिकके सामने हो रहा है, तो हम कानून अपने हाथमें क्यों लें ? उसीके हाथमें

रहने दें !' क्या शान्ति है ! यह धीर पुरुषोंका काम है, कच्चे लोगोंका नहीं।

बृहदारण्यक उपनिषद्ने कहा है : 'धीर पुरुष अपनेको जान-कर अपनी प्रज्ञाको उसमें लगा दे। तन-मनको ठीक करे, वे लोग इसे देखते हैं : 'दधति इति धीराः; धत्ते इति धीराः।' जो वासना-के पीछे-पीछे भटकते हैं, भ्रान्त हैं, वे नहीं देख सकते।

तुम इतने छोटे नहीं हो। तुम्हारे जीवनमें शाश्वत सुख है। सुषुप्तिकालमें तुम बिना किसी कर्म, भोग, द्रव्य, अन्तःकरण और इन्द्रियके सुखसे सोते हो। तुम्हारे पास यह कुछ न हो, तो क्या तुम जाग्रत्कालमें भी उस सुषुप्तिका आनन्द नहीं ले सकते ?

हमें एक महात्माने बताया : 'बैठो, जाग्रत्में और ध्यान करो सुषुप्तिका ! आनन्द आ जायेगा ! उस समय वहाँ कुछ न होने पर भी तुम जैसे सुषुप्तिमें अत्यन्त शान्तिमें सुखस्वरूप रह सकते हो, वैसे ही जाग्रत्में क्यों नहीं रह सकते ?'

यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

अर्थात् जिसे जाग्रत्-अवस्थाकी देहका अभिमान नहीं, जिसके बोधमें वासना नहीं वह 'जीवन्मुक्त' है।

रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तरे व्योमवत्स्वच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

मलिन आकाशमें कभी-कभी तूफान, वर्षा, सर्दी-गरमी आती-जाती रहती हैं, पर निर्मल आकाशकी तरह जीवन्मुक्तके हृदयमें कुछ नहीं होता—न राग-द्वेष और न भयादि अन्य विकार।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः ।

श्रुतिने बताया कि धीर पुरुष अधिकारी है। वह गरमी-सर्दी, संयोग-वियोग जैसी हवा बहे, उसे सह लेता है। यदि कोई गाँवमें रोनेवाले प्रत्येक बच्चेको चुप कराने दौड़ा जाय तो वह पूजा-ध्यान क्या करेगा ? बच्चोंको चुप करानेवाली धाय दूसरी होती है और ईश्वरकी ओर चलनेवाला दूसरा। दुनियामें कहीं न कहीं महामारी, रोग, बाढ़ आदि संकट उपस्थित होते ही रहते हैं। उनमें सेवाका विभाग भी अलग है। बीमारोंकी सेवाके लिए रामकृष्ण मिशन है, कोढ़ियोंकी सेवाके लिए कुष्ट-सेवाश्रम है, विधवा और अनाथको खिलाने-पिलानेके लिए अनाथाश्रम है। समाजसेवा और अध्यात्मकी अनुभूति एक वस्तु नहीं। जो पृथ्वीके लिए आर्थिक कार्यक्रम बनायेगा, उसका ध्यान अर्थके उत्पादन-वितरण और विनिमय-उपयोगमें ही जायगा। हम इन सब बातों-को भुगत चुके हैं।

पहले-पहल हम 'ब्राह्मण महासम्मेलन'में सम्मिलित हुए। धर्मके निर्णयके लिए काशीमें बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ था। सारे भारतवर्षके बड़े-बड़े संस्कृतके विद्वान् आये थे। मालवीयजीकी 'सनातन-धर्मसभा देखी, लक्ष्मणशास्त्रीका 'वर्णाश्रम-स्वराजसंघ' देखा, कितनी सेवासंस्थाएँ और राजनीतिक पार्टियाँ देखीं। आश्चर्यकी बात यह कि हमारी जन्मभूमिमें ही कई पार्टियाँ हैं— कृषक, कम्यूनिस्ट, जनसंघ, काँग्रेस। सब पार्टीवाले अपनी सदस्य-सूचीमें हमारे पुत्रका नाम रखते हैं। वह लष्टम्-पष्टम् सबमें होगा, ऐसी बात नहीं, वह किसीमें नहीं है। दूसरे लोगोंको प्रभावित करनेके लिए वे गुरुजीका नाम रखते हैं। पाँच वर्ष पहलेके चुनाव-

मे और अबकी बारके चुनावमे भी वे बम्बई आये थे। लेकिन चुनावमे पोल खुल जाती है कि वे किसी पार्टीमे नही हैं।

साराश, ऐसी कोई पार्टी या कोई समाज नही, जिसमे सभी ईमानदार ही हो। वहाँ सब प्रकारके लोग रहते हैं। हमारा अनुमान है कि अधिकतर स्वार्थी लोग ही अपना समाज बनाते हैं। शेरको 'समाज' बनानेकी आवश्यकता नही होती, वह अकेला विचरण करता है। शङ्कराचायने संन्यासियोका सगठन नही किया, बादमे उनके नाम पर हुआ। रामकृष्ण परमहसने 'मिशन' नही बनाया, उनके बाद लोगोने बनाया। ईसाने ईसाई समाजका संघटन नही बनाया था। दो हजार वष पहले ईसा हुए। आज करोडो ईसाई हैं, पर दो हजार वषमे उन करोडो ईसाइयोने मिलकर भी दूसरा ईसा पैदा नही किया, हजारो बरसमे मुसलमानोने मिलकर दूसरा 'मोहम्मद' पैदा नही किया। महापुरुष संघटन, चरित्र, सद्भावना, सद्विचारके बल पर निकलता है। वह अव्यक्त सेवक होता है।

धीरा —धीर पुरुष हर हवाके झोकेमे उडनेवाला नही होता। वह हर गरमीमे जलनेवाला, हर ठंडीमे ठडा पडनेवाला या हर समस्यामे उलझनेवाला नही होता। धीर होओ यानी बरदाश्त करो, प्रतीक्षा करो।

अपने हृदयका धैर्य कभी नही छूटना चाहिए। पितामहके मुर्देको श्मशानमे डाल आओ और पौत्रके होनेकी आशा करो। धैर्यका अर्थ है जो होता है सो होने दो। कहा जाता है तो कहा जाने दो। किया जाता है तो किया जाने दो। तुम अपने आपमे, आत्मामे, अपने ढगमे धैयमे विराजमान रहो।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

जिसके पास धन इकट्ठा हो गया है, उसे दूसरोंको धन बाँटना चाहिए। दवा-औषधि इकट्ठा हो गयी है तो उसे दूसरोंको बाँट देनी चाहिए, लेकिन अपने दिलको बचाकर देनी चाहिए।

नहि जागतिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि।
अशोच्यं प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम् ॥

अपने शास्त्रका निर्णय यह है कि सारे देशका दुःख एक आदमी अपने नन्हेंसे दिल-दिमागमें न ले। बिना शोक-मोहको अपने हृदयमें लाये, दूसरोंकी जितनी भलाई कर सकें, उतनी करें, परन्तु हृदयका धैर्य न छूटने दें। तब आप देख सकेंगे कि अपने भीतर क्या है?

एक अवकाश है और वहाँ चिद्-व्याप्त बुद्धि स्फुरित होती रहती है। वहाँ व्याप्त चैतन्यको पहचानोगे तो सम्पूर्ण विश्वसृष्टि-का रहस्य जान लोगे। न पहचानो तो?

आत्मस्थम्। आत्माका आधार शरीर नहीं है। घडेमें पानीकी तरह शरीरमें आत्मा नहीं है। शरीरकी उपाधिसे भीतरका अवकाश घिरा नहीं है, घिरा हुआ-सा मालूम पडता है।

अनुपश्यन्ति। अनुदर्शन यानी विषयीकरण नहीं। 'दृश्' धातुको ही 'पश्' आदेश होता है। धातु क्रियात्मक नहीं है। दृश्=दर्शन, ज्ञान, अनुभव। वह क्रियाका रूप ग्रहण करने पर विवर्त हो जाती है। रज्जुमें विवर्त होनेसे साँप दीखता है। दृश् होती है, दीखती है पश् यह नियम व्याकरणमें सर्वत्र—एक-एक शब्दमें है।

'अहम्' एकवचन है, द्विवचन और बहुवचनमे वह लापता हो जाता है—'अहम्, आवाम्, वयम्।' इसी तरह 'त्व, युवाम्, यूयम्'—बहुत्वके साथ ही तुम, एकत्वका दशन शान्त हो जाता है। साख्य वस्तु रूपका व्याकरण है तो पाणिनीय शब्दका, नाम का। उपनिषद्मे दोनोका व्याकरण है नामरूपे व्याकरवाणि। यानी शब्दका विशेष आकार—जैसे राम रामौ रामा। दोनो वेदान्तके आधारपर विवतका ही प्रतिपादन करते है।

अनुपश्यन्ति=अनुदर्शन। एक लौकिक दशन होता है, जैसे यह घडी दीख रही है तो घडी दृश्य हो रही है, दर्शन दृश्य द्वारा वह देखी जा रही है। आत्मा जो परमात्मा ही है, घडीकी तरह किसी इन्द्रिय या मनोवृत्ति द्वारा तो क्या, स्वयं द्वारा भी स्वयका विषय नहीं होता। उसका ज्ञानस्वरूप, दृश्यसे विलक्षण-स्वरूप होना ही उसका दशन है।

एक बार बडी हँसी हुई। एक सज्जन गये थे उत्तरकाशी लौटकर आये तो बोले 'हमे मई महीनेकी दस तारीखको दस बजे दिनमे ब्रह्मानुभूति हुई।'

वहाँ एक वृद्ध महात्मा थे। उन्होने कहा 'तुम्हारा वह अनुभव तो नष्ट हो गया।'

उन्होने पूछा 'कैसे?'

महात्मा 'अब तुम्हे उसकी याद आरही है। जिसकी याद आती है सो मर जाता है। कलकी, परोक्षकी, भूतकी, एक मिनट पहलेकी याद आज आती है। तो, तुम्हारा वह अनुभव मर गया।

सज्जन 'अच्छा, हमारा अनुभव मर गया?'

महात्मा 'हाँ, अनुभव तुम्हें दिनमें दस बजे हुआ तो अब क्या हो रहा है ? उस समय अनुभव पैदा हुआ और मिट गया। अब उसे याद कर रहे हो।'

स्वामी मंगलनाथजीके यहाँ सत्संग हुआ। वे भारतवर्षके बडे बडे ब्रह्मविदोमे शिरोमणि थे। बहुत अच्छे सन्त थे, ऋषिकेश-मे रहते थे। उन्होने कहा 'देखो, जो लोग कहते हैं कि हमे तो अनुभव हुआ, अब टिकता नही, या अनुभव तो हुआ, उसकी स्मृति नही रहती, इस पर विचार करो। जिस वस्तुका अनुभव होकर वह आँखसे ओझल, परोक्ष हो जाता है, उसकी स्मृति होती है।' जैसे, चौपाटी पर देखा था यहाँ याद कर रहे हैं। कल देखा था, आज याद कर रहे हैं। लाल पोशाक पहने कल देखा था और आज सफेद पोशाक पहने देखा तो याद आ गयी कि कल तो तुमने लाल पोशाक पहनी थी। अपना आपा—आत्मा क्या कल छूट-जायगा कि आज याद कर रहे हो ? यह क्या चौपाटी पर रह जायगा कि उसकी याद करोगे ? क्या कल उस आत्माकी पोशाक लाल थी और आज सफेद हो गयी है कि आज याद करोगे ?

मूल बात यह कि जहाँ स्मृति होती है वहाँ वस्तुका अपरोक्ष नही रहता। जहाँ वस्तुका अपरोक्ष रहता है, वहाँ स्मृति नहीं, अनुभव ही है। हम आप लोगोको देख रहे हैं, याद नही कर रहे हैं। जिसकी याद कर रहे हैं, उसे देख नही रहे हैं।

आत्मा कभी किसी देश काल-वस्तुके रूपसे नही रहता, वह तो अपना आपा है। जब अन्यका अनुभव होगा तो उसकी स्मृति रखनी पडेगी। एक दिन श्रीकृष्ण भगवान् आपको दर्शन देकर चले जायँ तब आपके हृदयमें उसकी स्मृति होती रहेगी कि अमुक

दिन मैंने अमुक आकारमे परमात्माको देखा था। वह आकार तो अब सामने नही है तो उसकी याद आयेगी—'अहा, वह मुरली, वह मुस्कान, वह चितवन, विशाल वक्ष स्थल, नृत्य, सगीत।' क्योकि वह आकार प्रकट हुआ था और निवृत्त हो गया तो स्मृतिकी धारा बनी रहेगी। भगवान् अन्य रूपमे आये थे, स्वके रूपमे नही। समाधिकी याद आयेगी कि कल लगी थी, द्रष्टाके स्वरूपमे बैठे थे, आज नही। कभी वैकुण्ठकी, अमेरिकाकी याद आयेगी कि कल गये थे। तुम आने जानेवाले नही हो, तुम द्रष्टा नही हो। इस समय तुम कौन हो? किस स्वरूपमे बैठे हो? जा वस्तु अन्य होती है, अन्य होकर परोक्ष होती है, जो स्वयप्रकाश अपना आत्मा नही होती, उसमे स्मृतिकी अपेक्षा होती है।

अपना आपा क्या है? पहले अपना आपा है, पीछे जगत् है। सब जगह, समय, वस्तु मालूम पडती है। जगहमे नही मालूम पडता, जगह इस आत्मासे मालूम पडती है। भेदभाव इस आत्मामे अध्यस्त या कल्पित है और इस आत्मासे प्रकाशित है। इसलिए कहा है 'आत्मस्थमनुपश्यन्ति।'

वह ईश्वर कहाँ है? ईश्वरमे तुम नही हो, तुममे ईश्वर है। तुम ज्ञानस्वरूप हो। तुम्हारे ज्ञानके एक विशेष रूपमे ईश्वर है, जीव है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं, प्रकृति है। ज्ञान बदलता हुआ तो नही होता वह ईश्वराकार, जीवाकार, प्रकृत्याकार नही होता। यह तो ज्ञानमे विवर्त हैं। तुम स्वयं ज्ञान हो और उसमे जीव ईश्वरका भेद, जीव-जगत्का भेद विवर्त है।

'अनुपश्यन्ति' आगे हम परमात्माको देखेंगे, ऐसी कल्पना नही है। जो स्वय है उसे कल्पनाकी अपेक्षा नही रहती। 'हम

पहले देख चुके हैं,' ऐसी कल्पना भी नही और 'इस समय हम विषयके रूपमें देख रहे हैं' ऐसी कल्पना भी नही। क्या तुम्हें अपना नाम याद है ? हर समय याद रहता है या भूल जाते हो ? कोई तुम्हारा नाम लेकर बुलाये तो क्या तुम नही समझते ? कोई तुम्हे दूसरा नाम लेकर बुलाये तो नही कहोगे कि 'माफ करना, हमारा नाम दूसरा है।' अपना आपा कभी नही भूलता, विस्मृतिका विषय नहीं होता, कभी याद नही आता, इसके बारेमें कल्पना नही होती और घट-पट-मठ आदिकी भाँति नही दीखता। यह यह स्वयं है और कोटि-कोटि कल्पात्मक कालका द्रष्टा है। कोटि-कोटि योजनात्मक देशका द्रष्टा है, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोका, पदार्थों-का द्रष्टा है। यह तो इन सबकी कल्पनाका भी द्रष्टा है। यह ज्ञान-स्वरूप है।

तेषां शान्ति शाश्वती नेतरेषाम्। शाश्वत-सुख यानी बिल्कुल गड़बडाना नही चाहिए। अपना नाम सुख है—तुम्हारा जागना-सोना, खाना पीना, हँसना-रोना, चलना-बोलना, सपना देखना, जन्मना-मरना सुख है। जो नाटक तुममे तुम्हे दीख रहा है, उसमें तुम सुखरूप ही हो।

हमने एक बार एक महात्मासे पूछा था 'महाराज, हमें गुस्सा आता है।'

वे बोले 'कमरा बन्दकर उसे पानी बनके बरस जाने दो। रो लो, तुरन्त हल्कापन मालूम पडेगा। आग पानी हो गयी तो गुस्सा ठण्डा पड जायगा।'

रोनेमे शरम आती है ? कभी-कभी तो रोना न आये तो बडा

दु ख होता है। हमे किसीने बताया था 'हम मालमपुर्सीको गये, पर हमे रोना नही आया। हमने अपने दु खकी याद की, फिर भी रोना नही आया तो बडी तकलीफ हुई।

दुश्मनके मरनेका नाम सुख नही है और मित्रके सम्राट् होनेमे भी कोई सुख नही है। वह तुम्हारा है और तुम हो, इसलिए सुख होता है। सबसे प्यारा अपना आपा ही है।

भक्तिका अर्थ है अपने प्रेमको ईश्वरमे डाल देना। ईश्वरको हम अविनाशी और सवज्ञ मानते हैं, पर वह बेचारा अधूरा पडा है, क्योकि हम उसे आनन्द नही मानते। आनन्दसे तो प्रेम किया जाता है। अपने आप पर जितना प्रेम है, उतना ईश्वर पर डाल दो तो वह तुम्हारी आत्मा हो जायगा। उसका अविनाशीपन, चेतनापन अपनेमे ले लो तो तुम ईश्वर हो जाओगे, क्योकि आनन्द पना तो तुममे स्वाभाविक है। इसीको भक्ति कहते हैं।

ज्ञानका अर्थ है ईश्वरको 'मै' बना देना। भक्ति यानी ईश्वर का भागीदार, Partner हो जाना। एक सेठकी कंपनीम करोड रुपया था। हमने उसमे अपना पचीस हजार रुपया डाला तो हम उसके भागीदार (पाटनर) हो गये। इसलिए अपने प्यारको ईश्वरमे मिलाओ और ईश्वरकी सत्ताको अपने आपमे ले लो तो तुम मालिक हो जाओगे, ईश्वर हो जाओगे। यह प्रियतम-प्रियता अपनेमे स्वाभाविक है, दूसरेमे कृत्रिम है, चाहे वह पत्नी हो या पुत्र धन हो या मकान, देवता हो या दानी।

सुख क्या है ? जो सुख होता है वह प्यारा होता है और अपना आपा ही सबसे अधिक प्यारा है। भगवान्को लोग अपना

नौकर बनाते हैं, क्योंकि उन्हें ईश्वर नहीं, अच्छासे अच्छा सेवक चाहिए। वह हमें अच्छासे अच्छा मकान, बेटा-बेटी, अनाज, कपड़ा दे और हम थकें तो वह आकर पाँव दबावे, सिर सहलाये। इसका अर्थ हुआ कि हम ईश्वरको अपने 'मै' का अंग बनाना चाहते हैं। हम ईश्वरके लिए मर जाना चाहते हैं, इसलिए हम अपने हड्डी-मास-चामका बलिदान करना चाहते हैं ताकि ईश्वर हमारी आत्माकी मुट्ठीमें आजाय। सुख मानी हम! **कं ब्रह्म, खं ब्रह्म। सुष्ठुक सुखम्।** प्रियत्वेन प्रतीत जो ब्रह्म है, उसका नाम 'सुख' है।

शाश्वत सुख किसे कहते हैं? जो बाहरको प्रवृत्ति-निवृत्तिमें, संयोग-वियोगमें, रोग-भोगमे, जन्म-मरणमें धैर्यवान् है। वह परमात्माको दृश्य नहीं कहता, अपने आपमें अनुभव करता है। वह स्वयं शाश्वत सुख है। उसपर देश-काल व्याप्त नहीं होता। वह जहाँ, जब, जिस रूप-अवस्थामें रहेगा, तब सुख है।

शाश्वत-नेतरेषाम्। स्वामी रामतीर्थसे किसीने अमेरिकामें कहा था: 'आपकी इस देशमें कोई पहचान नही, पासमें पैसा नहीं, निमन्त्रण नहीं, खानेकी कोई व्यवस्था नहीं, भूखे मर जाओगे। वहाँ कौन तुम्हारे लिए व्यवस्था करेगा?'

उन्होंने तुरंत उसके कंधे पर अपना हाथ रखकर कहा: 'तुम करोगे।'

'दुनियाके लोग तो अपनेको दीन-हीन, अनाथ, कंगाल, भूखे-नंगे अनुभव कर रहे हैं। आप किस रूपमें अपने आपको अनुभव कर रहे हैं। उपनिषद् शाश्वत शान्तिका उपदेश करता है। ●

१२ 'त्व' और 'तत्'मे ऐक्यानुसधान

सगति

बारहवें म त्रमें बताया गया कि परमात्मा एक, अनुपम और हेतुद्दष्टा तसे वर्जित है। घट, शराव आदिमे अनुगत मृत्तिकाके समान यह एक और सवगत है। जसे जलकी सभी बूँदोंमें जल, अग्निकी सभी चिनगारियोंमें अग्नि, वायुके सभी झोकोमे वायु, घटाकाश मठाकाशमे महाकाश, जसे स्वप्न मनोराज्योके सम्पूर्ण दृश्योमें मन, या भ्रान्ति कल्पित पदार्थोमे अधिष्ठान होता है ऐसे ही यह परमात्मा स्वयप्रकाश, सर्वविभासक, अद्वितीय रहकर ही सवरूपमे भास रहा है। इतने रूपोमे भासनेपर भी उसके एकत्वमे कोई बाधा नही आती।

अब १३वें म त्रके पूर्वार्धमें पहले 'तत् पदाथका निरूपण है और बादमे 'त्व पदाथके साथ उसकी एकताका निरूपण है। द्वितीयपादमे 'त्व' पद और चतुथ पादमे मोक्षका निरूपण है। साधन सहित ऐक्यबोध या आत्मदशन तृतीय पादमे है।

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके परमाणु नित्य हैं और उनके सयोगसे होनेवाला काय अनित्य है। आकाश नित्य है। कोई कोई मानते हैं कि आकाशसे शेष चारों भूत बनते है। कोई कहते हैं ये पाँच पृथक पदाथ नही, एक ही शक्तिके पाँच परिणाम हैं। एक ही शक्ति क्षीण होनेपर ऋणात्मक धनात्मक होती है। उसमें द्व द्व होकर भिन्न भि न प्रकारकी सृष्टि बनती है। शक्ति भी कहीं सोती है, तो कहीं जागती है। उसे 'प्रधान' कहते हैं। प्रधान यानी प्रकृति। 'प्रकृत्या कृतियस्या '—विश्वकी यह चित्र विचित्र रचना 'कृति' है और उसकी वह प्रकृति है 'प्रक्रियते त्वमनया।' बडी सुन्दर रीतिसे जिसमें यह रचना होती है। 'प्रलीयते अस्मिन् इति प्रधानम्' जिसमे सब लीन हो जाते हैं उसका नाम 'प्रधाम' है।

'ईश्वरस्य प्रकृष्टा कृति प्रकृतिः' ईश्वरकी प्रकृष्ट कृतिका नाम 'प्रकृति' है। शक्तिका यह सोना-जागना नित्य नहीं है। इसे जाननेवाला जीव नित्य है। इसमें भी जीव एक कीड़ेसे लेकर ब्रह्मातक होता है।

आत्मा या जीवकी सोलह कलाएँ मानी जाती—कल्पित की जाती हैं। एक कलाका विकास उद्भिजमें होता है। वह जमीन फोड़कर निकलता है। जैसे : पौधा वनस्पति। स्वेदजमें, जुएँ, खटमल आदिमें दो कलाओंका विकास है। अण्डजमें, पक्षियोंमें तीन कलाओंका विकास है—जरायुजमें चार कलाओंका विकास है। गर्भकी झिल्ली जरायु है, उससे उत्पन्न 'जरायुज'। ये जरायुज दो तरहके होते हैं चतुष्पाद पशु और द्विपाद मनुष्य। जिस मनुष्यमें पाँच कलाओंका विकास हो वह 'सत्पुरुष' होता है। जिसमें आठ कलाओंका विकास हो वह चैतन्यके तुल्य होता है। उसे 'अवतार' मानते हैं। नव दस-ग्यारह और बारह कलाएँ आते आते जड़ता लुप्त हो जाती है। बारहसे सोलह तककी कलाओंवाले अवतार नहीं, अवतारी, ईश्वररूप हैं। सोलह कलाओंवाला ईश्वर है, यह समझानेके लिए कलाकी कल्पना की जाती है।

जैसे द्रव्यमें कलाकी कल्पना की जाती है, वैसे ही देशमें भी करते हैं। इसी क्रमसे जिस देशमें पाँच कलाओंका विकास हो, उसे 'मर्त्यलोक' कहते हैं। छहसे सात कलाओंवाला देवलोक और पाताल-लोक कहा जाता है। आठ कलाके बादका विकास हो तो उसे ब्रह्मलोक, गोलोक, वैकुण्ठ, साकेत कहते हैं।

इसी प्रकार कालमें भी कलाओंका विकास माना जाता है समाधिकी कक्षाका निर्णय कलांशसे ही किया जाता है। योग द्वारा चित्तको, प्राणको शान्त कर दिया तो एक कलाकी समाधि होगी। मन्त्रयोग, लययोग, राजयोगकी समाधि इनकी चार कक्षाएँ होंगी। फिर उनमें भी बहिरंग अन्तरंग भाव होगा। फिर उनमें संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात भेद बनेंगे।

इस प्रकार जो समाधिकाल है, उसमें सात कलाओ तकका विकास है। बारहसे सोलह कलाओ तक विकास हो तो वह 'असप्रज्ञात समाधि' कही जायगी किन्तु ब्रह्म सवथा निष्कल पुरुष है। उसमें किसी प्रकारकी कोई कला नही रहती

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

जो अनित्य पदार्थोंमे नित्यस्वरूप तथा ब्रह्मा आदि चेतनोमे चेतन है और जो अकेला ही अनेकोकी कामनाएँ पूण करता है, अपनी बुद्धिमे स्थित उस आत्माको जो विवेकी पुरुप देखते हैं, उन्हीको नित्यशान्ति प्राप्त होती है, औरो को नही ॥ १३ ॥

नित्योऽनित्यानाम्। ब्रह्ममे देश-काल वस्तुकी कल्पना नही है तो नित्य अनित्यकी व्याख्याके लिए भी अवकाश नही। पृथ्वी अनित्य है और परमाणु नित्य, गाय अनित्य है तो गोत्व नित्य। गाय तो पैदा होकर मर जाती है, पर जो गाय बना है वह गोत्व तो हजार-हजार गायोमे रहता है। उसकी मृत्यु नही, वह नित्य है। घट अनित्य है तो घटत्व नित्य है। इसे सामान्य कहते है

नित्यम, एकम्, अनेकानुगत सामान्यम्।

अर्थात् जो नित्य हो, एक हो और अनेकमे अनुस्यूत हो वह सामान्य कहलाता है। यह ब्रह्म सामान्य नही है। सामान्य तो जाति होती है। मनुष्य, गाय, घट, अनेक वस्तुओमे जो सामान्य

धर्म होता है उसे 'जाति' कहते हैं। ब्रह्म सामान्य नहीं है काल-समष्टि, देश-समष्टि या वस्तु-समष्टिका नाम भी ब्रह्म नहीं है।

अनित्यानाम् अनित्यत्वप्रतिभासको नित्य।

'चेतनश्चेतनानाम्' जो जीवोके भीतर अधिष्ठानरूपसे, स्वयं-प्रकाशरूपसे रहकर जीवोको प्रकाशित करता है, वह चेतन है। जीवत्व जिसमें कल्पितरूपमें भासता है और जिसमे जीवत्वका लोप या बाध हो जाता है, वह चेतन है।

(१) चेतन वह है जिसमे जन्म, स्थिति और लय भासते हैं। यह जीव-चैतन्य है।

(२) चेतन वह है जिसमे जन्म-स्थिति-प्रलयवाले चेतन प्रकाशित होते हैं। यह ब्रह्मचैतन्य है। परिच्छिन्न अल्प चैतन्य अपरिछिन्न चेतनमे बाधित है मिथ्यात्वेन निश्चित हो जाता है।

ईश्वरकी सत्ता क्या है ?

पारमार्थिक ब्रह्मसत्तापेक्षायां किंचिन्न्यूनसत्ताकत्वात्।

जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न सत्ता है वह परमार्थसत्ता है। समष्टि और व्यष्टिकी हेतुभूता मायाके देशमें परिच्छिन्न, ब्रह्म-सत्ताको अपेक्षा किंचित् न्यून, अनिर्वचनीय सत्ता, मायादेशमें रहकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी होना, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रको भी अपने वशमें रखना और सम्पूर्ण जीवोंको भी व्यष्टि-प्रारब्ध और समष्टि प्रारब्धका फल देना, व्यावहारिक सत्ता और प्राति-भासिक सत्तामे होना और अभेदज्ञानसे जीव और ईश्वरके पृथक्-त्वसे बाधित हो जाना, यह ईश्वरकी सत्ता है।

चेतनश्चेतनानाम ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, हम और तुममे एक-एक चैतन्यरूप हैं। जो अलगाव मालूम पडता है—यहाँ कर्ता, वहाँ कर्ता सबमे जो एक-एक महाकर्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है, इसलिए सर्व और अल्प दोनोका अपवाद करो। ज्ञप्ति मात्र जो वस्तु है, उसीका नाम ब्रह्म या परमात्मा है।

एको बहूनां यो विदधाति कामान। ईश्वरके मार्गपर बहुत-से लोग इकट्ठे होकर नही चल सकते। प्रत्येक व्यक्तिको अपने हृद्देशमे ईश्वरसे एक हो जाना पडता है और वहाँ एक होते ही हृद्देश और हृद्देशेशका भेद बाधित हो जाता है। समाज ईश्वरको प्राप्त नही होता, जैसे कि व्यापारी लोग सघटित होकर धन कमाते हैं। सबको लाखो रुपयेका लाभ होता है। समाजसेवी परस्पर सघटित होकर समाजसेवा करते है। भोगपरायण लोग क्लब या सिनेमामे इकट्ठा होकर भोग भोगते हैं। इसी तरह यदि कहे कि हम सभी सत्तर सत्सगी इकट्ठा होकर सामने पर्दा लगाकर एक साथ ईश्वरको देखेंगे तो वैसे ईश्वर कभी नही दीख सकता। ईश्वरको देखनेके लिए प्रत्येकको अन्तर्मुख होना पडेगा। बाहरी परतें, कोश, स्तर या परदे हटाकर इतने सूक्ष्म स्तरमे जाना पडेगा कि वे परदे हमे परिछिन्न न बना सकें, काट न सकें। जो हमारा अपरिसीम, अपरिच्छिन्न रूप होगा, वह परमात्मासे एक हो जायगा।

ईश्वर व्यष्टिप्रारब्ध और समष्टि प्रारब्धके फलदानमे लगा है। किसीने पूछा 'क्या ब्रह्मलोक सच्चा है?'

अरे भाई, जितनी सच्ची बम्बई है, उतना ही सच्चा ब्रह्म-लोक भी है। गोलोक, साकेत, वैकुण्ठ भी उतने ही सच्चे हैं। यदि तुम्हें बम्बई सच्ची लगे और ब्रह्मलोक सच्चा न लगे तो

समझ लो कि अभी तुम्हे वासना और स्थूलमे भेद मालूम पडता है। स्थूललोक भी वासनात्मक हैं और ब्रह्मलोक भी। अपने स्वरूपमे न स्थूल वासना है और न सूक्ष्म, न अविद्याके कारण होनेवाला सम्बन्ध है और न अपने स्वरूपकी परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिसे होनेवाला सत्यत्व ही।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा । इच्छा हमें कर्म द्वारा और बुद्धिको विपरीत, बहिर्मुख कर ससारमे बाँधती है

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

शास्त्राचार्यके उपदेशसे इसमे अश्रद्धा नही करनी चाहिए। वास्तवमे देखें तो वेदान्त ज्ञानकी अधिकारितामे एक श्रद्धा भी है। यह अधश्रद्धा या बेवकूफ बनानेवाली वस्तु नही है। आखिर तुम जिसकी बात सुनते हो, उसपर श्रद्धा ही तो करते हो। बौद्धलोग बुद्धपर, जैन महावीरपर श्रद्धा ही तो करते है। शास्त्राचार्यके उपदेशसे कम-से-कम इतना तो सीखो कि शुद्ध 'त्व' पदाथमे स्थित होते ही तुम अपनेको परिछिन्न नहीं मान सकते। यदि शुद्ध त्वं पद के लक्ष्यार्थमे तुम्हारी वृत्ति पहुँच जाय तो तुम अपनेको अपरिछिन्न ब्रह्म जानोगे। "अनुपश्यन्ति" यानी जैसा तुम्हारे गुरुने, गुरुके गुरुने देखा था, जैसा शास्त्रमे बताया गया वैसा ही जो अपने हृदयमें देख लेता है उसे शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति होती है। अन्यथा अशान्ति ही अशान्ति हाथ लगेगी। यह अनुदर्शनका मार्ग है। चाहे नाचो, कूदो, गाओ, बजाओ पटापट गिरो, आँख बन्दकर बेहोश हो जाओ, पर जबतक पर-मात्माका साक्षात्कार नही होगा, शाश्वती शान्ति कभी नही मिल सकती। ●

२३ आत्मज्ञान ही अनिर्वचनीय परमसुख

संगति

तेरहवें मन्त्रमे कहा गया कि जिस नित्यकी सत्तासे ही अनित्य वस्तुओका भान होता है, जिस एक अखण्ड चैतन्यसे ही आभासात्मक अनेक चैतन्य भासते हैं, जो बहुत्वेन प्रतीयमान व्यवह्रीयमाण पदार्थोंमें भी एक है और यथाथत प्रतिबिम्बित होता हुआ ही अन्त करणवृत्तिमे सबके मनोरथ पूर्ण करता है, जो धीर पुरुष अपने हृदयमें उसे आत्माके रूपमें देखते है, उन्हें शाश्वत शान्ति प्राप्त होती है, दूसरेको नहीं।

अब १४वें मन्त्रमें इसके सम्बन्धमें एक प्रमाण देते है। श्रुति भी युक्तिपूर्वक प्रमाण देती है। पहलेमे युक्ति थी, अब दृष्टान्त देते हैं

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

उसी इस (आत्मज्ञान)को ही विवेकी पुरुष अनिर्वाच्य परम-सुख मानते है । उसे मैं कैसे जान सकूंगा ? क्या वह प्रकाशित (हमारी बुद्धिका विषय) होता है, अथवा नही ॥ १४ ॥

तदेतत् इति मन्यन्ते । तत्=अपरोक्ष परमानन्दम् । कौन है परमानन्द ? ईश्वर परमानन्द है, यह शिष्ट-पुरुष कहते हैं । 'क्या वह तुम्हारे नही हैं ?' यह बात्त दूसरी है । ईश्वर तुमसे भिन्न नही है । यह ईश्वर कैसा है ?

अनिर्देश्य परम सुखम अर्थात् वह परोक्ष नही है । वह तुम ही हो । वह विषय नही । उसे उँगलीसे नही दिखा सकते । वह 'परम सुखम्' यानी आत्यन्तिक सुख है । सदैव रहेगा, इसलिए परम है । सुखके बारेमे किसी किसीकी कल्पना है कि भले ही हम भूखे रहें, पर पैसा इकट्ठा हो, हमे इसीमे सुख है । पत्नीके पास लाख रुपया है । एक दिन पतिके पास रुपया नहीं रहा तो 'पत्नीने कहा भूखे रहो । कमाकर ले आओ तो रोटी बनेगी ।'

अर्थ परायणका मत है इकट्ठा करना सुख है ।

भोग परायणका मत है कर्जा लेकर खाओ, पर भोग करो ।

कर्मपरायणका मत है चाहे अर्थ-भोग हो न हो, कर्ममें लगे रहो ।

गीतामें बताया है कि तामसिक सुख क्या है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।

अपनेको मोहमे डालकर हम सुखी होते हैं। 'यह हमारा, वह हमारा' पति-पत्नी, मकान-धन हमारा।' भोग भोगकर या बेहोश होकर, शराब पीकर, या अफीम खाकर हम जो सुख लेते हैं वह निद्रा, आलस्य, प्रमादजन्य सुख तामस सुख है।

इन्द्रियसयोगजन्य जो सुख होता है वह पहले तो अमृतके समान लगता है, पर परिणाममे विष सा सिद्ध होता है। यह राजस सुख है। यहाँ इसका वणन नही है। जो सात्त्विक सुख है, वह अभ्यासका सुख है।

अभ्यासाद्रमते यत्र दुखान्त च निगच्छति।

नित्य सूर्यनमस्कारकी आदत पड जाय तो उसे किये बिना कभी सुख नही मिलेगा। हमारे एक बूढे महाशय नित्य सूय-नमस्कार करते थे। जिस दिन वे उसे नही करते उस दिन उनके शरीरमे बहुत दद होने लगता। रोज करते है तो दुखसे बचते है। यह अभ्यासका सुख है। पीठकी रीढ सोधी कर बैठना अभ्यासका सुख है। वह विषयेन्द्रियो या मोह निन्द्रामे-से नही आता। वह 'आत्मबुद्धिप्रसादजम्' है, अपनी बुद्धिकी प्रसन्नतासे आता है। किन्तु यह भी परम सुख नहीं। यह तो तीन तरहका हुआ सात्त्विक, राजस, तामस सुख। परमसुख आत्यन्तिक होता है।

सुखमात्यन्तिक यत् तत् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवाय स्थितश्चलति तत्त्वत ॥

आत्यन्तिक सुखका अथ है, जो कालसे न घटे, जाग्रत्मे रहे। जबतक माला फेरी तबतक सुख रहे, नही तो न रहे—यह अभ्यासका सुख है। जागते रहे और अपने घर, पुत्र, पत्नी

सबको देखते रहे, यह भी सुख है। पर सुषुप्तिमे तो इनमें-से कुछ नही रहता।

सच्चा सुख तो आत्यन्तिक है। जो सुख सुषुप्तिमे हैं, पर जाग्रत् और स्वप्नमे नही हैं, वह तामससुख है, जो सुख स्वप्नमें है, जाग्रत्-सुषुप्तिमे नही वह राजस है। जाग्रत्मे ईमानदारोका जीवन व्यतीत करनेका जो सुख है, वह सात्त्विक है। हमे जात-पाँत, मजहब, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान नहीं ईमानदार मनुष्य चाहिए। जहाँ ईमानदारी नही वह सुख किस कामका ? हमें आत्यन्तिक सुख चाहिए।

'बुद्धिग्राह्यम्' जो सुख बुद्धिसे ही मिल जाय, कही जाना न पडे। अर्थात् वह देश या कालसे परिछिन्न नही चाहिए। 'अतीन्द्रियम्' उसके लिए विषयभोग नही चाहिए। विषयभागके बिना और कालान्तर-देशान्तरमे गये बिना जो सुख मिले, जो कभी परिणामको प्राप्त न हो, निवृत्त न हो, जो अपनेसे कभी न बिछुडे, उसमे पराधीनता न हो, जिसके लिए परिश्रम न करना पडे और सदैव जगमगाता मालूम पडता रहे, वह आत्यन्तिक सुख है।

सुखेन ब्रह्मसस्पर्शमत्यन्त सुखमश्नुते। ऐसा सुख मैं ही स्वय-प्रकाश चमक रहा हूँ।

कथ नु तद्विजानीयाम। किस इन्द्रियसे अनुभवकर, या किस बुद्धिसे देखकर ऐसा सुख बताऊँ ? 'किमु भाति आत्मरूपेण' अथवा 'किमु विभाति प्रपचरूपेण' क्या मैं ही वह सुख अभिव्यक्त हो रहा हूँ, स्फुरित हो रहा हूँ ? क्या मैं ही वह सुख हूँ ? क्या वह सुख ही इस प्रपंचके रूपमे भास रहा है ? हाँ, वह सुख चन्द्रमाके

रूपमे चाँदनी बिखेर रहा है, सूर्यरूपमे प्रकाश दे रहा है। वायु-रूपमे सबका प्राण बन रहा है। पृथ्वीरूपमे सबको धारण किये हुए है।

स एव भाति आत्मरूपेण।

वही मैं हूँ, वही तुम हो और वही स्पष्ट प्रपंचरूपमे भास रहा है। 'तत् एतत्' वही यह है, यही वह है। उसीको जानकर अतिमृत्युको प्राप्त करते है **तमेव विदित्वामृतमृत्युमेति।** उसीको जानो।

तमेत ब्राह्मणा विविदिशन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन।

जो यह है वही वह है, जो वह है वही यह है। भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने इस प्रसंगमे बताया है कि जिसके मनमे विषय-वासना प्रबल होती है, वह आत्मजिज्ञासाकी दृष्टिसे बहिर्मुख है। विषय-वासनाकी प्रबलताका अर्थ मात्र भोग चाहना नही है। स्थूलवस्तुको पकडकर बुद्धिका बैठ जाना भी विषयवासनाकी प्रबलता है। अर्थात् जो चाहता है कि हमारी देह ऐसी रहे, वैसी रहे तो उसका मन देहमे लग गया। धन इतना-उतना रहे, ऐसे-वैसे रहे, राजनीतिमे ऐसे हो, यह न हो, यह सारी बहिर्मुखता है।

हम कहते है कि एक बार तुम अपरिच्छिन्नका बोध प्राप्त कर लो। फिर अनाथालय बनाओ, स्कूल चलाओ, समाजसेवा करो, हरिजनोद्धार या हरिजनशुद्धि करो, जो मौज हो सो करो। तब तुम्हे शुद्ध ज्ञान होगा। तुम्हारी बुद्धि सही बतायेगी कि क्या करें और क्या नही करें। लेकिन जबतक शुद्ध बुद्धि नही

प्राप्त होती तबतक संसारकी किसी छोटी-मोटी धारणाको पकड़ लेना मूर्खता है।

जिसे गुरुवार शुभ और शनिवार अशुभ दिन लगता है, वह तत्त्वमें प्रवेश नहीं पा सकता। अनन्त, समष्टिकालके रात-दिनके इस प्रतीयमान चक्रमें व्यवहारके लिए एक सूर्योदयसे दूसरे सूर्योदय तकका नाम गुरुवार। इसी तरह दूसरे सूर्योदयसे तीसरे सूर्योदय तकका कल्पित नाम शनिवार है। जैसे तारीखको एक-दो-तीन समझते हैं, वैसे ही सप्ताहके भी प्रथम-द्वितीय दिन कर साफ समझ सकते हैं। उसमें गुरुवार या शनिवार कहाँ रहा? वह तो एक समयमें सूर्य और पृथ्वीके साम्मुख्य और वैमुख्यकी विभाजक रेखासे रातदिनका विभाजन होता है। एकका सोम दूसरेका मंगल होता है।

सारांश, कालमें किसी प्रकारका पुण्यापुण्य नहीं, सर्वथा शास्त्रोक्त रीतिसे वह कल्पित है। कालतत्त्वमें सोम-मंगलका बिलकुल विभाजन नहीं है। हम अधिक अग्रगामी हैं। तेरह तारीख कभी हमारे लिए खराब नहीं होती। लेकिन जैसे वे तेरह मानते हैं, हम भी कोई मान लें तो मान्यता बराबरकी है।

जो बात दिनकी, वही स्थानकी है। **किं तृण्वन्ति कीकटेषु गावः।** एक मगध देश है, एक कीकट देश। क्या कोई देश खराब है? क्या देशमें स्वर्ग-नरक, बिहार-आसामका भेद संभव है? नहीं! वह तो संवैधानिक रीतिसे कल्पित है।

इसी प्रकार वस्तु, व्यक्ति या क्रियामें जो पवित्र-अपवित्रका भेद होता है वह भी केवल संवैधानिक है, वास्तविक या तात्त्विक नहीं। मकानमें ऊपर-नीचे प्रदेशता बिलकुल वास्तविक है, वह

मकानकी अपेक्षासे कल्पित है पर आकाशमे या दिशामे कहाँ ऊपर-नीचेपन होता है ? उसमे तो ओर-छोर ही नही है ।

तात्पय यह कि वस्तुमे अच्छाई-बुराई उसके गुणसे कल्पित नही, वैधानिक रीतिसे कल्पित की जाती है । कममे अच्छाई-बुराई वस्तुकी दृष्टिसे नही । स्थान, भाव, काल, स्थिति (समाधि-विक्षेप)मे सवैधानिक रीतिसे विभाजन होता है। तत्त्व सत् हो या असत्, उसमे विभाजक रेखा नही है ।

कामकी पूर्तिमे पहले वस्तुकी इच्छा, फिर उसे पाना, उससे सटना, उसमे मोहग्रस्त होना छूटनेकी कल्पनासे भयभीत होना, यही दु ख है । अच्छे-बुरेका भेदमात्र वस्तुके अज्ञानवश है । अन्य हो, स्व हो या शून्य हो, तब भी अज्ञानसे छोटा-बड़ा, हित-अनहित, अच्छा-बुराकी भेदबुद्धि बनती है। मुख्यत एषणाएँ तीन है १ वित्तेषणा, २ लोकैषणा और ३ पुत्रैषणा ।

सुत वित लोक ईषना तीनी ।
केहिकर मति इन्ह कृत न मलीनी ॥

और शास्त्रमे कहा है कि इन्हे त्यागकर मुमुक्षु भैक्ष्यचर्या करते है

पुत्रैषणायाश्च, वित्तैषणायाश्च, लोकैषणाश्च विहाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

पहला स्थान पुत्रैषणाका है । यह कामवृत्तिप्रधान प्रवृत्ति है । दूसरी वित्तैषणा है । यह लोभवृत्तिप्रधान प्रवृत्ति है। तीसरी लोकैषणा है । यह अभिमानवृत्तिप्रधान प्रवृत्ति है । मनुष्य चाहता है—'दुनियामे हमारा खूब आदर, इज्जत, नाम हो।' मनुष्य छोटी-छोटी चीजोमे फँसे रहते हैं । जो अपनेको छोटी चीजमे लगाता है, वह स्वयको दीन हीन छोटा मान लेता है। किसीने अगूठा दिखाया और दु खी हो गये तो यह हमारे अगूठेका दोष नही। तुम्हारे

अन्दर जो पापवृत्ति है—प्रारब्ध जग गया उसीका दोष है। हमने दिखाया अगूठा और हँसने लगा कि क्या बेवकूफी करते हो, अभी तुम्हारा बचपन नही गया ? तो उसका पुण्य-प्रारब्ध जग गया ! यदि दुनियाकी किसी वस्तु-देश-समय-क्रियाको देखकर तुम्हारे भीतर दु ख जगता है तो तुम्हारे भीतर जो पाप छिपा है, वही जगता है।

एक आदमीने किसीको भरी सभामे गाली दी तो दूसरा मुस्कराने लगा।

तीसरेने पूछा 'इसने गाली दी और तुम मुसकराते हो ?

उसने कहा 'हमारा रिश्ता ही ऐसा है। हम दोनो साले-बहनोई हैं।'

बात मजाकमे उड गयी ठहाका लगा, सब हँसने लगे।

दु ख कहाँ होता है। यदि मालूम पड़े कि अमुक स्थान, अमुक ऋतु, अमुक व्यक्तिसे ही सुख मिलता है तो समझें कि हमारा मन बहुत छोटी चीजमे फँस गया है। एषणाको समझकर मनको उससे मुक्त करो।

जाही बिधि राखे राम, ताही बिधि रहिये।

ऐसा भाव हो कि 'जो आया उसे पार कर गये, जो आयेगा उसे पार कर जायेंगे।' जीवनमें गिनने लगें कि कितने लोग आये, कितने मिले और बिछुडे तो उसका कोई पार नहीं। जैसे रेल-गाडी या हवाई जहाजसे चलनेपर भूगोल पीछे पडता जाता है, कभी खतम नहीं होता, वैसे ही हमारे जीवनमें दृश्य आते जाते रहते हैं, कभी खतम नही होते। ससारकी कोई वस्तु हमारे

साथ नही चलती। इसलिए छोटी वस्तुको मत पकडो और न बडी वस्तुको ही पकडो।

एकबार मनमे किसी तरहकी पकड या आग्रह न रखते हुए शान्त बैठ जाओ। उस समय तुम्हारी बुद्धि हृदयाकाश है। देहके घेरेको मत देखो। उस समय पूरब पश्चिम, उत्तर दक्षिण, आज-कल-परसो, यह वह मै-सबका जो अधिष्ठान है वह हृदया काश ही रह जाता है। जितना बडा आकाश बाहर है उतना ही भीतर है। छान्दोग्य-उपनिपद्मे दहर विद्याके प्रसगमे बताया है कि वह तुम यानी चिदाकाश हो। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके ये तारे, ब्रह्माडपर ब्रह्माड, सौर-मण्डलपर सौर मण्डल, ऐसी ऐसी हजारो पृथ्वियाँ तुममे चक्कर काटती रहती हैं। तुम वह चिदा-काश हो जिसमे देश, काल और वस्तु बिना हुए ही स्फुरित हो रहे है।

सुख क्या है? जो सबको खा जाय वह 'ख'। हमारे बाबाने हमे बचपनमे एक बार बताया था कि पहले 'क' और पीछे 'ख' क्यो? 'क' अल्पप्राण है तो 'ख' महाप्राण। क + ह = सयुक्त उच्चा रण करनेपर 'ख' बना है। क माने करो और ख माने खाओ—खादिति = जो खा जाय। खानेवाला दो तरहका है—एक आकाशमे आँधी-तूफान, अँधेरा, धूल आये—इसका नाम दु ख है। तब आकाश आकाश है या नही? जब चाँदनी छिटकी, अँधेरा दूर हुआ, शीतल पवन बहने लगा, मन प्रसन्न हो गया तो सुख।

ख = आकाश। आकाश सबको खा जाता है—चारो भूतोको खा जाता है। नित्य-नैमित्तिक प्रलयमे आकाश रहता है, वह प्रलयको खा जाता है। प्राकृत प्रलयमे आकाश भी लीन हो जाता

है। उसके सत्यत्वकी भ्रान्ति तब दूर नहीं होती। आत्यन्तिक प्रलयमे वह दूर हो जाती है, वह बाधित हो जाता है। सत्यत्वकी भ्रान्तिका अर्थ है सत्यरूपेण अन्यत्वकी भ्रान्ति। यह अत्यन्त विलक्षण बात है। अन्यत्वकी भ्रान्ति आकाशकी प्रतीति नहीं करती। आत्यन्तिक मुक्तिमे भी चिदाकाश तो रहता ही है।

यह 'ख' 'परमम्' है यानी अधिष्ठान और ज्ञान है। कैसे? परम् = सबसे परे। सबसे परे कौन है? सबका अधिष्ठान। परा मा कौन सी? मा = प्रमा—स्वानुभूति। स्वानुभूति ही जिसमे मान है, वह है परम।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

अर्थात् दिक्, काल और वस्तुसे अनवच्छिन्न, अनन्त, चिन्मात्र, अद्वितीय और अपनी अनुभूति ही जिसमें प्रमाण है, ऐसी वस्तु-शान्त ज्योतिका नाम 'परम सुख' है। एक छोटा मैं' है मैनेजर और एक बड़ा 'मैं' है मालिक। छोटे 'मैं' को देखो। उसमे जो ज्योति, प्रकाश, आनन्द, सत्ता दे रहा है और स्वयं छोटा नही देहमें नहीं। वह अनिर्देश्य है। यत् अनिर्देश्य तत्—जो अनिर्देश्य है, वह तत् है। उसके बारेमे निर्देश नही कर सकते कि 'यह है, ऐसा है।' पंचदशीमे वह तत्त्व कैसा है? यह प्रश्न ही उत्तरमें है

यदनिदृक् च तादृक् च तादृक् तत्त्वमिहेष्यताम्।

जो अनिदृक् और तादृक् है—न ऐसा है और न वैसा न यह है और न मैं और यह–मैं जिसके पेटमें है। चित्रके विषयमे रमण महर्षिका एक श्लोक है

चित्रे च लोकय च विलोकिता च।

एक तस्वीर है, उसमे सुन्दर फूल खिला है। बडी सुन्दर आँखोवाला एक आदमी है जो कवि कलाकार है। वह उस चित्रके फूलको देख प्रसन्न हो रहा है, कविताकी प्रेरणा ले रहा है। तस्वीरमे जो कपडा है वही दिखायी पडनेवाला फूल और देखनेवाला मनुष्य भी है। वहाँ कपडेके सिवा न फूल है और न मनुष्य। इसी तरह यह दृश्य फूल है और 'अहम्' है तस्वीरका मनुष्य। कपडा अपना वास्तविक आत्मा है। कपडेके रङ्ग यानी वासनावाले अन्त-करणके रङ्गसे यह सारी सृष्टि अपने आप अपने आपमे दीख रही है। अपने आपसे अलग कुछ भी नही है।

कथ नु तद्विजानीया किमु भाति विभाति वा।

अपना आपा छोटा नही है। वह छोटे-बडेकी कल्पनाका प्रकाशक है, अधिष्ठानस्वरूप और स्वयंप्रकाश है। वही स्वय सवरूप और आत्मरूपसे प्रकाशित हो रहा हे। उसे हम कैसे समझे और देखें ? अरे, तुम स्वयं हो।

किसीने किसीसे कहा 'तुम्हारा कान कौआ ले गया।'

वह लालटेन और डण्डा लेकर दौडा कि उसे मारेंगे।

'कहाँ दौड रहे हो ?'

वह बोला 'कौआ हमारा कान ले गया है, उसे मारने।'

'पहिले यह तो देख लो कि तुम्हारा कान है या नही ?'

'अरे यह तो देखा ही नही।'

उसने लालटेन धरती पर रखकर हाथ लगाया तो कान विद्यमान था। फिर यह डण्डा, लालटेन क्या ?

क्या तुम्हारा अपना आपा नरकमे पड गया ? किसीने कहा 'तुम तो नरकमे पडे हो।'

क्या तुम उतने ही हो ? जब नरक नहीं था और नहीं रहेगा तब भी तुम थे और रहोगे। जहाँ नरक नही वहाँ भी तुम हो। जो नरक नही सो भी तुम हो।

किसीने कहा 'तुम स्वर्गमें चले गये।' स्वर्गका जितना घेरा है और जितना समय है, क्या उतने ही तुम हो ? न पुनर्जन्ममें गये और न जाओगे तुम्हारा अपना आपा ऐसा है जो कभी मिटता नही, कही हटता नही, किसीसे सटता नही। कारण, कोई है नही। यह आसक्ति भी बेकार है

किमु भाति विभाति वा।

ब्रह्मैवेद विश्वमिदं वरिष्ठम्, अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ और यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है।

'सर्वं खलु इदं ब्रह्म।' यह ब्रह्म ही है।

श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं जिस दर्शनके स्वाध्यायसे राग-द्वेषकी उत्पत्ति हो, वह दर्शन नहीं कुदर्शन है।

निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणा तदेतत् प्रत्यक्षमेव मन्यन्ते।

जिनके मनमे छोटी-छोटी बातोका फँसाव नहीं है, वे अपनी आत्माको अभेद, अच्छिन्न, अखण्ड देखते हैं। ब्रह्मज्ञानियोंका ऐसा ही अनुभव है। हम उसे कैसे जानें कि हम यही हैं ?

किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मक तत्।

वह तो स्वयंप्रकाश है। इस अज्ञानके मैलको वृत्त्यारूढ़ ज्ञानसे धो दो। अपनी वृत्तिमे इस पूर्णता-अखंडताको लाकर परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति मिटा दो। तब देखोगे कि तुम ही तुम हो—सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश। ●

२४. सर्वप्रकाशकका अप्रकाश्यत्व

संगति

चौदहवें मन्त्रकी व्याख्यामे बताया गया कि अभेददर्शीको ही अनिर्वचनीय परम सुखकी प्राप्ति होती है। १५वें मन्त्रमें आत्मविज्ञानकी शलीका निरूपण है। जिज्ञासु कहता है ' "यह विज्ञान कसे हो कि वह स्वय मानरूप है, सर्वात्मक है ?"

कोई वस्तु ससारमे दीखती है तो वह चैतन्य द्वारा ही प्रकाशित होती है। जितनी भी वस्तु अनुभवमें आती हैं, वह चतन्यपर्यवसायी होती हैं। यही सृष्टिका नियम है, मर्यादा और स्वभाव है। इस मन्त्रमे कहा जाता है कि "आओ, सूर्य, चन्द्र और अग्निके प्रकाशमें आत्माको देखें। ये तीन ही मुख्य ज्योतियाँ हैं, तारा और ग्रह तो अवा तर ज्योतियाँ हैं"

> न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
> नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
> तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

वहाँ (उस आत्मलोकमे) सूर्य प्रकाशित नही होता, चन्द्रमा और तारे भी नही चमकते और न यह विद्युत् ही चमचमाती है, फिर इस अग्निकी तो बात ही क्या है ? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसके प्रकाशसे ही यह सब कुछ भासता है ॥ १५ ॥

आओ सूर्यके प्रकाशमे ब्रह्मको देखें। सूयके प्रकाशमे तो आँख देख सकती है और वह भी पूर्णताको नही, परिच्छिन्नताको

देखती है। आँखसे केवल रूप ही दीख सकता है, पर वह भी दूर न हो और न सूक्ष्म ही हो। आँखसे शब्द, गन्ध, स्वाद, स्पर्श या ध्यानस्थ भी मालूम नही पडता तो ब्रह्म कैसे मालूम पडे ?

अच्छा, आँखसे भी और भीतर चलकर मनसे देखें। ध्यानके लिए मनमें सस्कार डालना पडता है। हम लोगोंने तो मछलीके रूपमें भी भगवान्‌को देखा है। हमारे लिए तो कोई आश्चर्य नहीं। पुराणने हमारे मनमें यह बात डाल दी कि ईश्वर मछलीरूप भी होता है। हमने मछलीका ध्यान किया तो भगवान् मछली रूपमें प्रकट हो गये। हमने भगवान्‌को सूअर, कछुआ, नृसिंह और घोडेके रूपमें भी देखा। शास्त्रमे यह नहीं लिखा है कि मात्र सन्यासीके रूपमें भगवान्‌को देखो और गृहस्थके रूपमें नही। ब्रह्मविद्यामे वर्ण या आश्रमका कोई भेद नहीं। प्रत्येक पत्नी अपने पतिमे परमात्माको देख सकती है। इसका अथ यह कि सब पुरुष ब्रह्म हैं। प्रत्येक पुत्र अपनी मातामे जगज्जननी जगदबा ब्रह्म-माताका दर्शन कर सकता है। अर्थात् सब माँ ब्रह्म हैं। यह तो बिलकुल स्पष्ट है। पीपलमें ब्रह्म है, गायमे ब्रह्म है। वेदान्त आकृतिमे आग्रह नही रखता। अन्यथा कट्टरपंथीकी तरह वेदान्त भी किसी एक आकृतिमे ब्रह्मत्व दिखाता कि नारायण या शिवके सिवा सब आकृति झूठी है। नही, आकृति चाहे नारायणकी हो या शिवकी, देवीकी हो या गणेशकी, सभीमें वह ब्रह्म दिखाता है। गणेशमे भी हाथी—पशुकी आकृति जोड दी। देवीमे स्त्रीलिंग मात्र ले लिया। सूर्यमे ज्योतिर्मयको लिया। शिवसे गोरा और नारायणसे कालेको भी ले लिया। आकृति-प्रकृति, नामरूप, लिंग सबका अलग-अलग है, पर एक ही ब्रह्ममें ये पाँचो रेखाएँ

खीची हुई हैं। यदि पाँच न बनाते तो तुम एक ही आकृतिको लेकर बैठ जाते।

क्या मनसे ध्यान करें? किसीने कहा 'निराकार' तो किसीने कहा 'साकार'। जिसके सम्पकमे जैसा और जो आ गया, वह वैसा मानकर बैठ गया तो मनसे कैसे कल्पना करोगे। इन्द्रियोसे देखी वस्तुके ही विशाल या लघुत्तम रूपकी कल्पना मनमे आती है। मन सस्कारशून्य नही होता।

मनोज्योति काम नही करती तो बिजलीके प्रकाशमे देखें? **विद्युतो भान्ति।** यदि सूर्य-चन्द्र न हो तो क्या बिजली काम देगी? तब मशीनकी आवश्यकता होगी। चन्द्रसे देखना यानी मनमे ऐन्द्रियक विषयानुभूतिके सस्कारसे युक्त होकर देखना। तारोंके प्रकाशसे क्या करोगे? अरे सूर्य-चन्द्रके प्रकाशको छोडकर तुम दूसरे लोकमे चले जाओगे तब भी ये ही इन्द्रियाँ काम करेंगी।

चन्द्रमाके प्रकाशमे परमात्माको नही देख सकते तो क्या अग्निसे देखें? वाग्देवता अग्नि है। अग्निसे देखनेका तात्पर्य है, शब्दसे देखना।

अग्निसे देखनेका अर्थ हाथमे मशाल लेकर या आग जलाकर नही। वाक् ज्योतिसे जानना आगसे देखना है। सूर्यके प्रकाशमे एक आदमी आया तो आँखसे देखा। बिना गौरसे देखे भी हम उसे पहचान गये। चन्द्रमाके प्रकाशमे यानी मनसे देखा तो गौरसे देखना पडा। किन्तु घोर अधकारमे जहाँ न सूर्य है, न चन्द्र है यानी न आँख देख पाती है और न मन अनुमान कर पाता है, वहाँ एक आदमी आया तो पूछा "कौन है?" उत्तर मिला, "मोहन है।" यहाँ वाक्-ज्योति काम कर गयी। जहा सूर्य-चन्द्र नही, वहाँ अग्नि काम कर गयी।

वेदान्तदर्शनमें यह विचार किया है कि स्वप्न और जाग्रत्‌में भेद है या नहीं ? इस पर एक साथ कई सूत्र हैं :

नाभावः उपलब्धेः । वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।
न भावोऽनुपलब्धेः क्षणिकत्वात् ।

—ब्रह्मसूत्र

जाग्रत्-स्वप्नका भेद क्या है ?

बाधाबाधौ इति माः ।

स्वप्न जाग्रत् अवस्थामें याद आता है और यह ज्ञान है कि स्वप्न मिथ्यात्व-निश्चय है । जाग्रत्‌के प्रति यह निश्चय नहीं है। वास्तविक जाग्रत् क्या है ? अपना ब्रह्म होना वास्तविक जाग्रत् है, अबाध्य है । जिसे हम जाग्रत् कहते हैं, वह अधिष्ठान याथार्थ्यके बोधसे स्वयंप्रकाश आत्माके ज्ञानमें बाधित है । अपनी देहरूपताकी कभी याद आये कि हम अपनेको ब्राह्मण, संन्यासी या हिन्दू समझते थे तो वह भी स्वरूपज्ञानसे बाधित है । ब्रह्मत्व है ।

ब्रह्मज्ञानमें प्रारम्भमें श्रद्धा भी आवश्यक है। जो लोग आरम्भमें ही अपने हृदयसे श्रद्धा निकाल देते हैं वे ठीक नहीं करते । ब्रह्मकी अनुभूति हो जाने पर श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता नहीं रहती, वह तो अपना आपा साक्षात् है । लेकिन जिज्ञासुके हृदयसे श्रद्धा निकाल देनेवाला साधन-चतुष्टयसे शमादि षट्संपत्तिका सत्यानाश कर देता है । वह तो तुम्हारी साधना ही चौपट कर देता है ।

'अपौरुषेय वेदवाणीपर श्रद्धा न करो तो भी 'तुम ब्रह्म हो' इसका नाम तो अतिशय श्रद्धा हुआ । 'भगवान्‌का नाम ऐसी वस्तु है कि मानो न मानो, श्रद्धा करो न करो, तुम्हारा कल्याण

पुरुष, कुमारी, कुमार, चिडिया आदि जो कुछ है, वह सत्ता-सामान्यके रूपमे तो सभीको भासेगा। अपने देशका नोट सब लोग जानेंगे, पर दूसरे देशका हो, दूसरी भाषामे छपा हो तो क्या मालूम पडेगा कि कितनेका है ? सच्चा है या झूठा ? लेकिन गधा दोनो नोट खा जाता है।

एक बार एक सज्जन राजस्थानमे दस हजारका नोट लेकर कही जा रहे थे। बीचमे प्याऊ आया तो उन्होने अपना झोला चबूतरेपर रख दिया और प्याऊपर पानी पीने लगे। तबतक गधा आया और दस हजारका नोट खा गया। यह खानेकी चीज है, यह बात तो उसे मालूम पडी, परन्तु यह पैसेका नोट है यह मालूम नही पडा।

ससारकी जो वस्तुएँ मालूम पडती है, उनके बारेमे आपको मालूम पडे कि मालूम पडनेकी आखिरी सीढी अपनेमे आयेगी। 'स्त्री-पुरुष, गधा, देवता-दानी, चिडिया, सब ईश्वरको मालूम पडता है, वह दुनियाको देख रहा है' यह किसे मालूम पडता है ? घूम फिरकर अन्तमे बात 'मै' पर ही पहुँचती है।

किञ्चित् समाश्रित्य विभाति वस्तु।

किसी ज्ञानका आश्रय लेकर ही सारे दृश्य प्रपञ्चका भान हो रहा है।

तन्मार्गणे स्यात् गलित समस्तम्।

जिसे इसका भान हो रहा है, उसे ढूँढना चाहोगे, आत्मानुसन्धान करोगे और उसे जान लोगे तो सम्पूर्ण भेदबुद्धिका नाश हो जायगा। फिर न अपना-पराया रहेगा, न देश विदेश, न समाधि विक्षेप और न सुख-दु ख।

वेदान्तदर्शनमें यह विचार किया है कि स्वप्न और जाग्रत्में भेद है या नहीं ? इस पर एक साथ कई सूत्र हैं

नाभाव उपलब्धे । वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।
न भावोऽनुपलब्धे क्षणिकत्वात् ।

—ब्रह्मसूत्र

जाग्रत्-स्वप्नका भेद क्या है ?

बाधाबाधौ इति मा ।

स्वप्न जाग्रत् अवस्थामे याद आता है और यह ज्ञान है कि स्वप्न मिथ्यात्व-निश्चय है । जाग्रत्के प्रति यह निश्चय नही है। वास्तविक जाग्रत् क्या है ? अपना ब्रह्म होना वास्तविक जाग्रत् है, अबाध्य है। जिसे हम जाग्रत् कहते हैं, वह अधिष्ठान याथार्थ्यके बोधसे स्वयप्रकाश आत्माके ज्ञानमे बाधित है। अपनी देहरूपताकी कभी याद आये कि हम अपनेको ब्राह्मण, सन्यासी या हिन्दू समझते थे तो वह भी स्वरूपज्ञानसे बाधित है। ब्रह्मत्व है।

ब्रह्मज्ञानमे प्रारम्भमें श्रद्धा भी आवश्यक है। जो लोग आरम्भमे ही अपने हृदयसे श्रद्धा निकाल देते हैं वे ठीक नहीं करते। ब्रह्मकी अनुभूति हो जाने पर श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता नहीं रहती वह तो अपना आपा साक्षात् है। लेकिन जिज्ञासुके हृदयसे श्रद्धा निकाल देनेवाला साधन-चतुष्टयसे शमादि षट्सपत्तिका सत्यानाश कर देता है। वह तो तुम्हारी साधना ही चौपट कर देता है।

'अपौरुषेय वेदवाणीपर श्रद्धा न करो तो भी 'तुम ब्रह्म हो' इसका नाम तो अतिशय श्रद्धा हुआ। 'भगवान्का नाम ऐसी वस्तु है कि मानो न मानो, श्रद्धा करो न करो, तुम्हारा कल्याण

अवश्य हो जायगा। नामपर श्रद्धा करनेकी आवश्यकता नही।' श्रद्धाका सबसे गाढा और उत्कृष्ट रूप यही है कि 'वेदान्तविद्यामे हमारी श्रद्धा काम नही करती, वेदान्त विद्या ही काम करती है।'

यह सर्वथा सत्य है कि तत्वज्ञानके बाद जो निष्ठा है, उसके पूर्वरूपका नाम 'श्रद्धा' है। बिना देखे जब हम उसे बोलते है तो श्रद्धा बोलते हैं और उसे देखकर उसमे बैठते हैं, तो उसे 'निष्ठा' कहते हैं। इसलिए वेदान्त घोषणा करता है **श्रद्धत्स्व सौम्य!** वत्स! श्रद्धाकर। जो लोग औरोंकी श्रद्धा छुडाते है, वे अपनेमे श्रद्धा कराते है।

वेदान्त कहता है लोक-लोकान्तर मात्र प्रतिभास है, बाधित है। देशमे सिद्ध शिला और कालमे विज्ञान (समाधि आदि) है। आकृतियोमे साकार हैं! साकार जितने है, वे सब आकार-रूप है। जैनमतमे राम कृष्णकी स्थिति कहाँ मानते है? पन्थोमे जो लडाई-झगडा, वैमनस्य, द्वैत, सम्पूर्ण संघर्ष, युद्ध कटुताको समाप्त करनेवाली कोई वस्तु है तो वह है वेदान्त। नामरूपके—सम्पूर्ण देश, काल वस्तुके प्रकाशक और अधिष्ठान आत्मासे ही समाधिकाल भी प्रकाशित होता है। वैकुण्ठ देश, कबीर और राधास्वामीका देश भी आत्मासे ही प्रकाशित होता है। सब आकृतियाँ-चाहे कुल्लै मालिककी हो या शालग्राम शिलाकी, एक ही आत्मासे प्रकाशित होती हैं। इसमे स्त्री-पुरुष, ऊँच नीचका भेद नही।

न तत्र सूर्यो भाति। दुनियाकी सब वस्तुएँ सूर्यके प्रकाशमे दीखती हैं पर वहाँ सूर्यका प्रकाश ही नही है।

जहाँ न सूरत जहाँ न मूरत पूरन धनी दिनेश।
सुरत बिरहुलिया छायी निज देश॥

अपना आत्मा अपने स्वरूपमे स्थित है। वहाँ न सूरत है और न मूरत, वहाँ स्वयप्रकाश वस्तु है। वहाँ न आँख है, न वस्तु है, न सूर्य है। तीनोका निषेध हुआ।

यह धरती जिसमे है, उसीमे यह देह भी है। जिसमे यह आकाश है, उसीमें मुँहका पोलापन भी है। वह चिदाकाश हमारे हृदयाकाशमे है। हृदयाकाश अध्यात्म है, बाहर भूताकाश है और वासनात्मक देहमे जो आकाश है वह अधिदैव है। इन तीनोको समिष्ट जिसमे है, उसीका नाम 'ईश्वर' है। ईश्वरमें तीनोका उदय-प्रलय होता रहता है। जिसमे तीनोका उदय-विलय कल्पित है, इससे परे भी, इनमे भी, इनके होनेपर भी और न होनेपर भी, बोलता हुआ भी और चुप करता हुआ भी और शान्त भी, वह परब्रह्म परमात्मा है।

वक्तव्य अधिभूत है, जिह्वा अध्यात्म है, अग्नि अधिदैव है। वाक्का जहाँ अग्निसे सम्बन्ध है, वहाँ जिह्वा बोलती है ब्रह्म अवाङ्मनसा गोचर है, अर्थात् जहाँ वाणी और मनकी पहुँच नही, ऐसा जो सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम, स्थूल-सूक्ष्मकी कल्पनाका अधिष्ठान और प्रकाशक है, जिसमे स्थूल-सूक्ष्मकी कल्पना सत्ताशून्य और प्रतीयमान है वह ब्रह्म है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।

ना कछु हुआ न है कछु ना कछु होवनहार।
अनुभवका दीदार है अपना रूप अपार॥

स्वयप्रकाश आत्माकी दीप्तिसे ही सब भास रहा है। सब कुछ वही है और दीखता भी वही है। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। ●

द्वितीय अध्याय

तृतीय वल्ली

१ संसाररूप अश्वत्थ वृक्ष

संगति

कठ = हृदय, शास्त्रका सार। उसकी यह तीसरी वल्ली बडे विलक्षण ढगसे प्रारम्भ होती है। पहले ससाररूपी अश्वत्थ वृक्षका वर्णन है, फिर ब्रह्मका वर्णन। यह पद्धति भी बहुत पुरानी है। ऋग्वेदमे ऐसे मन्त्र हैं जिनमे अश्वत्थका ससाररूपमे वर्णन है, गीताके पन्द्रहवें अध्यायका प्रारम्भ है

ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम्। इसका प्रवचन अर्थात् प्रिय वचनको मन्त्रपर आरूढ कर लो, मन्त्रके साथ उसे मिला दो। वास्तवमे तुम जिससे प्रेम करते हो, वह मैं हूँ, तुम्हारे भीतर जो जाननेवाला है सो मैं हूँ और जो तुम्हारी सत्ता है, वह भी मै हूँ। मुझसे अलग रहकर तुम जीवित नहीं रह सकते, होशमें नही रह सकते, सुखी नहीं रह सकते। मैं ऐसा हूँ कि मुझसे अलग होनेपर तुम बेहोश, जड हो जाओगे, मर जाओगे, मिथ्या बन जाओगे, जिस मुहसे यह बात निकल रही है, वह जसे यह कहनेका अधिकारी है, वैसे ही सब मुंह हैं। अभिप्राय यह कि जो मेरा मैं है, वही सबका मैं है, जो मैं हूँ, वही सब सत्य है।

तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके।

लोग जब देखते हैं कि यह वृक्ष है, तना है, पत्ते हैं, फूल-फल हैं। तूल माने फैली हुई रुई जैसे शाल्मली सेमरका वृक्ष। कपासके बडे बडे पेड होते हैं। हर वर्ष खेतमें कपास बोयी-काटी जाती है। संस्कृतमें इसे बोलते हैं 'कार्पास' जिससे तांत, फदा, सूत बने। सेमरपर आकर पक्षी बैठता है कि इसका लाल लाल फूल पकेगा तो बडा स्वाद आयेगा। किंतु जब वह पकता और फूलता है तो उससे रुई निकलती है।

आक यानी मदारके पेड। बचपनमें हम गांवमें जगलमें जाते और इसके पके पके फल ले आते। उसमेंसे नरम नरम रुई निकलती, जैसे रेशम! 'नायलोन' उसके आगे क्या है? अधिक हो जाती तो घरमें उसका तकिया बनता। उससे सिरका दर्द मिट जाता है, ऐसी गांवमें मान्यता है। वृक्षका निश्चय करना हो तो उसका फूल, पत्ता, तना देखकर निश्चय करते हैं कि इसकी जड भी होगी। गांवके लोग तो निश्चय कर लेते हैं कि इस वृक्षकी जड कितनी नीचे गयी होगी। देखते हैं 'तूल' और निश्चित करते हैं 'मूल'। इसी प्रकार ये देखते हैं प्रपञ्च और निश्चय करते हैं प्रपञ्चाधिष्ठान, इदयाधिष्ठान तत्त्वका, जिसमें यह प्रपञ्च है।

देखें, इस वृक्षमें क्या है और इसके मूलमें क्या है? मूल क्यों? पूर्ववर्ती अवस्थाकी याद आती है। पहले बीज, जड और बादमें अंकुर। यह मूल कालदृष्टिसे नित्य है, और देशदृष्टिसे व्यापक तथा सूक्ष्म। द्रव्यकी दृष्टिसे कारण है। चैतन्य होनेके कारण परिणामी नहीं, विवर्ती है अर्थात् बदलनेवाला नहीं। बदलनेका भी साक्षी है, जानकार है। जो वस्तु अविनाशी, परिपूर्ण चैतन्य हो, सबके पूर्वापर हो, जिसमें वस्तु उत्पन्न और लीन होवे, वह तो सदैव रहता ही है। 'महत्त्वात् कारणत्वात्, नित्यत्वात्, सूक्ष्मत्वात्'की दृष्टिसे देश, काल, वस्तु और महत्त्वकी दृष्टिसे, चैतन्य दृष्टिसे हम स्वयं हैं। अपने आपमें सबसे बडा महत्त्व है। सबसे अधिक प्रेम किससे करते हैं? अपने आपसे।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

जिसका मूल ऊपरकी ओर तथा शाखाएँ नीचेकी ओर है ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन (अनादि) है। वही विशुद्ध ज्योति स्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सम्पूर्ण लोक उसीमे आश्रित है, कोई भी उसका अतिक्रमण नही कर सकता। यही निश्चय वह [ब्रह्म] है ॥ १ ॥

एतद्वै तत्। यह भी वही, वह भी वही। सामान्य भी वही, और विशेष भी वही।

एक आदमीने कहा। 'मोहन-सोहन झूठ बोलता है, मिथ्या भाषण करता है।' यहाँ झूठ या मिथ्या यानी भाषण तो है पर उसमे तत्त्व नही है। वक्ता झूठा या वचन? बात झूठी या अर्थ? भाषण कानसे सुनाया पडता है। शुद्ध शब्द है व्याकरणकी रीतिसे। उसमे अक्षर, पद, वाक्य हैं। कर्ता कर्म करण आदि कारक हैं। अस्ति, भविष्यति क्रियापद है। वह जीभसे बोला जाता है, कानसे सुनायी देता है। वक्ता सामने है। तब मिथ्या भाषणका अर्थ क्या है? 'प्रपञ्च मिथ्या' है, इसका अर्थ यदि कोई प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव या अप्रतीति समझता है तो वह वेदान्तमे परिभाषित 'मिथ्यात्व'को नही जानता। जैसे भाषण है, फिर भी मिथ्या है, बिलकुल वैसे ही प्रपञ्च भी है पर मिथ्या है। हमारे मनमे तो जिज्ञासाके मंगल प्रभातकालमे ही यह बात आ गयी कि प्रपञ्चका मिथ्यात्व त्याग-वैराग्यके लिए नही है,

क्योंकि राग-वैराग्य, त्याग संग्रह दोनोंकी उपस्थिति अन्त करणमें रहती है। जब हम प्रपञ्चको मिथ्या कहते हैं, तो उस अन्त करण-को ही मिथ्या कहते हैं।

विद्यारण्यस्वामी वार्तिकमें लिखते हैं

राग द्विषन् भवान् तत्वं द्वेष्टि।

अरे, भलेमानुस! रागसे तुम्हारा इतना द्वेष है कि उसके लिए तुम सत्यका विरोध कर रहे हो? यह आत्मा ऐसा सत्य है कि इसमे हजारो राग-द्वेष आते और चले जाते हैं, पर यह ज्यो-का-त्यो रहता है।

मिथ्यात्वज्ञान वैराग्यका प्रयोजक नही है, यह द्वैतवादो वैष्णवो-का सिद्धान्त है। उनके सामने समस्या खडी हुई कि शास्त्रमे स्पष्टम्-स्पष्टम् प्रपञ्चको मिथ्या बताया है। यदि इसका मिथ्यार्थ ग्रहण करें कि प्रपञ्च सत्ताशून्य है, ता हमारे द्वैतवादका सिद्धान्त ही नष्ट हो जायगा और अद्वैत सिद्ध हो जायगा। इसलिए 'मिथ्या' शब्दसे मुख्य अथ ग्रहण न कर गौण अथ ग्रहण करना चाहिए। 'मिथ्या यानो तुच्छ, अनित्य, परिवतनशील।' यह उपासक सम्प्रदायका अर्थ है। तभी वे कहते हैं—अनित्यसे, तुच्छसे राग मत करो, भगवान्से राग करो। उपासना-शास्त्रका सिद्धान्त है—प्रपञ्चके प्रति वैराग्य धारण करो। प्रपञ्चके मिथ्यात्वका अभिप्राय भगवान्के प्रति प्रेमाभक्ति उत्पन्न कराना ही है।

अद्वैत सिद्धान्तमें प्रपञ्चके मिथ्यात्वका वर्णन है 'होना-भासना दोनोका विवेक करो। 'मालूम पडने' और 'होने'का विवेक करो। वस्तु मालूम पडे, पर होवे नहीं तो वह मिथ्या है। नामरूप छूटते-बदलते हैं। स्थूलदर्शीको नामरूप टूटता-फूटता-बदलता दीखता है, अपना अन्त करण टूटता-फूटता-बदलता

नही दीखता। महात्मा, ब्रह्मदर्शीको दोनो टटता फूटता बदलता दीखता है। उन्हे रागसे राग नही कि तू बना रहे और न द्वेषसे द्वेष है कि तू भाग जा। यदि आपको जल्दी यह बात गले न उतरती हो तो गीताके इस श्लोकका गम्भीरतासे अध्ययन और स्वाध्याय करें—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

जिसे द्वेषसे भी द्वेष नही है, वह कितना निर्द्वेष है। जिसे रागसे राग नही, वह कितना असग है। एकने कहा 'यह तो सोचते हैं कि हम ब्रह्म हैं, पर डर लगता है कि कही यह वृत्ति न चली जाय।' इसका ब्रह्मज्ञानके साथ क्या सम्बन्ध हुआ?

परब्रह्म परमात्मामे वृत्ति आयी और गयी। तो इसका क्या अर्थ है? भूतमे एक दिन तुम्हारी ब्रह्माकार वृत्ति हुई और दूर चली गयी।

एकने कहा 'हमे मरनेका डर लगता है।'

हमने कहा 'मृत्युका डर लगता है तो लगने दो।'

वह बोला 'ना-ना, मृत्युका डर आ जाय तो सत्यानाश ही हो जाय।'

मैने कहा 'दुनियामे दूसरे लोगोको भी मृत्युका डर लगता है, पर इकहरा होता है। तुम्हारे मनमे तो वेदान्त विचार करनेसे दूना डर आ गया—एक तो मृत्युका भय, दूसरे भय आनेका भय। क्या भय आ गया तो शेर आ गया?'

हमसे एकने पूछा 'आत्मामे भ्रम कहाँसे आया?'

मैंने कहा 'कहाँसे आया, यह मत पूछो। बताओ कि आत्मामें भ्रम है या नही ? यदि है, तो वह कहाँसे आया ? यदि नहीं तो इसीका नाम आत्मज्ञान है।' इसके सिवा आत्मज्ञानकी उत्पत्ति या पलय नामका कोई आत्मज्ञान नही है।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् लिङ्गाच्च।

(ब्रह्मसूत्र)

'लिङ्गाच्च'के भाष्यमे श्रीशङ्कराचार्यने अन्तिम अनुच्छेदमें कहा है। यदि 'तत्त्वमसि' महावाक्यके श्रवणमात्रसे प्रमाकी उत्पत्ति हो गयी तो उसे 'तत्त्वमसि' से प्रत्युक्तकर आवृत्तिमें नहीं लगाना चाहिए—

तत्त्वमसि वाक्यार्थात् प्रख्याप्य आवृत्तौ न नियोजयेत्।
यदि उस जिज्ञासुको स्वय प्रतिभान न हो और बार-बार कहे कि 'महाराज, हमारी वृत्ति नही टिकती' तो जबतक प्रमाकी उत्पत्ति नही होती, तबतक उसे बनाये रखनेके लिए आवृत्ति बतानी चाहिए। किन्तु यह कोई रोज-रोजका झगडा नही, केवल एकबारमे ही वेदान्त अपना काम कर देता है।

इस मन्त्रमें पहले संसाररूपी अश्वत्थ-वृक्षका वर्णन है

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन । अश्वत्थ = पीपल। पीपलके पेडकी तरह ससार वृक्ष पर ससारके सभी भूत-प्रेत निवास भी करते हैं और वासुदेवके रूपमें उसकी पूजा भी करते हैं। वह वासुदेव भी हैं और भूत-प्रेतका आश्रय भी। जरा-सी हवा चलनेपर पीपलके पत्ते खडखडाने लगते हैं। इसी तरह जरा-जरा-सी बात पर ससारी विह्वल हो उठता है।

निरुक्तमे 'अश्वत्थ'की व्युत्पत्तिकी गयी है—'अ + श्व + त्थ =

न श्व स्थाता इति अश्वत्थ उच्यते।' अर्थात् जो कल सुबह तक नही रहेगा, मिट जायगा उसका नाम 'अश्वत्थ' है। 'वृश्च्यते = छेद्यते इति वृक्ष'—काटनेपर ही जिसकी निवृत्ति हो, वह वृक्ष, अश्वत्थ वृक्ष है। यह कलतक रहनेवाला तो ह नही पर बदलते-बदलते परिणामी नित्य है। यह अनादिकालसे आ रहा है। एक पेड कटेगा और दूसरा निकलेगा। जडसे जड निकलती जा रही है।

कोइ कहे कि 'हम अपने आप ही ससारसे मुक्त हो जायँगे, ऐसा समय कभी आ जायगा। कभी महाप्रलय होगा या किसी लोकमे पहुँच जायँगे तो स्वय ही मुक्त हो जायँगे, कभी किसी समाधिमे पहुँच जायँ तो मुक्त हो जायँगे।'

नही, किसी स्थान, स्थिति या समाधिमे पहुँचनेसे मुक्ति नही मिलती। इसे तो—

असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।
तत पद तत्परिमार्गितव्यम्॥ (गीता)

ससारको वृक्ष इसलिए कहते है कि इसे काटना पडेगा। तुम स्वय प्रयत्न कर इसे नही काटोगे तो अपने आप कभीइससे छुटकारा नही मिल सकता। इसे काटना ही पडेगा। वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए ही ससारके विषयमे दो बात कही गयी है— १ अश्वत्थ होना और २ वृक्ष होना। जिसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मका ज्ञान, अनुभव चाहिए, वह यदि परिच्छिन्नसे ही रागद्वेष कर बैठे तो उसके मनमे दुनियाका कोई शत्रु मित्र भर जायगा।

रागद्वेष उसे कहते हैं जो बाहरसे किसी शत्रु मित्रकी फोटो लेकर हमारे दिलमे बना दे। राग माने रगीनी, और द्वेष माने दुश्मनी, नफरत। यदि तुम किसीसे भी दुश्मनी करोगे, एक तृण

या कीडेसे भी दुश्मनी करोगे और चाहोगे कि वह गाँवमे भी न रहे, तो वह तुम्हारे कलेजेमें आकर रहने लगेगा। यह तो बिलकुल तुम्हारे उद्देश्यसे विपरीत आचरण होगा। किसीसे द्वेष होनेपर देश, प्रान्त गाँवसे और अन्तरङ्ग बनकर तुम्हारी तदाकारवृत्ति बन जायेगी। कुमारिल भट्टने कहा है नेष्यते य परस्योऽपि। द्वेषकी यह महिमा है कि जिस वस्तुको तुम अन्यत्र नहीं रहने देना चाहते, उसे तुम्हें अपने दिलमे धारण करना पडता है। आँखें बन्द करनेपर भी द्वेषास्पद दीख ही पडेगा।

जो अपरिच्छिन्न ब्रह्मका ज्ञान पाना चाहता है उसे परिच्छिन्न गुणीके प्रति भी अपने मनमे राग नही होना चाहिए और न दोषीसे परिच्छिन्नके प्रति द्वेष ही होना चाहिए। इस रागद्वेषके शैथिल्यको ही वैराग्य कहते हैं। जबतक तुम परिच्छिन्नके साथ उलझे रहोगे, रागद्वेष करते रहोगे, तबतक तुम्हे अपरिच्छिन्नका ज्ञान नही होगा।

महन्त मण्डलेश्वर, मठाधिशोकी बात छोड दें, मैने जितने सिद्ध-महात्मा और फक्कड देखे, जिन्होने अपनेको ब्रह्मरूपमे अनुभव किया है, उनका जीवन अविरोधी होता है। हमारा जीवन दर्शन अविरोधी है। श्रीगौडपादाचार्यने माण्डूक्यकारिकामे कहा है 'अविवादोऽविरुद्धश्च।' ससारमे हमारा किसीसे विवाद नहीं, क्योंकि सब हमारे आत्मा है।

किसीने एक बार श्रीउडियाबाबाजीसे पूछा 'महाराज आप अद्वैतवादी है?'

श्रीउडियाबाबा 'ना, हम स्वयं अद्वैत हैं, अद्वैतवादी नही, स्वय ब्रह्म हैं।'

वादी, विवादी होता है। इस प्रसगमे दो-तीन बाते समझना आवश्यक है। वैराग्य अन्त करणकी शुद्धिके लिए आवश्यक है। जहाँ रागद्वेष है वहाँ तुम्हारा दिल खीचता है—वह वस्तु तुम्हारे दिलको खीचता है। विवेकसे जब तुम सोचोगे कि हमारा दिल ब्रह्ममे लगे, हमारा दिल शुद्ध कैसे रहे, शुद्धि अशुद्धि क्या है। तब हृदयमे वैराग्य आवेगा और रागद्वेष छूटेंगे, वहाँसे दिल हट जायगा। तव हृदयम काम क्रोधकी वृत्तियोका उठना शान्त हो जाता है, इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, कमके गोरखधधेसे उपरामता आ जाती है। जो आये उसे सह लिया जाता है, अभिमानकी निवृत्ति होजाती है और हृदयमे श्रद्धा आती है। चित्तमे अधिक शका-कुशकाएँ नही आती। तथा हृदयमे इस परिच्छिन्नके अभिमानसे छूटनेकी सच्ची इच्छा उदय होती है। इसीका नाम 'मुमुक्षा' है।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातन । बिनौलेसे निकली रुईकी भाँति यह ससार फैला है। इसका मूल ब्रह्म है। उसका स्वरूप क्या है? कार्यात्मक प्रपञ्च रूप वृक्षके मूलका अवधारण कर मूल ब्रह्मके स्वरूपका पता लगाना है। ऊर्ध्व = ऊपर, मूल = प्रतिष्ठा। प्रपञ्चवृक्षका मूल ऊपर है, जबकि दुनियामे सभी वक्षोका मूल नीचे है।

मने एक सन्तसे पूछा 'ऐसा कोई वृक्ष देखनेमे नही आता जिसकी जड ऊपर और शाखा नीचे हो?'

उन्होने कहा 'देखनेमे आता है।'

मैने कहा 'होता होगा किसी पहाडपर! मैने तो नही देखा।'

उन्होने कहा 'कभी-कभी जड ऊपर और नीचेकी ओर शाखा लटके, ऐसा होता है। पेडका स्वभाव है कि सूर्यकी किरण जिधरसे आयेगी उधरकी ओर ही वह बढेगी।'

मैंने पूछा 'आपने देखा है?'

वे हँसकर बोले 'हाँ, हजारो लाखो ऐसे वृक्ष है।'

मैंने पूछा 'कहाँ देखा?'

वे बोले 'अभी देख रहा हूँ। सिर ऊपर, पाँव नीचे, हाथ नीचे। यह शरीर 'ऊर्ध्वं मूलम्, अध शाखम्' है। यह ब्रह्माण्ड-वृक्ष भी ऐसा ही है। विराट्-पुरुषमे ब्रह्मलोक ऊपर है और पताल-लोक नीचे।'

निरुक्तमे मूलके पाँच अर्थ किये है और पाणिनीयमे दो धातुएँ बतायी हैं पहली धातु है—'मूल प्रतिष्ठायाम्,।' पेडको थाले, आश्रयको मूल कहते है। श्रुतिमे आया है—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाम् तैत्तिरीय उपनिषद्मे है 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठाम्। जिसमें जगत् है वह मूल है। दूसरी धातु है—'मूल रोहणे, मूलयति।' जो इस जगत्रूप अंकुरको उत्पन्न करता है, उसका कारण 'मूल' है।

निरुक्तमे तीन मुख्य धातुओंसे 'मूल' शब्द बनाया है 'मोचनात् वा मोषणात् वा, मोहनात् वा।' सबमें 'ल' प्रत्यक्ष और 'मु' पहलेसे विद्यमान है। जो अपने अकुरको मुक्त कर दे कि जाओ, बढो वह मोचनात् मूलम् है। जो अपने अंकुरको अपने अन्दर छिपा रखना चाहता है—जैसे पोस्तका दाना-सा पीपलका बीज है—मोषणात् मूलम्। इससे निकले वृक्षको देखकर लोग मोहित हो जायँ, पता ही न चले—'मोहनात् मूलम्।'

ऊर्ध्वम्=ऊपर, यह सामान्य अथ है। मेजपर हाथ है,

तो हाथ ऊर्ध्व कहाँ हुआ ? इसके ऊपर छत है, छतके ऊपर सूर्य-चन्द्र हैं। कही ऊपरका अन्त मिलेगा ? देशमे ऊपर-नीचेका भाव कल्पित है। यह मत सोचो कि कितनी सीढी लगानेपर स्वर्ग मिलेगा ? पहली तारीख मंगलदायक और दूसरी अमगलदायक होती है, इसका पता है ? कालमे कही सोम मगल, साय प्रात होता है ? स्पष्ट है कि विचित्र उपाधियोके कारण कालमे ऐसी कल्पना हो गयी है।

सस्कृतमे 'ऊर्ध्वम्'का प्रयोग अमुक काल पूर्व और अमुक काल पश्चात् दोनो अर्थमे होता है। ऊर्ध्व किधर रहता है ? कोई पहले-पीछे नही होता। देश-काल वस्तु भी अपनेमे बिलकुल एकरस रहती हैं। सूर्य-चन्द्र आदि द्रव्योकी उपाधियोसे देश अपने आश्रय-भूत ब्रह्ममे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण बना है। वस्तुमे कौन पहले ? गेहूँ या तना ? 'अङ्कुरात् ऊर्ध्वं फल, फलात् ऊर्ध्वम् अङ्कुर ।' इसका अभिप्राय यह कि जिसमे देश-काल-वस्तुसे कल्पित 'ऊर्ध्वम् अध ' नही, उसका नाम है ऊर्ध्वम्। 'ऊर्ध्वम्' माने देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान भी और प्रकाशक भी। जहाँ वस्तु कल्पित होती है, वहाँ अधिष्ठान और प्रकाशक भी एक ही होता है। कल्पित सर्पका अधिष्ठान रज्जु नही है। जो कल्पना-का अधिष्ठान है, वही सर्पका भी अधिष्ठान है। इस कल्पित देश-काल-वस्त्वात्मक प्रपचका जो अधिष्ठान है, वहा प्रकाशक है। जो इस प्रपचको देख रहा है, वही अधिष्ठान है, और कोई वस्तु नही है।

अवाक्शाख । अवाक्शाखके रूपमे ब्रह्म है। अव्यक्तसे लेकर स्थावर वृक्षपर्यन्त यह ससार वृक्ष है। वृश्चिक या बिच्छू जैसे आदमीको डँसता है, वैसे ही यह वृक्ष भी आदमीको डँसता है।

ईश्वरसे विमुख हुए तो ईश्वरदृष्टि छूटी। इस दीखनेवाले ससारमे यदि अधिष्ठान ब्रह्मको छोड दें तो रागद्वेष आयेंगे। रागद्वेष मत करो। अच्छे-बुरे सब वही हैं। अविच्छिन्न रूपसे जन्म, जरा, मरण, शोक, मोहका रहना—यह अनर्थ ही इस वृक्षका स्वरूप है। यदि तुम मूलको भूल गये तो यही हाथ लगेगा।

यह हर क्षण बदलता रहता है। भागवतमें वृक्षका रूपक देकर ससारका वणन किया गया है। शङ्कराचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है।

इतिहासके एक बडे विद्वान्ने चर्चा करते हुए पूछा 'भागवत कब और किसने लिखी ?'

मैंने कहा 'मैंने लिखी और आज ही लिखी। बताओ कि तुम्हे भागवतकी किस बात पर यह आपत्ति है ? हम वस्तुकी दृष्टिसे ग्रन्थोको महत्त्व देते हैं। अपरिच्छिन्न या परिच्छिन्न, अतीन्द्रिय या इन्द्रियग्राह्य, पाँच वर्ष पूर्व हो या आज-कल। समयके माहात्म्यसे उसका महत्त्व न हो। इतिहास, पुराण, वेद सब हमे याद हैं।'

वे बोले 'स्वामीजी, हमने कभी यह विचार ही नहीं किया कि वस्तुके महात्म्यसे ग्रन्थका महत्त्व है।'

वृक्षका रूपक देकर भागवतमे वर्णन किया गया है

एकायनोऽसौ द्विफलस्त्रिमूल.—
चतूरस पञ्चविधः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो
दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्ष ॥ (भाग०)

यह संसार एक वृक्ष यानी प्रतिष्ठा है। इसके दो फल हैं सुख

और दु ख। इसके तीन मूल हैं —सत्, रज और तम। इसके चार रस हैं—धम, अथ, काम, मोक्ष। शब्दादि इसके पाँच प्रकार हैं। भूख, प्यास, शोक-मोहादि इसकी छह ऊर्मियाँ है। त्वक्आदि सात धातुएँ है। आठ डालिया है, अष्टविधा प्रकृति। नौ खोडर हैं, छन्द इमके दस प्राण ह। इसपर दो चिडिया रहती हैं। भागवतमे लिखा है 'इसके चक्करमे मत पडना।' जैसे राजनीति मे दल बदलकर भो आगे बढने की युक्तिमे मनुष्य रच पच जाता है, वैसे ससारमे भी देखनेमे आता है।

भागवतमे वणन है, हम नित्य गगाजीम नहाते हैं और सोचते ह, कलवाली गगाजी ही आज है। किन्तु पचीस मील प्रतिघण्टेकी गतिसे वह नित्य बह रही ह। वृक्षपर जो फल कल देखा, वही क्या आज है ? नही, बदल गया, पक गया, बढ गया। दीपककी बत्ती जलती है, प्रतिक्षण वह धुआँ बनकर आसमानमे समा रही है और नयी नयी ज्योति जलती रहती है। इसी तरह यह ससार प्रतिक्षण बदल रहा है, यह शरीर प्रतिक्षण बदल रहा है, पर हम रागद्वेष, शोकमोहके वशीभूत होकर, अपनेको कर्ता, भोक्ता और परिच्छिन्न मानकर इसीम फँस रहे है—दु खी हो रह ह। भ्रान्ति-वश हम इसमे बद्ध ह।

वेदान्त छाँट छाँटकर लोगोको ज्ञान देता है। अधिकारीके हृदयमे जो ज्ञान उत्पन्न करे, उसका नाम है 'वेद'। उदाहरणाथ, इस देहको और इस लोकको ही सब कुछ माननेवाले व्यक्तिमे वेद स्वगकी प्रमा उत्पन्न नही करता। वह तो यही मानता है कि माँ-बापके रजोवीर्यसे बना यह शरीर—यह ससार ही सच्चा और मरनेके बाद कोई आने जानेवाला आत्मा नही। ऐसे व्यक्तिके सामने वेद स्वर्गका वणन करे तो वह उसीकी हँसी उडायेगा—

वाह रे तेरी अप्सरा और वाह रे तेरा सोमरस ? वह वेदके वर्णनमे कभी विश्वास नही करेगा। किन्तु उसीको यह ज्ञान हो जाय कि 'मैं स्थूल देह नहीं, कर्ता-भोक्ता, ससारी आत्मा हूँ। पचभूतमे यह शरीर बना। पहले क्या था ? बादमें क्या होगा ? अनादिकालसे यह परपरा कैसी चली आ रही है तो समझमे आ जाय कि 'कोई वासनासे संश्लिष्ट है, जिसने देखने-सुनने-सूँघनेकी वासना इच्छाके अनुसार यह शरीर पाया इसमे कोई वासनाका कर्त्ता भोक्ता है। एक जीवनमे वासना पूरी नही हुई तो दूसरे जीवनमे उसे जाना पडेगा।' जिसे यह ज्ञान होगा, उसे वेद तुरन्त ज्ञान करा देगा कि यदि तुम सद्वासना, सत्कर्म करोगे, देवताका ध्यान करोगे तो शरीर छूटनेके बाद तुम्हे स्वर्गकी प्राप्ति होगी। एक अवस्था-विशेषमें जिसकी मन स्थिति है, उसके मनमें वेद स्वर्गादिको प्रमा उत्पन्न करता है

अधिकारिणी प्रमितिजनको वेद ।

जो ससारसे मुक्त होना नहीं चाहता, उसे यदि वेद समझाये कि 'तुम असंग हो, मुक्त हो, तुम्हें ससारका कोई बंधन नहीं तो वह कभी नहीं मानेगा।

आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका ।

एक ओर तो वह मुक्ति, स्वतन्त्रता, असगता, परमानन्द चाहता है और दूसरी ओर ससारको भी अपनी मुट्ठीमे बाँधे रखना चाहता है। ऐसे व्यक्तिके साथ वेद नादिरशाही नहीं करता, उसका ससार नहीं छुडाता। जो स्वय छूटना चाहेगा, जिसके मनमें मुमुक्षा होगी, उसीको वेद छुडाता है। मुमुक्षु पुरुष ही शम-दमादि साधनसे सम्पन्न अधिकारी होता है।

जिसे क्रोध करनेमें ही मजा आता हो, जो चाणक्यकी तरह

कुशमे मट्ठा डाल शत्रु उखाडना चाहे वेद कैसे ज्ञान करायेगा कि 'तुम ब्रह्म हो !' इसलिए जिसमे काम क्रोध न्यून हो, जिसकी इन्द्रियाँ काबूमे हो, जिसे कर्मोंसे उपरति हो, दु खमे सहिष्णुता हो, जो अपने अज्ञानको स्वीकार करता हो, जिसे बडो पर श्रद्धा हो, चित्तमे सशयका बोध रखनेका अभ्यासी न हो ऐसे अधिकारी पुरुषको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है। ज्ञानकी रसधारा नीचेकी ओर गिरती है। जो अभिमानसे सिर ऊपर कर बैठे उसपर वह गिरनेवाली नही। विनयीको ही वह मिलती है।

कई लोग वेद, स्वर्ग, मुक्ति, ईश्वर, धर्मके प्रति शका ही करते ह। जिन्हे हथेलीपर आग रखनेका अभ्यास है, उन्हे हाथ जलता मालूम नही पडता। हृदयमे शका होगी तो परमात्मबोध नही होगा। वह बोधको 'बोध' नही जानता। बडी भारी जलन मिटानेका बोध तो होना चाहिए।

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु समाहित श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येव आत्मान पश्येत्।

तुम्हे परमात्मा कहाँ मिलेगा ? आत्मामे। आत्मामे परमात्माको देखनेकी रीति ही 'वेदान्त' है।

जो वस्तु सच्ची होती है, उसे प्रवर्तित या परिवर्तित करना हो, रगना हो तो काम करना पडेगा। घडेमे पानी भरना हो, पीना हो या उलीचना हो, घडा फोडना हो तो भी प्रयत्न करना पडेगा। जो वस्तु सच्ची है, उसके प्रवतन निवतन या सरक्षणके लिए कर्म आवश्यक है। किन्तु जो वस्तु झूठी है, मालूम नही पडती, वह कर्मनाश्य नही, वह तो ज्ञाननाश्य है।

सोचो, ससारमे तुम्हे जो बंधन लगता है, वह कर्मनाश्य है या ज्ञाननाश्य ?

'ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ।

आत्माको जान लो तो सारे बधनोसे मुक्त हो जाओगे

'ज्ञात्वा देव सर्वदु खापहानि ।

परमात्माको जानोगे तो सारे दु ख मिट जायँगे

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।

परमात्माको जान लेनेपर हर्ष-शोक मिट जाते हैं

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति ।

परमात्माको जाननेसे ही मृत्युका अतिक्रमण होता है

ऋते ज्ञानान्नमुक्ति ।

बिना ज्ञानके मुक्ति संभव नहीं होती। यह वेदान्तका डिम-डिम घोष है। तुम्हारा बन्धन ज्ञाननाश्य है। जो ज्ञानसे मिटता है, वह कभी सच्चा नही होता। रस्सीमें जो साँप मालूम पडे वह डण्डेसे मरेगा या रस्सी जाननेसे? रस्सीको जाननेसे ही वह मरेगा। साँप झूठा है, डण्डेसे मारनेसे वह मरता तभी सच्चा होता। बधनका आध्यासिकत्व केवल भ्रान्तिमूलक है। अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपको न जाननेके कारण ही तुमने अपने-को बधनमे मान रखा है।

जलनिधिमें मीन पियासी।
मोहे लखि-लखि आवै हाँसी।
चिड़िया जल बिच मरत पियासी।
जलमें ठाढ़े पिये न मासा।
अच्छा जल है खासा।

दृष्टिमें आनन्द ही आनन्द, ज्ञान ही ज्ञान, और सत्ता ही सत्ता

है। एक अमृतका समुद्र है, उसमे अमृतसे बना हमारा व्यक्तित्व डूबा उतर रहा है, तैर रहा है। इसमे शोक मोह-बंधन कतई नही। अमृतस्य पुत्रा —श्वेताश्वतर उपनिषद्मे कहा गया है कि मनुष्य अमृतका पुत्र है। इसमे स्त्री पुरुषका भेद नही। घीका लौंदा चाहे आडा हो या टेढा, घी ही है। ब्रह्मका ही स्फुरित व्यक्तित्व जगत् है। इस तरह तीन बातें मुख्य ज्ञातक हैं

१ अपनेको देहातिरिक्त जाननेवाला शमादि षट्सपत्तिसे युक्त अविकारी वेदान्तसे 'मै ब्रह्म हूँ'का बोध प्राप्त करता है, युक्तिसे नही।

२ सच्ची वस्तु प्रयत्नसे और झूठी वस्तु ज्ञानसे मिटती है। बधन झूठा है। जो ब्रह्मज्ञानसे मिटता है।

३ वाक्याथको कैसे समझें ?

इसके लिए जानना होगा कि अक्षर दो तरहके होते हैं स्वर और व्यजन। इन्हीसे पद और पदोसे वाक्य बनता है। अथबोधकी तीन रीतियाँ है

१ भेदसे अथबोध वाक्यभेदसे अपने अथको बताकर अन्वय द्वारा अपने अथका बोधन कराना। जैसे—रामेण बाणेन हतो बाली (रामने बाणसे बालीको मारा) यहाँ राम, बाण, बाली और मारना ये चारो अथ चार अलग शब्दोसे प्राप्त होते हैं। किन्तु विभक्तिके विभाजन द्वारा उनका अन्वय कर दिया तो वाक्य बन गया। फिर उन्हीमेसे एक वाक्य अन्वय द्वारा भेदसे अथका बोधनकर वाक्याथको समझा देता है—पदोके अन्वयके कारण ही चार फूलोकी एक मालासा एक अर्थ सभव है।

२ ससर्गसे अथबोध 'नीलोत्पलम्' (कमल नीला है) यहाँ

दो शब्द हैं—नील और कमल, पर संश्लिष्ट होकर एक हो जाते हैं। यह है विशेषण-विशेष्यभाव। 'नीलता' विशेषण है और विशेष्य है 'कमल'। यहाँ ससर्गसे अर्थबोध हुआ, अन्वयसे नही।

३ वेदान्तसे अर्थबोध यथा—'तत् त्वं असि'। यह एक महावाक्य है। इसमें भेदेन अन्वय नही होता जैसे कि 'रामेण बाणेन हतो वाली' में होता है। वहाँ प्रत्येक पद अलग-अलग अथका वाचक है और उसका परस्पर अन्वय करना पडता है। वैसा इसमे अन्वय नही करना पडता। इसीलिए यह भेदसे अथका बोधक वचन नही है। यह बोलनेका तरीका है। इसमे विशेषण-विशेष्य भी नहीं है क्योंकि दोनो शब्द परस्पर विरोधी हैं। 'तत्' पदाथ है सपूण जगत्के बीजसे अवच्छिन्न चैतन्य और 'त्व' का अर्थ है व्यष्टिबीजसे उपहित या अवच्छिन्न चैतन्य। जैसे—घटकी उपाधिसे अवच्छिन्न आकाश और मकानकी उपाधिसे अवच्छिन्न आकाश। दोनोमे विशेषण-विशेष्य भाव नही हो सकता, क्योंकि 'विरोधात्'—विरोध होनेसे एक है अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, अल्प-देशावच्छिन्न, व्यष्टिदेशावच्छिन्न, व्यष्टिकालावच्छिन्न और व्यष्टि-विषयावच्छिन्न तो दूसरा है सवज्ञ सर्वशक्ति, समष्टि-देशावच्छिन्न, समष्टि कालावच्छिन्न और समष्टि विषयावच्छिन्न। इसमें एक अहमथ है, एक तत्-पदार्थ है। एक प्रत्यक्ष यानी साक्षादपरोक्ष है, एक परोक्ष है। दोनोमें एकता नही हो सकती। ऐसी स्थितिमें न तो अन्वय द्वारा वाक्यसे अर्थबोध होगा और न संसर्ग द्वारा। तब वाक्यसे अथका बोध कैसे हो ? कहना होगा कि लक्षणासे वाक्यके अर्थका बोध होगा जहाँ भी अन्वयानुपपत्ति और संसर्गानुपपत्ति होती है, वहाँ लक्षणासे अर्थबोध कराया जाता है।

आजकल लोग अग्रेजी ढगसे वेदान्त पढते है तो पुरानी

प्रक्रिया छूट जाती है। उसे हम फिरसे समझायेंगे तो वह नयी हो जायगी। लक्षणा अर्थात् ज्यो के-त्यो वाक्यके अथमे अभिप्राय नही है। उससे कुछ समझाना चाहते हैं।

हम जब काशी विद्यापीठमे जाकर आये तो वहाँ बाबू सम्पूर्णानिन्द, श्रीप्रकाश और आचार्य नरेन्द्रदेव पढाते थे। वहाँ एक 'आनन्दमोहन' नामका बालक पढता था नह आन्ध्रका था। उसने हिन्दी अच्छी पढ ली थी। एकबार उसे चिट्ठी लिखनेका काम आया। उसने लिख दिया 'ऐसा दु ख हुआ, बिच्छू डक मार गया ?' वह हिन्दी पढ़ा था, लक्षणा नही जानता था। बिच्छू डक मार गया अर्थात् बिच्छूके डक मारनेसे जैसा दु ख होता है, वैसा ही यह समाचार सुनकर दु ख हुआ। यह है 'जहत् लक्षणा'। वाक्यका जो अर्थ है, 'बिच्छूका डक मारा जाना, वह तो छूट गया और उससे अथ लगाया गया, 'बहुत दु ख हुआ।'

बहुत दिनोके बाद घरपर मेहमान आये और तुरन्त चलने लगे तो हम कहते है 'पाँच मिनट बैठो तो सही।'

उसने घडी ली और पाँच मिनट होते-होते उठा।

हमने कहा 'बैठो!'

बोला 'तुमने पाँच मिनट अवधि निर्धारित कर दी थी तो हम छह मिनट कैसे बैठ सकते हैं ?'

हमने बताया हमारा अभिप्राय पाँच मिनट मात्र नही, आप तुरन्त मत जाओ, बहुत देरतक पाँचसहित बहुत मिनटोतक बैठो, यह था।'

शास्त्रो मे इनके उदाहरण क्रमश 'गगाया घोष' और 'मञ्चा" क्रोशन्ति' वाक्य दिये जाते हैं। इनमे एकमे होती है जहत्-

लक्षणा। दूसरे मे अजहत्-लक्षणा। किन्तु वेदान्तमें एक तीसरी लक्षणा भी होती हैं—जहत्-अजहत्-लक्षणा यानी कुछ छोडना और कुछ लेना।

वेदान्तको समझ-समझकर नहीं पढोगे तो यह कैसे हृदयंगम होगा? जहदजहत् यानी भाग-त्याग, कुछ छोडें और कुछ रखें। जैसे—'यह वही आदमी है, जो पजाबमे मिला था।' प्रश्न होगा कि यह वही कैसे? उस आदमीके सिर पर तो बाल था, दाढी बढी हुई थी। अरे, वह जबसे बम्बईमें आकर रहा, क्लबमे जाने लगा, तबसे उसने अपना जटा-जूट मुडवा दिया, दाढी-मूँछ मुडवा दी। वह आधुनिक ढगसे रहता है, पुरानी सिक्ख-परंपराका पालन नही रहता।' जटाजूट आदि छोड दो दोनो मनुष्योमे एकता है।

तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। एतद्वै तत्। द्रष्टके सामने जो दृश्य है वह कार्य है, अपने कारणसे निकला है और वह कारण अपने अधिष्ठानके अज्ञानसे कल्पित हो गया है। कार्य-कारणात्मक प्रपचको द्रष्ट अपने स्वरूपकी अद्वितीयता और अनन्तता न जानने के कारण सच्चा समझकर उससे अलग हो रहा है। वास्तवमे दृश्य द्रष्टाकी दृष्टिमे है और अपना स्वरूप ही है। किसीसे अलगाव करनेकी कोई आवश्यकता नही।

जिस रूपसे यह दुनिया दीख रही है, उस रूपसे तो यह अभावात्मक है। यह मनुष्यको दु ख-सुख दे रही, इसलिए अच्छी है।

नैयायिक लोग चार तरहका अभाव मानते है दो तरहका कालमे, एक तरहका देशमे और एक तरहका वस्तुमे।

(१) प्रागभाव किसी वस्तुका पैदा होनेके पहले न होना 'प्रागभाव' है। यह कालमें है। बच्चा जबतक बाहर नहीं आया

तबतक धरतीपर उसका प्रागभाव था। जब तक पेटमे नही आया तबतक पेटमे प्रागभाव था। जबतक पिताके वीयमे नही आया था तबतक वहाँ प्रागभाव था। लेकिन वेदान्ती इस प्रागभावको स्वीकार नही करते। वे कहते है 'कोई भी कार्य-कारणमे रहे बिना पैदा नही हो सकता। यदि यह जीव बच्चेके रूपमे पैदा हुआ है, तो वह मांके पेटमे न होनेपर कहाँसे आता? बापसे वीर्यमे न होता तो कहाँसे आता? बीजके अनुरूप ही पौधा पैदा होता है। वेदान्ती सृष्टिको निर्बीज नही मानते। नैयायिक लोग सृष्टिको निर्बीज मानते हैं अर्थात् अभाव से भावकी उत्पत्ति मानते है।

(२) प्रध्वसाभाव यह भी कालमे है। एक कालमे वस्तुका पैदा होना और एक कालमे मरना—घडा बनना और फूटना। बननेके पहले घडेका न होना प्रागभाव है और फूट जाना प्रध्वसाभाव है। ये दोनो कालमे है।

(३) अत्यताभाव यह देशमे होता है। 'अत्र स्थाने घटो नास्ति।' इस स्थानपर, मेजपर घडा नही है। कही घडा नही है, यह अभिप्राय नही। एक जगह किसी वस्तुका न होना देशिक अभाव है। इसे अत्यताभाव कहते हैं।

अन्योन्याभाव यह 'घडी किताब नही है, किताब घडी नही है।' प्रपच अपनी उत्पत्तिके पूर्व नही था, इसलिए प्रागभाव, प्रलयके बाद नही रहेगा, इसलिए प्रध्वंसाभाव यानी कार्यरूपमे नही रहेगा। 'भैंस गाय नही है, गाय भैंस नही' यह अन्योन्याभाव। 'इस हालमे न गाय है, न भैंस है' यह हुआ अत्यताभाव।

प्रकारान्तरसे इसीके वेदान्तीने तीन विभाग किये हैं १ देश-परिच्छेद काल २ परिच्छेद और ३ वस्तु-परिच्छेद। प्रपंच पर दृष्टिपात करके भी तत्त्वविद् जानते हैं कि कुम्भ अकुम्भ, वार अवार,

दिन-रात कुछ नही, कल्पित हैं। मुनियोंने प्रपच रचा और कुम्भ का मेला लगा—यह तो प्रयोजन-विशेषसे, समाज-विशेषके लोगोंने स्थान विशेषमे, काल-विशेषमे, क्रिया-विशेष द्वारा एक पुण्योत्पत्ति-की कल्पना की है। यह छोटी-मोटी चीज वेदान्तीको आकृष्ट करनेवाली नही होती। वेदान्तीकी दृष्टि तो अपरिच्छिन्न परब्रह्ममें है, जहाँ देश काल-वस्तुकी दृष्टि तो अकिंचित्-कर है।

एक महात्मा अपनेको रामजीका साला मानते थे। वे मिथिलापुरीके थे। उनका नाम था 'प्रागदास'। जानकीजीको वे अपनी बहिन और रामको बहनोई मानते थे। उन्होंने जब सुना कि कैकेयीने उनको वनवास दे दिया, तो एक पलग, एक गद्दा-तकिया सिर पर लेकर चले। उनका खयाल था कि चित्रकूटमे ले जाकर सुलायेंगे। वे प्रयागराज कुम्भके मेलेमे पहुँचे। स्वय धरती पर सोते थे, पलग पर नही। लाउडस्पीकरोका चक्कर और कोलाहल भारी था। दूकानें सब जगह लगी हुई थी। जहाँ वे अपनी खाट लेकर जायँ, उन्हें कोई ठहरने न दे।

वे बोले

> मुडियोंने परपच रचा है, क्या रक्खा है मेले मे।
> प्रागदास राघवको लेकर पडे रहेंगे ढेले में॥

हम तो अपने ठाकुरजीको ले जाकर मैदानमें सोयेंगे। क्या रखा है दूकानोंमें ?

प्रपचका नमूना देखिये। चुनावमें ऐसा स्टट किया जाता है कि अपनेमें हर तरहसे महत्त्वको आरोपितकर दूसरेको नीचा दिखाते हैं। ऐसा मनुष्य अपने मन-बुद्धि-आत्मा, शरीर और इन्द्रियोका जो बडप्पन दिखाता है, वह ढोंग है। इसीको माया या

प्रपच कहते है। पाँच कर्मेन्दिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच विषय, पाँच वृत्तियोमे जो मालूम पडता है, वह मारा प्रपच है।

मैंने बचपनमे 'विश्व-प्रपच' नामकी एक पुस्तक पढी थी। उसका लेखक डा० हैकले जो जर्मन था और आचाय रामचन्द्र शुक्लने उसका अनुवाद किया था। जडाद्वैतवादी नास्तिकोमे हैकले मूधन्य माना जाता है। ये डार्विनके गुरु थे। विश्वप्रपच जादूका खेल, वखेडा। जरा-सी आँखकी पुतली है, पर देखती है मीलो तक!

'पालब्रटन' नामका एक अमेरिकन श्रीरमण महर्षिके पास गया। उसने 'गुप्त भारतकी खोज' लिखी है। वे श्रीउडियाबाबा-के पास गये और बोले —'हम तो चमत्कार देखने आये है। हमने सुना है कि भारतीय साधु चमत्कार दिखाते हैं।'

बाबाने कहा —'एक बूँद पानी जो बापके शरीरमे था, वह साढ़ेतीन हाथका शरीर बन गया! वह बोलता है, चलता फिरता, सोचता-करता है। यदि एक बूँद पानीसे हुआ इतना बडा चमत्कार नही देख सकते, तो निश्चय ही ठगे जाओगे। कोई और चमत्कार तुम्हे नही दिखा सकता। चमत्कार तो यही है।

पचदशीमे लिखा है

एतस्मात् किमिवेन्द्रजालपरम यद् गर्भवासस्थित रेतश्चेतति!

एक बूँद पानी और उसमे चेतनाका होना, हाथ-पाँव निकल आना, पोषण पाना, बाहर निकलकर इतना विद्वान् मनुष्य बन जाना—यही तो मायाका चमत्कार है।

एक आदमी श्रीउडियाबाबाके पास आया और बोला 'बाबा पडोसी दिन रात मेरी निन्दा करता रहता है। सुन-सुनकर जल

जाता हूँ। यह वेदान्त-भक्ति धरी रह जाती है और मनमे दुश्मनी आ जाती है।'

श्रीउडियाबाबा बोले—'बेटा, उसकी क्या फिक्र करता है? वह तो एक वर्षके भीतर ही मर जायगा। उसकी आयु अब एक ही वर्ष बाकी है। पेट-भर निंदा कर लेने दे।'

उस आदमीका खयाल उस ओरसे हट गया। सोचा कि 'जो एक वर्षके भीतर मर जायगा उसकी क्या फिक्र करना?'

वह तो अपने काममें लग गया। दो तीन वर्ष बीत गये, पर वह मरा नहीं। मैंने बाबासे पूछा 'आपने क्यों कहा था कि वह एक वर्षके भीतर मर जायगा? वह तो मरा नहीं?'

बाबा बोले —बेटा, वह जिज्ञासु वेदान्तका चिन्तन करता था तो निन्दाको तुच्छ समझकर उस ओर ध्यान दे, उपेक्षा कर दे, इस अभिप्रायसे मैंने एक वर्ष कहा था।'

अपने नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्त ब्रह्मस्वरूपको छोड़कर दुनियाकी छोटी-छोटी बातोंकी ओर तुम्हारा खयाल जाता है। उसे हटानेके लिए समझाना पड़ता है।

'चार दिनोंकी चाँदनी, फिर अँधेरी रात।'

'जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।' दुनिया दिखाई पड़ती है। उससे वैराग्य होना आवश्यक है। इसीलिए संसारको 'अश्वत्थ' कहा। इसकी शाखाओंमें फँसोगे तो नीचेकी ओर जाओगे और जड पकड़ोगे तो ऊपरकी ओर उठोगे। कार्यवर्गका त्यागकर कारणका अनुसंधान करो। क्षणिक-अनित्यताको छोड़ नित्यताको, अल्पदेशको छोड विभुव्यापक पूर्ण वस्तुका अनुसंधान करो।

निवृसिरात्मा मोहस्य आज्ञातेनोपलक्षित । यह अज्ञान किसमे है ? अज्ञानसे उपहित कौन है ? 'ब्रह्मके किसी एक हिस्सेमे अज्ञान है। वही जगत्का कारण है'—जब तुम ऐसा मानोगे तो झूठी कल्पना करोगे। ब्रह्ममे अज्ञान नामकी कोई वस्तु नही है। अनन्त चिन्मात्र ज्ञानस्वरूपमे अज्ञान कहाँ ? फिर भी जब मनुष्य कहता है मुझे मालूम पडता है कि मै अज्ञानी हू। देशकी पूणताका छोर नही मिला, कालकी नित्यताका आदि-अन्त नही मिला, कारणदशामे वस्तुकी जो सूक्ष्मता है, वह प्रत्यक्ष नही हुई तो अज्ञान किसको है ? मै-मै ही नही सारी दुनिया जब अज्ञानसे ढँकी है तो ईश्वर और भी अज्ञानसे ढँके है' किन्तु यह बात भी जीवको ही मालूम पडती है। सारी दुनिया है, यह बात भी जीवको ही मालूम पडती है। जो सारी दुनियाके साथ ढका है, वह क्या जीवनके साथ ढँका नही है ? जिसे अज्ञान मालूम पडता है, उसे ढूँढ निकालोगे तो तुम ऐसे नित्य निकलोगे कि कालकी नित्यता हवामे उड जायगी, अध्यस्त हो जायगी। तुम्हारा स्वरूप वह है, जिसमे वस्तुकी कारणता-सूक्ष्मता अध्यस्त है, जिसमे देशकी पूणता अध्यस्त है। सारे वेद शास्त्र पुराण तुम्हे प्रस्तुत करते हैं, तुम्हारी स्तुति करते है।

जानते हो, साक्षात् साधन तो 'महावाक्य' है। नित्यानित्य-वस्तुविवेक तो बहिरग साधनोमे प्रथम आता है। अश्वत्थके अर्थ पर ध्यान दो तो मालूम पडेगा कि संसारमे नित्य अनित्य क्या-क्या है। खेती करते हैं तो फसल पैदा होती है, मशीनसे कपडा बनता है, स्त्री-पुरुषके संयोगसे बालक और शरीर भी पैदा होता है। इसीलिए ये सब मरनेवाले हैं। जो पैदा होकर मरे, वह 'अनित्य' है।

धर्मात्मा कहता है 'धर्म करो तो परलोक मिलेगा स्वर्ग और परलोक नित्य है और यह लोक अनित्य है।'

अनित्य न प्रकृति है और न ईश्वर। जिसमें अनित्यकी कल्पना चिपक गयी वही अनित्य है और जिसमे नित्यताकी कल्पना चिपक गयी वह नित्य। नित्यता-अनित्यताकी इस कल्पनाका प्रकाशक और अधिष्ठान आत्मा है और दोनोंकी कल्पनाका तादात्म्य किये बिना हुए हैं वही वास्तवमे अनित्य है। अनात्मा अनित्य और आत्मा नित्य है। बिना किसी गौणताके जिससे मैं अलग हूँ, वह अनित्य एवं परिवर्तनशील है और मैं—द्रष्टा, साक्षी, अधिष्ठान ब्रह्म नित्य हूँ।

'नित्यानित्य-विवेकका अर्थ सदसद्-विवेक है'—यह भामती-कारका मत है।

'धर्म और अधर्म, उपासना और वासना तथा विक्षेप और समाधानके फलोंका विवेक ही नित्यानित्यवस्तु-विवेक है'।—यह विवरणकारका मत है।

इस नित्यानित्यरूपसे कार्य-कारण, विभु-परिच्छिन्न और जगत्की नित्यता और अनित्यता जिसमें भासती है, वह आत्मा नित्य है और शेष सब अनित्य हैं, इसप्रकारका आत्मानात्मविवेक बहिरंग साधनकी पहली कड़ी है।

अब वैराग्यकी भूमिका देखें। सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चसे वैराग्य होनेका अर्थ यह नहीं कि स्त्रीके हृदयमें पुरुषके प्रति और पुरुषके हृदयमें स्त्रीके प्रति ही वैराग्य हो। यह तो प्रारम्भिक वैराग्य है। वैराग्यका निष्कृष्ट अर्थ है तादात्म्यका अभाव। शत्रुसे तादात्म्यका भाव द्वेष और मित्रसे तादात्म्यका भाव राग है तो परिच्छिन्न अहसे तादात्म्यका भाव है अस्मिता। वैराग्य किससे? जिससे मैं

विलक्षण हूँ, उसके साथ 'मै मेरा' न करना ही वैराग्य है। जिस अन्त करणमे राग द्वेष पैदा होता है, उसीसे तादात्म्य न करना वैराग्य है। तब हम अन्त करणरूपी घोडेपर चढ़ेगे तो वह हमे गिरानेका क्या प्रयास करेगा ? तब तो वह अपने आप शान्त-दान्त, तितिक्षु-उपरत और श्रद्धालु समाहित हो जायेगा। कैसा अजीब है यह घोडा ! जरा सा असावधान होकर बैठे तो लगे–'मैं मेरा' करने ! नही-नही, अब तो सदाके लिए इसका अश्वमेध-यज्ञ ही हो जायगा। यजुर्वेदमे अश्वमेधयज्ञ सर्वमेधयज्ञका विस्तारसे वर्णन है। कही भी प्रतीयमान पदार्थके साथ आत्माका अहंत्वेन, ममत्वेन या सत्यत्वेन संसर्ग हो जाता है। अपने स्वरूपके अज्ञान का ही यह विभ्रमण है। जिसके अज्ञानसे इसप्रकारके कोटि-कोटि अनर्थोंकी प्राप्ति हुई, उसे जाननेके लिए अश्वमेधयज्ञ अनिवार्य है।

अश्वत्थ कौन है ? 'अश्वे स्थितियस्य, अथवा अश्वे तिष्ठति इति अश्वत्थ ।' वेदमे अश्वमेधका वर्णन है

उत्थानम, उत्तभनम् अश्वे तिष्ठति
कुशा अश्वस्य मेधस्य सिरा ।

(बृहदारण्यक)

मनुष्यकी अनित्य-अनात्म पदार्थं यानी अश्वपर बारम्बार स्थिति हो जाती है। तुम नही टूटते, सपने और मनोराज्य टूटते हैं। 'मेध' अश्व या अनात्म वस्तुका होता है, आत्माका नही। यह अश्वत्थ वृक्ष कदली स्तम्भवत् नि सार है। केलेके खम्भेके छिलके पर छिलके उतारते जाओ, अन्तमे कुछ हाथ नही लगेगा। प्याजसे गूदा निकालनेका यत्न मत करो, उसमेसे कभी बादामकी गुठली नही निकल सकती। यह अश्वत्थ वृक्ष ऐसा ही नि सार है।

इस पेडके बारेमे हजारो तरहके विकल्प हैं। पता ही नही चलता कि यह कौन-सा पेड है। वेदान्तियोंने ही इसकी वास्तविकता समझी है। यह जिसे भास रहा है, उससे न्यारा कुछ नहीं है।

महात्माओंने इस ससारके रहस्यको समझा है—'वेदान्त-निर्धारित परब्रह्म मूलसार।' वेदान्तियोंने निर्धारण किया है कि जगत्‌का जो मूल है, जिसमे यह दीख रहा है वह अन्य कुछ नही, अपना आपा ही इसका सार है। आत्मा ब्रह्म है।

सृष्टिकी उत्पत्तिमें तीन कारण हैं —

(१) अविद्या उलटी समझ, दु खको सुख समझना। धन-दौलत, मकान सुख देनेवाले हैं, ऐसा मानना। सस्कृतमे कहते हैं—नदीतट पर वृक्ष खडा है। मालूम पडता है कि पानीकी लहर आते ही गिरनेवाला है, वृक्ष अब गिरना ही चाहता है। क्या वृक्षके मनमें गिरनेकी कामना है? कभी नही, झूठा आरोप। इसी-तरह स्त्री, पुत्र, धन या मकानमें झूठा आरोप किया गया है। सुखप्रदताकी कल्पना झूठी है। अविद्याका अर्थ है, मूर्खतावश ज्ञान, जीवन और आनन्दको अपनेसे न मानकर दूसरेमें समझ रखना।

(२) कामना चमकती बडी-बडी आँखें, लाल-लाल ओठ, मधुर मुसकान, कीमती लाल-सफेद हीरा। हीराकी पोटली बाँधे लोग रेगिस्तानमे मर जाते हैं।

'दूरात् हि पर्वता रम्या।' हम सुख-शान्तिकी खोजमे बहुत भटके हैं। लोगोने हमे बताया कि हिमालयमें बडा आनन्द है। जो लोग नही जाते, उन्हीको ऐसा मालूम पडता है।

हम वहाँ जाकर गंगाजीके तटपर बैठे तो एकसौ-बीस वर्षके महात्मासे हमारी बातचीत हुई। वे बोले

'महात्माजी, गगाकिनारे मत बैठो ।'

मैने पूछा 'क्यो ?'

'कभी ठंडी हवाकी लहर आयेगी तो कभी गरम । जुकाम हो जायगा तो कहोगे कि उत्तरकाशीमे जाकर बीमार पड गये, कमरे-मे बैठकर भजन करो ।'

मै कमरेमे बैठा तो छोटी-छोटी भुनगी—कीडे आँखोमे घुसने लगी । रातको पहाडमे आग लगी तो कमरेमे धुआँ भर गया । ऊपर तो उठे नही, साँस लेना कठिन हो गया । बादल छा गये ।

एक बार एक शंकरचैतन्य भारती उत्तरकाशी गये । उन्हे पढनेका बडा शौक था । बडे भारी महात्मा थे । लेकिन सात-आठ दिनोमे लौट आये । उन्होने बताया 'कमरेमे बादल घुस आते हैं । अधेरा छा जाता है । पढनेका मौका ही नही मिलता ।' वे लौटकर 'शुकताल' चले गये ।

(३) कर्म मनमे कामना है और उससे प्रेरित होकर कर्म किया जाता है । ऊपरसे देखनेमे जो सुन्दर है, वह भीतर भी मधुर लगेगा और जो ऊपरसे रूक्ष दीखता है वह भीतर भी रूक्ष मालूम पडेगा, ये दोनो बातें गलत है । हमलोग कामनाके वश-वर्ती होकर काम करते हैं । कामना ही सताती है । वस्तु पानेकी इच्छासे प्रयत्न करते हैं, उसके सस्कार पडते हैं और वासना बनती है । अज्ञान या मूर्खता, कामना और कर्म—तीनोकी अव्यक्त दशा इस अश्वत्थ या संसार-वृक्षका बीज है ।

विज्ञानकर्मशक्तिद्वयात्मको हिरण्यगर्भाङ्कुर ।

जो मायामे भासमान माया-विशिष्ट अपर ब्रह्म है जो विज्ञान-क्रियाशक्ति है, उसीसे हिरण्यगभ बनता है । हिरण्यगभ प्रजाकी

सृष्टि भी करता है। किसे किस धारामे भेजकर मनुष्य, पशु या पक्षी बनाया जाय, इसका अकुर हिरण्यगर्भ है। स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि जातिभेद उसके कन्धे हैं। तृष्णा है जलासेचन (पानी से सींचना)। इससे यह अंकुर बढता और ऊँचा होता है। बुद्धि, इन्द्रिय और विषय इसके प्रवाल या कोपल हैं। श्रुति स्मृति, न्याय, विद्योपदेश बडे बडे हरे-हरे पत्ते हैं। यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रियाओंसे यह पुष्ट होता है। सुख दु ख, वेदना आदि अनेक रसो-से युक्त, प्राणियोके उपजीव्य इसके अनन्त फल हैं। 'हमे यह फल मिले', इस तृष्णासे यह फल बढ़ता है। इसमे एकदम जटाएँ पैदा हो जाती हैं। बडे दृढ इसके मूल हैं। सत्यादि ऊपरके सात लोक और जो अनन्तादि नीचेके सात लोकोंमे ब्रह्मा आदि पक्षी अपने घोसले बनाकर रहते हैं। जैसे किसी पेडमे आवाज होती है, वैसे इस महान् ससाररूपी अश्वत्थ वृक्षमें जो आवाजें हो रही हैं वे हैं प्राणियोका हर्ष-शोक, सुख दु ख, नाचना, 'गाना, बजाना, मजाक करना, ताली बजाना, हँसना, रोना, गाली देना, चिल्लाना हाय-हाय करना, छोडो-छोडो, छूट गया कहकर आक्रोश करना आदि।

वेदान्तमे जिस ब्रह्म और आत्माकी एकताका वर्णन है वही इस अश्वत्थ-वृक्षको काटनेका असग शस्त्र है। कामना-कर्मकी आँधीसे पेडके पत्तेकी भाँति यह दुनिया हिलती रहती है और स्वर्ग-नरक, तिर्यक्-प्रेतरूप फैली शाखाएँ नीचेकी ओर लटकती रहती हैं। ज्ञानकी कुल्हाडीसे इसे नही काटोगे तो यह नही कटेगा। इसी ससारवृक्षके किसी खोंडर या घोंसलेमें तुम भी फँसे रहोगे, इससे छूट नहीं सकते। वास्तवमें इसकी जड ढूँढो। वह ऊपर है, नीचे नहीं। ऊपर यानी काल, देश और वस्तुके पहले जहाँ वे भासती हैं और 'पहले' जहाँ भासती है, उसका प्रकाशक—केवल प्रकाशक

ही नही, सम्पूण देश काल वस्तुका अधिष्ठान है। ब्रह्म ही उसका मूल सार है। इसका अनुसन्धान किये बिना यदि कोई चाहे कि हम छूट जायँ, ता नही छट सकते।

प्रपञ्च अज्ञानकालमे काय-कारणात्मक प्रतीत होता है तो ज्ञानकालमे ब्रह्मात्मक प्रतीत होता है। प्रतीतिके ही दो भेद है, वस्तुके नही ह। इसी ब्रह्मके लिए कहा गया है **तदेव शुक्र तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन्। एतद्वै तत्॥'**

इसी प्रपचको दो रूपोमे कल्पित किया गया है एक जात प्रपच यानी कार्य और दूसरे अजान प्रपच यानी कारण। इस जाताजातकी कल्पनाका जो प्रकाशक है, वह द्रष्टा है और श्रुति इसी द्रष्टाको 'ब्रह्म' बतलाती है। श्रुतिके अतिरिक्त इसमे कोई प्रमाण नही। इसलिए जिसे जाताजातसे वैराग्य है, मुमुक्षा है, काय-कारण और उत्पाद उत्पादकसे जो छुट्टी चाहता है, उसे ब्रह्मात्मैक्य-बोध प्राप्त करना चाहिए। यदि उत्पाद्यमे बधोगे तो मोह-ग्रस्त होकर सयोग-वियोगसे सुखी दु खी होगे। उत्पादकमे बँधोगे तो पराधीन होगे। दोनोसे विनिर्मुक्त प्राणी जब आत्माको ब्रह्म जानेगा तो फिर चाहे वह उत्पादकमे रहे, या उत्पाद्यमे, वही परमानन्द प्राप्त करेगा।

'शुक्र'=बीजसे उपलक्षित तत्त्व। मनुष्यके शरीरकी उत्पत्ति कैसे हुई, कहाँसे हुई? तो उत्तर है शुक्रसे यानी बीजसे। जैसे सामान्य बीजमे अनादि परम्परासे तत्-तत् संस्कार होते हैं और आम-अगूर-इमलीका भेद होता है, वैसे ही चेतन जीवमे भी अनादि-परम्परासे जो संस्कार होते हैं उन्हीके अनुरूप प्राणीकी योनि जीवको प्राप्त होती है। जीवत्वमे पाप-पुण्य, सुखी-दु खीपन-

के सस्कार अनुगत होते हैं और बीजमे कड़वाहट-मिठास-खट्टे-पनके सस्कार अनुगत होते हैं। आगमे बीज भस्म हो जाने पर उपादान मात्र ही शेष रह जाता है, बीजत्व नही। वैसे ही जीवमें अज्ञानमूलक पापीत्व, पुण्यत्व, पाप-पुण्यता, सुखिता-दुखिता आदि संस्कार ज्ञानाग्निमे भस्म होने पर जीवत्वकी निवृत्ति हो जाती है, और वह ज्ञानमात्र रह जाता है। जीवत्वरूप बीजत्वसे रहित सत्-चित्को ही 'शुक्र' कहते हैं। वही ससाररूप अश्वत्थ वृक्षका मूल कारण है। वह ब्रह्म है—'तद् ब्रह्म।' ब्रह्म यानी जिसमे आकाशादि विशेषका आरोप नहीं हुआ है, वह सच्चिदानन्दघन।

'तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।' उसीको 'अज' और 'अमृत' कहते हैं। ब्रह्म पदका अर्थ है, परिच्छिन्नताके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित। जन्म-मृत्युके बीच 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, विनश्यति' आदि कोई भी अवस्था परमसत्तामें नही होती। भानमात्र अवस्था अपने अधिष्ठानका, अपने प्रकाशकका किञ्चित् भी स्पर्श नही करती। 'अमृतम्' यानी जन्मादि जडभावके विकारोसे शून्य। जन्म नहीं तो मृत्यु नही और तब बीचकी अवस्थाएँ भी नहीं। यदि तुम ब्रह्मका साक्षात्कार कर लो तो फिर मरना नही पडेगा। जन्म मृत्युके बधनसे छूट जाओगे।

मनुष्यका जीवन केवल दु खाभावके लिए ही नहीं होता। परमानन्दकी प्राप्ति भी उसका लक्ष्य है। इस ससारमे तो स्थूल भोगानन्दकी प्राप्ति होती है। चन्द्र मनका अधिदेव है। मनमे जिसके बारेमे सुखके सस्कार हैं कि अमुक क्रिया, वस्तुका भोग सुखप्रद है, उस संस्कारसे विशिष्ट मन द्वारा कल्पित स्थूल विषयःभोगामृत लौकिक अमृत है। विषयोंमें चन्द्रकिरणोसे बरसा हुआ अमृत है। आधिदैविक अमृत समुद्रमथनसे निकला हैं, जिसे देवता पीते हैं।

किन्तु आध्यात्मिक अमृत तो एकात्म प्रत्यय-सार रूप ही है। माण्डूक्य उपनिषद्मे आया है—'एकात्मप्रत्ययसार' परमात्माका एक नाम है। 'प्रत्यय=वृत्ति, प्रत्येकम् अयते, प्रत्यक्षम् अयते, प्रतीयम् अयते'। बाह्य विषयोके सस्कारोको ग्रहण कर जो भीतरको जाता है, उसका नाम है 'प्रत्यय'। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यजन्य एकात्मप्रत्ययका अथ है, ब्रह्मात्मैक्यबोध। उस बोधवृत्तिका सार ही 'अमृत' है। अर्थात् वृत्तियोका मंथन करनेपर जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति समाधि वृत्ति, मर्छा कम विश्रामवृत्ति आदि भिन्न भिन्न प्रकारकी वृत्तियोका सार अमृत है। जैसे दधि मन्थन या दुग्ध मंथनके बाद नि सृत सारतत्त्वको नवनीत या मक्खन कहते है, वैसे ही प्रपच समुद्रको विवेककी मथानीसे मथनेपर शेष रह जानेवाली सार-वस्तु अमृत है।

विषयो, इन्द्रियो, मनोवृत्तियो, व्यष्टि समष्टि और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिके भेदो तथा विभिन्नताओके बीच जो एकत्व है, इस एकत्वमे जो वृत्तिका सारभूत एकत्व है, उसमे अधिष्ठानात्मक, स्वप्रकाशात्मक एकत्व है उसीको 'सार' या 'अमृत' कहते हैं।

विज्ञान आनन्दं ब्रह्म आनन्दात्मक विज्ञानका नाम ब्रह्म है।

'रसो वै स । रसो ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दीभवति ।'

रसका साक्षात्कार होनेपर ही आनन्द होता है। यदि परब्रह्म परमात्मा मिल जाय तो सम्पूर्ण दु खो, अनर्थोका तो आत्यतिक अभाव हो ही जायगा, परमानन्दकी स्वरूपरूपसे उपलब्धि भी होगी। इसीलिए कहा है 'तदेवामृतमुच्यते।'

तस्मिँल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत् ॥

अध्यास=वस्तुका जो वास्तविक रूप हो, उसके विपरीत उसे समझना उल्टी बुद्धि।

'अतस्मिन् तद्बुद्धि अध्यास इति असकृदवोचाम।'

एक चन्द्रमाको दो समझना, रस्सीको साँप समझना, आकाश-को नीला समझना, अपनेको परिच्छिन्न मानना अध्यास है। एक जगह जो वस्तु देखी गयी, उसे दूसरी जगह मान बैठना, जो वस्तु वस्तुत अन्य नहीं, उसे अन्य मानना, सबसे व्यतिरिक्तमें 'तद् बुद्धि' करना अध्यास है। जैसे सोहनको मोहन और मोहनको सोहन समझना।

दीखना और समझना दोनों अलग-अलग हैं। यह सृष्टि कबसे दीखने लगी, यह पूछते हो या हम सत्य कबसे समझने लगे, यह पूछते हो? जबसे हमारा स्थूल शरीरकी दृष्टिसे जनम हुआ, जबसे हम सूक्ष्म शरीरकी दृष्टिसे जीव हैं, जबसे आँख है तभीसे यह आकाश नीला दीखता है। हमें बचपनमें मालूम नहीं था कि आकाश परिपूर्ण, व्यापक, निराकार है और नीला नहीं है। जन्म-से ही यह समझ नहीं थी। पूर्वजन्ममें तो रही होगी, पर पूर्वजन्ममे भी बचपनमें तो यही नासमझीकी स्थिति ही रही होगी कि आकाशका नीलापन सच्चा है। इसका अभिप्राय यह कि जबतक हम आकाशको ठीक ठीक नहीं जानते तबतक नीलिमा देखेंगे और उसे सत्य ही समझेंगे। दुहरी वृत्ति बनेगी। जब बडे होंगे, बडे-बूढोंसे समझेंगे, तो आँख रहेगी तबतक आकाशको नीला तो देखेंगे, पर समझदारी आजानेसे उसे सच्चा नही मानेंगे।

बचपनमें हमें लगता था कि धरती पर चलते जायँ, चलते जायँ तो कहीं-न-कहीं आकाश मिल ही जायगा। आसमानमें उड़ते-उडते जायँ तो नीलिमामें डूब जायँगे। लेकिन मानव पानी-

मे डूबता है, आकाशकी नीलिमामे नही। अपना आत्मा सबका प्रकाशक है।

यह प्रपचको कबसे देखता है ?

जबसे उसे देखना आया है।

उसे देखना कबसे आया है ?

देखना तो उसका स्वरूप है, चेतनका स्वरूप है।

वह किसको देख रहा है ?

जो दीखता हुआ मालूम पड रहा है, उसे देख रहा है।

तत्त्वज्ञानी लाग क्या यही समझते है कि वह किसी अन्यको देख रहा है ?

नही, वह अपने आपको ही देख रहा है।

कबसे देख रहा है ?

जबसे है। देखना द्रष्टाका स्वभाव है। जबतक यह अपने स्वरूपको नही जानता तबतक वह अपनेको देखता रहता है फिर भी समझता है कि दूसरेको देख रहा हूँ। उसे यह 'अध्यास' हो गया। कारण, परिच्छिन्नता हमारा अपना स्वरूप नही। अपनेको शरीर मानना भी 'अध्यास' ही है।

हमारे सिवा अन्य कुछ नही है, तो शरीरमे अध्यास कैसे हुआ ?

तुम वास्तवमे तो देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित हो, फिर भी अपनेको देश-काल-वस्तुके परिच्छेदवाला शरीर समझ रहे हो, यह विपरीत बुद्धि है। प्रपचका भावाभाव कभी दीखता है, तो कभी नही। तुम दोनोमे एकरस, स्वयप्रकाश हो। किन्तु दीखनेवाली और न दीखनेवाली वस्तुमे अपने आप मान बैठना कि 'मै दीखनेवाला या न दीखनेवाला हूँ, यही अध्यास है। यदि

कालमे अध्यासकी उत्पत्ति हुई हो तो मूर्खता मिट जानेपर भी अध्यास बना रहेगा और जन्म-मरणकी निवृत्ति नहीं होगी। काल के साथ वे बने रहेंगे।

यदि अन्तर्देशमे अध्यास हुआ हो तो उसके निवृत्त होनेपर भी अन्तर्देश-बहिर्देशका भेद बना रहेगा। समाधि-विक्षेपका भेद बना रहेगा। तब भी सुख-दुःखकी निवृत्ति नही होगी।

यदि किसी अन्य वस्तुके बारेमे अध्यास हुआ है तो अध्यास-की निवृत्ति होनेपर भी वह अन्य वस्तु बनी रहेगी, अपना पराया-भाव नहीं मिटेगा, जिससे रागद्वेष भी नहीं मिटेगा।

पहले-पीछेरूप काल-भेद, बाहर-भीतररूप देश-भेद और अहम् इदसके वाच्यार्थ वस्तुओंके भेद—ये तीनो भेद हमे मालूम पड रहे हैं, फिर भी उससे द्रष्टाकी कोई हानि नही, जैसे कि आकाशको नीलिमा मालूम पडनेपर समझदार देखनेवालेकी कोई हानि नही होती। जसे बुद्धिमान् पुरुष आकाशकी उस नीलिमा-को सत्य नही समझता, वैसे ही अन्त करणकी आँख अपने साथ जुडी होनेके कारण देश-काल-वस्तुके ये भेद मालूम पडते रहे तो वे अधिष्ठानका कुछ नही बिगाड़ सकते और न द्रष्टाका ही। यदि मालूम पडनेवाली वस्तु मिथ्या ही है तो अधिष्ठान और द्रष्टा दो वस्तु हो ही नहीं सकते। जो अधिष्ठान है, वही द्रष्टा है और जो द्रष्टा है वही अधिष्ठान है। इसलिए चाहे कुछ भी दीख पडे, विप-रीतबुद्धिको 'अध्यास' कहते हैं और उसीको मिटाना वेदान्तका काम है।

एक होता है समाधिका आनन्द और दूसरा होता है विषया-नन्द। जिसकी दृष्टिमें अपनेसे अन्य समस्त प्रपचका बाध हो

जाता है, उसके लिए समाधि और विषय दोनोका आनन्द एक है। दोनो अध्यस्त यानी आरोपित हैं। रस्सीमे आरोपित है। जिसमे अध्यास किया जाता है, वह 'अधिष्ठान' कहलाता है और जिसका अध्यास किया जाता है, वह 'अध्यस्त'। बौद्ध अध्यासको 'क्षणिक-विज्ञानरूपा बुद्धि'—कहते है। बुद्धि निर-धिष्ठान नही हो सकती। यदि किसीमे बुद्धि होती है और उसका कोई साक्षी होता है तो कोई अधिष्ठान भी होता है। देश काल-वस्तु तीनो बुद्धिके साथ स्फुरित होते हैं और उसीके साथ लुप्त भी हो जाते हैं। इसलिए वैसे ही जैसे ब्रह्म अनादि, प्रपचका दर्शन भी अनादि है। अनादि प्रपञ्च अपनेसे अन्य रूपमे दीखनेके कारण तब-तक अपनेमे तद्-विषयक अज्ञान रहेगा, तबतक उसमे सत्यत्वका भ्रम भी रहेगा। किन्तु जब अपने स्वरूपका ज्ञान हो जायगा तो अज्ञान, भ्रम, अध्यास मिट जायगा। इसलिए जगत्मे सत्यत्वकी भ्रान्ति 'अनादि' होनेपर भी 'सान्त' होती है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

जब हम पैदा हुए थे, तो हमे भाषाके विषयमे अज्ञान था या नही ? अंग्रेजी-जर्मन तो क्या, हिन्दी गुजराती भी नही आती थी, सीखनेपर आयी। भाषाका अज्ञान कबसे था ? माँके पेटमेसे ही था, बापके वीर्यमे था या उसके पहले होगा ? तुम्हारी सत्ता अनादि है तो तुम्हारा भाषाका अज्ञान भी अनादि है। अज्ञानकी यह प्रकृति है कि वह होता तो अज्ञातकालसे है, पर ज्ञानसम्पादन करनेपर वह मिट जाता है, सान्त होता है

दृष्टि और भ्रम दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। नीलिमाका दीखना और उसे सच्चा मानना एक नही। उसे सच्चा मानना ही भ्रम है। इसीको अध्यास कहते है। नीलिमाके अधिष्ठान आकाशका

ज्ञान न होनेसे ही नीलिमा सच्ची होनेका भ्रम हुआ। ज्ञान होने-पर भ्रम निवृत्त हो जाता और अपना स्वरूप आकाशवत् स्थिर हो जाता है। यह दृश्यमान प्रपञ्च आकाशकी नीलिमाके समान है और इसमें सत्यत्वकी बुद्धि है अध्यास। अपने स्वरूपका ज्ञान होगा तो प्रपंचका दीखना बन्द नहीं होगा। जैसा भ्रमकालमें दीखता है, वैसा ही ज्ञानकालमे भी दीखता रहेगा। मात्र पहले जो उसमें सत्यत्व बुद्धि थी, उसके स्थानपर अब मिथ्यात्वकी बुद्धि रह जायगी।

कैसे ?

अधिष्ठान ज्ञानसे। अधिष्ठानके ज्ञानसे तो सत्यत्व-बुद्धि और मिथ्यात्व-बुद्धि दोनो मिथ्या है।

किसीने प्रश्न किया 'तुम्हारी सत्यत्व बुद्धि और मिथ्यात्व-बुद्धि दोनो मिथ्या है या नहीं ?'

मैंने कहा 'हाँ भाई, मिथ्या है।'

जब ब्रह्म ही सत्य है, आत्मा ही सत्य है तो मिथ्यात्व बुद्धि थोडे ही सत्य होगी। तुम्हारो मिथ्यात्व-बुद्धि जब मिथ्या है तो प्रपच थोडे सत्य हो जायगा ? सत्यबुद्धि भी मिथ्या हो गयी। मिथ्यात्वबुद्धिके मिथ्या होनेसे प्रपंचमें जो सत्यत्व-बुद्धि है व सत्य नहीं हो जाती। इसलिए अधिष्ठान ज्ञानसे इसका बाध हो जाता है।

अपने स्वरूपको अज्ञानसे अध्यास होनेके कारण देश, काल और वस्तु सच्चे मालूम पडते हैं, पर अपने स्वरूपकी दृष्टिसे ही प्रतीत होते हैं। स्वस्वरूपाज्ञानके बेटेका नाम 'अध्यास' है। 'अध्यास' एक बुद्धि-वृत्ति है और अज्ञान इसका कारण है। यह अपने आपमें सवथा आरोपित है। अपने आपको जान लो तो न

अज्ञान है, न अध्यास। और न अध्याससे मालूम पडनेवाली कोई सच्ची वस्तु ही।

संस्कृतमे 'तत्त्व' उसे कहते हैं, जिसमे नामरूपका आरोप अपवाद होता ०। कटक, कुण्डल, हार आदि नामरूप जिस सोनेमे आरोपित हुए—थोपे गये, उसका नाम है अधिष्ठान, अधिस्थान। वह आरोप्य-वस्तुके पहले भी था और उसके नामरूप मिट जानेपर भी रहेगा। आरोप्यका बाध हो जानेपर भी अधिष्ठानका बाध नही हुआ। अधिष्ठानका अथ है 'अधि=ऊपर, ष्ठान=स्थिति।' जिसके ऊपर दूसरी वस्तु दीख रही है, जैसे रस्सी पर साँप दीख रहा है तो रस्सी है अधिष्ठान। इसी तरह अपनी दृष्टिमे ही यह सारी सृष्टि दीख रही है, टिक रही है तो दृष्टि अधिष्ठान हो गयी। यह दृष्टि तो 'मै' ही हूँ, इसलिए 'मैं' अधिष्ठान हुआ और यह सारी सृष्टि हुई अध्यस्त या आरोपित।

उपाधि। उप=पास रहकर, आधि=आधान अपने गुणधर्मको जो दूसरेमे सचारित कर दे, दिखा दे, गुणोका आधान कर दे वह। जैसे, जपाकुसुमको स्फटिक पर रख दो तो स्फटिक भी लाल दीखेगा। सूयकी किरणें बादलको लाल पीला हरा दिखाती है, क्योकि जलकी उपाधिसे सूयकी किरणें लाल पीली-हरी दीखती हैं। सूयकी किरणें 'उपहित' है तो जल 'उपाधि'। यह लाल-पीला रंग मिथ्या है। इसी प्रकार अन्त करण उपाधि है।

तस्मिँल्लोका श्रिता सर्वे लोक=लोचनका विपय। 'लोच्यन्ते=लोचनविषयीक्रीयन्ते इति लोका, दृश्यपदार्था।' जो आलोकित होते हैं, भासते हैं, दृश्य होते है वे है लोक। स्त्री-पुरुषो के धर्ममे विशेष प्रकारके दैहिक विभाजन हैं, इसे 'लोक'

कहते हैं। उपासनाभेदसे जो लोक, वैकुण्ठलोक आदि माने गये हैं, जबकि वेदान्ती द्रष्टाके विषयको 'लोक' कहता है।

आपको यदि आत्माका ज्ञान प्राप्त करना है तो विवेक करना पड़ेगा। सुरेश्वराचार्यने दो दृष्टान्त दिये हैं

(१) तुम साढ़े-तीन हाथके शरीरको 'मैं' मानते हो। इसमे मल मूत्र, हड्डी, मास भरा है। थोड़ी देरमे थूक दिया तो वह निकलकर बाहर गया, तब तुम्हारा उतना 'मैं' बाहर चला गया ?

कोई कहेगा 'बेवकूफ हो, कोई नही मानते कि थूकके बाहर चले जानेसे हमारा थोड़ा-सा 'मैं' बाहर चला गया। टट्टी हो आये। उसे कोई अच्छा कहे या बुरा, हमारा कोई मतलब नहीं, हम तो छोड़ आये।'

(२) किसीने अपना हाथ काट दिया और काटकर फेंक दिया। अब क्या कटे हुए हाथवाला 'मैं' हूँ, यह अभिमान उसे होगा ? नही। इसी प्रकार जब हम यह देखते हैं कि दृश्यसे न्यारा 'मैं' हूँ, दृश्यको जाननेवाला 'मैं' हूँ तो दृश्यको देखनेवाला जैसे घड़ेसे न्यारा है, वैसे ही दृश्यको देखनेवाला मैं दृश्यसे न्यारा हूँ।

जबतक इस प्रकार विवेक नही करोगे तो वेदान्त-ज्ञानमें प्रगति नहीं होगी।

वैष्णव कहते हैं कि एक शेष है और एक शेषी। शेष है जगत् और जीव और शेषी है भगवान्। शेषकी गोदमे भगवान् हैं अर्थात् शेष-जीवके हृदयमें शेषी भगवान् शयन करते हैं।

किन्तु वेदान्तियोकी दृष्टि इससे भिन्न है। वे कहते हैं कि तुम्हारा नाम है ज्ञान, स्वरूप है-ज्ञान, तुम्हें ही सब मालूम पड़ता है। पर तुम शेष हो या शेषी ? अर्थात् तुम्हें विषयका ज्ञान होता

है ? तुम्हारा ज्ञान सदैव विषयके ही अधीन रहता है ? क्या ज्ञान का कोई विषय हो तब तो वह रहेगा और कोई विषय न होनेपर ज्ञान नही रहेगा ? ऐसी स्थिति मे विषय 'शेषी' और ज्ञान 'शेष' हो गया। तात्पय यह कि तुम पराधीन हो गये, क्योकि विषयके लिए ज्ञान स्वयप्रकाश है। तब तुम बेवकूफ हो गये।

वास्तवमे तुम्हारा ज्ञान स्वयप्रकाश है। ज्ञान ही तुम्हारा सर्वस्व है। जो भी वस्तु तुम्हारे सामने रहती है, उससे सिद्ध होता है कि तुम उसके प्रकाशक हो। तुम्हारे कारण ही वह मालूम पड़ रहा है।

आध्यात्मिक दृष्टिसे विषयज्ञान अधीन है तो भौतिक दृष्टिसे विषयके अधीन है ज्ञान। व्यवहारमे यह आश्रय-आश्रयीभाव सवथा कल्पित है। शुद्ध ज्ञान न शेष है और न आश्रित, न वृत्ति है और न विषय ज्ञानसे सब कुछ दीखना वृत्तिज्ञान है। अपना वास्तविक 'मै' कभी देखा नही जाता। जो अपने वास्तविक 'मै' को देखनेका प्रयास करता है, वह जीवनभर मरता है।

तो जिज्ञासा कहाँ गयी ? अरे, इस विषयकी जिज्ञासाको मिटानेके लिए आत्माकी जिज्ञासा है। अज्ञानवश ज्ञानके पेटमे विषयके बदले आत्मा भरनेकी कल्पना की जाती है किन्तु यथा-थत ज्ञानके पेटमे आत्मा भरता नही, प्रयत्न करनेसे विषय निकल जाता है। जो जिज्ञासाके पेटमे ब्रह्मको भरनेका यत्न करते हैं, सही मानेमे वे ब्रह्मको नही भरते, इस प्रयत्नमे जिज्ञासा-का ही पेट फट जाता है और वहाँसे विषय निकल जाता है।

जिज्ञासा क्या है ?

हमारे ज्ञानमेसे विषयको निकालनेका एक उपाय।

ज्ञानमे अनादि-अनन्त, परिपूर्ण, अविनाशी, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघनको भरनेका अभिप्राय क्या है ?

असत्, अचित्, दु ख, परिच्छन्न हमारे ज्ञानसे निकल जाय। ब्रह्मसे भरे या विषयसे खाली ज्ञानका नाम 'ज्ञान' नही। ज्ञान तो स्वय है। उसमें न देश-काल वस्तुका भाव है, और न अभाव। ज्ञानमे ब्रह्म नही, ज्ञान ही ब्रह्म है।

ज्ञान क्या आत्माकारवृत्ति है ?

नही, ज्ञान आत्माकार वृत्ति नही, आत्मा ही ज्ञान है। ज्ञानमें आत्माका आकार अनात्माको निवृत्त करनेके लिए ही भरा गया है। विषयको, वृत्तिको निवृत्त करनेके लिए ही वृत्तिमें ब्रह्म भरा गया। यथार्थत ज्ञान अपना स्वरूप ही है।

ज्ञानमें अग-अंगीभाव नही है। 'जगत् अंग है और ज्ञान अंगी' ऐसा मानें तो वह सगुण ज्ञान हो गया। भौतिकवादमें जगत् अंगी है और ज्ञान अंग वहाँ ज्ञानको जडतासे निकला बताकर उसमें ज्ञानके उदय-विलयकी कल्पना की जाती है। यह ज्ञेयप्रधान मत है। किन्तु अध्यात्मवाद ज्ञानप्रधान है। उसकी मान्यता है कि मैं ज्ञान हूँ, मुझ ज्ञानमें भूतोका उदय विलय होता है, जो मुझे मालूम पडता है। अधिदैववादके अनुसार ज्ञान मुझसे अन्य (ईश्वर) है। ये तीनो ज्ञान जिस अखण्ड ज्ञानमें कल्पित हैं, उसका नाम है 'तत्त्वज्ञान' या 'ब्रह्मज्ञान'। इसीको 'वास्तविक ज्ञान' या पदार्थज्ञान' भी कहते हैं।

जितने दृश्य हैं, सभी इसी ज्ञानकी चमक है। योगवासिष्ठमें 'कचन' अर्थात् प्रतीति-स्फुरणा बतायी है। दृष्टि सच्ची है। प्रत्यय-का अर्थ है, हमारी आँखका पुस्तकसे टकराकर लौटकर पुन हृदयमें आ जाना। किसी विषयसे टकराकर लौटे ज्ञानका नाम 'प्रत्यय' है। इसीको वृत्तिका गमनागमन, विवर्त, भ्रमण या भ्रम

कहते हैं। मालूम पडता है कि ज्ञान आँखसे निकला, पुस्तकमे गया वहाँसे लौटा और भीतर आगया। लेकिन यह सारा भ्रम है। अरे, ज्ञान न तो कहीसे आया और न कही गया! यह तो वृत्तिका भ्रमण है। विवर्त यानी विपरीत वर्तन। 'प्रत्यय' विवर्त है। अपने देशकालवस्तुके आश्रयरूप स्वरूपमे, अधिष्ठानरूप स्वरूपमे न कही आना है, और न जाना! न अब है और न तब। न यह है और न वह, सब कुछ भास रहा है। भासना ब्रह्मका अपराध नही, यह तो उसकी शोभा है। ज्ञान ज्ञान है ही। जब-तब कुछ-न कुछ खटपट होती रहे, यह तो उसका स्वभाव है। किन्तु खटपटको ज्ञानसे अन्य या सच्ची वस्तु समझना भ्रान्ति है। मरने-जीने दो, आने-जाने दो, दीखने न दीखने दो, भले ही जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति, समाधि-विक्षेप, सृष्टि स्थिति प्रलय हो या भले ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड आकर्षण विकर्षणके नियमानुसार आपसमे घूमते मालूम पडें या टकराकर ध्वस्त हो जायँ, यह ज्ञानस्वरूप ज्यो-का-त्यो अखण्ड है और रहेगा।

तदु नात्येति कश्चन। सारे दृश्य इसीमे अध्यस्त हैं। कोई कहे कि आओ, हम इस ज्ञानका अतिक्रमण कर जायँ तो संभव नही।

'ब्रह्म' उसे कहते हैं जो किसीके द्वारा बाधित न हो। कोई कहे कि हम अनुभवसे ब्रह्मको काटेंगे' तो यह सभव नही, कारण अनुभवका नाम भी तो 'ब्रह्म' ही है। ब्रह्मसे ब्रह्म थोडे ही कटेगा? 'हम चैतन्यसे, ज्ञानसे, आत्मासे काटेंगे' तो वह भी ब्रह्म है। जिससे तुम काटोगे और जो रहेगा, दोनो ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्मका कोई अतिक्रमण नही कर सकता।

एतद्वै तत् यह कौन है? एतत् = यह जो अहं-पद का अर्थ है, वही ब्रह्म है।

●

२. ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे अमरत्वप्राप्ति

सगति :

यदि प्रपञ्चके अधिष्ठानका ज्ञान हो जाय तो अधिष्ठान और भानमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसलिए तब प्रपञ्च भी ब्रह्मात्मक हो जाता है किन्तु यदि अधिष्ठानका ज्ञान न हो तो वह केवल प्रपञ्चका ही भान रहता है। यदि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न सर्वाधिष्ठानका ज्ञान हो गया तो 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म, ब्रह्मैवेद सर्वमिदं वरिष्ठम्' ही रहेगा।

यच्छेद् वाङ्मनसाप्राज्ञ ।

यहाँ वेदान्तदर्शनमें यह प्रश्न उठाया गया कि कहते हैं : वाक्को मनमें लीन करे। लेकिन कोई भी वस्तु अपने उपादानमें ही लीन होती है। तो क्या वाणीका उपादान मन है ? मनमें वाक् कैसे लीन होती है ? मन वाक्का उपादान तो है नहीं ! वह स्वयं कार्य है। न मनका लय होता है, न वाक्का। वाक्वृत्ति और मनोवृत्ति दोनों दो नहीं हैं, यह जानना ही उसका लय होना है। जब हम बोलते हैं तब भी सोचते हैं और सोचते हैं तब भी बोलते हैं। इसलिए दोनों एक हैं, ऐसा ज्ञान ही वाग्वृत्तिका मनमें लय है।

इसीकारण वेदान्तदृष्टिसे असग समाधि या सहज समाधि कालिक, दैशिक या ध्येय स्वभाव समाधि नही। वेदान्तदृष्टिसे समाधिका अर्थ है व्यवहारमे गत विषयानन्द और समाधिगत शान्ति दायक योगानन्द दोनोकी उपाधियोसे आनन्दमे भेद न होकर एकमात्र आनन्द-स्वरूप ब्रह्मका होना। यही ज्ञान देना वेदान्तका काम है। विषयानन्द, योगानन्द, विद्यानन्द और आत्मानन्द चारो ब्रह्मानन्दके विवर्त ही हैं।

सोवत-बैठत पडे उताने। कहै कबीर हम वही ठिकाने॥

× × ×

आत्मा त्व गिरिजा मति सहचारा प्राणा शरीर गृह
पूजा ते विषयोपभोग रचना निद्रा समाधिस्थिति।
सञ्चार पदयो प्रदक्षिणविधि स्तोत्राणि सर्वा गिरो।
यद् यद् कर्म करोमि तत्तदखिल शभो तवाराधनम्॥

परमात्माको समझानेके लिए बहुत-सी युक्तियाँ हैं, उनमे एक विशेष युक्ति द्वितीय मन्त्रमें दे रहे हैं। जो दुनिया दिखायी पड़ रही है, उसके मूलमें परमात्मा है। शरीरके भीतर जो वृत्तियाँ उठ रही हैं, उनके मूलमे परमात्मा है। 'यह, मैं' दोनो जो मालूम पड रहे हैं, उन्हे जो अपने काबूमे रख सके, उसीका नाम परमात्मा है।

जसे हमें 'यह, वह' दो वस्तुएँ दीखती हैं, क्या वैसे ही परमात्मा की दृष्टिमे भी वे दो ही हैं?

नहीं! वह मायासे देखता है और मायासे ही नियन्त्रण करता है। विद्या अविद्या दोनो मायाकी ही वृत्तियाँ हैं।

एक बात ध्यानमे रखें। अशमें जो अशबुद्धि है, वह ससार है और अशमे जो पूर्णबुद्धि है, वह है उपासना। पूर्णमें पूर्ण बुद्धिका नाम ज्ञान है। हमारे मतके अनुसार 'एक अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही आत्मा है' यह ज्ञान है, विज्ञान है। शेष जितनी उपासनाएँ,

जितने मत, योग, धर्म-कर्म हैं, सब श्रद्धा हैं। यदि परमात्माके सिवा और कुछ भी ज्ञान-विज्ञान हो तो वह वस्तु सच्ची नहीं होगी।

हम कहते हैं कि 'काशी मुक्ति-भूमि है।' काशी तो एक अंश है, भारतवर्षका एक छोटा-सा खण्ड है। भारतवर्ष धरतीमें एक बहुत छोटी जगह है। धरती आकाशमें एक छोटी वस्तु है और आकाश परमात्मामें एक छोटी-सी वस्तु है। जब हम बोलते हैं कि 'काशीके कंकर भी शंकरके समान हैं' तो कोई दूरबीन-खुर्दबीन लेकर आये, डॉक्टर आये, साईन्सदाँ आये और बोले: 'हम ज्ञान-विज्ञानसे सिद्ध करेंगे कि काशी मुक्तिभूमि है।' यदि काशी मुक्तिभूमि सिद्ध होगी तो ब्रह्म नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्तस्वरूप है, यह कैसे सिद्ध होगा? काशीको ब्रह्मसे अभिन्न मानकर उसे मुक्तिभूमि माना जाता है। अभिप्राय यह कि काशीका मुक्तिभूमि होना श्रद्धा है और ब्रह्मका मुक्तिभूमि होना ज्ञान-विज्ञान है।

'काशी भी धरतीका एक अंश है'—यह भौतिक दृष्टि है। काशी-की अंशरूपतामें ब्रह्मपनका अध्यारोप श्रद्धा—उपासना है। श्रद्धाकी दृष्टिसे देखें तो काशी ब्रह्मपुरी, ब्रह्म नाम मालूम पड़ेगी। प्रयोगशालामें काशीभूमिकी मिट्टीकी जाँचकर उसे मुक्तिभूमि सिद्ध करना चाहते हों, तो वह गलत है। अंशमें पूर्णबुद्धि श्रद्धामूलक है। तुम्हारे घरमें एक शालग्राम-नर्मदाशंकर या शिवमूर्ति है। यह तो प्रत्यक्ष आँख बताती है कि यह पत्थर है। किन्तु यह भौतिक दृष्टि हुई। उसमें ब्रह्मबुद्धि ज्ञान-विज्ञान नहीं, श्रद्धासे सिद्ध है। शंकरजीकी मूर्ति फोड़कर जाँच मत करो कि इसमें ईश्वर कहाँ छिपा हुआ है। मूर्तिको देखकर अपने हृदयमें श्रद्धा बनानी चाहिए कि यह ईश्वर है। मूर्ति रहे बाहर और तुम्हारे हृदयमें ईश्वर बन जाय। ऐसे लोगोंको थोड़ा सुख भी होता है और थोड़ा दुःख भी। ये श्रद्धालु होनेके कारण प्रेमी होते हैं।

इसमे दु ख क्या ? अब वृन्दावनके भक्तिको हाथरस जाना पड़ता है, तो वह रोने लगता है कि 'देखो हमारा दुर्भाग्य कि वृन्दावन छोड़ जाना पड रहा है। वृन्दावन तो ब्रह्मभूमि है, राधाकृष्ण क्रीड़ा करते हैं। हाथरस तो प्राकृतभूमि है।' 'वृन्दावन ब्रह्मभूमि है' यह भाव श्रद्धामूलक है। यह तो हमारे मनोनिर्माणके लिए एक युक्ति है। जो वस्तु देखनेमे परिच्छिन्न मालूम पडती है, हमारी एक या चार-पाँच इन्द्रियोसे मालूम पडती है, छोटी सी है, विषय है, उसमें पूर्णबुद्धि या ब्रह्मबुद्धि बिना श्रद्धाके नहीं होती। श्रद्धा आत्मबल है। प्रत्यक्ष और अल्प वस्तुमें परब्रह्म परमात्माको लाकर बैठा देना श्रद्धालु और आत्म-बलवाले साधकका काम है।

श्रीउडियाबाबाने एक बार पूछा 'यह ज्ञानी हैं', यह तुम कैसे समझोगे ? यह नही कि अब लक्षण घटाने लगे—जाँचने लगे! योगि-योमे ऐसी प्रथा है। वे जाँचते हैं। गोरखनाथके चेलोने कहा 'हमारा गुरु ज्ञानी है, मारो तलवार!'

गुरुजीके शरीर पर तलवार मारी गयी और वह टूटकर गिर गयी वे बोले .

'हमारे गुरुजीका शरीर ब्रह्म है, उसमे तलवार नहीं लगी।'

दत्तात्रेयजीके शिष्योंने कहा : 'तुम्हारे गुरु अधूरे हैं। तुम्हारे गुरु पत्थर या लोहेके होगे कि तलवार टूट जाती है। हमारे गुरुको तलवार मारकर देखो!'

दत्तात्रेयजीके शरीर पर तलवार मारी तो आरपार हो गयी शरीर ज्यो-का-त्यो रहा और तलवार निकल गयी।

उसके चेले बोले देखो हमारे गुरु ज्ञानी हैं, क्योंकि ये आकाश-रूप हैं।'

तीसरेने कहा 'हां, एक तो पृथ्वीरूप हैं, एक आकाशरूप। पर दोनोंमें-से ब्रह्मरूप कोई नहीं हैं, न तुम्हारा गुरु और न इनका।'

ब्रह्म तो ब्रह्म ही होता है। ज्ञानीके ज्ञानी होनेकी श्रद्धा जिज्ञासुके मनमें होती है। जिज्ञासुकी दृष्टिसे ज्ञानी महात्मा है, पर ज्ञानी अपनी दृष्टिसे ब्रह्म ही होता है।

जाँच-पड़तालसे महात्मापन नहीं निकलता। मन एकाग्र करना हो तो ज्योतिर्लिंग सामने देखो। खेलना-कूदना हो तो चलते फिरते कृष्णका ध्यान कर मनको एकाग्र कर लो। यदि ज्ञानोपदेश पाना है तो अपने गुरुको ब्रह्म जान लो। किन्तु ये सब श्रद्धाकी बातें हैं। 'स्वर्ग है' यह धर्मानुष्ठानके लिए श्रद्धा है। स्वर्गकी प्राप्तिके लिए धर्म करोगे तो सदाचारी हो जाओगे। अधर्मसे बचनेके लिए नरक श्रद्धा है। बुरा काम करोगे तो नरकमें जाओगे। अपने हृदयमें संसारके प्रति रागद्वेष है, उसे मिटाकर वैराग्य उत्पन्न करनेके लिए भगवत्-श्रद्धा है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिए महात्माके प्रति श्रद्धा है। शरीरको पवित्र करनेके लिए गंगाजीके प्रति श्रद्धा है।

कल एकने हमसे कहा : 'तुलसीके पत्तेमें बड़े गुण है, इसलिए शास्त्रोंमें उसकी बड़ी प्रशंसा लिखी है कि तुलसी देवता है।'

मैंने कहा 'यह बात नहीं कि भौतिक दृष्टिसे तुलसीमें बहुत-से गुण हैं, इसलिए हम उसका आदर करते हैं। आध्यात्मिक दृष्टिसे देखें तो हमलोग तुलसी पर श्रद्धा करते हैं। हमारे श्रद्धा-संकल्पसे ही तुलसीके पौधेमें गुण उत्पन्न हो गये हैं। मनसे गुण भौतिकतामें आते हैं और भौतिकतासे गुण मनमें आते हैं—अध्यात्ममें आते हैं। अध्यात्म-वादी मूल गुण मानते हैं अध्यात्मको और भौतिकवादी मूल गुण मानते हैं भूतके गुणको। तत्त्वदृष्टिसे दोनों नहीं हैं।

इसकी स्पष्टता करनेपर मालूम होगा कि अन्य रूपसे ईश्वरको

मानना, वेदको अपौरुषेय मानना, स्वर्ग नरक, साकेत-वकुण्ठ या काशी वृन्दावनको मानना, महात्मा दुरात्माको मानना श्रद्धा है। सृष्टिमे ऐसी एक ही वस्तु है जिसपर श्रद्धा करनेकी आवश्यकता नहीं पडती और वह है आत्माका अस्तित्व। वह चाहे किसी भी देश काल और विषयरूपमे हो। अपूर्ण अहम्मे ब्रह्मबुद्धि उपासना है—श्रद्धा है। एक गुरुने बताया, एक किताबमें पढ़ा और मान लिया कि मैं वही हूँ। मूर्तिको ब्रह्म मानना भी श्रद्धा है और पुनर्जन्म पूर्वजन्म मानना भी श्रद्धा है। भूत भी श्रद्धा है जिसमे-से सस्कृतियाँ निकलती हैं और भविष्य भी श्रद्धा है जिसकी हम कल्पना करते हैं। अन्तर्देश भी श्रद्धा है, जिसमे हम जीवात्माकी स्थिति मानते है और बहिर्देश भी श्रद्धा है जिसे हम इन्द्रियोसे प्रतीत होनेपर सच्चा मानते हैं। यदि सत्य कोई है तो वह है 'आत्मा, ब्रह्मका अद्वितीयत्व'। भेदबुद्धि या तो बाधक (अश्रद्धामूलक) बुद्धि है या साधक (श्रद्धामूलक) बुद्धि है। दोनो भ्रमको स्वीकार करते हैं। निर्भ्रमदशामे न बाधकबुद्धिकी आवश्यकता है और न साधकबुद्धिकी। सभ्रमदशामें जो ससारी रहना चाहते हैं, वह बाधकबुद्धिमे लगे और जो संसारसे छुटकारा चाहते हैं वे साधकबुद्धिमें लगें। श्रद्धा जीवनमें एक उपयोगी तत्त्व है। आत्मा परमात्माकी एकता-अद्वितीयता ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। इसके सिवा और कुछ भी सत्य नहीं है, ज्ञान विज्ञान कुछ भी नहीं है।

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२॥

यह जो कुछ सारा जगत् है प्राण-ब्रह्ममे उदित होकर उसीसे चेष्टा कर रहा है, वह ब्रह्म महान् भयरूप और उठे हुए वज्रके समान है। जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥ २ ॥

यदिद किञ्च जगत्सर्वम्। इसको जान लेनेसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है। 'अमृता भवन्ति' = असगा, अदु खा भवन्ति। यहाँ 'मृत' शब्द जडता दु खका भी उपलक्षण है, क्योंकि सत्यके विरुद्ध मृत्यु है। जो सत् है वही चित् है, जो सत्के विरुद्ध है वह चित्के भी विरुद्ध है। जो सत्-चित् है, वही आनन्द है। जो सत्-चित्के विरुद्ध है वह आनन्दके भी विरुद्ध है, इसलिए वह दु खरूप है। जिससे तुम प्रेम करने जाते हो, वह क्या है? मृत्यु है, जड है, स्वय दु ख है। वह स्वयं तो मरेगा, तुम्हे भी मृत्युका दु ख देगा। वह स्वयं तो जड है ही, जडका चिन्तन करनेपर तुम भी जड हो जाओगे। तुम उससे प्रेम करोगे तो तुम्हें दु खी होना पडेगा।

'यद्विज्ञानात् अमृता भवन्ति–असगा भवन्ति–अदु.खा भवन्ति। जिस वस्तुका ज्ञान होनेसे—अनुभव होनेसे दु ख, जडता मृत्यु मिट जाती है। वास्तवमें 'मैं जड हूँ, देह हूँ, मनुष्य हूँ, हिन्दू ब्राह्मण-सन्यासी हूँ' यह मुझ चेतनको ही मैंने जडरूपमें स्वीकार किया है। चेतनमे जो 'मैं जड हूँ' ऐसी जडाकार कल्पना है, यह वृत्ति भी चेतनका ही विवर्त है। क्या मैं दु खी हूँ? अरे, मैं परम प्रेमास्पद-परमप्रिय हूँ!

'हे ईश्वर, हमारी सेवा करो! हमारा रोग दूर कर दो, हमें धन भेज दो, हमारे पास भोजन आये! हमारे पास मौत न आये!'—जैसे नौकरको हुक्म देकर कहते हैं, होटलमे खिलाने-वाले बेयरेको आॅडर देते हैं, वैसे ही लोग ईश्वरको फरमाते हैं! इसतरह जो ईश्वरको अपना सेवक बनाना चाहता है, वह अपने आपको कितना प्यार करता है। वह अपनेको कितना बडा मानता है! तुम स्वयं सबसे बडे आनन्दस्वरूप हो! जब तुम कहते हो कि 'मैं दु खी हूँ' तो यह अपना आनन्द ही 'मैं दु खी

हूँ' इस वृत्तिको प्रकाशित करता है। 'मै जड हूँ' इस वृत्तिको अपना चेतन ही प्रकाशित करता है। 'मै मरता हूँ' इस वृत्तिको अपनी अमरता ही प्रकाशित करती है। 'मैं परिच्छिन्न हूँ' इस वृत्तिको अपनी पूर्णता ही प्रकाशित करती है—

प्राण एजति नि सृतम्। जिसका विज्ञान होनेसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप आत्माके सिवा और कुछ नहीं रह जाता, वह तो हम ही हैं। उसपर विचार कैसा ? यदि कोई शका, अज्ञान, भ्रान्ति हो, यदि उसके होनेमे तुम्हे जरा भी हिचक हो तो उसपर विचार करें। जगत्का मूल तो कुछ नही है। जिसे तुम देखते हो, कुछ नही, वह तो रस्सीको न देखकर जैसे साँपको देख रहे हो। वह अध्यस्त है 'अध्यस्त=अधि=उपरि+अस्त =निक्षिप्त'। 'असु क्षेपे' धातु है। 'अन्यस्य उपरि अन्य निक्षिप्त'—अन्यपर अन्यको थोप दिया, आरोप कर दिया। पुरुषको स्त्री और स्त्रीको पुरुष समझ लिया। ऐसे ही ब्रह्मको जगत् समझ लेना है। यह जगत् ब्रह्ममे अध्यस्त है।

यदिद किंच जगत्सर्वम्। जगत् = गतिशील, 'गच्छति इति जगत्,' जो चले। हम एक महात्माके पास गये तो वे झूलेपर बैठे थे। हम जाकर नीचे बैठ गये तो उन्होने पहले समझाया, 'नदीमे तुमने कभी भँवर देखा है ? जहाँ भँवर मालूम पडता है वहाँ जल स्थिर मालूम पडता है। पानी बहता हुआ है, इसलिए भँवरका पानी भी बहता है। भँवरकी जगह पानी आकर घूमता है, इतनी ही बात है, किन्तु दूसरे जलकी अपेक्षा भँवरमे स्थिरता मालूम पडती है। अत, यह चलता और स्थिरता दोनो सापेक्ष है। किन्तु अपना आत्मदेव निरपेक्ष है। तुम धरती पर बैठे तो झूला हिलता मालूम पडता है और झूलेपर मै हिलता मालूम पडता हूँ। लेकिन

पृथ्वी भी तो झूल रही है ? तो पृथ्वीपर बैठे तुम भी झूल रहे हो। जिस अवकाशमे ध्रुव झूल रहा है, वह अवकाश भी झूल रहा है। सूर्य भी झूल रहा है। स्थिर कौन है ? जो साक्षी है। किन्तु साक्षी यदि दूसरेकी अपेक्षासे है तो उसकी स्थिरता भी आपेक्षिक है। वास्तवमे साक्षी ब्रह्म है, यह वेदान्त बताता है और यदि ब्रह्म है तो 'चल' नामकी कोई वस्तु ही नही है।

कहते हैं 'शून्यमें गति नहीं होती।' कल्पना करें कि अणुके अधिष्ठान शून्यमे गति नही है, पर जहाँतक अणुत्व है, गति है या नही ? जबतक चेतनमें अणुत्व मालूम पडता है, तबतक उसमे गति है। अर्थात् जबतक चेतन जीवाणु रूपमे है, तबतक उसमे ऊर्ध्व अधो-मध्यरूप गतियाँ हैं। यदि उसका जीवत्व किसी प्रकार भग हो जाय तो शुद्ध चेतनमें कोई गति नहीं। तब वह स्वर्ग-नरक, पाताल या दिव्यलोकमें ही नहीं, तो सर्वत्र परिपूर्ण है। जैसे अणुका आधार शून्य होता है, वैसे चेतनाणुका आधार ब्रह्म होता है। ब्रह्ममें नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म, जाना-आना कुछ भी नहीं है। तुम अपनेको ब्रह्मचैतन्य जानते हो या जीव-चैतन्य ? जबतक अपनेमे जीव-चैतन्यपनका आरोप करोगे, तबतक वासनाके अनुसार गति माननी पडेगी। गति माननी पडेगी तो जन्म-पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक सब स्वभावत आजायँगे। जब अपने चिद्-वपुमे अणुत्वका तिरस्कार कर दोगे तो जैसे अणुका आधार-रूप शून्य निराकार है, वैसे ही चिदणुका आधाररूप अद्वितीय चैतन्य निराकार है, निर्गतिक हो जायगा।

प्राणे एजति नि सृतम्। श्रीशङ्कराचार्य लिखते हैं 'प्राणे परस्मिन् ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते, अत तत एव नि सृतम्। अर्थात्

यह जगत् परब्रह्म परमात्मामे ही हिल रहा है—काँप रहा है। (संस्कृतमे 'एजन्' धातु है 'एजृ कम्पने'। ईशावास्यमे 'तदेजति' आता है) कम्पमानसे मिलकर जो कम्पमान और निष्कम्पसे मिल कर जो निष्कम्प हो जाता है, कम्पमान और निष्कम्प दोनो जिसमे उपाधियाँ है, कल्पित है, दोनोका जो अधिष्ठान-साक्षी है, जो न कम्पमान है, न निष्कम्प है, उसका साक्षी ब्रह्म है।

प्राण कौन है ? प्राण=ब्रह्म। ब्रह्मसूत्रके पहले अध्यायमे ही 'प्राणाधिकरण' है। पहले 'आकाशाधिकरण' है।

'आकाशस्तल्लिङ्गात्। अतएव प्राण ।'

'आकाश' शब्द परमात्माका वाचक है। श्रुतिमे 'आकाश' और 'प्राण' शब्द ब्रह्मके वाचक है। प्राण यानी परब्रह्म सम्पूर्ण जगत्का प्राण और एक शरीरमे चलनेवाली साँस। यह सम्पूर्ण जगत् स्फुरणारूपसे हिल रहा है। इसे स्फुरणा क्यो कहते हैं ? इसलिए कि तुम्हे जगत् दिखायी पडता है। यदि तुम्हे जगत् न दिखायी पडता तो हमे 'स्फुरणा' कहनेकी आवश्यकता नही है। यदि तुम्हे जगत्के बारेमे कोई जिज्ञासा न होती और जगत् तुम्हे मालूम न पडता, तो हमे क्यो कहना पडता कि चेतनकी स्फुरणा-का नाम जगत् है। तुम्हे इतनी बडी दुनिया दीखती है तो हमे स्फुरणा दीखती है और तुम्हे इतनी बडी दुनिया नही दीखती है तो हमे स्फुरणा भी नही दीखती।

वास्तवमे परब्रह्म परमात्मामे न जगत् है, न स्फुरणा है। यह तो नहलेपर दहला है—समझनेके लिए आरोप है। अवकाश हो तो स्फुरणा हो। दियेसे प्रकाश तब निकलता है जब दियेसे बाहर जगह हो। सूर्यसे किरणें तब निकलती है, जब सूर्यके बाहर जगह हो। सूय तो देशसे परिच्छिन्न है, इसकारण वह काल और

वस्तुसे भी परिच्छिन्न है। इसीकारण उसमे-से किरणें निकलती हैं। ब्रह्म जहाँ है वहाँसे किरणें निकलकर कहाँ जायेंगी? जहाँ और जिस समय ब्रह्म नहीं है वहाँ उसकी स्फुरणा जायगी। जो ब्रह्म नही है वह स्फुरणा है? स्फुरणा और ब्रह्म एक ही है या नही है? तो यह सम्पूर्ण जगत् 'प्राण एजति निःसृतम्।'

एकने भगवान् शङ्कराचार्यसे पूछा कि 'आप ब्रह्ममें अज्ञानकी कल्पना क्यों करते हैं? स्वयंप्रकाश अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण-मे क्या, कब और कहाँ अज्ञान है?'

श्रीशङ्कराचार्य 'तुम अज्ञानसे इतना चिढ़ते क्यो हो? तुम्हारी चिढ़ कहाँ है? अक्षमा भवत केयम्?' बृहदारण्यकमें प्रसग है—'क्यो चिढ़ता है? ब्रह्मका अज्ञान ही प्रपञ्च है। तुम ब्रह्मको जान जाते तो प्रपञ्च नहीं होता। तुमने अनन्त, अद्वि-तीय, परिपूर्णको नही जाना, इसीलिए प्रपञ्च है।

तुमने ब्रह्ममे अज्ञानकी कल्पनाकर ब्रह्मको अज्ञानी और मायाकी कल्पनाकर उसे मायावी बना दिया। सच बात तो यह है कि यदि तुम्हें यह संसार दीखता है तब तो हम कहते हैं कि ब्रह्ममें अज्ञान है। यदि नही दीखता तो हम कहते हैं, ब्रह्ममें अज्ञान नहीं है। तुमने तो ब्रह्मम हाथी, पहाड, धरती, सारी जडता, जन्म-मृत्यु, नरक, विष्ठा मूत्र घुसेड दिया और हम एक ऐसा अज्ञान ब्रह्ममे घुसेड रहे हैं जिससे तुम्हारी यह घुसेडी सारी खुराफात मिट जाय। तुम अपनी खुराफातको तो रखना चाहते हो और हमने उसे मिटानेके लिए जो कल्पना की उसका विरोध, खण्डन करते हो? अरे, तुम ब्रह्मको नही जानते हो, इसलिए तुम्हें इसका नाम दुनिया मालूम पडता है। यदि जानते तो तुम्हें इसका

नाम 'ब्रह्म' मालूम पड़ता। वह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममे ही प्रकट होकर दिखायी पड रहा है।

दुनिया कांप रही है। बिना कम्पनके नयी-नयी आकृतियाँ नही बनती, बच्चा जवान नही बनता और जवान बूढा नही होता। बूढ़ा मरता नही। बीज नही कांपता तो अकुर नही निकलता, पौधा नही बनता, फूल-फल नही निकलते। सूय, अग्नि, वायु, धरती, पानी, हम-तुम, ब्रह्मा-विष्णु महेश, सारी सृष्टि कांप रही है।

'विधि हरि शभु नचावन हारे।'

ये सब क्यो कांप रहे हैं?

महद्भय वज्रमुद्यत उद्यतमिव वज्रम्।

जैसे इन्द्रने हाथमे वज्र ले रखा हो—अब गिरा, अब मारा! बिजली अब गिरी तब गिरी! आदमी जितना अधिक डरता है, उतना अधिक कांपता है। इसीप्रकार इस संसारमे जितनी परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं वे और सुखदु ख भी कांपते है—लुप्त होते हैं। ब्रह्ममे उनकी क्या गिनती है? रस्सी सांपको कब चबा जायगी, इसका कुछ पता है? रस्सीमे सांप एक मन कल्पित बिन्दु है, वास्तविक नही। मनमे जो सांप है वह भी कल्पित बिन्दु है। जो कल्पित है, उसे मिटनेमे क्या देर लगती है? जैसे इन्द्रने किसीको मारनेके लिए वज्र उठा लिया हो, ऐसे अधिष्ठान ब्रह्ममे-ज्ञान-ब्रह्ममे जो विषय भासते हैं वे अब गये तब गये। उनकी कोई गिनती नहीं।

यह परमात्मा कैसा है? महान् है पर सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चके लिए भयरूप है। परिच्छिन्नताके लिए भयरूप है। कब दृष्टि बदली और परिच्छिन्नकी जगह पर अपरिच्छिन्न दीखने लगा—सर्पकी जगह पर रज्जु, परिच्छिन्न अपने में की जगह पर अपरिच्छिन्न

ब्रह्म दीखने लगा। यह तो घोडेके रिकाबमे पाँव और ब्रह्मज्ञान! यह तो केवल दृष्टिका फेर है। 'मैं परिच्छिन्न हूँ' यह दृष्टि छूटती नही। छूटेगी तो एक पलमें ही छूट जायगी।

योगवासिष्ठमें लिखा है—"फूलके मसलनेमे, आँख मींचनेमें कष्ट है, पर अपने आपको ब्रह्म जाननेमे कष्ट नही, क्योंकि यहाँ आँख मींचनेकी या फूल मसलनेकी कोई क्रिया नहीं है। कोई भी क्रिया करनेके पहले, कोई भी वृत्ति उठनेके पहले—'पूर्व'—उपासना दृष्टिसे पूर्व वह देश है जहाँसे सब प्रकाशोंका उदय होता है और पश्चिम वह देश है जहाँ सारे प्रकाश अस्त हो जाते हैं। सूर्योदयका देश पूर्व है, सूर्यास्तका देश पश्चिम। लेकिन पूर्वदेशसे उपलक्षित और पश्चिमदेशसे उपलक्षित एक ही ब्रह्म है। वृत्तिरूप जो नन्हें-नन्हें प्रकाश हैं—सूर्य-चन्द्रमा-ताराके समान उनके उदयके पूर्व और अस्तके पश्चात् वही परब्रह्म परमात्मा जगमगाता रहता है।

पूर्व्यम् = सबसे पूर्व, अनादिसिद्ध, सनातन, कारण-कारण जो द्वैतकी उत्पत्ति, भान और प्रियताके पूर्व है। आप द्वैतसे प्यार करने लगते हैं, उससे पहले अपने अद्वैत स्वरूपसे प्यार करते हैं। द्वैतका आपको भान होने लगता है, उसके पहले अपने आपका भान होता है। द्वैतकी उत्पत्तिके पहले आप होते हैं। यदि आप अपने स्वरूपको जान जायँ तो न उसमें द्वैतकी उत्पत्ति है, न भान है, न प्यार है। ऐसी अद्वितीयता अपने स्वरूपमें भरी है।

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। जो इसे जान लेता है वह अमृत हो जाता है। भोग करने, स्वाद लेने, प्रेम करने लायक सृष्टिमें एक यही है। यही अमृत है। अमृत स्वर्गमें नहीं रहता। अद्वैतदर्शी महात्माके शरीरमें अमृत निवास करता है। ●

३. सर्वशासक परमात्मा

सगति

मन्त्र दोमे वर्णन किया गया कि प्राणो = प्राणस्य प्राण –प्राणोंका भी प्राण परमात्मा है। प्राणरूप अधिष्ठानमें अर्थात् परब्रह्म परमात्मा मे यह सम्पूर्ण जगत् स्फुर रहा है। ठसाठस अधिष्ठानमे केवल ज्ञानात्मक रूपसे ही स्फुरित-कम्पित हो रहा है, चल रहा है, दिखाई पड रहा है। यह महद् वस्तु 'उद्यत इव वज्रम्'–मानो किसीने वज्र उठा रखा हो और सामनेवाला मारनेके डरसे कॉप रहा है—

> ब्रह्मा कांपे, विष्णु कांपे, कांपे महादेवा
> नाचे नचायो सहित समाजा।

माया नाच रही है, जगत नाच रहा है और नाचनेवालोंके साथ भगवान् भी नाच रहे हैं।

> तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
> तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ॥

यह मत समझना कि वह धरतीकी तरह नीचे होगा और हम उसके ऊपर नाच रहे होंगे, क्योंकि जब वह धरतीकी तरह नीचे होगा और हम उसके ऊपर नाच रहे होंगे, तो वह ऊपर नहीं होगा और ऊपर नही होगा तो अधूरा हो जायगा। कोई कहे कि वह आकाशकी तरह है और हम उसमें हवाकी तरह नाच रहे हैं, तो ऐसा भी नहीं है। आकाशमें तो अवकाश होता है, कार्य-कारण भाव होनेसे कार्यकी स्थिति होती है, परन्तु परब्रह्म परमात्मा न कार्य है, न कारण। वह आकाशात्मक नहीं है। इसलिए उसमें द्वैतकी उपस्थिति ही नहीं है। तब वह कैसे नाच रहा है?

नाच रहा है परमात्मा और मालूम पड़ रहा है कि दुनिया नाच-रही है। परमात्मा नाच रहा है तो वह भी स्पन्दनशील हुआ? जो उसे देख रहा है। परमेश्वरके नृत्यको देख रहा है, वह नाच रहा है। कहाँ? अपने आपको ही देख रहा है। इसीको सोपाधिक-निरुपाधिक बोलते हैं। जबतक अन्तःकरणकी उपाधि है, तबतक प्रेमका नृत्य या भयका नृत्य बना रहेगा। सरकसमें शेर-बन्दर डरसे नाच रहे हैं। नर्तकी लोभसे और प्रेमी प्रेमसे नाचता है, परन्तु कम्पन सबमें है।

ईश्वर कैसे नाचता है? भय, लोभ या कामके वश होकर? नहीं, वह मायाकी उपाधिसे नाचता है। नाचती है माया और मालूम पड़ता है कि ईश्वर नाच रहा है।

अब मन्त्र तीन हमें आमन्त्रण दे रहा है कि 'आओ, इस परमात्मा-को जानें। कौन इसको जानता है? जो अमृत है वह इसे जानता है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

इस (परमेश्वर) के भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे

सूर्य तपता है तथा इसीके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है ॥ ३ ॥

परमात्मा हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, पारसी, सिक्खके मजहब-वाला मजहबी खुदा नही है। लोगोने अपने अपने मजहबका संस्कार ईश्वरपर डाल करके उसको भी मजहबी बना दिया। मै जब 'कल्याण'मे था तब देखता कि वैष्णवोका चित्र हो तो खडा तिलक होता और दैत्योका हो तो आडा। इसका अर्थ यह है कि ईश्वरमे भी संप्रदाय घुस गया।

भयानाम् भय भीषण भीषणानाम्

भय भी जिससे भयभीत रहता है और जो भीषणका भी भीषण है माने जिसकी सत्तास्फूर्तिसे भीषणमे भीषणता और भयमे भय आता है, वह भी भय होगा। भयानाम् भयम् कहनेसे वह बहुत मजेदार हो गया। जब कहते हैं—वह आँखकी आँख है, कानका कान है, मनका मन है तो इसमे एक आँख-कान-मन तो संस्कारवाला है। उसमे असस्कारी रहकर जो सत्ता स्फूर्ति देता है, वह है आखकी आँख, प्राणका प्राण, मनका मन।

भयानाम् भयं—एक धर्मकी उपाधि शक्तिसे और एक अधर्म-की उपाधि-शक्तिसे युद्ध कर रहा है। व्यक्तिमे धर्माधर्मके संस्कार हैं। कौरव-पाण्डव, राम-रावण, देवता-राक्षस दोनोमे शक्ति है, दोनो बडे भयकर हैं परन्तु रामभक्तिकी उपाधिसे वानर और रावण-भक्तिकी उपाधिसे राक्षस लड रहे है, परन्तु सत्तास्फूर्ति देनेवाली चीज एक ही है।

बल्ब, पंखा, रेफ्रीजेटर सबमे बिजली एक है। ऐसे एक ज्ञान है। तुम पहले अपनेमे भयको देख लो।

आपको कुछ बोलना होता है और न बोलो तो भीतरसे मानो कोई सुई चुभोता है कि यह बात क्यों नहीं बोल दी ? भीतरसे कोई बोलनेको विवश करता है। वह कौन है ? तुम्हारी संस्कार-युक्त जानकारी तुम्हें बोलनेको विवश करती है। बोलनेकी प्रेरणामे ज्ञान तो है, परन्तु देखे-सुने हुएका संस्कार है। आप यदि अपने भीतर इस बातको ध्यानसे समझ लो तो ईश्वरकी बात समझमे आजाय।

आपके सामने जब जहरका प्याला आता है तो आपको जहर पीनेसे कौन रोकता है ? जहर पीनेसे मर जायेंगे ऐसा आपका संस्कारयुक्त ज्ञान ही आपको रोकता है। आपको भय देनेवाला वहाँ पडोसी नही है, शत्रु हाथमे तलवार लेकर खडा नही है। आपके हृदयमें रहनेवाला ज्ञान विषकी मारकत्ताके संस्कारसे संस्कृत होकर आपको विष पीनेसे भय देता है। परन्तु जब आपको झूठ बोलना होता है तो जरा हल्के ढगसे मना कर देता है कि 'मत बोलो' लेकिन जब उधर वह कहता है कि 'झूठ बोलनेसे तो पैसा आवेगा, इज्जत बढेगी' तो भय और लोभ आपसमे लड जायेंगे। दोनो ज्ञान हैं। भय और लोभ पाप और लाभ ये दोनो संस्कार हैं। धमका संस्कार है—'सत्य बोलना चाहिए।' और 'झूठ बोलनेसे पैसा मिलेगा, पैसा मिलनेसे बडा सुख मिलेगा' यह भी एक संस्कार हमारे अन्त करणमें है। एक ज्ञानस्वरूप परमात्मा दोनोमें एक है। जब तुम लोभसे हारकर झूठ बोलते हो तो ज्ञानस्वरूप परमात्मा वहाँ नहीं हारा, वहाँ तो लोभसे सत्यका प्रेम, सत्यकी निष्ठा, झूठ न बोलनेका संस्कार हार गया।

वृन्दावनमें एक महात्मा हैं। वे पुराने ढगके अक्खड महात्मा

हैं। वे महन्तो मण्डलेश्वरोकी आलोचना करते थे। एक बार किसी महन्त-मण्डलेश्वरका चेला उनके पास गया। उन्होने कहा 'वह महात्मा तो बडा पण्डित, समझदार, वक्ता है, लेकिन वह पैसा क्यो लेता है ?'

चेला बोला 'लोग बहुत आग्रह करते है, जिद करते हैं, प्रेम और आदर करते हैं तो उन्हे मजबूर होकर लेना पडता है।'

महात्मा 'यदि कोई उनके पास लडकी लेकर आवे और आग्रह करे कि 'व्याह कर लो'' तो करेगे ?'

चेला 'नही करेंगे।'

महात्मा 'तो वे क्यो दूसरोसे मजबूर होकर पैसा ले लेते हैं और व्याह क्यो नही करते ?'

इसका यह तात्पय है कि हमारे भीतर बैठा हुआ ज्ञान हमारे सस्कारोके द्वारा हमारे जीवन पर शासन कर रहा है।

'अन्त प्रविष्ट शास्ता जनानाम्।'

वह मनुष्यके भीतर रहकर ही शासन करता है। कुत्ता क्यो रोटी लिये हुए आदमीको आता देखकर पूछ हिलाता हुआ उसकी तरफ जाता है और डडा लेकर आते हुए आदमीको देखकर भागता है ? क्योकि उसमे ज्ञान है। रोटी पानेका ज्ञान होने पर प्रवृत्ति और डण्डा खानेका ज्ञान हो तो निवृत्ति। असलमे ज्ञान ही निवर्तक प्रवतक दोनो है।

जब हम ज्ञानके विपरीत आचरण करते हैं तब ? ज्ञान डर-वाता भी बहुत है। 'भयावस्याग्निस्तपति।' एक आदमीने कभी अपने हाथसे ऐसा काम किया जो उसे नही करना चाहिए। वह जानता भी था और भीतरसे ज्ञानने अनुशासन भी किया कि यह

काम उसे नही करना चाहिए, लेकिन क्रोध और हिंसाका वेग ऐसा आया कि वहाँ सत्य और अहिंसाकी जो निष्ठा थी, उसकी जगह असत्य और हिंसाकी निष्ठा प्रबल हो गयी। जो निष्ठा प्रबल हो जाती है उस ओर परमात्माका ज्ञान और शक्ति झुक जाते हैं। वह झुक गया तो हिंसा कर दी। अब वह पागल हो गया, क्योंकि अहिंसा और हिंसा दो ज्ञानके बीच द्वन्द्व हो गया। वह पागलपनमें बारबार पानीसे अपना हाथ धोता था।

एक आदमी किसीकी निंदा करके आया। जबतक निंदा नहीं करता था, उसके मुँहपर एक प्रसाद था, आँखमें चमक थी, मिलता था तो खिले हुए फूलकी तरह प्रफुल्लित वदन मिलता था और निन्दा करनेके बाद मिलने लगा तो उसकी आँख कुम्हला गयी, ओठोकी मुसकान मुरझा गयी। क्यों ? भीतरसे उसको कोई भयभीत करनेवाला है। असलमें ज्ञान तो शुद्ध है। सस्कारके अनुसार उसमें पक्ष-विपक्षका भेद मालूम पडता है। जिस पक्षका सस्कार प्रबल है, वह दूसरे पक्षको हाथमे डंडा लेकर मार देता है।

अग्नि —वाक्के पीछे अग्निदेवता बैठे हुए हैं। ज्ञान परमात्मा है और बोलनेका संस्कार माया है, वृत्ति है, अनादिसिद्ध और सान्त है। मनुष्यने बाहरसे अच्छा-बुरा सीखकर अपने भीतर भर दिया है। ज्ञान अनादि अनन्त है। बाह्य संस्कारसे प्रभावित अच्छा-बुरा बोलना आगतुक है। बाह्यदर्शन, भाषा, बुद्धि भी आगतुक है। कान, आँख, नाक, हाथ, पाँवमें जो अलगाव है वह वृत्ति है। उसमे जो मूलभूता शक्ति है, वह माया है। उसी माया-पर बैठकरके ज्ञान हमारे संस्कारके अनुसार वृत्तियोंको कभी डराता है तो कभी फुसलाता है।

'आत्मा बुद्ध्या त्वमेत्यार्थान मनो युक्ते विवक्षया ।

आत्मा बुद्धिके द्वारा विषयकी कल्पना करके फिर मनको बोलनेके लिए नियुक्त करता है । मन शरीरकी गरमी पर चोट पहुँचाता है, उससे वायु चलती है । तत् प्रेरयति मारुतम् । वायुसे ध्वनि पैदा होती है और ध्वनि पैदा होकर जिह्वासे निकलती है ।

बाहर समष्टिमे जो अग्नि है वह ठडा क्यो नही हो जाता ? उसको कौन गरम रखे हुए है ? ईश्वरस्वरूप सत्ताकी शक्तिसे इतनी निष्ठाके साथ वह अपनी दाहकताम टिकी हुई है और उससे प्रेरित जीभ विवेकपूर्वक बोलती है । भीतर बैठकर परब्रह्म परमात्मा इस अग्निका सचालन करता है । अध्यात्म, अधिदैव और आधि भौतिक तीनो अग्निका नियन्ता कौन है ? व्यष्टिमे जीभको बोलनेका विवेक देनेवाला, वाक्पर नियन्त्रण करनेवाला ज्ञान ही है । जैसी बुद्धि उत्पन्न कर दी जाती है, उसका शरीरपर बडा भारी प्रभाव पडता है । इस तरहसे कई ढगकी चिकित्सा की जाती है । आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि आधा रोग वैद्यकी वाणीसे जाता है । आठ आनेमे छ आना पथ्यसे और दो आना दवासे जाता है । इसीको मानस-चिकित्सा कहते हैं ।

एक स्त्रीको पक्षाघात हो गया । वह सुन्दर युवती थी । उसमें धमके सस्कार थे । उसका हाथ नही उठता था । जब वह डाक्टरी दवासे अच्छी नही हो रही थी तो एक व्यक्ति ने कमरा बन्द कर लिया और उसके शरीर पर से कपडा खीचा, मानो वह उस पर बलात्कार करना चाहता हो । बलात्कारको रोकनेके लिए उस युवतीके शरीरमे इतना वेग आया कि वह उठकर बैठ गयी और दोनो हाथसे अपने कपडेको पकड लिया । उसके हाथमे शक्ति आ गयी । ज्ञानने ही उसके हाथमे शक्ति भर दी ।

एक देखी हुई बात—अनूपशहर नामक कस्बा उत्तर प्रदेशके बुलन्दशहर जिलेमें पड़ता है। वहाँ श्रीउड़िया बाबाजी महाराजकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। एक स्त्री वहाँ तीन महीनेसे उठती नहीं थी। पलंगपर लेटी रहती थी। चारपाईपर ही लेटी-लेटी शौच भी करती थी। एक दिन श्रीउड़ियाबाबा अनूपशहर गये। उसके पति-ने आकर प्रार्थना की—'महाराज, मेरी पत्नी बीमार है, वह आपकी भगत है, आप आकर दर्शन दे जायँगे।'

बाबाने डाँट दिया और कहा—'नहीं आयेंगे।'

पतिने जाकर पत्नीको यह कहा तो बेचारी को बड़ी निराशा हुई। रोने लगी कि 'महाराज नहीं आयेंगे।' दूसरे दिन सुबह साढ़े पाँच बजे बाबा स्नानके लिए जा रहे तब उसके दरवाजेपरसे निकले और जिस कमरेमें वह औरत लेटी हुई थी, उसकी किवाड़ी खोलकर भीतर घुस गये और बोले—'उठ, क्या ढोंग करती है ?' उसे बाबाको देखकर ऐसा आवेश आया कि तीन महीने लेटी हुई वह झट एकदम उठ बैठी और नीचे धरतीपर पाँव करके बाबाके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम किया। बाबाने कहा—'चल उठ गंगाजी चल।' वह तुरन्त बाबा के साथ गंगाजी गयी और स्नान किया।

मनुष्यके जीवनमें ज्ञान कितना नियंत्रण करता है ? यह नहीं कि बाबाने उसपर जादू कर दिया या माया कर दी। वह कोई चमत्कार या सिद्धि नहीं थी। उसके भीतर बाबाके प्रति जो ज्ञान था कि —'ओह, हमारे घरमें ईश्वर आगया !' उससे वह चमक उठी, बैठ गयी !

हम लोग वृन्दावनसे दिल्ली जा रहे थे। वहाँ बीचमें ओखला बाँध पड़ता था। वहाँ बगीचेमें बड़े सुन्दर वृक्ष थे।

प्रबुद्धानदजीको बडे जोरसे हिचकी आती थी। घटे भरसे हिचकी आ रही थी और बद नही होती थी। हमने कहा—'अच्छा, हम तुम्हे यही छोड देते हैं। अपने साथ नही ले जायँगे। भिक्षा माग-कर खा लेना, पेडके नीचे रहना।'

जब मैने ऐसा कहा तो वे रोने लगे। पाच-दस मिनटो तक हिचकी आनी बन्द हो गयी। देखो, ज्ञानने नियन्त्रण कर दिया। जबतक ज्ञान शरीरकी स्मृतिपर आरूढ था, तबतक हिचकी आ रही थी। जब ज्ञान वियोगकी कल्पनापर आरूढ हो गया तो 'अब कहाँ रहेगे? कहाँ खायेंगे पियेंगे, कैसे करगे? स्वामीजी छूट जायँगे।' भविष्यकी कल्पना होने लगी तो हिचकी बिलकुल ठीक हो गयी।

बचपनमे हम लोग किसीको हिचकी आनेपर कहते 'तुमने हमारे बस्तेमे से चाकू चुरा लिया है।'

वह कहता 'नही, नही, हमने नही चुराया है।'

हम कहते—'नही नहीं, तुम्हीने चुरा लिया। हम मास्टर साहबसे शिकायत करते हैं!'

वह इतना डर जाता, उसको हिचकी आना बंद हो जाता। मनुष्यके जीवनपर ज्ञानका बडा भारी नियन्त्रण है।

कोई प्रश्न करे कि हम जानते हुए क्यो गलत काम करते हैं?

इसलिए कि उस कामके दो हिस्से हैं। एक माहात्म्यकी जान-कारी और दूसरे सुखकी जानकारी। जैसे, हम समझते हैं कि ब्रह्मचर्यसे रहना श्रेष्ठ है, धर्म है, पवित्रता है। यह ब्रह्मचर्यके माहात्म्यकी जानकारी हुई और भोगमे सुख है यह दूसरी जान-कारी है। जब हमारे सामने भोगकी वस्तु उपस्थित होती है, तब

यदि हमें भोगकी जानकारी नही होती, केवल उसके माहात्यकी जानकारी होती तो हमारा ज्ञान माहात्म्यके पक्षमें जाता। परंतु भोगके सस्कारके कारण कि 'हमें इससे सुख मिलता है' ऐसा ज्ञान सुखवासनामे आरूढ ज्ञान और माहात्म्य-वासनामे आरूढ ज्ञान माने परस्पर विरोधी दोनों वासनाएँ परस्पर लडती हैं, हारती जीतती हैं और ज्ञान (ईश्वर) दृढ़का पक्ष लेता है। जो ईश्वरको नही छोडता है, उसका पक्ष ईश्वर लेता है। भक्तका पक्ष ईश्वर लेता है। जो अपनी मदद करता है, उसकी मदद ईश्वर करता है। जो अपनेको जोखिममें डालता है, उसका पक्ष ईश्वर लेता है। ईश्वर किसका पक्ष लेता है ? इसका अभिप्राय यह है कि हमारे जीवनका नियंत्रण ज्ञाना-त्मक परमेश्वर तत्-तत् वृत्तियोंमे आरूढ़ होकर कर रहा है। जहाँ दुहरी वृत्तियाँ हैं, वहाँ जिसमे हमारी निष्ठा प्रबल होगी, वह सफल होगी और निष्ठा ढीली होगी वह निष्फल होगी। इसी कारण भक्तिके मार्गपर श्रद्धाका, विश्वासका बडा भारी महत्त्व है और ज्ञानमार्गमे निष्ठाका। हम एक परमात्माके सिवा बाकी सब-को श्रद्धा-विश्वास ही बोलते हैं।

वेद कहते हैं—'जन्म-मृत्यु, वैकुण्ठ आदि श्रद्धा है' तब हम नीची निगाहसे नहीं देखते। एक परमात्मा सत्य है परन्तु उसकी अपेक्षासे और परोक्षताके कारण श्रद्धारूप हैं और उनमे श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धा-विश्वास करना पाप नहीं हैं, अपने हृदयको ऊँचा उठानेका तरीका है। यह बात सच्ची है कि अन्यरूपसे ईश्वरपर श्रद्धा ही की जाती है और परोक्ष परलोक-पुनर्जन्म पर भी श्रद्धा ही की जाती है। इससे हमारे अन्त:करण-का निर्माण ही होता है और ईश्वरकी ओर चलनेमे हमें मदद मिलती है।

नाश्रद्धाना अविर्युति वेवा ।

लेकिन हम परमसत्य किसको मानते है ? एक अद्वितीय परमात्माको जो प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न है। वही विज्ञानसिद्ध, ज्ञानसिद्ध, अनुभवसिद्ध है। उसके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सिद्धि नही है।

'भयावस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यं ।

व्यष्टिकी उपाधिसे अध्यात्ममे यह ज्ञान ही हमारा सचालन करता है। इसी प्रकार समष्टिकी उपाधिसे अग्नि, इन्द्र आदिका सचालन ज्ञान ही करता है। असली निरुपाधिक परमात्मामे न नियम्य है, न नियन्ता। उसमे अग्नि इन्द्र आदिका भेद नही है और नियम्यपना नियन्तापना भी नही है।

भयात्तपति सूर्यं सूय आँखमे है। हमारी आँखसे क्या देखना चाहिए, क्या नही देखना चाहिए, देखनेमे मजा है, देखनेमे पाप है, देखना-सुनना बोलना सूँघना आदि एक एक वृत्ति है जो पाप नही है, पाँचो इन्द्रियोम पाँच प्रकारके ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति है। ये इन्द्रियाँ यदि अपना-अपना काम करती हैं तो इनका काम करना पाप नही है, परन्तु राग-द्वेषसे युक्त होकर काम करना पाप है। जिसके मनमे जिसके प्रति राग या द्वेष है, वह तो उससे युक्त होकर देखेंगे। तब पाप कहाँ है ? कर्तापनमे पाप है। मनमे सस्कारके अनुसार सहज भावसे रंजना जलन आती है, उसमे कतृत्व माने अभिमान होना पाप है। कहते हैं कि अभिमान होना भी पाप नही है। यह भी पहलेसे सहजभावसे रहते ही हैं।

जान-बूझकर निषिद्ध कर्म करना पाप है, मनमे रागद्वेष लाना पाप है। जो लोग असलियतको नही जानते वे इसका रहस्य नही समझते। सडक परसे दाये चलना पाप है तो बाये चलना

पुण्य है या बाये चलना पाप है तो दाये चलना पुण्य है ? कानूनके अनुकूल चलना उचित है, खिलाफ चलना अनुचित है। इसमें विधि निषेध ही प्रबल है, भाव नहीं। कोई कहे कि हम पत्नीको बहिन या बहिनको पत्नी समझते हैं तो पाप है। वह निषिद्ध स्थल पर किया हुआ भाव है, बडी तीव्र वासनासे और कर्तापनसे किया गया है, इसलिए वह पाप है। पाप-पुण्यकी उत्पत्ति आँख-कान, जीभ, मन, अभिमानसे नही होती। मर्यादा तो देश-कालमें, सम्प्रदाय-सम्प्रदायमें, जाति-जातिमें अलग-अलग होती हैं—वह विधानकी प्रधानतासे होती है।

भयात्तपति सूर्यं देखने मे पाप नही है। जहाँ विधानका उल्लघन—निषद्ध दर्शन है, वहाँ पाप है। जहाँ जान-बूझकर कर्तृत्वपूवक निषिद्धका दर्शन और विहितका उल्लघन है वहाँ पाप है। तो तुम्हारा ज्ञान किस पक्षमे जाता है ? यदि ज्ञानके आदेशके विपरीत करोगे, ज्ञानकी आज्ञा-अनुशासन नही मानोगे तो एक दिन ग्लानि होगी, दु ख होगा, मलिनता आयेगी। आँखमे बैठा हुआ सूय उसी ज्ञानरूप परमेश्वरके भयसे तपता है अर्थात् नेत्रका सचालन करता है।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पचम

हाथ मे बैठा हुआ इन्द्रदेवता कर्मका सचालन करता है। इन्द्रने दितिके गर्भमे मरुतके उनचास टुकडे कर दिये। उनमे-से दस प्रकारकी वृत्तियाँ शरीरके भीतर रहती हैं। वायु एक है, वृत्तियाँ दस हैं। वायु हमारे भीतर स्वच्छ हवाको ले जाता है और गन्दो हवाको बाहर निकालता है। अपना वायु नीचेको निकलता है, फिर लौटकर नही आता। शरीरमें हवाका एक ऐसा विभाग है। अपनी मर्यादासे अपने नीचेको जाता है, लौट-

कर नही आता ? क्यो ऊपर नही आता ? क्यो प्राण ऊपर ही आता जाता है, नीचे नही ? ये सब अलग-अलग वायु प्राण, अपना उदान, व्यान, समान, देवदत्त, धनजय आदि ज्ञानके नियन्त्रणसे अपनी मर्यादामे स्थित हैं।

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परमात्मामे, ज्ञानमे हमारी वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। योगी लोग समाधि लगाते है तो पाचन, मलापसरण, रुधिराभिसण, बाल-नाखून बढना आदि एक भी क्रिया शरीरमे नही होती। जब ज्ञान हिलता है, हिलनेवाली चीजसे जब ज्ञानका तादात्म्य होता है, प्रकृति और प्राकृतके साथ जब ज्ञानका तादात्म्य होता है तब शरीरमे सारी क्रियाएँ होती है, नही तो नही होती। तादात्म्य टूट जाय, द्रष्टा अपने स्वरूपमे स्थित हो जाय तो कोई क्रिया नही है। हिलना-चलना सब ज्ञानका ही विलास है।

सर्व और अल्प, सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दोनोमे एक ही ज्ञान है और दोनो ज्ञानसे प्रकाशित-नियन्त्रित है। छोटे बडे मटकेमे एक ही आकाश है। चायकी केटली और पानीका मटका दोनोमे एक ही अवकाश है इसी प्रकार सबमे एक ही चैतन्य वस्तु है।

मृत्युर्धावति पञ्चम यह श्रुति अन्यत्र भी बहुत जगह आयी है—

भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषा अग्निश्च वायुश्च।'

श्रीमद्भागवतमे कई जगह दुहराया है **भयानां भयम् भीषणं भीषणानाम्**। तुम्हारे भीतर ज्ञानमे द्वन्द्व है। एक सुख-भोगका पक्षपाती ज्ञान है और एक निरोधका पक्षपाती ज्ञान है। ज्ञान तो एक ही है, निरोध और वासनाकी उपाधिसे भिन्न-भिन्न मालूम

पड़ता है। हमारा मृत्युकी ओर जाना और अमृतकी ओर जाना दोनों ज्ञान द्वारा संचालित है। संस्कारानुसारिणी वृत्तिमें जो ज्ञानका प्रतिबिंबन है, आभास है, अधिष्ठान और प्रकाशक रूपसे जो ज्ञान है, उसीके द्वारा साराका सारा संचालन होता है। इस ज्ञानके स्वरूपको न तुम जन्मके पूर्व ही समझके आये हो, न मृत्युके बाद समझनेकी यह चीज है। वेदान्त अदृष्टकी चर्चा नहीं करता।

धर्मका फल दृष्ट ही है–इसी लोकमें है। अपने अन्तःकरणकी निर्मलता, पवित्रता, स्वच्छता धर्मके फलस्वरूप ही इसी जीवनमें अनुभव होती है। एक पुरोहित-धर्म है जो स्वर्ग-नरककी चर्चा पर आधारित है। एक महात्मा-धर्म है जो अन्तःकरणकी शुद्धि-अशुद्धि पर आधारित है। कोई भी काम करके तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध निर्मल, स्वच्छ हुआ कि नहीं? अन्तःकरण तो इसी जीवनमें शुद्ध होता है, अगले जन्ममें नहीं! शुद्ध अन्तःकरणमें परमात्माका ज्ञान भी इसी जीवनमें होता है। जिन्हें इसी जीवनमें ज्ञान पानेकी उम्मीद नहीं है, वे नाउम्मीद लोग कहते हैं: 'इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें ज्ञान होगा।' कोई कहे कि 'बेटा होनेके लिए यज्ञ करो।' वे कहते हैं—'अब क्या यज्ञ करनेसे बेटा होगा? बुढ़ापा-नपुंसकता आगयी!' बोलेंगे–'अच्छा, यज्ञ तो करो! इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्ममें होगा!'

अन्तःकरणकी शुद्धि इसी जीवनमें होती है। परमात्माका साक्षात्कार अभी होता है।

किसीने बताया—'यही तो है!' परन्तु विश्वास न हो! ऐसी स्थितिमें यह मनुष्य पड़ा हुआ है। तो इसी जीवनमें, इस शरीरके बिखर जानेके पूर्व इसे पहचान लो। तुम स्वयं अमृत-परब्रह्म परमात्मा ही हो।

४. ब्रह्मात्मैक्य-बोधके अभावमे आवागमन

संगति

मन्त्र तीनमे यह कहा गया कि जहाँतक इस जीवन और जगत्‌का प्रश्न है, मनुष्यका ज्ञान ही उसका नियन्ता है।

मन्त्र चार आवागमनकी निवृत्तिके हेतु ब्रह्मात्मैक्य बोधकी अनिवार्यता समझाने के लिए प्रवृत्त होता है। ईश्वरको जाननेमें हमारी कोई शर्त नहीं चलती। इसलिए किसी क्रियामे ईश्वरको मत डालो कि जब ऐसा कर्म होवे तब ईश्वर या हम ऐसा कर्म करें तब ईश्वर! कर्मके चक्करमें ईश्वरको मत बाँधो! शक्लमें भी ईश्वरको मत डालो कि हमारी आँख ऐसी हो जाय तब ईश्वर! वैकुण्ठ या समाधिके चक्करमें भी ईश्वरको मत डालो। अरे, अभी, यही तुम जैसे हो वहीं-वैसे अपने आपको देखो, नहीं तो शरीर धारणकी परम्परा बारम्बार वासनाके अनुसार चलती रहेगी। जबतक अणुत्व रहेगा, तबतक गति रहेगी, अपनेमे परिच्छिन्नता रहेगी। यह परम सत्य साक्षात्कार करनेके लिए है। तुम उसे अभी, यहीं, इसी रूपमें जानो।

> इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
> ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

यदि इस देहमे इसके पतनसे पूव ही ब्रह्मको [जान सका तो बन्धनसे मुक्त हो जाता है और यदि] नही जान पाया तो इन जन्म-मरणशील लोकोंमें वह शरीर-भावको प्राप्त होनेमें समर्थ होता है ॥ ४ ॥

यह हाथ कैसे उठता है ? 'उठाना चाहिए' यह ज्ञान ही हाथको उठाता है। इस जीभको कौन हिलाता है ? इच्छायुक्त ज्ञान ही जीभको हिलाता है। इसका यह अभिप्राय है कि 'व्यष्टिमे जो काम हो रहा है, वह सकल्पसे इच्छा सस्कारसे युक्त ज्ञान द्वारा हो रहा है। ऐसे ही समष्टिमे जो ज्ञान हो रहा है वह भी सस्कार-युक्त ज्ञान द्वारा ही हो रहा है। परन्तु व्यष्टिवाला होकर इस सस्कारयुक्त ज्ञानमे मनुष्य बध गया है। अपनेको मान बैठा है कि 'मे इस सस्कारयुक्त ज्ञानवाला ही हूँ।' समष्टिवाला ईश्वर निरहकार होनेके कारण सकल्पयुक्त ज्ञानके द्वारा सपूर्ण जगत्का नियन्ता होकर भी वह ज्ञान-नियन्तापनेके अभिमानसे युक्त नहीं है। परन्तु यह अल्पपना और सर्वपना दोनों ज्ञानमें प्रतिभास-मात्र हैं। ज्ञान न अल्प है, न सर्व। अल्प और सवकी कल्पनाका नियन्ता भी ज्ञान ही है। अर्थात् ज्ञान अधिष्ठान है, स्वयप्रकाश है और उसमें व्यष्टि-समष्टिकी, सर्व-अल्पकी जो कल्पनाएँ हैं वे सारी-की-सारी प्रतिभासमात्र हैं।

सुख दु ख मान्यता नही, भ्रान्तिमूलक हैं। कोई कहते हैं—'हम पुनर्जन्म नहीं मानते—यह तो हिन्दुओंकी मान्यता है, हमारी मान्यता नही है।' यदि मान्यतासे बन्धन होता तो मान्यता छोड देनेपर बन्धन भी छूट जाता। यह तो अज्ञानसे बन्धन है। अपने स्वरूपके अज्ञानसे बन्धन होना और मान्यतासे बन्धन होना एक बात नहीं है। अपने स्वरूपका जब अज्ञान

मिटेगा तब मान्यता मिटेगी, नही तो एक मान्यता छोडोगे और दूसरी पकडोगे ।

तुम्हारा आचरण हिन्दूकी तरह, ब्राह्मण या साधुकी तरह होना चाहिए यह अध्यारोपसे सिखाया जाता है। यह सब तो शारीरिक बात है। असलमे तुम्हारे कमसे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति होती है। केवल शरीरसे अपनेको मनुष्य, हिन्दू, ब्राह्मण, संन्यासी समझकर आचरण मत करो! भविष्यमे तुमपर कैसे संस्कार पडेंगे, क्या परिणाम होगा यह देखकर कर्म करो जैसे सस्कार और पचभूत दानोके मिलनेपर बीज होता है, वैसे हो सस्कार और चैतन्य दोनोके मिलने पर जीव होता है।

चार्वाकमतमे—'जीव, सस्कार कुछ नही है, 'सब जड तत्त्व है। उसमे चेतनाका परिस्फुरण हुआ, उसमे सकल्प आया। आदमी जला दिया गया तब न उसमे सकल्प रहा न जीव वह राख रह गया। उसमे रही जडता। चार भूत होकर रह गयी।' चर्वाक मतमे भूत चार ही मानते है क्योकि आकाश तो उत्पन्न हुआ ही नही तो भूत कैसे ?

दूसरेने कहा 'जडताको धारा अलग ओर चेतन अलग है। प्रकृतिसे जडताकी धारा निकली। सकल्प भी जडतामे है, चेतनमे नही हैं। अविवेकसे चेतनने जडता, का—सकल्पको धाराको अपना मान लिया और वह बद्ध जीव हो गया। विवेक करके द्रष्टा दृश्य-को अलग किया तो दृश्य प्रकृतिका काय बन गया।'

तीसरेने कहा—नही-नही, चेतन और प्रधान दो माननेसे तो देश-काल-वस्तुको भी अलग मानना पडेगा। अन्तर्देशमे प्रकृति विलीन रहती है और एक कालमे वह उद्भूत होती है। इसलिए किसी एक काल या देशमे प्रकृति माननेसे काम नही चलेगा ।

प्रकृतिकी उद्भव-अनुद्भव दशामे देश और काल होंगे और उसका द्रष्टा भी होगा। तब प्रकृति और पुरुषको अलग करनेके लिए देश-काल-वस्तुका परिच्छेद भी मानना पडेगा और द्रष्टा कट-पिटकर परिच्छिन्न हो जायगा।

दाँये पुरुष, बाँये प्रकृति, भीतर पुरुष, बाहर प्रकृति! प्रकृतिके भीतर पुरुष कैद हो गया। इसलिए प्रकृति-पुरुषकी धारा दो जुदा-जुदा नहीं है। चैतन्य ही सकल्प-धारा, सस्कार-धारा और पचभूत-धाराके रूपमें—सम्पूर्ण प्रपञ्चके रूपमे प्रकट हो रहा है। यदि प्रकट होना चैतन्यका स्वभाव मानोगे तो चैतन्य परिणामी हो जायगा। परिणामी हो जायगा तो चैतन्य क्या रहेगा? अपना परिणाम तो किसीको अनुभव नही होता! बचपन बदल गया, जवानी बदल गयी, बुढापा बदल गया परन्तु इनमें द्रष्टा तो एक है। यही द्रष्टा अद्वितीय ब्रह्म है और जितने परिवर्तन-प्रवर्तन हैं, वे सब उसमे बिना हुए ही भास रहे हैं, प्रतीतिमात्र हैं। यदि अपनेको ऐसा जान लो तब तो तुम कर्म, भोग, बन्धनसे छूट गये। अविद्या अर्थात् अपने आपको न जानना ही बन्धन है और बन्धन ही दु ख है। यदि अपने आपको न जानोगे तो अपनेको देश-काल-वस्तुमें बद्ध समझोगे और बद्ध अनुभव करके दु खी, विवश और मजबूर हो जाओगे। तब तुम्हे सुख कहाँ मिलेगा? कहीं नही!

यदि जीवको कहीं जाना हो तो उसे कौन ले जायगा? वासना ही उसका पथ-प्रदर्शन करेगी। एकने कहा—'हमारी यह मान्यता है कि हम कही आते-जाते नही!'

'थोडी देर बाद उससे पूछा 'तुम्हारे मनमें अमेरिका देखनेकी इच्छा होती है?'

वह बोला 'हाँ, होती तो है।'

मैंने कहा 'तुम अपनेको अणु नही मानते, जाने-आनेवाला नही मानते, परन्तु अमेरिका देखनेकी इच्छा तो होती है। क्यो होती है ? तुम्हारे मन मे दस पचास सौ वर्ष जीनेकी इच्छा होती है कि नही ?

उसने कहा 'हा।'

जब तुम आगे रहनेकी इच्छा रखते हो तो तुम काल पर विजय कैसे प्राप्त कर सकोगे और कही जानेकी इच्छा रखते हो तो देश पर विजय कैसे प्राप्त कर सकोगे ? तुम्हारी इच्छा होती है कि हमारी जवानी बनी रहे, लठिया लेकर न चलना पडे, दूसरेका सहारा न लेना पडे, चश्मा न लगाना पडे। जवानी बनाये रखने-की इच्छा तो देवता बननेकी इच्छा है—स्वर्गकी इच्छा है। हमेशा रहनेवाली एक चीजकी कल्पना कर लो—वह स्वर्ग हो गया। यदि तुम जवानी स्वर्ग चाहते हो तो अपने संस्कारोसे मुक्त कहाँ होते हो ?

कई लोग दावा करते है कि 'हम अपनी पूर्णताको जानते हैं।'

तुम पूर्णताको जानते हो तो फिर तुम्हारे मनमे भोग पानेकी लालसा क्यो होती हैं ? तुम्हारी पूर्णता अभी कहाँ है ? जब अन्न-पानीके बिना तुम मर रहे हो, गाली अपमान सहकर तुम दुःखी हो रहे हो तो तुममे पूर्णता कहाँ है ?

तब वे कहते हैं—'हम हमारे शरीरको ऐसा ही बनाते है कि उसे पानी-अन्नकी आवश्यकता न रहे। हम योगाभ्यास करेंगे। हम अपनेको ऐसा शान्त बना लेंगे कि गाली देनेपर भी दुःख न हो।'

वास्तवमें तुम जबतक अपनेको शरीर मानोगे तबतक शरीर भूख प्याससे रहित नही होगा, तबतक यह हमेशा जिन्दा नही रहेगा, यह मरेगा। यह तो इसका स्वभाव है। इस शरीरमे 'मैं' की मान्यता अज्ञानसे है। क्यो अपनेको परिच्छिन्न, देह, सकल्पवाला मानते हो ? अपनेको परिपूर्ण, अद्वय न जाननेके कारण अनर्थ होता है।

एक घटाकाश रो रहा था—'हाय-हाय, हमारे अन्दर शराब रखी है। मैं गन्दा हो गया।'

दूसरा घटाकाश हँस रहा था 'हमारे अन्दर गगा जल रखा गया। मैं पवित्र।' हँसने रोनेवाले ये दोनो घटाकाश अपनेको घडेकी दीवारमे बँधा अनुभव करते हैं। माने वे अपनेको आकाशकी विशालतासे अज्ञ रख रहे हैं। वे अपनी विशालता-को नहीं जानते। आकाशके किस हिस्सेमें घटाकाश है जिसमे वह शराब और गंगाजल है ? महाकाशके किसी भी हिस्सेमे है ? शरीरमे कहीं भी दाग लग जाय तो दाग लगा ही। महाकाशके किसी भी हिस्सेमे शराबके कारण क्या वह अशुद्ध हो गया ? तुम आकाशकी विशालताको तो जानते हो कि मैं विशाल हूँ। परन्तु तुम्हें यह मालूम नही है कि मैं कितना सूक्ष्म हूँ। आकाश इतना सूक्ष्म है कि हवाका उसमे स्पर्श नहीं है। हवा उसमे कभी घूमती है और कभी बैठती है। आकाशको न शराब छू सकती है न गगा-जल। वह स्वयप्रकाश, सर्वावभासक है। केवल विशालताकी दृष्टिसे तो तुच्छ अशमे शराब और गगाजल है, लेकिन सूक्ष्मताकी दृष्टिसे तो न उसमे शराबसे गन्दगी आयी, न गंगाजलसे पवित्रता आई। क्योंकि ये दोनो तो बिलकुल स्थूल रूप हैं। क्या घडा चले

तो घटाकाश चलता है और घडा फूटे तो वह फूटता है ? अपनी विशालता और सूक्ष्मता न जानकर ही घटाकाश ऐसा मानता है।

आकाशमे वायु, वायुमे अग्नि, अग्निमे जल और जलमे पृथ्वी कल्पित है और पृथ्वीमे घडा कल्पित हुआ। जिस घडेको आकाश दीवार मानकर अपनेमे बन्धनका हेतु समझता है, शराब और गगा-जल द्वारा अपनेको गन्दा या पवित्र समझ रहा है और घडेके आने जानेको अपना आना-जाना समझ रहा है, वह तो उसमे कल्पित है। जिस परब्रह्म परमात्मामे आकाश अध्यस्त है, जिसमे देश नही—आना जाना नही, काल नही—मरना जीना नही, वस्तु नही—घडेका बनना-फूटना नही, शराव गगाजल नही—ऐसे अपनेको अनन्त अखण्ड ब्रह्मरूपमे आकाशने नही जाना।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।

यह चिदाकाश जब अपनेको सर्वाधिक विशाल, देशसे अपरि-च्छिन्न, परिपूर्ण और कालसे अपरिच्छिन्न अर्थात् नित्य, सत्य वस्तु-का विवर्ती उपादान न जानकर और देहकी उपाधिको भीतर 'मैं' करके बैठ गया तो इसके पाप पुण्य, आना जाना, पवित्रता-गदगी अपनी हो गयी। अब वह स्वर्ग जाना और नरकसे बचना चाहेगा। सुख दु ख, ऊपर-नीचे, मरना-जीना, बनना बिगडना ये सारी विपत्ति उस पर क्यो पडी ? अपनेको न जाननेके कारण। इसी जीवनमे

इसी शरीरमे यदि तुमने समझ लिया कि मैं अद्वय ब्रह्म हूँ तो सकल्प और चेतनका अलगाव समझमे आजायगा कि सकल्प कोई दूसरी चीज है जो मुझमे मिल गयी है, जहाँ-जहाँ सकल्प जाता है, उसके पेटमे बैठकर मैं जाता हूँ। यह जीवन सकल्प बिन्दु है। सस्कार-विशिष्ट चेतनबिन्दुका नाम जीव है, और सस्कार-विशिष्ट जडबिन्दुका नाम बीज है। परन्तु चेतन तो बिन्दु होता ही नही।

वेदान्त बताता है कि संस्कार (सूक्ष्म-लिंग)—शरीरोपाधिक चैतन्य केवल द्रष्टा—स्वयप्रकाश चेतन नही है, वह केवल मैं हूँ। मैं जानता हूँ इतना ही नही है। वेदान्त-विद्या बताती है कि वह अनन्त, परिपूण, अद्वय, अविनाशी, चिन्मात्र ब्रह्म है। वह सकल्प-बिन्दुका साक्षी ही ब्रह्म है माने वह ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई चीज नही है।

इसी सकल्पबिन्दुमें जितनी आकृतियाँ बनेंगी—पाप-पुण्य, सुख-दु ख, आवागमन, स्वर्ग-नरककी उनके साथ अपने स्वरूपके अज्ञान के कारण तुम उनसे तादात्म्यापन्न होकर अपने मैं के साथ जोडते रहो। इसलिए इस जीवनमे ज्ञान प्राप्त करना बहुत आवश्यक है, नही तो 'शरीरत्वाय कल्पते' शरीर बनोगे। संस्कृतमें 'शीर्यते यत् तद् शरीरम्'—जो जीर्ण-शीर्ण होता है, सूखता है, नष्ट होता है उसे शरीर कहते हैं। तुम शरीर नही हो, तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, अजर-अमर, अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण ब्रह्म हो परन्तु

शरीर बन जाओगे तब तुमपर कुल्हाडे पडेंगे। एक ओर काल तुम्हे काटेगा कि मर जाओ, देश एक ओर तुम्हे कैद करेगा कि तुम कोनेमे पडे रहो। वस्तुएँ तुम्हे काटेंगी कि तुम हमारे प्रेमी बनो, हमारे पराधीन बनो। इसलिए सकल्पमे से अपने 'म' को विविक्त करके उसे ब्रह्म जानो।

किसीके पास बढिया खानेकी चीज ले जाओ और वह कहे 'अच्छा रख दो ढँककर फिर समयपर खा लेंगे' इसका तात्पर्य है कि उसे भूख नही है। प्यास नही है तो पानी नही पियेगा। ब्रह्मविद्या जैसी अच्छी चीजकी भूख प्यासमे कमी होना जिज्ञासु पुरुपका लक्षण नही है।

मेरे बम्बई आनेके पूव हृषीकेश, हरिद्वार, वृन्दावनमे मेरे पास ऐसे लोग आते थे जो कहते थे 'महाराज, आत्मज्ञान कराओ।'

हम कहते 'अभी थोडे दिन मन्त्रका जप करो, ध्यान करो। अन्त करणकी शुद्धि होने दो।'

तब वे कहते 'महाराज, यह करते-करते मै मर गया। और ब्रह्मज्ञान न हुआ तो क्या होगा?'

मै कहता 'अगले जन्ममे हो जायगा।'

वे कहते हम अगले जन्म तक रुक नहीं सकते। कही बीच-मे मर गये तो? हम तो अभी चाहिए। ज्ञानमे देरी न हो।'

●

५. स्थानभेदसे भगवद्दर्शनमें तारतम्य

संगति

मन्त्र चारमें कहा गया कि यदि इसी शरीरमें इसी जीवनमें ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त न किया तो जन्म-मृत्युकी परम्परा बनी रहेगी। इसी जीवन-में ब्रह्म-दर्शन करना चाहिए, उसे दूसरे जन्मके लिए नहीं छोड़ना चाहिए, यह बतानेके लिए पाँचवाँ मन्त्र प्रवृत्त होता है।

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

जिस प्रकार दर्पणमें उसीप्रकार निर्मल बुद्धिमें आत्माका [स्पष्ट] दर्शन होता है तथा जैसा स्वप्नमें वैसा ही पितृलोकमें और जैसा जलमें वैसा ही गन्धर्वलोकमें उसका [स्पष्ट] भान होता है, किन्तु ब्रह्मलोकमें तो छाया और प्रकाशके समान वह [सर्वथा स्पष्ट] अनुभूत होता है ॥ ५ ॥

अपने सामने रखे हुए शीशेमें जैसे अपना शरीर दीखता है, वैसे अपनी बुद्धिको सामने रखकर उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखो। वेदान्तमें यह नियम है कि जो देखनेवाला है वह देखा नहीं जाता। करनेवाला किया नहीं जाता क्योंकि कर्तृ कर्म विरोध हो जाता है। यह तो न्यायका रूप हुआ। जो द्रष्टा होगा, वह दृश्य नहीं होगा।

'बताओ, कि ब्रह्मको अज्ञान कहाँसे हुआ?' 'ब्रह्मको अज्ञान नहीं हुआ! अज्ञान तो तुमको हुआ।'

'अच्छा, तो मैं भी ब्रह्म ही हूँ? मुझे अज्ञान कहाँसे हुआ?'

'तुम्हें भी अज्ञान नहीं हुआ। अज्ञान तुम्हारी बुद्धिमें हुआ। तुमने बुद्धिमें अपनेको ब्रह्म समझ लिया कि नहीं? यदि तुमने अपनी बुद्धिमें अपनेको अद्वितीय ब्रह्म समझ लिया तो अज्ञान मिट गया और नहीं समझा तो बना हुआ है।'

तुम अज्ञानका भूत जानना चाहते हो? भूत-भविष्य-वर्तमान

तीनों अज्ञानसे ही निकले हैं। अज्ञानीकी दृष्टिसे ही अज्ञान है, तत्त्वदृष्टिसे या तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे अज्ञान है ही नहीं। शीशेमें देखते हैं वैसे अपने आपको अपनी बुद्धिमे देखो। यदि तुम यह सोचते हो कि मरकर पितर लोकमे जायेंगे तब वहाँ देखेंगे तो—**'यथा स्वप्ने'** पितरलोक स्वप्नवत् है, वहाँ स्पष्ट नही दीखेगा।

'गधर्व लोकमे ?'

'नही, वह तो पानीमें छायाके समान है।'

'यथा अप्सु परिवदृशे इव तथा गन्धर्वलोके।'

इस गन्धवलोकमे तो पितरलोकसे ज्यादा सुख-भोग है। जिसको दु ख मिलता है वह ससारसे जल्दी छूटना चाहता है।

जैसे चचल जलमें छाया चचल होनेसे स्पष्ट नही दीखती वैसे गन्धर्वलोकमें मनोवृत्ति चचल होती है। वहाँ तत्त्वज्ञान नही होता।

'छाया तपयोरिव ब्रह्मलोके'—एक लोक ऐसा है जहाँ ब्रह्मदर्शन होता है। आत्मा-अनात्मा अलग-अलग है, वैसे छाया-प्रकाश अलग-अलग मालूम पडते हैं। परछाईं कोई वस्तु नही होती है। उसमे देश मालूम पडता है। कालके अनुसार छाया घटती बढ़ती है, परन्तु परछाईंमें वजन नही होता। ऐसे यह प्रपञ्च ब्रह्मलोकमें मालूम पडता है कि यह कितना लम्बा-चौडा है और कालके अनुसार थोडा घटता बढ़ता भी है। वहाँ भी सुखमे थोड़ा तारतम्य होता है। वह भी प्रलयके समय शान्त हो जाता है। परन्तु आतप माने प्रकाश है अपना स्वरूप और छाया है ब्रह्मलोक। वहाँ आत्मा-अनात्माका विवेक हो सकता है। इसप्रकार दो जगहपर यह विवेक हो सकता है—यहाँ अपनी बुद्धिमें और ब्रह्मलोकमे। वहाँ न पानीमे दीखेगा, न पितरलोकमें या गन्धर्वलोकमे। लेकिन ब्रह्मलोकमे तो जाना बडा कठिन है।

एक आदमी कहता था—'महाराज, बम्बई मे क्या वेदान्त सुने ? हम तो एक दिन बम्बई छोडकर हिमालय बद्रीनाथ जायगे। वही रहेंगे। आप भी चलना और हमे वेदान्त सुनाना।'

अब जिन्दगी बीत गयी, बुड्ढे हो गये, आँख निस्तेज हो गयी। अब वे न बद्रीनाथ जायेंगे, न वेदान्त सुनेंगे। यहा सुन लेते तो सुन लेते। ऐसा कहनेवाले मूख है। इसीप्रकार जो कहते है—हम ब्रह्मलोकमे जायँगे तब ज्ञानी हो जायँगे,' वे यह कल्पना करनेवाले मूख है। ज्ञान तो अभी अभी प्राप्त करना चाहिए।

'पुरुषत्वे च आविस्तराय आत्मा।'

वेद भगवान् कहते हैं कि इस मनुष्य-योनिमे आत्मा बिलकुल प्रकट है।

पुरुषत्वे च मां धीरा सांख्य योगव्यपाश्रया।
समुद्धरन्ति चात्मान आत्मनैवासुभाषयात् ॥

जब मनुष्य शरीर प्राप्त होता है तो उसके द्वारा दो बात करना बडा आसान है—विचार करना और मनको एकाग्र करना। मनकी एकाग्रता और विचारकी शक्ति दोनो बाते मनुष्यमे है। इस लिए हम जिस गन्दी जगहमे बैठे है, वहाँसे अपनेको निकाल सकते हैं। कोई गन्दी नालीमे या गड्ढेमे गिर जाय और बुद्धि हो या शरीरमे सामथ्य हो तब तो वह खुद निकल जायगा। परन्तु शरीरमे सामथ्य न हो, बुद्धि न हो बेहोश हो गया हो तो वह वहाँसे अपनेको नही निकाल सकता। हड्डी, मास, चाम, बिष्ठा-मूत्र, पीब-रक्त आदि गन्दगियोसे भरे इस शरीरको चाहे कितना धोओ, साफ करो, इसमे से जो निकलता है वही गन्दा होता है।

पवित्र क्या है ? बिना सोचे समझे यह बात समझ लेना कि हमारे शरीरमे-से जितनी चीजें निकलती हैं, वे सब गन्दी है—

नाखून, बाल, मूत्र, पसीना, थूँक,टूटे दाँत, पीव, रक्त ! संसारमें भी गन्दगी रहेगी, कबतक ? जबतक यह संसार 'मैं'से बाहर रहेगा। जब यह सारा संसार मैं-रूप हो जायगा तब कोई चीज गन्दी नहीं रह जायगी। शरीरमें 'मैं' होना ही सम्पूर्ण अपवित्रता-ओंका अम्बार है।

तथादर्शे तथात्मनि—जैसे स्वच्छ-निर्मल शीशेमें तुम अपने प्रतिबिम्बको देखते हो वैसे अपने स्वच्छ-निर्मल और एकाग्र अन्तःकरणमें अपने प्रतिबिम्बको देखो। किसी सरोवरमें मिट्टी मिली हो, तरंगें उठ रही हों तो अपना मुँह ठीक नहीं दिखाई देगा। शीशे पर बहुत धूल पड़ी हो तो अपना मुँह कैसे दीखेगा ? हमें अपनेको नहीं देखना है, अपने प्रतिबिम्बको देखना है। वासना गंदी मैल है और चंचलता तरंगें है। निर्मल अन्तःकरणमें अपने-आपको अपने पौरुष-प्रयत्नसे इसी जीवनमें देख सकते हैं। ईश्वर भी यदि आपको आत्मज्ञान करायेगा तो यही बोलेगा कि 'जो तू है सो मैं हूँ।' महात्मा भी यही कहेगा, वह चाहे मनके भीतर बैठकर बोले या बाहर रहकर कि 'जो आत्मा सो परमात्मा है और जो परमात्मा है सो आत्मा है।'

आप यदि कभी विवेक करके प्रतिबन्धको निवृत्त करेंगे तो आपके मनमें यही आयेगा कि 'जो वह है वही मैं हूँ। जिसको मैं ढूढ रहा था वह तो मैं खुद हूँ ! मैं समझता था कि ब्रह्म कोई दूसरा है, उसका अज्ञान हमको हो गया है, वह कहीं अप्राप्त हो गया है, छिप गया है ! अरे, ढूँढनेकी वृत्ति जिसमें उदय हो रही है, जो ढूँढनेवाली वृत्तिको अपनी समझ रहा है, वृत्तिको देख रहा है, वही तो ब्रह्म है। अपने-आपको तो देखा नहीं, नजर कहीं दूसरी जगह चली गयी ! कहाँ भाग गयी ? वृत्ति कहाँसे आयी ?

वृत्तिमे अपना आपा दीख रहा है उस पर या वृत्तिका विगत तलाश करनेके लिए इतिहासका मुर्दा उखाडने गयी? 'वृत्ति कहाँसे आयी'—इस तलाशमे तुम ऐतिहासिक अनुसन्धान कर रहे हो या आत्मदर्शन? यह सोचने लगो तो वृत्तिका क्या नतीजा? यह स्वर्गमे जायगी, नरकमे जायगी, देवता बनेगी या मनुष्य? तुम ज्योतिषी हो? वृत्तिकी कुण्डली देख रहे हो जिस समय तुम वृत्तिका भविष्य देखने लग जाते हो उस समय तुम ज्योतिषी और भूत देखने लग जाते हो, उस समय तुम इतिहासकार हो जाते हो। स्वप्नमे जो वृत्ति दीख रही है उसका भूत भविष्य चिन्तन नही किया जाता। वह जैसी होती है, वैसी देखी जाती है। वृत्ति तो तुम्हारा शीशा है।

तुम जिस समय वृत्तिमे अपनेको देखते हो उस समय यदि तुम वासनावान होओगे तो तुम अपनेको वासनावान देखोगे, द्रष्टा होओगे तो द्रष्टा और अखण्ड होओगे तो अखण्ड देखोगे। तुम्हारी अखण्डतामे वृत्तिका कोई अस्तित्व नही है। इसलिए यदि अपने-आपको जानना है तो अपने आपको ही जानना होगा। उसमे ऐतिहासिक या पृष्ठवर्ती अनुसन्धान नही देखा जायगा। ज्योतिषी-की भविष्यवाणी नही सुनी जायगी। अगरक्षकको नही देखा जायगा। इसी जीवनमे और अपनी ही बुद्धिमे अपने-आपको देखो। यदि किसी दूसरेके सिखानेसे ही ज्ञान हो जाता हो तो ऊँट-बैलको भी ज्ञान हो जाय। यदि ईश्वर ही कृपाकरके ज्ञान देता हो तो वह ऊँट-बैलको क्यो नही देता? जिसका हृदय शुद्ध है, जिसे जिज्ञासा है, उसीको ज्ञान होता है। वहाँ भी तुम्हारा पौरुष ही हेतु है। तुम पुरुष हुए हो यह मानव-जीवनका उत्तम लाभ है, उसे उठाओ।

लोग बोलते हैं : 'अभी नहीं, बच्चे-कच्चे हो जाने दो। बच्चे हमारी सेवा करेंगे। फिर हम ज्ञान प्राप्त करेंगे। 'हम बाप बनेंगे तब हमारे कपड़ेका, अन्नका, रहनेका, सेवाका बंदोबस्त बहू-बेटा-बेटी करेंगे तब ज्ञान पायेंगे !'

यदि तुम पिता बनकर, सेवा-सुखसुविधा प्राप्त करके ज्ञान पाना चाहते हो, तब तो स्वप्न ही देख रहे हो। बहू आयेगी तो कहेगी—'लो हमारा बच्चा खिलाओ ! हम जा रहे हैं क्लबमें ! तुम घरकी देखभाल करो।' वह तुम्हें ज्ञानमें सुविधा नहीं करेगी। बेटा कहेगा—'हम जाते हैं विलायत ! अब यहाँ घरका काम तुम सम्हालो !'

कौमारे आचरेत् धर्मः। बचपनमें, कुमारावस्थामें ज्ञान प्राप्त कर लो। यह कोई बड़ी बात नहीं है। दूसरेके बारेमें ज्ञान-प्राप्ति करना नहीं है।

यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके।

बेटा-बेटीकी बात जाने दो ! परन्तु कोई सोचे कि 'हम ब्याह कर लें ! एक सुन्दर-सी श्रीमतीजी घरमें आजायँ उनके साथ आनन्दमें रहेंगे ! ब्याह करनेके बाद ज्ञान प्राप्त करेंगे !'

अरे, तुम बहते हुए पानीमें अपना मुँह देखना चाहते हो ? यह जवानी, सुन्दरता, भोग बहते हुए हैं। भोगलोकमें बैठकर ज्ञान नहीं होता है। ज्ञानके लिए आत्मलोकमें बैठना होता है।'

अच्छा, तो ब्रह्म-भावना करेंगे ! गुरुके पास कौन जाय ? वेदान्तका स्वाध्याय कौन करे ? हम अपने आप बैठ करके ब्रह्माकारवृत्ति द्वारा ब्रह्मोपासना करेंगे !'

उपासना करनेसे ब्रह्मलोकको जाते हैं। सोऽहम् अर्थात् अहं सः।

कल मै विष्णुसहस्रनामकी व्याख्या कर रहा था। उसमे 'हस' शब्द आया। शङ्कराचार्यने बताया है—'अहम स हस'—अकारका लोप हो गया। 'मै वह हूँ, मै वह हूँ, म वह हू'—ऐसी यदि रटना लगावेगे तो ज्ञान हो जायगा? हो तो जायगा। यह भी एक साधन तो है परन्तु बडा कष्ट होगा। तुमको एकबार कोई समझा दे कि तुम मनुष्य हो तो तुम समझ जाते हो। यदि तुम्हे कोई समझा दे कि तुम्हारा नाम मोहन है, गोविन्द है तो समझ जाते हो। तुम अपनेको ब्राह्मण-हिन्दू सन्यासी गृहस्थ समझ गये तो क्या बार बार दुहराते हो? दिनभरमे कितनी बार याद आता है? क्या नाम जाति तब बदल जाते है या वही रहते ह? तो दुहरानेकी जरूरत कहाँ है? वहाँ, जहाँ ज्ञान नही है। यदि कोई आदमी चिल्लाने लगे कि 'मै मनुष्य हूँ' 'मै मनुष्य हूँ' तो लोग उसे पागल कहेगे। 'मै यज्ञदत्त हूँ' की माला फेरकर या वृत्तिको दुहराकर ध्यान या उपासना करके ब्रह्मज्ञान होता तो है, परन्तु वह बहुत मुश्किल है।

छायातपयोरिव साफ मालूम पडता है कि म बिम्ब हूँ और बाकी सारी सृष्टि मुझमे प्रतिबिम्बित है, लेकिन यह तो बहुत कठिन है। तुम सोये हो और कोई तुम्हे नाम लेकर पुकारे—'ओ श्याम, ओ राम। उठ।' तब जागनेके लिए क्या मशीन लगाते हो? ब्रह्माकार-वृत्ति करते हो? वहू बेटेको इकट्ठे करते हो? योगाभ्यास द्वारा वृत्तिनिरोध करते हो? अज्ञानकी तो स्थिति ही यह है। मनुष्य भोजनके लिए हाथमे ग्रास उठाकर मुँहमे रखने जा रहा हो और कोई कहे—'ओ, ठहर! आज इसमे छिपकली मर गयी।' तो क्या होगा? हाथसे भोजन गिर जायगा। मुँहमे नही जायगा।

ज्ञान किसी क्रिया या वस्तुकी अपेक्षा नही रखता है ! अपनी अकलसे तुम देखो, तुम न हड्डी मास-चामके देह हो, न मनुष्य हो, न हिन्दू हो । मनुष्यमे विशेष धम नही होता, सामान्य धर्म होता है और हिन्दूमे विशेष धर्म होता है । परन्तु हिन्दूमें विशेष-धर्म नही होता, सामान्य धर्म होता है, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यमे विशेष होता है । अरे, तू तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नही है, ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ सन्यासी है। उसका भो विशेष धम है ? ना ना, तू तो जीव है । मनुष्य पशु-पक्षी सबमे जानेवाला ? अरे, यह नही, तू ता परमेश्वर है। परमेश्वर भी वह नहीं, जो दिन-रात व्यस्त रहता है—अब सृष्टि बनाओ, पालन करो, बिगाडो ! तुम वह परमेश्वर हो जिसके सिवा दूसरी कोई वस्तु ही नही है ।

दसनामी होना, विशिष्टाद्वैती होना, द्वैताद्वैती होना, द्वैती होना, अद्वैती होना, माध्व-निम्बार्क सम्प्रदायवाला होना यह भी ब्रह्ममे नही है, क्योंकि वह साम्प्रदायिक नहीं है। वह वेदान्त-सम्प्रदायका भी नही है। सारे सम्प्रदाय उसमे अध्यस्त हैं, सारे सम्प्रदायोका वह अधिष्ठान है। उसमें-से कभी द्वैत तो कभी अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत निकले हैं। सब उसमें रहते--निकलते--खण्डित होते हुए दीखते हैं और कुछ नहीं होते हैं। यह उसका स्वरूप है ।

यदि मनुष्य जीवनको सफल करना है, पाप-पुण्यसे छूटना है, अपने-परायेसे, राग-द्वेपसे, सुख दु खसे छूटना है, जीवन्मुक्तिका विलक्षण आनन्द लेना है तो इसको प्राथमिकता दो। अपने कर्तव्योमे भी बहुत सारे कर्तव्य हैं—धम-योग-उपासना-गरीबोंकी सेवा ! परन्तु क्या दुनियामे कोई गरीब, रोगी, भूखा-नंगा नही रहेगा या लडाई-झगडा नहीं रहेगा तब तुम वेदान्त-ज्ञान प्राप्त करोगे ? तब तो जीवनमे कभी ऐसा प्रसंग आयेगा ही नही ।

इसलिए सम्पूर्ण कर्तव्योमे प्राथमिकता देने योग्य कर्तव्य है ज्ञान-प्राप्ति। बुद्धिमान्–शुद्धान्त करण पुरुषके लिए यह क्षणभरका काम है। जिन्दगीभरके लिए तुम्हारा स्वर्ग-नरकका भय, आना-जाना, अपना-पराया, राग द्वेष, सुखदु ख छूट जायगा।

मनुष्यको इसी जीवनमे, सबसे पहले और यही-ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान होना चाहिए, यह मेरा अभिप्राय है। रामचन्द्र भगवान्का तो यह ख्याल था कि पहले तत्त्वज्ञान हो जाय तब ब्याह हो। योगवासिष्ठमे बताया है कि पहले उन्होने तत्त्वज्ञान प्राप्त किया, बादमे ब्याह, वनगमन, सीताहरण, युद्ध, राज्याभिषेक आदि हुआ। जीवन प्रारम्भ करनेके पहले ही यदि आपको तत्त्वज्ञान हो जाय तो जैसा रामका जीवन असग था, लोकोपकारी था, सर्वहितकारी, मर्यादाका समुद्र था, वैसा जीवन आपकी सेवाके लिए आजाय। उसको आनेके लिए बुलाओगे तो ज्ञान गौण हो जायगा। जो लोग राम सरीखा जीवन प्राप्त करनेके लिए तत्त्वज्ञानको बुलाते है, उनके लिए जीवन मुख्य है और तत्त्वज्ञान गौण है। इसलिए तत्त्वज्ञानके पूर्व ऐसे जीवनका सकल्प नही किया जाता, क्योकि तब तो जिज्ञासा मन्द हो गयी, जिजीविषा प्रधान हो गयी। इसलिए आपके मनमे कही भी विशेष बनानेकी इच्छा होगी तो तत्त्वकी–सचाईकी जिज्ञासा मन्द पड जायगी। व्यक्ति या समाजका उत्कर्ष सिद्ध करनेके लिए तत्त्वज्ञान नही होता। तत्त्वज्ञानमे यदि व्यक्ति और समाज दोनो अस्तित्वहीन हो तो उसको स्वीकारनेके लिए तैयार रहना चाहिए। दोनो सत्य सिद्ध हो तो उसके लिए भी तैयार रहना चाहिए। हमको तो चाहिए असलियतका ज्ञान। वह सच्चा या झूठा निकलेगा ऐसा आग्रह करके सचाईका ज्ञान प्राप्त नही किया जाता। सचाईका ज्ञान सारे आग्रह छोडकर प्राप्त किया जाता है। •

६. आत्मज्ञानका प्रकार और प्रयोजन

संगति

मन्त्र पाँचमें बताया कि इसी जीवनमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए, उसे दूसरे जन्मके लिए नहीं छोड़ना चाहिए। अब मन्त्र छह में बताते हैं कि किस प्रणालीसे चिन्तन करनेपर ब्रह्मदर्शन होता है।

> **इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।**
> **पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥**

पृथक् पृथक् भूतोंसे उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियोंके जो विभिन्न भाव तथा उनकी उत्पत्ति और प्रलय हैं, उन्हें जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

उसे ढूँढो। कैसे? क्या? इन्द्रियाँ अलग अलग हैं। उनका पृथग्भाव है माने उनसे कोई उम्मीद मत करो, क्योंकि उनमे फूट है। ये दो इन्द्रियाँ मिलकर तो कभी एक काम करती नहीं हैं। एक 'फूल' हो तो हमारी नाक केवल उसकी गन्ध ही बतायेगी,

आँख रूप बतायेगी, त्वचा उसका स्पश, जीभ स्वाद और कान शब्द बतायेगा। दशनशास्त्रका नियम है कि जिसमे फूट होती है वह पराधीन होकर रहता है--**सघातस्य परार्थत्वात्**। जो चीजें अलग अलग होती है या अलग अलग एकम मिली हुई होती है वे अपने लिए नही होती, दूसरेके लिए होती ह।

एक आदमी एक कमेटी बनाता है तो वह कमेटा उसके सकल्पको पण करनेका साधन होगी। यदि उमसे उसका काम नही बना तो वह कमेटी ताड दगा। सस्था छिन्न विच्छिन्न हो जाती है। यह दस इन्द्रियोकी बनी एक संस्था है। पहली बात तो यह कि दसोके भलेमानुस होनेकी उम्मीद नही रखी जाती। एक सस्था बनानेवालेने महात्मासे पूछा 'इस सस्थाका प्रमुख हिन्दू हो या मुसलमान ?'

महात्माने कहा 'हम हिन्दू या मुमलमान नही पहचानते। हम तो ईमानदारको पहचानते है। हमे चाहिए दिलदार ईमानदार आदमी!'

ये अपने मनकी बात तो बता देती हैं, दूसरेके मनकी बात नही बताती हैं। एक फूलके भीतर घुस करके आँख गन्ध नही पहचान सकती। वह परमात्माके स्वरूपको कैसे समझेगी? इससे यह बात सिद्ध होती है कि यह एकके लिए है। आँख-कान आदि दस नौकर हैं। जहाँ एककी पहुँच नही है, वहाँ दूसरी काम करती है।

इनमे-से किसी भी एक इन्द्रिय द्वारा परिपूण परमात्माका ज्ञान नही हो सकता। इसलिए इन्द्रियोकी प्रवृत्तिसे परमात्मा मिलेगा, यह आशा बिलकुल छोड दीजिए। इन्द्रियोकी तीन बातें ध्यानमे रखने लायक हैं।

१ ये अलग-अलग पैदा हुई हैं।
२ ये अलग-अलग रहती हैं।
३ उनमे उत्पत्ति, प्रलय, उदय-अस्त दोनो होता है।

फूल और इन्द्रियमे विशेष अन्तर है—फूलमे शब्दादि पाँचो-भूतके गुण हैं। फूल स्थूल पंचभूतसे बने हैं। परन्तु एक इन्द्रियमे पाँचो भूत देखनेमे नही आते। रूप-शब्द गन्ध आदि कोई भी एक गुण होता है। जब ये पचभूत फूलरूपमे पचीकृत नही हुए थे, तब इन्द्रियाँ बनी थी। ये तन्मात्रा हैं—तदेव इति तन्मात्र। एक-एक गुणको ही ग्रहण करनेकी सामर्थ्य इन्द्रियोमे है।

सब मिलकर एक आत्मदेवकी सेवा करती हैं। तुम उनसे न्यारे हो। ये इन्द्रियाँ सात्त्विक पचतन्मात्राओसे बनी हैं, यह भी कौन देखता है? मैं। ये अलग अलग काम करती हैं, यह भी कौन देखता है? मैं। इतनेमें से ही यह सिद्धान्त निकलता है कि आत्मा ब्रह्म है!

यह बात भी ढूंढ ली गयी है कि ये इन्द्रियाँ भी सूक्ष्मरूपसे धातु हैं। जैसे सारी सृष्टिमे पचभूतोंका वातावरण है, वैसे इस शरीरमें भी पचभूतोका वातावरण है। विज्ञानमें ऐसी कोशिश की जा रही है कि जैसे नेत्रेन्द्रिय बाहर झाँककर देखती है, वैसे हाथमे भी ऑपरेशन करके ऐसा यन्त्र लगा दिया जाय कि वह बाहर झाँके। जिसकी आँख खराब हो वह हाथसे देख ले।

पृथ्वी स्थूल है। जल, अग्नि, वायु, आकाश उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं, लेकिन इन्हींसे ससारके सारे रूप-रग बनते हैं। उनकी सात्त्विक तन्मात्राओ पर विचार करें तो आप केवल शब्दके ही द्रष्टा नहीं हैं, कानके भी द्रष्टा हैं। आप केवल पंचभूतके अन्तर्गत

जो आकाश है, उसीके द्रष्टा नही है, आकाशतन्मात्रा जिसमे-से शब्द निकलता है, उसके द्रष्टा है। इसमे से यह सिद्धान्त निकलता है कि जहाँ पचमहाभूतकी उत्पत्ति नही हुई है, जिसमे से उत्पत्ति होती है और जब इनका लय होता है, ऐसी अवस्थामे जो आकाश तन्मात्रा है वह कहाँ है ? वह तुम्हारी दृष्टिमे है। अर्थात् आकाशकी उमर, लम्बाई-चौडाई, कायरूपमे उत्पन्न होनेवाला जो परिणाम है, वह तुममे तो केवल विवत है।

विचार करो कि 'पृथ्वी-तन्मात्राका द्रष्टा मै हूँ तो पृथ्वी-तन्मात्रा मेरी दृष्टिमे है, पृथ्वी-तन्मात्रा मुझसे भिन्न नही है। इसलिए पृथ्वी तन्मात्राकी प्रधानतासे उत्पन्न स्थल पृथ्वी और पृथ्वीमे बने हुए पहाड, जगल, मनुष्य, पशु पक्षी आदिके बने शरीर, इसमे बनी नासिका इन्द्रिय है और गन्धके सस्कारको ग्रहण करनेवाला मन, सब हमारी दृष्टिमे है।' वैसे ही जल, अग्नि, वायु, आकाशको अपनी दृष्टिमे अनुभव करो।

इन्ही पंचभूतोकी उमर होती है। विचार करो कि 'उमर मेरी दृष्टिमे है, मै उस कालका द्रष्टा हूँ जिससे पदार्थोमे उमर होती है।' इन्ही पदार्थोसे देश भासता है। विचार करो कि 'पदाथ मेरी दृष्टिमे हैं, मैं देशका द्रष्टा हूँ जिससे पदार्थोमे देश होता है।' आकाश, काल, दिशा पदाथ सब मेरी दृष्टिके अन्तगत हैं, तो मै बदलनेवाला परिणामी नही हूँ, ये बदलनेवाले परिणामी हैं। ये मेरे स्वरूपमे-ठसाठस घनीभूत रूपमे बिना हुए ही भास रहे हैं।

अज्ञान माने बुद्धिसे इस बातको न समझना। यह कहाँसे आया ? यह विचार न करनेसे आया। यदि तुम सतका, सत्सगका, शास्त्रका, गुरुका आश्रय लेकर तत्त्वका विचार करते तो आज तुम्हें अज्ञानसे जो दुःख हो रहा है वह बिलकुल नही होता।

अध्यासके कारणके रूपमें अज्ञानकी कल्पना की गयी है। अज्ञान वास्तवमें है नहीं, लेकिन तुम बुद्धिसे कभी विचार नहीं करते, यही अज्ञान है।

यदि इन्द्रियोंके आश्रयभूत विषय, विषयोंके आश्रयभूत गुण-द्रव्यका विचार किया जाय, उनमें बननेवाली इन्द्रियोंका और उनसे पड़नेवाले संस्कारोंका विचार किया जाय तो जिसमें इन्द्रियोंका उदय-अस्त, उत्पद्यमानता पृथक्ता है। वह कौन है? हमारी आत्मा!

शरीरमें वजनदार मिट्टी-पानी है। वही तुम हो कि उसके आगे भी कुछ हो? इसमें जो गरमी रहती है—तेज रहता है, वह तुम हो कि नहीं? प्रायः सबके शरीरमें एक-सा तेज रहता है। इसमें रहनेवाली सांस और अवकाश तुम हो कि नहीं? एकबार मिट्टी-पानी, आग हवाको बट्टे-खातेमें लिख दो और देखो कि 'मैं अवकाश हूँ।' तुम और आकाश एक हो! तो क्या तुम शरीरके घेरेमें अँटते हो? कटते हो? जैसे मकानके घेरेमें आकाश नहीं कटता वैसे शरीरके घेरेमें भी आकाश नहीं कटता। तुम एक शरीरमें रहनेवाले मिट्टी-पानीको 'मै' मत कहो। अगर तुम मिट्टी हो तो समूची धरती तुम हो, यदि तुम पानी हो तो समूचा पानी तुम हो, यदि तुम अग्नि हो तो समूचा अग्नि तुम हो, यदि तुम वायु हो तो समूची वायु तुम हो! तुम आकाश हो, तो चारभूतों-का आश्रय और लयस्थान, कारण तुम हो; अर्थात् तुम ज्ञानस्वरूप हो। ज्ञानात्मा आकाश है, ईश्वर है। तब न तुम्हारी सीमित लम्बाई-चौड़ाई है, न उमर है, न वजन है। तुम अनन्त चिदाकाश हो—चेतन आकाश हो। जड़ आकाशमें परिणाम होता है और चेतन आकाशमें विवर्त होता है। इसलिए समग्र सृष्टि, उसका नाम

चाहे गोलोक वैकुण्ठ-साकेत, मर्त्यलोक गन्धर्वलोक पितृलोक, स्वर्ग-नरक, पशु-पक्षीलोक, कुछ भी हो, तुम्हारे अनन्त, अखण्ड, अद्वितीय स्वरूपमे बिना हुए ही भास रहा है।

इन्द्रियोके विषय, इन्द्रिय, उसके आधारभूत तत्त्व धातुएँ— इन सबमे एक द्रष्टा है। उसकी दृष्टिमे तन्मात्रात्मक आकाश है। वह स्थूल आकाश ही हमारे तुम्हारे शरीरका—अलग नही है तो तन्मात्रात्मक आकाश कैसे अलग हो सकता है? फिर चेतन ब्रह्म-ईश्वर जो आकाशतादात्म्यापन्न है, वही जगत्का कारण है। वही सम्पूर्ण जगत्का स्रष्टा-आधार संहर्ता है। ईश्वरका संकल्प ही सारी सृष्टि है। सृष्टि ईश्वरमे कल्पित है और तुम अपरिणामी, विवर्ती, अखण्ड ब्रह्म चैतन्य हो। तुममे ये सब नामरूप बिलकुल नही बनते। यह जीवत्व ईश्वरत्व, एकत्व द्वित्व-त्रित्व बिना हुए भास रहा है। यह प्रपञ्च अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बिना हुए ही भास रहा है।

उदयास्तमयौ च यत्।

जाग्रद् अवस्थामे इन्द्रियाँ कछुएके हाथ-मुँहकी तरह निकल आती है और स्वापावस्थामे प्रतिपत्ति होनेपर ये लीन हो जाती हैं। इनके उदय और अस्तमे—भावाभावका साक्षी मैं ही हूँ। यह तो बाहरकी इन्द्रियोकी बात हुई। मनका इन्द्रियोके द्वारा बाहर-के विषयोको देखना जाग्रत् है और मनका सो जाना सुषुप्तावस्था है। इसके दो भेद हैं—शिथिल और गाढ़। सुषुप्तावस्थामे जहाँ मन भी सो जाता है, वहाँ आत्माराम जागते रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि मनके सो जानेपर जितनी चीजें सो जाती हैं और मनके जागनेसे जितनी चीजें जागती है, वह मनमे संस्कार रूपसे ही रहती हैं। यदि वे केवल संस्काररूपसे न रहती हो—उनका

प्रतिभान—प्रतीति मनके अधीन होनेके कारण माँ बाप, धनीपना-गरीबपना, पडितपना-मूर्खपना, संयोगीपना-वियोगीपना, कार्य-कारण, सुख-दु ख परिच्छिन्नपना अपरिच्छिन्नपना, भोगीपना, योगीपना, सन्यासीपना—ये सारी भावनाएँ–प्रतीतियाँ मनके साथ जागती-सोती है। देशकी प्रतीति, दिशाएँ, दीघता, विस्तार ये सब मनके सोनेपर सोती है और मनके जागनेपर जागती हैं। कल आज-परसो क्या हुआ था—ये सब मनके साथ सोते-जागते हैं। उपनिषद्मे वर्णन है—

तत्र माता अमाता भवति।
तत्र पिता अपिता भवति।
तत्र देवा अदेवा भवन्ति।
तत्र वेदा अवेदा भवन्ति।

वहाँ माता माता नही, पिता पिता नही, देवता देवता नहीं, शास्त्र शास्त्र नही रहते। मनकी कल्पनाका जितना विस्तार है उसको मन अपने साथ ही लेकर जागता-सोता है। निष्कर्ष यह है कि दुनियामे देश-काल वस्तु, सम्बन्ध, व्यक्ति आदिके कारण जितने दु ख हैं, वे सब मनके साथ पैदा होते हैं और लीन होते हैं। यदि हम मनीरामको ठीक कर लें तो जीवनके अधिकाश दु खकी निवृत्ति हो जायगी, क्योकि दु ख लेकर मन ही निकलता है और सोता है। सारेके सारे दु ख मनकी मुट्ठीमें हैं। मन ठीक हो जाय तो संसारके व्यवहारमे सुख-दु खका जो आकर्षण-विकर्षण है वह शान्त हो जाय।

जो चीज चली जाय, उसके लिए बोलो कि वह चीज हमारी थी ही नही। हम दूसरोंसे अपेक्षा करते हैं—'वे मीठा बोलें, हमारे शरीरपर हाथ फेरें।' यहाँ वह आदमी दु ख नही देता है, हमारे

मनमे उसके प्रति जो ममत्व है, चाह है, सम्बन्ध है, वही दु:ख देता है। उसे काट दो—'हमको चाहिए ही नही।'

गायत्रीदेवीने विद्यारण्यस्वामीसे कहा—'जो चाहे सो माँग लो।'

विद्यारण्यस्वामी बोले 'देवी, मै तो सन्यासी हो गया। ब्रह्म-लोकपर्यन्तके सुखोको मैने विष्ठा-समान समझकर छोड दिया। मै तो अपने स्वरूप-ब्रह्मम स्थित हूँ। मुझे तुम क्या दे सकती हो? दृश्य? अनात्मा? मैने जिन विषयोका परित्याग कर दिया, वही दे सकती हो न? भगवती क्षमा, क्षमा करना। जो तुम दे सकती हो वह मुझे नही चाहिए, क्योकि जो तुम दे सकती हो, वह छीन भी सकती हो। हमारा आत्मा ऐसा है, जिसे तुम न दे सकती हो न छीन सकती हो।' यह है मनोरामकी बात। इसके आगे बुद्धि भी आ सकती है।

सस्कारयुक्त ज्ञानका ही नाम अन्त करण है। उसमे सस्कारके अधीन मनको ज्ञान बोलते है। सस्कारसे स्वतत्र निर्णयकी शक्तिको बुद्धि बोलते है। मन तो सस्कारसे अत्यन्त प्रभावित हो जाता है। हिन्दूपनेके सस्कारसे मुसलमानको और मुसलमानपनेके सस्कारसे हिन्दू मारने गये, परन्तु एक सामान्य-बुद्धि है मानवताकी उसने कहा—'क्या हिन्दू, क्या मुसलमान? दोनो मनुष्य है। हिन्दुत्वके प्रभावसे आक्रान्त बुद्धिने मुसलमानको और मुसलमानपनेके सस्कारसे आक्रान्त बुद्धिने हिन्दूको मारनेका निर्णय किया, परन्तु हिन्दूपने और मुसलमानपनेके ज्ञानसे अनाक्रान्त व्यक्ति कभी किसीको मारनेका निर्णय नही देगा। इसतरह बुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक सस्कारके पराधीन और दूसरी सस्कारसे स्वतन्त्र। तत्त्वनिर्णयके लिए बुद्धिका पक्षपातरहित होना आवश्यक है।

अन्त करणमे सस्कारकी जो अनादि परम्परा प्रवाहित हो रही है उसमे चार विभाग मिलते हैं—

१ जो अनुद्भूत संस्कारसे युक्त ज्ञान है, वह चित्तपदवाच्य है। उसमे सस्कार प्रकट नही हुआ।

२ संस्कारके होनेपर भी संस्कारसे अनाक्रान्त ज्ञान बुद्धिपद-वाच्य है।

३ सस्कारसे आक्रान्त ज्ञान मन पदवाच्य है।

४ सस्कारके अनुसार होनेवाली क्रियाको मैं' मानना अह-पदवाच्य है।

मैं जब उन्नीस बीस वषका था तब एक ठाकुर साहबने पूछा-'मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, ये सब क्या हैं ?'

मैंने समझाया सकल्पक अन्त करण मन है। निर्णायक अन्त करण बुद्धि है, संस्कारक अन्त करण चित्त है, अहक्रियात्मक अन्त करण अहकार है। अहकारको व्यवस्थापक अन्त करण भी कहते हैं। 'यह समझनेके दस वष बाद, काशीमे मेरे सन्यासी हो जाने के बाद वही ठाकुर साहब आये और मुझसे यही प्रश्न किया। वे तो भूल गये थे, परन्तु मुझे याद था कि उन्होने यही प्रश्न किया था और मैंने उनको क्या समझाया था।'

सुषुप्तिमे मन सारी कल्पनाओको छोडकर, देश-काल-वस्तु, क्रिया व्यक्ति सबको भूलकर सो जाता है, परन्तु उससे यह तो सिद्ध नही हुआ कि ये हैं ही नही। इतना सिद्ध हुआ कि जितना भेद ग्रहण है, वह मनकी जाग्रत-अवस्थामे होता है, सुषुप्ति दशामें नही होता। परन्तु मनकी सुषुप्ति-दशाको आत्मा देखता है। यह सिद्ध हुआ कि जैसे विषयोंका ज्ञान मनके अधीन है, वैसे आत्माका ज्ञान मनके अधीन नही है। आत्मा तो मनको भी जानता है।

दूसरी बात—मनकी अपेक्षा आत्मा बडी सूक्ष्म वस्तु है। जहाँ मन सो जाता है वहाँ सुषुप्तिको साक्षी दखता है।

जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति तीन अवस्थाए आती हैं। मनुष्य जाग्रत्-स्वप्नको तो जानता है, सुषुप्तिकी बात उसे मालूम नही है। क्या ऐसी नीद आपको कभी नही आती जिस समय आपको कुछ मालूम न पडा हो ?

ऐसी नीद तो आती है यह तुमको किसने बताया ? तुम्हारे पडोसीने ? तुम्हे सपना नही आरहा था, ऐसी नीद तुमने खुद देखी है ? वह सुपुप्ति भी साक्षीभास्य है अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से आत्मा अलग है और इनका साक्षी है, चेतन है, ज्ञान-स्वरूप है। सारे भेद मनकी जाग्रत् अवस्थामे दिखाई पडते हैं, सुषुप्तिमे नही।

'मनसो ह्यमनि भावे द्वैतम् नैवोपलभ्यते।'

जब मन अमन हो जाता है तब द्वैतकी उपलब्धि नही होती।

'पुसो युक्तस्य नानार्थो भ्रम सगुणदोषभाक्।
कर्माकर्मविकर्मेऽति गुणदोषधियोभिदा॥'

जब मनुष्य योगयुक्त नही रहता है, उसका मन चचल रहता है, तब नाना वस्तुएँ दिखाई पडती हैं। मनकी चचलतामे नाना वस्तुएँ है, ये वस्तुएँ सच्ची हैं, उनमे गुण-दोष देखकर राग-द्वेष होता है तब मार पीट, लडाई झगडा, पक्षपात आजाते हैं।

सम्पूण भेदोके भावाभावका साक्षी आत्मा है। परन्तु तब ये बाधित नही होते। ये तब बाधित होते है जब तुम महावाक्यके द्वारा अपनेको ब्रह्म जानोगे।

जैसे सपकी कल्पनाका आश्रय होनेके कारण सप और सपकी

कल्पना एक ही अन्त करणमे है और वह तुम्हारे अन्दर भानमात्र है, उसीप्रकार देश-काल वस्तुकी कल्पना जिस मनमें है, वही देश-काल-वस्तु है और तुम हो उसके साक्षी। तो मन और मनके आश्रय तुम हो। देश और देशके आश्रय काल और कालके आश्रय वस्तुभेद और वस्तुभेदके आश्रय व्यक्ति और व्यक्तिके आश्रय सम्बन्ध और सम्बन्धके आश्रय सब केवल तुम्हीं हो अर्थात् तुम्हारे मनमे ही भ्रान्तिसे जो वस्तु दीखती है उसका यही लक्षण है कि जिस अन्त करणमें भ्रान्ति होती है, उसी अन्त करणमें वह वस्तु होती है। जिस आत्माकी दृष्टिमें सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चका भावाभाव प्रतीत हो रहा है, वह आत्मा छोटा-मोटा नहीं है, वह साक्षात् ब्रह्म है, अद्वितीय है, उसके अन्त करण न एक है, न अनेक है, न उसमे मन है, न मनके दृश्य हैं।

मनो हृदयमिव द्वैत यत्किचित् सचराचरम्।

श्री रमणमहर्षिने कहा

शब्दादिरूप भवन समस्तम्।

ये चौदहो भुवन, तीनों लोक, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड सब क्या हैं? शब्दात्मक, रूपात्मक, रसात्मक, गन्धात्मक और स्पर्शात्मक हैं।

शब्दादिसत्येन्द्रियवृत्तिभास्या।

लेकिन 'शब्दादि हैं' यह बात तो इन्द्रियोंकी वृत्तिसे मालूम पडती हैं।

सत्येन्द्रियाणाम् मनसो वशेस्यात्।

और 'इन्द्रियाँ हैं' यह बात मनमें मालूम पडती है।

मनोमयम् तत् भुवन भणामह।

इसलिए हमारा कहना यह है कि यह प्रपञ्च जो दिखाई पड

रहा है वह मनोमय है। जिसको देश मालूम पडता है, वह देशसे बडा माने अनन्त, परिपूर्ण, व्यापक दिक्कलासे बडा है। जिसको काल मालूम पडता है वह कालसे बडा माने अविनाशी, अनन्त है—काल कलासे बडा है। जिसको वस्तु मालूम पडती है वह उस कार्य-कारणात्मक वस्तुसत्तासे बडी वस्तु है—एक, अखण्ड, अद्वय सत्ता है। अपना स्वरूप होनेके कारण अद्वितीय आत्मसत्ता ही अपना आत्मा है।

मत्वा धीरो न शोचति।

तुम इसे यदि जान लो तो तुम्हे बिलकुल शोक नही होगा—(१) **धीर अधिकारी मत्वा न शोचति।** और (१) **मत्वा धीरो भवति ततो न शोचति।** धीर इसका अधिकारी है। धीर माने दुनियामे जो कुछ होता जाता है उनको जरा सहते चलो। इतने असहिष्णु मत बनो कि हवा तेज चलनेपर ईश्वरको गाली देने लग जाओ। ईश्वरको गाली देनेमे लग जाओगे तो तुम्हे अपने स्वरूपका ज्ञान कैसे होगा।' आज वर्षा क्यो हुई और क्या न हुई—ऐसा ईश्वरसे तुम मतभेद करके रहोगे तो ईश्वर तुम्हे अपना रहस्य नही बतायेगा। अगर हमारा तुमसे मतभेद है तो हम कोई-न-कोई बात तुमसे गुप्त रख लेगे।

स देवो यदेव कुरुते तदेव मगलाय।

ईश्वर जो कर रहा है, उसमे तुम्हारा मगल है—कल्याण है। बाह्य परिस्थितियो और घटनाओके स्वागतमे, माला पहनानेमें लगे रहोगे या विरोधमे लगे रहोगे तो तुम्हे ईश्वरके बारेमे सोचने-का अवसर ही कब मिलेगा?

एकबार मैंने श्रीउडियाबाबासे पूछा 'लोग बताते हैं, आपमे बडी-बडी सिद्धियाँ हैं। सिद्धि क्या है?'

वे बोले—'बरदाश्त करना सिद्धि है।'

किसीको एक बार गुस्सा आये और वह एक गाली दे दे तो उसमे उसकी छ महीनेकी तपस्या नष्ट हो जाती है। तपस्या ऐसी हल्की-फुल्की चीज है। छ महीनेसे बने भजनके रससे मनमें जो मिठास आती है—मनका निर्माण होता है—वह रस भस्म हो जाता है।

तुम धीर हो अर्थात् तुम ब्रह्म हो। तुममे यह प्रपञ्च रज्जुमे अध्यस्त सर्पकी तरह है, भूछिद्र, माला, डडाकी तरह है। रस्सी, उसे कोई सर्प, माला, डण्डा, भूछिद्र कहे तो सह लेती है और सर्प कहने पर विरोध नहीं करती और माला कहने पर अभिमान नही करती कि मैं सुन्दर हूँ। जैसे रज्जु जितनी सहिष्णु है, उतने सहिष्णु तुम हो। तुममे कोई गुणदोषका अध्यास करे, प्रपञ्चकी उत्पत्ति-स्थिति प्रलय रहे तुम विचलित नहीं होते।

वृक्ष इव तिष्ठासेत् छिद्यमानो न कुप्येत न कपेत।
उपलैव तिष्ठासेत् छिद्यमानो न कुप्येत न कपेत।

यह जीवन्मुक्त पुरुषकी स्थितिका वर्णन है। बृहदारण्यकमे—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मण.।

दुनियाकी समस्याको हल करनेमें दृष्टि परिच्छिन्नको पकडती है और आत्माकी समस्याको हल करना हो तो धीर होना पडेगा। कोई गाली दे तो उलझो मत। कोई तारीफ करे तो उसके पीछे मत घूमो। वृन्दावनमे एक पण्डितजी लोटा लेकर जगल जा रहे हों और यदि कोई उनके साथ मुस्कराकर मीठी बात करने लग-जाय तो वे जंगल न जाकर लौट आते और उसके साथ घटेभर बैठे रहते, परन्तु यदि कोई उनके आनेपर अखबार खोलकर बैठ-

जाय या बात न करे तो ऐसे चिढ जाँय कि दस दिन तक न आवें।
ऐसे सवेदनशील व्यक्ति वीर नही कहलाते। यदि परमात्माके माग पर चलना है, आत्मज्ञान प्राप्त करना है तो सहिष्णु बनना पडेगा। गोतामे —

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु खदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
य हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषर्षभ।
समदु खसुख धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

एक आदमाको किसोने दस हजार रुपया देनेके लिए अपने यहा दस बजे बुलाया था। वह आदमी ट्रेनसे उतरा, कुलीसे सामान उठवाया। फिर कुलोने एक रुपया मजदूरी माँगी तो वह बोला—'नियमके अनुसार मै तुझे दो आना दूँगा।'

कुली बोला 'कायदा चाहे कुछ भी हो, आपका बोझा ज्यादा है। हमे आठ आना दे दो।'

तब भी वह न माना तो कुलीने चार आना माँगा। वे सज्जन इसीमे उलझ गये। पहले उन्होने गाली-गलौजसे काम लिया, फिर मारपीट पर उतर आये। पुलिसने उनको पकडकर थानेमे बैठा लिया। वे जहाँ पहुँचकर दस हजार रुपया लेना था, वहाँ न पहुँच सके। पुलिसने कुलीको दो ही आना दिलवाया। उनके दो आने बच गये। पुलिसने कुलीको ही डाँटा डपटा कि तूने क्यो ज्यादा पैसा माँगा ? कुली हार गया, बाबूजी जीत गये। उनकी प्रतिष्ठा बढ गयी कि वे न्यायके पक्षमे थे पर उनका दस हजार चला गया। जो दो आनेके लिए उलझता है, उसका लाखो-करोडो रुपयेका जोवन नष्ट हो जाता है। गीतामे तितिक्षामृतोपनिषद् है।

'तितिक्षस्व भारत' और 'सोऽमृतत्वाय कल्पते' तितिक्षासे अमृतकी प्राप्ति होती है।

'मत्वा धीरो न शोचति ।'

जो इस बातको जान लेता है कि हमारे पास-पडोसकी खबर पहुँचाने वाले लोग हैं, उनके बारेमे पहले जानना चाहिए। जिससे मनुष्यका राग होता है, उसकी वह तारीफ करता है और जिससे द्वेष होता है, उसकी निन्दा करता है कुछ न-कुछ नमक-मिर्च तो सब लगाते हैं। सबज्यो-की-त्यो नही कहते, क्योकि सबके मनमें वासनाके सस्कार हैं। देखी सुनी हुई वस्तुका यथार्थ वर्णन कौन कर सकता है?

मत्वा—तुमने ब्रह्मकी अद्वितीयताको जाना कि नही? सम्पूर्ण देश काल वस्तु अपने स्वरूपमे ही फुर रही है। कोई कहे कि 'पाच हजार वर्ष पहलेकी किताबमे घोडेका चित्र है तो घोडा सच्चा और ब्रह्म झूठा?' ना ना, वह तो घोडेके जानकार द्वारा वर्णन किया गया है, ब्रह्मके जानकार द्वारा नही। परब्रह्म ज्ञानका विषय नहीं है। वस्तुको देखना पडेगा।

इतिहासके पण्डितसे हमने पूछा 'यदि गाधीजोकी जीवनी लिखनेके लिए तीन अलग-अलग व्यक्तियोंको कहा जाय—चर्चिल, विनोबा और करपात्रीजी तीनो एक सरीखी लिखेंगे? वे अपनी-अपनी वासनाका आरोप करके लिखेंगे।

चर्चिल कहता है 'यह तो बिलकुल कूटनीतिक पुरुष है।'
विनोबा कहते हैं 'यह तो सन्त हैं, जोवन्मुक्त महात्मा हैं।'
करपात्रीजी कहते हैं 'यह अधार्मिक है।'

हमने सेवाग्राम जाकर भी और काशीमें आये थे तब भी उनको देखा था। तात्पर्य यह है कि हम जबतक अपनी दृष्टिको शुद्ध नही कर सकते, तब तक वस्तुका शुद्ध वर्णन भी नहीं हो सकता। दुनियाके लोग अपनी-अपनी वासनासे वासित अन्त करण-से दुनियाको देखते हैं और उसके बारेमे वर्णन करते हैं। उसको

ज्यो-की त्यो नही मान बैठना। अधिष्ठानावगाहिनी दृष्टिसे देखना कि सबके मूलमे क्या है? सबके मूलमे तो न पाप पुण्य है, न राग-द्वेष, न सुख दु ख है, न हिसा-अहिसा। तुम्हारी दृष्टि तत्त्वाव गाहिनी है कि नही ?

योगवासिष्ठमे तुम्हारी दृष्टि चुडाला और उसके जारको देखती है या आत्माको ब्रह्म जानकर दोनोको प्रतीति मात्र देखती है ? शिखिध्वजका ज्ञान कच्चा है कि पक्का ? यदि उसकी ब्रह्म-दृष्टि बनी रही तो ज्ञान पक्का। यदि दृष्टि परिच्छिन्न है कि वह मेरी पत्नी है, वह उसका जार है तो ज्ञान कच्चा। इस ससारमे कौन किसका शत्रु है और कौन किसका मित्र है ? लोगोके कान, मन, उनकी नजर शुद्ध नही है। उनका अन्त करण पक्षपातसे आक्रान्त है। वे यथार्थ वस्तुको देखेगे कहाँसे ? जिसने ब्रह्मको जाना वह धीर हो गया।

धियो यो न प्रचोदयात्।

वह तो बुद्धिका अ तर्यामी, साक्षी, अधिष्ठान हो गया। उसके लिए 'हाय हाय ऐसा क्यो नही हुआ या क्यो हो गया, यह प्रश्न नही है। कुछ होनेके बाद या न होनेके कारण होते है।

एक आदमीकी दो लडकियाँ थी। एक कुम्हारको ब्याही थी और दूसरी मालीको ब्याही था। एकबार पिताने सोचा चलो दोनो बेटियोकी कुशल-मगल पूछ आव। वह पहले कुम्हारके यहाँ गया। उस दिन अच्छा वर्षा हुई थी। कुम्हारिन पिताके आनेपर रोने लगी कि 'वर्षासे मेरे सब बतन नष्ट हो गये। पिताजी, आप ईश्वरसे प्रार्थना कीजिए कि वर्षा न हो।'

फिर वह मालीके यहाँ गया। वहाँ उसने देखा कि बेटी बहुत आनन्दमे थी। वह कहने लगी 'पिताजी, ईश्वरसे प्राथना कीजिए कि इसी भाँति रोज-रोज वर्षा होती रहे।'

जिस आदमीकी ये दोनो लडकियाँ हैं, वह कुम्हारिनके साथ रोवे या मालिनके साथ हँसे ?

'सबके सीनेमे धडकता एक सा है दिल मेरा।' जन्म-मृत्यु, बचपन बुढापा, सयोग-वियोग, आना-जाना, प्रतीति अप्रतीति, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति सबमे वही है। शोक किसके लिए करोगे ?

'मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।'

श्रुति कहती है कि जिसने ब्रह्मज्ञान पा लिया वह हर्ष शोक दोनोसे पार हो गया।

तत्र क शोक क मोह एकत्वमनुपश्यत ।

जिसने एकत्वका साक्षात्कार किया उसके लिए शोक और मोह कहाँ ? जिस आत्मज्ञानके प्राप्त होनेपर शोक-मोह बिलकुल नही रह पाते, उस आत्माको ढूँढनेवाला ही साक्षी है, ब्रह्म है। वह अपने आपको ही ढूँढ रहा है।

आप ही अमृत आप अमृतघट,
आप ही पीवनहारी !
आप ही डूबै, आप डुबावै,
आप ही ढूंढ़नहारी !

तरति शोकम् आत्मवित् ।

जो अपने आपको जान लेता है वह शोकके परले पार पहुंच जाता है। दुनियामें भले शोककी धारा बहती रहे, दुनिया भले मिट्टीकी जगह शोककी बनी हो, शोकके समुद्रमे वह भले तरंगायमान हो रही हो, जिसने अपनेको ब्रह्मरूप जान लिया वह शोकसे पार हो गया। शोक मिटानेके लिए ज्ञान ही एक उपाय है। आत्माका स्वभाव एक, नित्य, अव्यभिचारी है, उसमें शोकका कोई भी कारण नही है। ●

७. महत्तत्त्वकी अन्तरगतासे भी अधिक अन्तरग अव्यक्त

सगति

मत्र छ मे प्रात्मानात्मविवेक करते हुए यह कहा गया कि 'पृथग् उत्पद्यमानानि इन्द्रियाणि आत्मा न भवन्ति'—अलग उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियाँ आत्मा नही हो सकती। जैसे अगूर, आम इमली, घोडा अलग अलग पैदा होते हैं तो वे परस्पर एक नही होते। इन्द्रियाँ अनेक हैं और उनके पीछे बैठनेवाला आत्मा एक है। जैसे सामने लाल, पीला, हरा, काला, सफेद शीशेके झरोखे लगे हो और उन शीशोंके रंगके अनुसार बाहरके पदार्थोंके रग अलग अलग दिखाई पडते हों लेकिन झरोखेके भीतर बैठकर जो झाँकनेवाला है, वह झरोखेके छिद्र और काँच अलग-अलग होनेपर भी एक है। ये अलग-अलग इन्द्रियाँ अपने अलग-अलग विषयोंको भी पहचानती हैं और अलग अलग सात्त्विक तन्मात्राओंसे उत्पन्न भी हुई हैं। परन्तु—

योऽहम् शब्दमश्रृण्वन्
योऽहम् रूपमद्राक्षम्
योऽहम् स्पर्शमन्वभवम्
योऽहम् रसमस्वादयम्
स एवाहमिदन्नि जिघ्रामि

जिसे मैंने कानसे सुना, त्वचासे स्पर्शका अनुभव किया, नेत्रसे देखा, जिह्वासे स्वाद लिया, वही मैं अब नाकसे सूँघ रहा हूँ। अलग-अलग इन्द्रियोंसे अलग-अलग कालमें अलग-अलग विषयोंका अनुभव किया गया परन्तु अनुसंधानसे यह देखनेमें आता है कि अलग-अलग अनुभव करनेवाला आत्मा एक ही है।

श्रोत्रे मे पीडा, चक्षुसि मे पीडा'—ऐसे भी इन इन्द्रियोंका अलग-अलग अनुसन्धान होता है परन्तु जिसको दर्दका अनुभव होता है वह बिलकुल एक है। इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका बीज (कारण) और उनके पृथक्-पृथक् कार्य, विषय, उपस्थिति, उदय और अस्त सब एक आत्मामें ही भासते हैं। जाग्रत्-अवस्थामें इन्द्रियाँ कछुएके हाथ-मुँहकी भाँति निकल आती हैं और स्वापावस्थामें प्रतिपत्ति होनेपर ये लीन हो जाती हैं। इनके भावाभावका साक्षी मैं हूँ।

अनात्मासे पृथक् आत्माको ज्ञानका माहात्म्य समझाकर कहा कि जो आत्माको एकबार जान लेता है उसे फिर शोक नहीं होता। शोक अज्ञानसे होता है।

कभी मनमें आये कि 'हाय-हाय, हमने समय खो दिया' तो समय कहाँ खोया? समय तो अनादि, नित्य है। समय तो खोया ही नहीं है। 'देश खो दिया!' रह रहे हो देशमें, खोया क्या? 'यह काम नहीं किया!' अभी करनेका अवसर है।

अब मन्त्र सातमे आत्मदर्शनकी प्रक्रियाका निरूपण करते हुए जिज्ञासुको सर्वप्रथम अन्तर्मुख होनेके लिए कहते हैं, क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण दृश्यप्रपचसे परे है।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥७॥

इन्द्रियो से मन पर (उत्कृष्ट) है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धिसे महत्तत्त्व बढकर है तथा महत्तत्त्वसे अव्यक्त उत्तम है ॥ ७ ॥

आओ, अन्तर्मुख हो जाओ। इन्द्रियोसे जो कुछ मालूम पडता है उससे परे मन है। परे = गावमे बोलते हैं परले और उरले। परन्तु वेदान्त मे 'पर' शब्दका अर्थ नही है। परे माने दूर नही, अन्तरग इन्द्रियोसे अन्तरग मन है। पिबति इति परम्— जो इन्द्रियोको पोषण देता है, चारा और शक्ति देता है, उसका नाम मन है। तुम यहाँ बैठकर कुछ सुन रहे हो और तुम्हारा मन दूकानमे है तो बात समझमे नही आयेगी, परन्तु यदि तुम्हारा मन यही एकाग्र हो, कानसे शब्दको ठीक ठीक सुनना हो, वाक्यको ग्रहण करता हो, वाक्यार्थको समझता हो तो ? श्रुतिने कहा —

'अन्यत्रमना अभूवम् नापश्यम्।
अन्यत्रमना अभूवम् नाश्रृण्वम्।'

हमारा मन दूसरी जगह था इसलिए हमने नही देखा, हमारा मन दूसरी जगह था इसलिए हमने नही सुना।

मनके बिना इन्द्रियाँ यथार्थ ज्ञान प्राप्त नही कर सकती। संसारमे पाँचो विषय इन्द्रिय द्वारा ही मालूम पडते हैं। विषय दृश्य हैं और इन्द्रियाँ द्रष्टा हैं। पाच इन्द्रियोवाले घोडेपर बैठकर तुम विषयको ग्रहण करते हो अब जरा इन्द्रियोके पीछे चलो।

पहले बताया था, इन्द्रियोंका कारण अर्थ है। वहाँ सृष्टिका स्वरूप बताना था। अब कहते हैं—'दृश्य क्या है इसका विचार करना छोड़ो। शब्दादि क्या हैं? ये किस द्रव्यपर आश्रित हैं? यह समष्टिरूप द्रव्य है भी या नहीं? यह ख्याल एकबार छोड़ो और साधन-भजनकी कोटिमें आओ। इन्द्रियोंसे जो चीजें जहाँ दीखती हैं उनको वहीं छोड़ो।' इन्द्रियाँ अलग-अलग पाँच हैं। इनके भीतर द्रष्टा आत्मा एक है, इसलिए आत्माको ढूँढना है। भीतर ढूँढो, प्रत्यगात्माके बाहर मत ढूँढो।

पहली बात यह समझनेकी है कि पांचों इन्द्रियोंमें एक ही मन काम कर रहा है। मनके कारण इन्द्रियोंमें स्वाद आता है। मन होनेसे ही कर्म करनेपर धर्म-अधर्मकी उत्पत्ति होती है। बिना मनके करना पड़े तो—

'सर्वान् बलकृतानर्थान् अकृतासुमब्रवीत्।'

यदि तुम्हारी श्रद्धा न हो और यज्ञमें आहुति डालो 'इन्द्राय स्वाहा' तो धर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी। धर्मकी उत्पत्तिके लिए केवल विहित क्रियाका होना ही आवश्यक नहीं है। अग्नि, घी हो और इन्द्र देवताका नाम ले लिया कि धर्म उत्पन्न हो जाय ऐसा नहीं है। उसमें भावना होना भी आवश्यक है। इसीप्रकार फांसीपर जानेवाले मनुष्यको बढ़िया भोजन कराते है तो उसे स्वाद थोड़े ही आता है कि हम बढ़िया भोजन कर रहे हैं। उसे तो फांसी दीखती है। बिना मनके इन्द्रियाँ अकिंचित्कारी हैं। जब स्वप्न-सुषुप्ति होती है तब कानका छेद पास ही रहता है परन्तु कोई हमारी निन्दा या तारीफ करता हो तो नहीं सुनाई पड़ेगा। मुँहमें शक्कर डालो और नींद आजाय तो शक्करका स्वाद नहीं आयेगा। इत्रका फाहा नाकमें डालकर सोओ तो क्या

इसकी गन्ध आयेगी ? यह बेला है, चमेली है, गुलाब है इसका विवेक होगा ? नहीं, क्योंकि मनकी उपस्थितिसे ही सारी इन्द्रियाँ काम करती हैं।

आत्माको ढूंढना है तो मनमें ढूँढो। इन्द्रियोसे जो दिखाई पडता है उनमे या इन्द्रियोमे उसे मत ढूँढो। पाँचो इन्द्रियाँ अलग अलग एक एक विषयको ही ग्रहण कर सकती है, परन्तु मनीराम पाँचोको ग्रहण करता है। गुलाबके फूलमे शब्दादि पाँचों विषय हैं, पाँचो भूत मिले हुए है, इन्द्रियोमे पाँचो सूक्ष्म तन्मात्राएँ हैं और मनमे फिर पाँचो है।

मन ऐसा है कि जब वह बाहरकी इन्द्रियोसे जुडता है तब विषयोका ग्रहण होता है। मनको इन्द्रियोके साथ मत जोडो, शब्दादिकी कल्पना मत आने दो। इसका अभिप्राय यह है कि मनके सिवा इन्द्रियाँ नही हैं, इन्द्रियोके सिवा विषय नही हैं। पाँचो विषय और पाँचो इन्द्रियाका ख्याल छोडकर एक मनमे आजाओ। मन भी एक साथ पाँचो विपयोको प्रकाशित नही करता। हमारी आँख एक साथ पाँचा उँगलियोको नही देखती। आँखकी गतिमे त्वरा होनेके कारण वह पाँच जगह जाता हुआ भी मालूम नही पडता। मन बारी बारीसे पाँचो विषयोका अनुभव करता है, सुख दु खकी कल्पना करता है, उनके अभावकी कल्पना करता है। मन खण्ड खण्ड, क्षण क्षण है। पाँचो विषयोके आकारवाला मन अलग है, सुखाकार, दु खाकार, इनके अभावाकार मन अलग है, परन्तु तुम एक हो। मन किसका टुकडा है, इसका तो पता लगाओ।

मनस सत्त्वमुत्तमम्।

सत्त्व=ज्ञान प्रधान सत्ता। मनके मूलमे एक सत्त्व है। जहाँ

विषय और करण प्रकट नही हुए हैं ऐसी जो वस्तु चित्तमें है वह नि संकल्प, ज्ञानात्मक है, उसे सत्त्व कहते हैं। आपके मनमें कभी सकल्प उठता है कि यह चीज मिले और कभी संकल्प उठता है कि यह चीज न मिले ? जानी हुई चीजके बारेमे यह सकल्प उठता है या अनजानी चीजके बारेमे ? 'हमें गुड खानेको मिले'—यह संकल्प किसके मनमे होगा ? जो गुडको जानता है, उसके मनमें। गुडके स्वादका सस्कार होनेके कारण वैसा सकल्प होगा। जो जानता है कि गुड खानेसे डायबिटीज होता है या होगा, वह गुड खानेसे परहेज करेगा। तब गुडके खाने न खानेका सकल्प बुद्धिके अनुसार होगा। उपादेयबुद्धिसे वस्तुकी चाह होती है और उसके दु खदायी होनेके ज्ञानसे परहेज होता है। अर्थात् हमारे मनमें जितने सकल्प-विकल्प आते हैं, उनक मूलमें हमारी बुद्धि रहती है। बुद्धिको ही सत्त्व बोलते हैं। सत्त्व माने पक्षपातरहित निर्णय। निर्णयके अनुसार मनमे सकल्प उठता है। आपके मनमें गदी चीज खानेका कभी ख्याल ही नही उठता होगा, जिसे आप गन्दी समझते हैं। पर उस समझमें कितना फरक है ? एक मैथिल ब्राह्मण, एक बगाली ब्राह्मण, एक गुजराती ब्राह्मण, एक व्रजवासी ब्राह्मण सबकी समझ एक नहीं होगी। व्रजवासीकी कल्पनामे नहीं आयेगा जो बगाली ब्राह्मणके मनमें आयेगा। दोनों ब्राह्मण-धर्मका पालन करते हैं परन्तु बुद्धि ऐसी बन गयी है कि निर्णयमें—सकल्पमें फरक है।

अब हम अपना अनिष्ट करनेके लिए बुद्धिसे विपरीत वस्तुको स्वीकार करनेको तैयार होते हैं ? किसीके मनमे विष खानेकी इच्छा होगी ? हाँ। क्यो ? जब वह अपनेको मारना चाहेगा मारना तो हमारा अनिष्ट है, परन्तु बुद्धिमें थोडी इष्टता आजायगी

कि 'तुम मर जाओगे तो सब दु खोसे बच जाओगे।' यदि बुद्धि ठीक होगी तो मनमे विष खानेका सकल्प नही आयेगा। इसका अभि प्राय यह है कि बुद्धि सूक्ष्म है। अमृत कभी नही देखा है, इसलिए अमृत पीनेका मन कभी नही होता, परन्तु जब उसकी तारीफ सुनते है, ता मनमे बात बठ जाती है कि अमृत पीना अच्छा है। सुन सुनकर बुद्धिमे सस्कार हो जाता है अर्थात् विषयोसे अन्तरंग इन्द्रियाँ ह, इन्द्रियोमे अन्तरग मन है और मनसे भी अन्तरग बुद्धि ह।

यदि हमारी बुद्धि सन्त और शास्त्र द्वारा बनायी जाय—धर्मात्मा, वैराग्यवती, शान्तिप्रिय बुद्धि हो तो ससारत्याग और परमार्थग्रहण की योग्यता आयेगी। बुद्धिमानता और शान्तिप्रियता अलग अलग हैं। एक बार सन् ३४ मे अग्रेज सरकारने झूसीमे जो रामलीला होती थी वह बद करवाई, ता प्रभुदत्त ब्रह्मचारीने सत्याग्रह कर दिया कि 'रामलीला तो होगी ही होगी।'

बडी भारी भीड हो गयी तो सरकार उनको जेलमे ले गयी। हमारे दो आदमी मालवीयजी के पास गये और कहा—'उन्हे छुडवा दो।'

उन दिनो थोडे दिनोके लिए आशिक स्वायत्त-शासन प्राप्त हुआ था तो पन्तजीकी सरकार थी। मालवीजीने पन्तजीको तार लिखवाया। पहले उन्होने लिखा—'ब्रह्मचारीजीको मै बहुत दिनोसे जानता हूँ। वे शान्तिप्रिय व्यक्ति हैं। उन्हे तुरन्त छोड दो।'

जब त्रिलोचन पन्त तार लेकर जाने लगे तो बुलाया और कहा—'शब्द बदल दो। शान्तिप्रिय व्यक्ति होते तो क्या सरकार-को कोई गरमी चढ़ी है कि उनको जेलमे डालती ?

उन्होने लिखवाया—'ब्रह्मचारीजी बडे सज्जन सत्पुरुष हैं। तुरंत जेलसे छोड दो।'

'शान्तिप्रिय कटवा दिया। ब्रह्मचारीजीने 'मेरे मालवीयजी' पुस्तक लिखी है, उसमे यह छपा है। बुद्धिका विक्षेपसे, विषय-वासनाओके साथ प्यार हो जानेके कारण वह जब निकलती है तब वह हमे साथ लेकर निकलती है, ऐसा लगता है।

'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

—गीता

मनसे अधिक सूक्ष्म बुद्धि है। जैसा इष्ट अनिष्टका निणय है, उसके अनुसार मनमे संकल्प उठता है। अगर तुम्हारे मनमे बुराईके सकल्प उठते हो तो समझना कि अभी तुमने गुरु-शास्त्रके अनुसार बुद्धि-प्रज्ञाका सम्पादन नही किया है। बुद्धिका सम्पादन करना पडता है। मनुष्यकी बुद्धि कैसे बनती है? उससे सूक्ष्म क्या है? व्यष्टि बुद्धिकी अपेक्षा समष्टि-बुद्धि सूक्ष्म है।

'सत्त्वादपि महानात्मा' महानात्मा क्या है? जिसे महत्तत्त्व कहते हैं। प्राकृत-भौतिक दृष्टिसे जिसे महत्तत्त्व कहते हैं उसीको आधिदैविक दृष्टिसे हिरण्यगर्भ बोलते हैं। यदि कोई ऐसा निणय करे कि अब हम शब्द सुननेवाली इन्द्रियको कान नही, नाक बोलेंगे और गध सूघनेवाली इन्द्रियको नाक नही, कान बोलेंगे और इसका प्रयोग करें तो समझना पडेगा कि नाक अर्थात् कान और कान अर्थात् नाक, क्योंकि वह समष्टि बुद्धिके विपरीत शब्दोको चलाना चाहता है। लोकमे जिस अर्थमे प्रसिद्ध जो शब्द होता है उसे स्वीकार करना पडता है। यदि कोई लोकमें पापको पुण्य और पुण्यको पाप कहने लगे तो नही चल सकता, क्योंकि व्यष्टि-

बुद्धिशक्ति समष्टि बुद्धिशक्तिके सामने छोटी पड जाती है। इसीलिए लोग संघटन बनाते हैं।

नन्दाजी हमे मिले तो बोले—"हम गायको प्रतीक बना करके हिन्दू मुसलमानोको सघठित कर सकते थे, जिससे गोवध विरोधी आन्दोलन सफल हो जाता।" यदि एक हिन्दू गोवधका समथन करने लग जाय तो समस्त हिन्दू उसके विपरीत हो जायेंगे। जो अपनी बुद्धिको समष्टि बुद्धिके विपरीत बनानेका प्रयत्न करता है, उसे पग पग पर पराभवकी प्राप्ति होती है। इसीप्रकार हमारे अन्त करणमे समष्टि बुद्धि है। यदि प्रान्तीय बुद्धि है तो वह व्यष्टि बुद्धि है। अपने सुखके लिए व्यक्ति परिवारके सुखका और परिवारके सुखके लिए सारे गाँवके सुखका नाश कर सकता है, गाँवके लिए जिलका। बुद्धिम यह सीमा बनी। राष्ट्रीयता भी छोटी है। अन्तर्राष्ट्रीयता चाहिए। विश्व बुद्धि भी स्थूल नही, सूक्ष्मदृष्टिसे चाहिए। जो सूक्ष्म समष्टिके अभिमानीकी बुद्धि है उसे हिरण्यगभकी बुद्धि बोलते ह। उसके साथ मिलाकर अपनी बुद्धि चले तो योगी अरविंदका समपण-योग शरणागति-योग हो जायगा। व्यष्टि बुद्धिको समष्टि बुद्धिके अनुकूल, एक मनुष्यको मानव जातिके अनुकूल, एक मजदूर व्यक्तिको सर्वहारा श्रमिकके अनुकूल एक वर्णको वणके, आश्रमको आश्रमके अनुकूल होना पडता है। जैसे ये सब सघटनके आधार होते है, वैसे अपनी बुद्धिको शान्त बनानेके लिये व्यष्टि बुद्धिको हिरण्यगभकी बुद्धिसे पृथक् नही रहने देना।

सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम।

बडी बडी महात्माओकी बुद्धि हिरण्यगभकी बुद्धिसे मिली हुई होती है। ईश्वरके कियेका, ईश्वरकी बुद्धिके बलपर अनुमोदन

करना चाहिये। यह देखनेमें व्यष्टि बुद्धिका पराजय मालूम पडता है। इस आदमीमें कोई पौरुष स्वत्व नहीं है, वह लडाई झगडा करने नहीं गया, वह तो कहता है—'हे परमेश्वर, तुझे जो ठीक लगे सो कर। ऐसे व्यष्टि बुद्धिको समष्टि बुद्धिमे मिला देना आध्यात्मिक उत्कर्ष है, व्यष्टिबुद्धिका पराजय नहीं।'

इससे भी आगे—समष्टि बुद्धि कहाँसे आती है 'महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।' यह समष्टि बुद्धि भी अव्यक्तसे आती है, जो द्रष्टा और दृश्यके बीचमे सन्धि बना हुआ है। वह है अव्याकृत। साङ्ख्यमें जिसे प्रकृति कहते हैं वह नहीं, प्रकृति तो स्वतन्त्र है। नामरूप प्रकट होनेके पूर्व चेतनरूप अधिष्ठानमें विद्यमान जो बीज है, उसे अव्याकृत कहते हैं। चेतनरूप अधिष्ठान ब्रह्ममें नामरूपकी अभिव्यक्तिकी अवस्था अध्यारोपित है, वह अव्यक्त है।

व्यक्त = जाहिर, अव्यक्त = अनजाहिर। नामरूप प्रकट नहीं है, परन्तु नामरूपका बीज चेतनमें मौजूद है। यही अव्याकृत है अर्थात् विशेष आकृतिकी पूर्वावस्था या उत्तरावस्था जो चेतनमें अध्यस्त है। विशेष आकृतिका अर्थ केवल यह शरीर नहीं है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमे जितने नामरूप और उनकी स्थूल सूक्ष्म अवस्था मालूम पडती है, उस सबीज चेतन अर्थात् सगुण ईश्वरका नाम अव्याकृत है।

तब तो यही सर्वोपरि तत्त्व होगा?

नहीं! जो तुम हो, उसकी ओर तो जरा नजर करो! ये सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मनमे हैं। मन व्यष्टिबुद्धिमे, व्यष्टिबुद्धि समष्टिबुद्धिमे, समष्टिबुद्धि अव्याकृतमें है। अव्याकृत माने सगुण ईश्वर कारणोपहित चैतन्य जिसके तुम द्रष्टा हो। द्रष्टा तुम्हारा स्वरूप है। ●

८. अव्यक्तसे भी श्रेष्ठ पुरुष आत्मा

संगति

जिज्ञासु आत्मसाक्षात्कारके लिए अन्तर्मुख हो इस हेतुसे मंत्र सात में बताया कि इन्द्रियोंसे अंतरंग मन है, मनसे अंतरंग व्यष्टि बुद्धि है, व्यष्टि बुद्धिसे अन्तरंग महत्तत्व है और महत्तत्वसे अंतरंग अव्याकृत है।

अब मन्त्र पाठमें कहते हैं कि यह अव्याकृत, जिसकी सत्तासे सम्पूर्ण जगत् सत्तावान होता है, जिसके प्रकाशसे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, जिसके आनन्दसे सम्पूर्ण जगत् आनन्दित होता है और जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् अध्यस्त है भासता है वह तुम हो। अर्थात् अनन्त कोटि ब्रह्माण्डकी सबीज अवस्थाके भासक तुम हो।

अधिष्ठान तुम हो। तुम्हारे ही आनन्दसे यह आनन्दवान भासता है।

तुम्हारे ही ज्ञानसे यह ज्ञानवान भासता है हिरण्यगर्भको आनन्द, ज्ञान और सत्ता किसने दी? तुमने! अलग-अलग प्राणियोंकी व्यष्टि बुद्धि नहीं, इन सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो समष्टि है उसकी भी जो अनुद्भूत बीजावस्था है, और उस बीजावस्थामें भी जो विशिष्ट चेतन है, वह तुम्हारे अन्दर अध्यस्त है।

व्यापकोऽलिङ्ग एव च।

वह पुरुष है अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। व्यापक=परिपूर्ण और अलिङ्ग=व्यष्टि समष्टि बुद्धि और उसका लिङ्ग नहीं है। जब मनुष्य जान लेता है कि यह मैं हूं, मेरा स्वरूप है, तब उसको कोई बन्धन नहीं रह जाता है और उसे अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है। वह स्वयं अमृतस्वरूप है—अमृतो भवति।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

अव्यक्तसे भी पुरुष श्रेष्ठ है और वह व्यापक तथा अलिङ्ग है, जिसे जानकर मनुष्य मुक्त होता है और वह अमरत्वको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्यवहारमे चीजें दीखती हैं, मालूम पडती हैं। जैसे 'तुलसीका पत्ता है' ऐसा मालूम पडता है। बाहर वस्तु है और भीतर मालूम पडता है। यदि हम तुलसीके पत्तेके कारणका अनुसधान करें तो अन्तमे क्या उपलब्धि होगी ? किसी बच्चेसे पूछो कि यह तुलसी-का पौधा कैसे पैदा हुआ ? वह कहेगा—बीजमे से। बीजमे-से पौधा उगता है और पौधेमे से बीज निकलता है। फिर उस बीजसे पौधा और पौधेमे-से बीज—यह परम्परा बनती है।

कारण अनुसन्धान करनेमे तत्त्वदृष्टिसे तो बीजमे पचभूत है। बीजको जलाकर राख कर दो। आम, अगूर, दूध, स्त्री, पुरुष सब मे पचभूत हैं। तो फिर तुलसी का पौधा तुलसी क्यो हुआ ? वह एक ऐसा बीज है जिसमें तुलसीकी आकृति, पत्त, फूल, तना निहित रहते है। उसी बीजमे से यह निकलकर आता है। पचभूतके सिवा कोई दूसरी चीज उसमे है। अलगावका कारण बीज है, संस्कार है।

तात्त्विकदृष्टिसे अनुसन्धान करने पर तुलसी गयी पचभूतमे, पचभूत तन्मात्रामे, तन्मात्रा तामस अहकारमे, तामस अहकार महत्तत्त्वमे, महत्तत्त्व अव्यक्तमे। तब तुलसी, आम, अगूरकी क्या स्थिति है ? रग-रूप, गुण-स्वभाव, आकार, स्वभावमे भेद होनेपर भी तात्त्विक दृष्टिसे ये पंचभूत हैं, यह महत्तत्त्व प्रकृतिका विलास है। व्यवहारमे दवा और मजा लेनेके लिए स्वादिष्ट वस्तु अलग-अलग है। अणुदशा या सत्तादशामे भेद नही है, तात्त्विक दृष्टिसे भेद है। ऐसे ही जागृतावस्थामे इन्द्रियोसे विषयोका मालूम पडना और सुषुप्तावस्थामे इन्द्रियोका मनमे, मनका बुद्धिमे, बुद्धिका सुषुप्तिमे लीन होनेपर न मालूम पडना है। सारी अवस्थाएँ जैसी व्यष्टिमे है, वैसी ही समष्टिमे है।

पाँच विषयोका इन्द्रियोंसे मालूम पडना अर्थात् पाँच विषय और पाँच इन्द्रियोका होना—इन्हीकी सात्त्विक तन्मात्रामे इन्द्रियोका बनना, अन्त करणमें बैठ करके मैंके द्वारा इनका देखा जाना। स्वप्नमे इन्द्रियोके न रहनेपर भी इनका देखा जाना और सुषुप्तिमे इनका न देखा जाना, लेकिन द्रष्टाका होना—जैसे हम दृश्य तुलसीका विचार करते करते अव्यक्त-दशामे पहुँच जाते हैं, वैसे ही इनका दर्शन न होनेपर भी हम इन्द्रिय-मन द्वारा एक अव्यक्त दशामे पहुँचते हैं।

समष्टिकी समन्वित क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिको महत्तत्त्व कहते हैं जहाँसे जड-चेतनका भेद उत्पन्न होता है। जहाँ सम्पूर्ण कार्यशक्ति और करण-कारण ज्ञानशक्ति सब एकीभूत होकर रहती है, उसे अव्यक्त बोलते हैं। वहाँ बुद्धि और बुद्धिके विषयका भेद नही है। बुद्धिकी अव्यक्तदशाको जो देखता है, वही दृश्यकी अव्यक्तदशाको भी देखता है। जैसे सुषुप्तिमे सारा दृश्य देखनेवाले औजार, ज्ञानशक्ति और आँख सब लीन हो जाते हैं तो अभेदकी स्थिति हो जाती है, वैसे द्रष्टाके स्वरूपमें भी अभेद है।

श्री उडिया बाबाजी आगरा गये थे। किसीने हमारे सामने ही पूछा 'महाराज यह संसार जड है और ईश्वर चेतन है। ईश्वरने यह ससार बनाया है।'

बाबा बोले 'तुमने जड देखा है?'

वह बोला 'प्रकृति जड है। प्रकृति ससारका उपादान कारण है, निमित्तकारण ईश्वर है। आप तो कहते हैं, सब ब्रह्म है, सब ब्रह्म है,। प्रकृति जड है! आप उसे क्यों ब्रह्म कहते हैं?'

बाबा 'पहले प्रकृति और जडका विवेक करो।'

वह 'महाराज प्रकृति और जडमें कोई भेद नही है।'

बाधा नही, इस बुद्धिको तुम क्या मानते हो? ज्ञानात्मक मन, इन्द्रियोको तुम जड मानते हो कि चेतन? ये तो प्रकाशक है। जिनको तुम अपनी इन्द्रियासे देखकर जड निश्चय करते हो, मन बुद्धिसे जानकर जड निश्चय करते हो, वह जड नही, प्रकृतिका काय है। सत्की धारा दो रूपमे प्रवाहित होती है—(१) जानने-वाले पदाथ रूपमे—ज्ञानशक्तिवाला सत् और (२) जाना जानेवाला पदाथ रूपमे—क्रियाशक्तिवाला सत्। ज्ञाता और ज्ञेय दोनोका भेद मूलत एक ही प्रकृतिकी दो धारा है। मन-बुद्धि चेतन नही, प्रकृतिकी धारामे है।"

मन बुद्धि इन्द्रियाँ कभी काम करते है, कभो नही करते हैं। यह तो दृश्य है न? इन्द्रियवाला शरीर चेतन है और बिना इन्द्रियवाला शरीर जड है, ऐसा भेद बिलकुल नही। बुद्धिआदिकी उपाधिसे जो चेतन ज्ञाता बना हुआ है, वही दृश्यकी उपाधिसे ज्ञेय भी बना हुआ है। रज्जुकी उपाधिसे जो चेतन सर्पाकार भास रहा है, अन्त करणकी उपाधिसे वही चेतन भ्रान्त भास रहा है। रज्जुमे बैठकरके वही चेतन भ्रान्तिका भी अधिष्ठान बना। असलमे स्वयप्रकाश, अधिष्ठान चैतन्य और तुलस्यावच्छिन्न चैतन्य दोनो एक हैं। वही अन्त करणावच्छिन्न-चैतन्य है। जैसे तुलसीमे रहनेवाला आकाश देश-काल और देहमे रहनेवाला आकार देश काल दो नही, एक है। इसी प्रकार सम्पूण जगत्की जो मूल सत्ता है, तुलसीके रूपमे भी वही बरत रही है, मूल सत्तामे किसी प्रकारका भेद नही है। भेदरहित सत्ता और भेदरहित चेतनका विवेक करते हैं तो देश काल-वस्तुका कोई भेद न होनेके कारण सारे भेद छिन्न भिन्न हो जाते है। इसलिए अव्यक्तसे परे पुरुष माने समष्टि क्रियाशक्ति और समष्टि ज्ञानशक्ति जहाँ काम करती हुई

होती है, वहाँ महत्तत्त्व और हिरण्यगर्भ दोनो प्रकृतिके ही विलास हैं। चेतनकी प्रधानता जो हिरण्यगर्भ है, वही जडकी प्रधानतासे महत्तत्त्व है।

प्रकृतिमे सारी व्यक्तियाँ, वृत्तियाँ, पदार्थ, रूप प्रकट होते हैं। अर्थात् तुलसी और 'यह तुलसी है' ऐसी बुद्धि—दोनो जिसमें उत्पन्न होते हैं, रहते हैं और समा जाते हैं, वह अव्याकृत है—सबीज चैतन्य है। व्याकृत माने जिसमे विशेष आकृति, नाम रूप प्रकट होते हैं। अव्याकृत माने नाम-रूपके व्याकरणके पूर्वकी दशा। कालदृष्टिसे पूर्वदशा, देशदृष्टिसे अन्तदशा। कालमें कोई क्रमभेद नही है, परन्तु पदार्थकी दृष्टिसे उत्तर, पूर्व, मध्यकी हम कल्पना करते है। घडा पैदा हुआ तब उसमें पूर्वावस्था-उत्तरावस्था आरोपित हुईं। इसीप्रकार देशकी कल्पना की जाती है। कहाँ घडा पेदा हुआ? पैदा होनेके पूव तो देशका कोई भेद नहीं था। किस वस्तुसे पैदा हुआ? जैसे हम एक बीजकी कल्पना करते हैं, वैसे अन्तर्देश और पूवकालकी भी कल्पना करते हैं। यह समग्र सृष्टि कहाँ पैदा हुई? अन्तर्देशमे। यह समग्र सृष्टि कब पैदा हुई? पूर्वकालमें। यह समग्र सृष्टि किससे पैदा हुई? बीजसे। ये सब बडे-बडे तमाशे हैं। अब इन तीनोको मिला दो।

सृष्टि पूर्वकालमे पैदा हुई यह हम माननेको तैयार हैं, लेकिन कहाँ हुई? बहिर्देशमे नही, अन्तर्देशमे। यह बीजसे उत्पन्न हुई है यह हम मानते हैं, परन्तु वह बीज अन्यदेशमें नही, अन्तर्देशमे है। असलमें उस बीजमें ही अन्तर्देश-बहिर्देश, पूर्वकाल-उत्तरकालकी कल्पना है और कल्पित काल देशमे ही बीजकी कल्पना है। तो ये तीनो तीन नही हैं, कल्पना है। यह कल्पना जिसमे है और जिसको भास रही है, उसको ईश्वर बोलते हैं। जिसने यह

कल्पना की है, वह भी ईश्वर है। जिसने यह कल्पना की नही है, केवल भास रही है, वह द्रष्टा है। न तो द्रष्टा किसी करणके द्वारा दृष्टा है और न तो ईश्वर किसी चीजके साथ सपृक्त है। ईश्वरकी कल्पनामे बीज देश, बीज काल और बीज वस्तु है। द्रष्टाकी यह विशेषता है कि वह कल्पना करता नही है, देखता है। कल्पनाके द्वारा ही ईश्वर और द्रष्टाका विवेक है। क्योकि द्रष्टाकी दृष्टिमे ही देश काल बीज है, उससे अधिक लम्बा चौडा कोई नही है। उससे बडी उमरवाला कोई नही है। उससे पृथक् सत्ता और किसीकी नही है। अर्थात् जीव जगत् ईश्वर और द्रष्टाकी कल्पना देश-काल और वस्तुकी कल्पनासे अछूता अद्वय ब्रह्म ही यह द्रष्टा है।

एक महात्माने सुनाया—'सन्यासी भिक्षा करने रोज जायँ पर सब घरसे रोज ही भिक्षा मिले यह निश्चित नही है। ये शास्त्र गृहस्थ है। रोज इनके दरवाज पर जाओ कभी न-कभी ये भिक्षा देंगे। रास्तेसे निकलते रहो, 'नारायण, हरि' बोलते रहो। कभी कोई तो कभी कोई भिक्षा देता रहेगा। ये शास्त्र अपने वक्ता श्रोताको अपना वाक्य, शब्द, अथ देते है, जैसे गृहस्थ अपनी कमाईका अर्थ—चार पैसा भिखारीको देता है। प्रतिदिन तुम सत्सग करोगे तो एक दिन इनसे अथ मिलेगा ही मिलेगा।'

गीतामे अव्यक्तका वणन इस प्रकार है

> **अव्यक्ताद्व्यक्तय सर्वा प्रभवन्त्यहरागमे।**
> **राञ्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसज्ञके॥**
> **भूतग्राम स एवाय भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।**
> **राञ्यागमेऽवश पाथ प्रभवन्त्यहरागमे॥**

दिन आया तो सब अव्यक्तसे निकल आया और रात आयी तो सब अव्यक्तमे लीन हो गया। प्रकाशमे सब दीखने लगा और

अंधेरेमे सब छिप गया। जिस अव्यक्तसे प्रकट हुआ, उसींमे लीन हो गया। एक अव्यक्त वह है, जिसमे वृष्टिग्राम और भूतग्राम लीन होता है और निकलता है, लीन होता है और निकलता है। दूसरा अव्यक्त है

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातन ।
य स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥—गीता

उस अव्यक्तसे परे एक अन्य भाव है जिसे अव्यक्त कहते हैं। दोनोंमें विवेक करो। यह अव्यक्त तो चैतन्य माने ब्रह्म हुआ, जो बीज-देश, बीज काल और बीज वस्तुके ऐक्यरूपमें अव्यक्त है। उस अव्यक्तसे विलक्षण अव्यक्त माने कारणात्मक अव्यक्तसे पृथक् एक अकारणात्मक अव्यक्त है। वह अविनाशी है, द्रष्टा है और सम्पूर्ण प्राणियोंका अधिष्ठान है। ऐसा मालूम पडता है कि प्रकृति-से परे कोई ईश्वर हो, प्रकृतिका अधिष्ठान हो। गीतामे निरूपण किया जा रहा है—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेव विदित्वैन नानुशोचितुमर्हसि ॥

अपने-आपको जानो, यह व्यक्त प्रपञ्चसे, चिन्त्य माने चिन्ता-त्मक प्रपचसे विलक्षण है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण प्रपञ्चसे भी विलक्षण है। अयम्=यह—अपना आपा। जब अपने आपको ऐसा जान जाओगे कि 'आत्मा न स्थूल-सूक्ष्म कारणमें है, न मेरा है न सच्चा है, अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म कारणात्मक प्रपञ्च न मैं हूँ न मेरा है, न सच्चा है, केवल भास रहा है। ऐसी तुम्हारी महिमा है।

अव्यक्तात्तु पर पुरुष.

न विद्यते केनापि प्रमाणेन—बहुत आदमी दु खी इसलिए

होते हैं कि हाय-हाय, यह आत्मा हमको दीखा नही। एक आदमीको अपना नाम भूल जाता था। कोई उसे पुकारे 'ओ मोहन, ओ सोहन!'

वह कहता, 'ठहरो, ठहरो, मै अभी ढूंढकर ले आता हूँ। गोदमे बालक, शहरमे ढिंढोरा!' वह खुद मोहन सोहन है। 'कठचामी करश्रत् गलेम हार है और ढूंढ रहे हैं बाजारमे। खुद ढूंढनेवाला देखनेवाला है पर वह खुद देखना चाहता है। अष्टा-वक्र गीतामे—

आत्मानम् दृष्टाहम् पश्यति नरम्

तुम इस द्रष्टाको अपनेसे न्यारा करके देखना चाहते हो? श्रुति इसी देखनेवालेको बता रही है, इस बात पर तो ध्यान ही नही देते। मूढ मनुष्य कहता है 'हमारे कन्धा नही है।'

'क्यो?'

'दूसरेके कन्धा है, उस पर तो हम बैठते है। हमारे कन्धा है यह तो तब पता चले, जब हम उसपर बैठें, जैसे दूसरेके कन्धेपर बैठते हैं।'

कर्ताको कर्म बनाना अशक्य है, वैसे द्रष्टाको दृश्य बनाना अशक्य है। वह तो कहता है, 'तुम द्रष्टा हो!' हम कहते हैं— 'हम अज्ञानी है।'

तुम अज्ञानीको जानते हो तो तुम अज्ञानी कहाँ हुए? जैसे तुम घडेको जानते हो तो घडेसे न्यारे हो, वैसे अज्ञानीको तुम जानते हो तो तुम अज्ञानीसे न्यारे हो। द्रष्टाको हमने देख लिया तो हम द्रष्टासे न्यारे हुए। कभी ऐसा मालूम पडे तो समझना कि तुमने द्रष्टाको नही देखा अभिज्ञानम् विजानताम्।

जो यह दावा करते हैं कि हमने द्रष्टाको देख लिया या जान लिया, उन्होंने न तो द्रष्टाको जाना न देखा। जाननेवाला तो खुद ही है। सौ सौ श्रुतियाँ और महात्मा अनादिकालसे यह उद्घोष करते आये हैं। यह तो जैसे कोई स्विच दबा दे और बिजली हो जाय ऐसी बात है। गुरु कहे 'अरे तुम्हीं तो हो!' इसके बाद 'मैं जीव हूँ' यह ख्याल कभी भ्रमसे, भूलसे, स्वप्नमें भी न बने। कहाँ हो तुम जीव? तुमने कभी अपनेको जीव बनते देखा है?

व्यापकोऽलिङ्ग एव च

यह अव्यक्त है जहाँ सब लीन हो जाता है जहाँ कालमे भूत-भविष्य वर्तमान नही रहता। देशमे बाहर भीतर, अन्तराल नहीं रहता। वस्तुमे करण काय कारण नही रहता। क्योंकि ये तीनों सापेक्ष हैं—अन्योन्याश्रित हैं। जैसे चोरका गवाह चोर नही हो सकता, ऐसे दृश्यको सिद्ध करनेवाला दृश्य नहीं हो सकता। अन्यसे अन्यकी सिद्धि नही होती, हमसे सबकी सिद्धि होती है। देशसे वस्तुकी सिद्धि नही होती और वस्तुसे देशकी सिद्धि नहीं होती, क्योकि दोनो दृश्य हैं—एक किस्मके हैं। देश काल-वस्तु तीनों मिलकर एक हो जायँ या अलग अलग रहें अथवा अधिष्ठानके ज्ञानसे तीनोका बाध हो जाय, परन्तु अपना बाध नहीं हो सकता।

अव्यक्तात्तु पर पुरुष

पर=प्रकाशक, अधिष्ठान, पालक-पोषक, जिस द्रष्टा-अधिष्ठान की सत्तासे दृश्य-अध्यस्तकी सत्ता मालूम पडती है उसे पर बोलते हैं। दृश्य हो यह जरूरी नहीं हैं, दृश्य मालूम पडे इतना ही अपेक्षित है। आकाशकी नीलिमा मिटानेके बाद यदि हम उसे

रंगविहीन समझना चाहे तो कभी नही समझ सकेंगे। तुम्हारा नेत्र आकाशकी पूर्णताको ग्रहण नही कर पाता, तो नेत्रके अग्रहणात्मक दोषके कारण आकाश नीला दीखता है। इसीप्रकार तुम्हारी बुद्धि ब्रह्मको नही ग्रहण कर पाती और बुद्धिके अग्रहणात्मक दोषके कारण प्रपञ्च मालूम पडता है। जबतक बुद्धि रहेगी, प्रपञ्चका दर्शन होता रहेगा। सुषुप्तिमे बुद्धि नही रहती है तो प्रपञ्चका दर्शन नही होता है। प्रपञ्चका दर्शन-अदर्शन करनेवाली बुद्धि क्या है? यह तो नन्ही बच्ची है जो तुममे दीखती है। तुम कितने वर्षके हुए तब यह बुद्धि पैदा हुई? कब मर जायेगी? तुम्हारी उमर ही नही है तो उसमे बुद्धिकी उमर कहाँसे आयेगी? अविनाशीमे कल्पित कालांशमे बुद्धिकी उत्पत्ति प्रलय होता है, परिपूर्णमे कल्पित देशांश मे बुद्धिकी उत्पत्ति प्रलय होता है, सन्मात्र अखण्ड वस्तुमें कल्पित बीजांशमे जन्म-विनाश होता है। तुम्हारे अधिष्ठान द्रष्टा स्वरूपमे बुद्धि नामकी कोई वस्तु है ही नही।

पर पुरुष—पर=पूरण। पूरण माने दस। दश और दशममे, सप्त और सप्तममे फरक होता है, दस-दस आदमियोका वाचक है और दशम उस दसवाँ आदमीका वाचक है जिसके बिना वे नौ रह जाते हैं। दसोका नाम दशम नही है। पूरण कौन? दसवाँ पूरक है। उसके बिना 'पूर्ण' होगा ही नही—अव्यक्त होगा ही नही! पर ही अव्यक्तको पूर्ण बनाता है। सत्ता ज्ञान-आनन्द, क्रिया-ज्ञानशक्ति उस परसे ही आते है। वह कौन है? पुरुष है।

पूर्णत्वात् पुरुष, पुरीशयत्वात् पुरुष। पुर+उस्—वस—शरीरके हृदयपुरमे निवास करनेवाला है, वह पुरुष है। पुरुष=आत्मसत्ताने अव्यक्तमे सत्ता, ज्ञान, आनन्द भरा। इस हृदयमे रहनेवालेके लिए हम 'म मै' बोलते है। अपने लिए 'मै' सामने-

वालेके लिए 'तुम' दूरवालेके लिए 'वह' और पासवालेके लिए 'यह' बोलते हैं। परस्पर-विरुद्ध दृष्टिसे मैं-तुम और तुम-मैं होगा। दोनो एक ही चीजका नाम है। इसलिए वह सर्वनाम है। यही पुरुष सम्पूर्ण देशात्मक-कालात्मक-वस्त्वात्मक परिणामशालिनी प्रकृति है। उसका विवर्ती अधिष्ठान यही मैं-तुम-यह-वह पदका अर्थ, उस अव्यक्त प्रकृतिका अधिष्ठान और प्रकाशक आत्मा है, जो कहीं परिच्छिन्न होकर जीव और दृश्य होकर जगत् भासता है।

सबका नियन्ता होकर ईश्वर भासता है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके रूपमे भास रहा है। वह किसमें भास रहा है? तुममे। किसको भास रहा है? तुमको। वह क्या है? तुम।

व्यापकोऽलिङ्ग एव च।

वह व्यापक भी है और अलिङ्ग भी है। जो आकाशमे व्यापक है, वह आकाशसे छोटा होगा? स्वप्नमे आप मीलो लम्बा देश देखते हैं, बम्बई, कुम्भका मेला, लडाईका मैदान देखते हैं। जो दीखता है वह आपके मनसे छोटा है या बडा? वह आपके मनसे छोटा है। और यह मन आपसे छोटा है। आप मनके द्रष्टा हैं। इस मनकी व्यापकता तो देखो! ऐसी कोई चीज नही है जो दुनियामें कालसे व्याप्त न हो! लेकिन सपनेमें छ महीना हो गया और जागने पर एक मिनट रहा! पाँच ही मिनट रहा! सपने चार-पाँच सेकेन्डसे ज्यादा नही रहते, परन्तु मालूम पडता है—बरसों बीत गये। वह काल भी सपनेका ही होता है। कालका जाल बिछा कर चार-पाँच सेकण्डमे बरसोका काल देख लिया, देशका जाल बिछाकर मीलो लम्बा देश और वस्तुओका जाल बिछाकर लाखो आदमी और लाखो वस्तुएँ देख ली। परन्तु वे सब क्या आपके मनसे बडी हैं? नही!

विवरणकारकने कहा 'आदमी कर्म करता जाय—करता जाय—करता जाय तो कोई द्वार बना दो, ज्ञान हो जायगा। क्योंकि वर्णाश्रमके अपने कर्म पवित्र हैं।"

भामतीकारने इस पर कटाक्ष किया 'ज्ञान तो प्रमाणसे होता है। नियम यही है। जैसे रूपके ज्ञानमे आँख प्रमाण है, शब्दमे कान प्रमाण है, प्रत्यक्ष प्रमाणसे विषयोका ज्ञान होता है। सम्बन्धका ग्रहण होनेपर अनुमान-प्रमाणसे ज्ञान होता है और जो देखी हुई चीजें हैं उनका उपमान प्रमाणमे ज्ञान होता है—गो सदृशी गवय। कुछका अपरिचित और अनुपलब्धिसे ज्ञान होता है और इन सबसे जिनका ज्ञान नही होता, उनका शब्दसे होता है। शब्दमे भी जिस पदार्थका लौकिक शब्दसे ज्ञान नही होता उसका वैदिक शब्दसे ज्ञान होता है। किसीको कोई चीज मालूम न हो और बता द शब्दस तो उसे मालूम पड जायगी। शब्द भी प्रमाण है। लेकिन तुम बताओ कि इन छहो प्रमाणोमे से कर्म कौन सा प्रमाण है? प्रमाणसे ज्ञान होगा कि कमसे? कम इन छहो प्रमाणोम से कोई प्रमाण नही है।

उपासना अर्थात् जानी हुई बातको अपने मनमे पक्का करना। पक्का करना कोई प्रमाण है? योग माने वृत्तिका निरोध। निरोध क्या किसी प्रमितिका करण है? यथार्थ ज्ञानका निरोध कोई औजार है? अपनी मनोवृत्तिको गाढ़ी बना देनेसे जैसी चीजका संस्कार डालोगे वैसी चीज वह दिखायेगी या तत्त्वको दिखायेगी? विषयोके देखनेके लिए आँख-कान आदि प्रमाण है। कर्म कौन-सा प्रमाण है जिससे तुम ज्ञान मानते हो?'

किसीने कहा 'ब्रह्मज्ञान कमसे होता है, तो भामतीकारने वह प्रश्न उठाया कि कम कौन-सा प्रमाण है? ये छ और एतिह्य

सम्भव, सकेत प्रमाण हैं, कर्म तो प्रमाण नही है। प्रमाण तो औजार है जो हमारे साथ रहता है और किसी चीजको हम उससे जानते हैं। कर्म निर्माण है। पुस्तक बन्द करनी हो तो उसे हाथसे करेंगे। या बन्द होगी तो उसे हाथसे खोलेंगे। परन्तु कर्मसे रूप दीखेगा? नही। देखनेका काम आँख करेगी। पाँव तुम्हें चलकर कहीं पहुँचा देगा। हाथसे भोजन जिह्वापर डालेंगे, परन्तु उसका रस तो जिह्वाको ही मालूम होगा। कर्ममें करणत्व कहाँ है—प्रमिति-करणत्व, प्रमा करणत्व? यथार्थ ज्ञानका करण क्या कर्म है? यथार्थ ज्ञानके करणको प्रमाण बोलते हैं। निर्माण विभागम कर्म और ज्ञानमें प्रमाण उपयोगी है। प्रमाणोकी सिद्धि अपने-आपसे होती है तो अपने आपकी सिद्धिके लिए प्रमाणोकी आवश्यकता नही है।

'नेति नेति'के द्वारा सम्पूर्ण प्रमाणोका निषेध कर दो। अब बोलो 'मैं कौन हूँ?' आँख कान आदिसे, मन-बुद्धिसे अपना आपा मालूम नही पडेगा कि मैं कौन हूँ? देशमे मालूम पडेगा कि मैं कितना लम्बा चौडा हूँ। देश तो मनसे मालूम पडता है। देशकी कल्पना मनमे है, वह प्रमाण कहाँ है? मैं विनाशी अविनाशी हूँ, यह बात बुद्धिसे मालूम पडेगी? बुद्धि कालको तो जान सकती हैं, परन्तु मैं बुद्धिको जानता हूँ, बुद्धि मुझे कहाँ जानती है? विनाश मुझे छू नही सकता, मैं अविनाशी हूँ। देशकी परिच्छिन्नता और वस्तुओका भेद मुझे छू नहीं सकता। इसका अर्थ हुआ कि मैं देश काल वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अद्वय, अनन्त, अविनाशी, सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य परमात्मा साक्षात् ब्रह्म हूँ। यह उपनिषद्का तात्पर्य है। अव्यक्तसे परे पुरुष है।

अव्यक्तात्तु पर. पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।

इसको जाननेका फायदा क्या है ?

य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तु ।

आदमी जन्तु = जानवर हो गया। जैसे कीड़े जन्मते मरते है वैसे आदमी जन्तुप्राय हो जानेसे केवल जन्मना मरना ही इसके साथ रहा। अपनेको ब्रह्म जान लिया तो ? जन्मना मरना छूट गया, देश काल-वस्तुके बन्धनसे छूट गये और अमृतत्व च गच्छति—अपने सिद्ध अमृतत्वका साक्षात्कार हो गया। हमारा अमृतत्व पहलेसे है। न जाननेसे वह छिपा हुआ है, जानने मात्रसे ही मृत्युका भय दूर हो जाता है।

पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।

पुरुष कैसा है ? व्यापक है, अलिङ्ग है। कभी-कभी अपने मोहल्लेमे कोई ऐसा आदमी हो जो सबसे जान-पहचान रखता हो, सबकी खबर रखता हो, सबके पास जिसकी पहुँच है उस चालू आदमीको 'गाँवमे व्यापक है' ऐसा कहते है। शबरस्वामीने कहा 'लोकमे शब्दका जो अर्थ प्रचलित है, वही अर्थ यदि वेदमे-से निकले तो सबसे पहले उसका वही अर्थ होना चाहिए।' घरमे दिया जलाते हैं तो सारे घरमे उसकी रोशनी व्यापक हो जाती है। कमरा व्याप्य है। सूर्यकी, दीपककी, बल्बकी रोशनी एक स्थानमे रहकर अपनी किरणोके द्वारा व्यापक होती है। एक कालमे रहकर भी दूसरे कालमे व्याप्ति होती है। आसमानमे तारे बड़ी दूर हैं। ऐसे-ऐसे तारे हैं जिनकी रोशनी धरती पर पहुँचनेमे एक दिनसे लेकर आठ वर्ष लगते हैं, एक प्रकाश वर्ष (लाखो वर्ष) भी लगते है। एक कालमे निकली हुई प्रभा दूसरे कालमे आकर हमारी आँखसे टकराती है। शब्द भी देश-कालमे व्याप्त होता है। वृन्दावनमे रेडियोकी आवाज—प्रात स्मरणको फैलाते

हैं तो हमारा रेडियो पहले सुनाई देता है, म्युनिसिपालिटीका रेडियो बादमे। ऐसा क्यों? वहाँ जो शब्द उच्चारित होता है, उसे हमारे कानतक पहुँचनेमे जो रास्ता तय करना पडता है, उसमे देर लग जाती है। गोली छोडते हैं तो आग उगलती हुई बन्दूककी गोली पहले दिखेगी, उसकी आवाज बादमे सुनाई पडेगी। व्यापक होनेमे जो समय लगता है वह इतना कम होता है कि लोग उसे नाप नही सकते—सेकेण्डका लाखवाँ हिस्सा कैसे नापा जाय?

इसप्रकार देश-काल वस्तुका स्पश करके व्यापकता होती है। लोहेका गोला आगमें डालो। पहले बाहरी हिस्सा गरम होगा, फिर भीतरका। बटलोईमे पानी गरम करेंगे तो पहले आगका स्पर्श जहाँ होगा वह पहले गरम होगा, ऊपर बादमें होगा। आग-को व्यापक होनेमे अन्तर-बहिरका अन्तर पडता है। परमात्मा सृष्टिमे व्यापक है। यह व्यापकता किस ढंगकी है? लोहेके गोले-की तरह? ब्रह्माण्ड गोला है, परमात्मा आग है तब तो सयोग-सम्बन्धसे व्यापकता होगी। परन्तु परमेश्वर ऐसा व्यापक नही है।

दूसरी बात—जैसे घडेमे मिट्टी व्यापक है, वैसे गोलेमे (आकृतिमे) उपादान रूप लोहा व्यापक है। धरती-धरती देश-में है, घडा-घडा देशमे है। घडेमे सेरभर मिट्टी है। घडेकी शक्ल-सूरत उस एक सेरभर मिट्टीमे बनी है, वह मिट्टी घडेमे व्यापक है, सारी धरतीकी मिट्टी नही। उपादान कारण ही अपने कार्यमे व्यापक होता है।

विश्वब्रह्माण्डका मसाला क्या? परमात्मा-ब्रह्म। वह इसमें कैसे व्यापक है? घडेकी शक्ल तो मिट्टीमे बनाई गयी है, परन्तु घडेमे व्यापक जो मिट्टी है वह मिट्टी तो नही बनाई गयी है। वह

सो पहलेसे मौजूद थी। इसलिए इस ससारमे कोई उपादान-मसाला है, चेतन है, बनानेवाला है तो वह परमात्मा है। जैसे तरगमे पानी, लपटमे अग्नि, सासमे हवा और सर्वत्र आकाश व्यापक है वैसे क्या परमात्माकी व्यापकता है? नही, ये सब तो जड वस्तुएँ है। जड वस्तुमे तो तीन तरहके आकार रहते है—१ आदमीका बनाया हुआ आकार है, २ स्वाभाविक आकार है और ३ कालक्रमसे बन जाता है वह आकार। इसको घडेसे घटित किया जाय तो कहना पडेगा कि—१ घडा मनुष्यका बनाया हुआ है, २ मिट्टीका डला जो कुम्हार खोदकर ले आया था, वह स्वाभाविक ही बन गया था और ३ पहले धरतीमे मिट्टी थी।

परन्तु चैतन्यमे आकारको समझनेके लिए हमे पहले चैतन्य की व्यवस्था समझनी पडेगी। आपने कभी अपने मनमे पत्नीको, पुत्रको, किसी रिश्तेदारको देखा है? आँख बन्द करके शक्ल दीखेगी तो उसका उपादान क्या? जैसे मिट्टीसे घडा बनता है वैसे मनमे शक्लका उपादान मन ही है। सस्कारयुक्त ज्ञानसे सपना दीखता है, मनोराज्य होता है परन्तु बाहरी उपादान कुछ भी नही होता।

यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वरके सकल्पमे है। जैसे तुम साढे तीन हाथका शरीर धारण करके बैठ हो, वैसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोके बीजका शरीर धारण करके ईश्वर बैठा है, मायाका शरीर धारण करके ईश्वर बैठा है। उस मायासे बनाये हुए ईश्वरके अन्त करण-मे ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड वैसे ही दीख रहे हैं जैसा हमारा मनो-राज्य स्वप्न दीखता है। ईश्वरको यह सृष्टि कैसी दीखती है? जैसे जादूगरको अपना बनाया हुआ जादू दीखता है। जीवनमे सस्कार रहता है, उसके अनुसार उसमें स्वप्न बनता है। ईश्वरमें संस्कार

नहीं रहता, माया रहती है। सस्कार अन्त करणमे रहता है, ईश्वर अन्त करण रहित है। मायासे उसके पेटमें—हृदयमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड भासते हैं। ईश्वरकी दृष्टिसे तो यह सृष्टि स्वप्न-वत् है और हम जो उसमें शरीरधारी होकर विचरण करनेवाले हैं—उस हमारी दृष्टिसे सत्य है।

असलमे तुम विवेक करके देखो तो तुम पुरुष हो अर्थात् आत्मा हो, ज्ञान हो। तुम्हारी व्यापकता ऐसी है कि ज्ञानमें आकृतियाँ मालूम पड रही हैं परन्तु स्त्री-पुरुष, मकान, शहर, धरती, ब्रह्माण्ड कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड तुम्हारे चैतन्य स्वरूपके बाहर नहीं हैं। तुम्हारा चेतन स्वरूप देशकी कल्पनाका आश्रय होनेसे देश जितना लम्बा चौडा हो सकता है, उससे बडी तो तुम्हारी कल्पना है, और उस कल्पनासे बडे तुम हो। काल तुम्हारी कल्पनामें है और कालके अधिष्ठानस्वरूप तुम कालसे बडे हो। कालकी कल्पना तो तुम्हारे चैतन्य-स्वरूपमें भास रही है। वस्तुओंकी-ब्रह्माण्डो जितनी कल्पना है उस कल्पनाके होनेसे तुम बीजात्मक सत्तासे भी बडे हो, त्रिविध देश-कालसे भी बडे हो। अर्थात् तुम्हारा परिच्छेदक कोई नहीं है। तुम सोलहो आने अनन्त चैतन्य हो। तुम्हारे अनन्त चैतन्यरूपमें जीव-जगत् सहित ईश्वर भास रहा है वह क्या है? वह बदलता हुआ भास रहा है परन्तु वह बदलता हुआ नहीं है। ज्ञान ही सबके रूपमें चमक रहा है।

एकने पूछा 'अधिष्ठान कैसा। धरती नीचे और ऊपर घडा रखा हुआ हो तो जैसे घडेकी अधिष्ठान धरती है वैसे क्या यह सारा प्रपञ्च हमारी छाती पर लादा हुआ है? हम प्रपञ्च-जैसे अधिष्ठान है?'

मैंने कहा 'नहीं, तुम्हारी छातीपर प्रपञ्च लादा हुआ नहीं है। तुम्हारे जीवनके किसी भी क्षणमें यह प्रपञ्च नहीं है। तुम्हारे

अनन्त विस्तारके किसी भी इञ्चमें यह प्रपञ्च नही है। तुम्हारी अनन्त सत्ताम किसी भी कणके रूपमें यह प्रपञ्च नही है। यह ज्ञान-की लहर है। समुद्रकी लहर समुद्रके ऊपर उठती है, ऐसी यह ज्ञान-की लहर नही है। वह ज्ञानसे ऊपर नही उठती, ज्ञानसे बाहर नही जाती और ज्ञानके अतिरिक्त कालमें नही होती, ज्ञानसे अतिरिक्त नही होती। ज्ञानका ही जो चाकचिक्य है वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकेरूपमे भास रहा है ।

य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति

चार बातोसे छुटकारा पाना आवश्यक है—

१ दु खीपनेकी कल्पनासे,

२ जडतासे,

३ अज्ञानान्धकारसे,

४ जन्म मृत्युके भयसे ।

यदि तुम इनसे छुटकारा नही चाहते तो वेदान्त मत सुनो। यदि तुम दु खसे ऊबते हो, बेवकूफीसे तुम्हे शरम आती है, तो नम जगत्के अधिष्ठान, अनन्त ब्रह्मको जानो जिसके सिवा दूसरी कोई चीज नही है। जिसके ज्ञानमात्रसे सारे शोक दु ख मिट जाते हैं और जो हमारी आत्मा ही है, उसे न जाननेवालेको शरमिन्दा होना चाहिए। यदि तुम्हे जन्म मृत्युका भय है तो तुम डरपोक हो। तुम शत्रु मित्रसे, देवता-दानवसे, ईश्वरसे भ्रान्तिवश भयकी भावना करके डरते हो। यह भय केवल कल्पना है। साँप बिच्छू, रोग, मृत्यु, पराधीनता आदि सबका डर केवल भ्रान्ति है। हम जिससे डरते हैं, जिसके बडप्पनको स्वीकार करते हैं उसको आदर (आ+डर) देते है। जडतासे बेवकूफीसे, भयसे आक्रान्त मनुष्य दिनभरमे दसबार दु खी होता है। दु खको दूर करनेके लिए तुम प्रयास नहीं करते ?

य ज्ञात्वा मुच्यते जन्तु ।

आदमी अपनी इच्छासे जेलखानेमें जाता है? वह अपने सकल्पसे नरकमें जाता है ? नहीं ! जब तुमको विवश होकर, तुम्हारे कर्मोंके अनुसार दण्ड देनेके लिए यहाँसे वहाँ घुमाया जा रहा हैं । तुम असलमें जेलखानेमे हो । तुम्हारे घरमें खानेको नहीं है, तुम दूसरेके पास उधार लेने जाते हो । जब तुम सुख लेनेके लिए स्त्री-पुरुष या पैसेके पास जाते हो तो स्वय सुखस्वरूप होकर अपनेको कंगाल मान रहे हो । तुम्हें इस कगालियतसे शरम नहीं आती है ? उससे छूटनेका क्या कभी तुम्हारा मन नहीं होता ? तुम पराधीन हो, बेवकूफीसे आक्रात हो, भय-मृत्युसे आक्रान्त हो । इससे मुक्ति पानेका एकमात्र उपाय है आत्माको जानो, जिसका वर्णन करके बताया गया है कि इस अखण्ड ज्ञान-स्वरूप आत्मामें कही आना जाना नही हैं, पराधीनता नही है । बिना प्रयास और बिना पराधीनताके ही तुम्हारे पास सुख रहे, सब स्थान, सब समय और सब वस्तुसे तुम्हें सुख मिले इसके लिये करना क्या पडेगा ? कुछ नहीं । केवल जान लेना पडेगा । किसको ? अपनेको । जिसको जान लेना है वह अपना आपा है, इसलिये उसने कुछ छिपा लिया हो ऐसा भय नही । आत्माका ज्ञान हो जानेपर कि मैं अखण्ड, अद्वितीय, ज्ञानस्वरूप हूँ, ब्रह्म हूँ, ब्रह्म होगा ?

अमृतत्व च गच्छति

दूसरेके हककी चीज नही मिलेगी, तुम्हारा स्वरूपसिद्ध, स्वभावसिद्ध, तुम्हारा अमृतपना तुम्हारा हक (अनलहक) अर्थात् तुम्हारा मैं है, उसका अनुभव हो जायगा ।

इसलिए यदि तुम्हें अमृतत्वकी प्राप्ति करना हो तो अपने आपको जानो । ●

९. स्वयप्रकाश आत्माकी उपलब्धिसे अमृतत्वकी प्राप्ति

संगति

मन्त्र सातमें बताया कि मनके होनेसे ही इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है इसलिए इन्द्रियोका ख्याल छोड़कर मनमे पहुँच जायगे तो वहाँ मन ही मन है, इन्द्रियाँ नहीं है, यह अनुभव होगा। अर्थात् वहाँ विषय भी

नहीं हैं। उपाधिभेदसे हम अपनेको द्रष्टा श्रोता, घ्राता,स्पृष्टा-रसयिता मानते हैं, वह भी नहीं है। मन्त्र सातमें बताया मनसः सत्त्वमुत्तमम् अर्थात् मनसे पहले बुद्धि है। बुद्धिके अनुसार मन पवित्र-अपवित्र होता है। बुद्धिके उल्टा सिखानेसे मन अपने अहितको ही समझ रहा है, दुःखको सुख समझ रहा है।

जिसकी बुद्धि ऐसी हो जाती है कि परमात्माके सिवा कोई सत्य नहीं है, कोई ज्ञान नहीं है, सुख नहीं है उसके मनमें सकल्प विकल्पका कोई जाल खड़ा नहीं होता है। बुद्धि मालकिन है, मन नौकर। जब इन दोनोंमें मतभेद होता है और मन प्रबल हो जाता है तो वह बुद्धि को अपने काबूमें कर लेता है, जो हितकारी स्थिति नहीं है। परन्तु यदि बुद्धि पक्की है, निश्चयात्मक है, अध्यवसायात्मक है, तो बुद्धिके विरुद्ध मन कुछ भी नहीं कर सकेगा। ज्ञान ही संकल्पके रूपमें प्रकट होता है।

सत्त्वादधि महानात्मा।

बुद्धिके परे महत्तत्त्व—समष्टि बुद्धि है। उसके भी ऊपर हिरण्यगर्भसे भी ऊपर अव्यक्त है, जहाँ देश काल-वस्तुका कोई भेद प्रकट नहीं हुआ है। यह अवस्था समष्टि बुद्धि और व्यष्टि बुद्धि दोनोंसे विलक्षण है। यदि हिरण्यगर्भकी बुद्धिके साथ हमारा सम्बन्ध हो तो समाज, जाति सम्प्रदाय, आश्रम, देवता दानव, पशु-पक्षी, प्राणीमात्रकी बुद्धि पर, मानवता और राष्ट्रीयता पर हम काबू पा सकते हैं। उसमें क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति दोनों हैं। वह चाहे तो दुनियाको ठप कर दे, चाहे तो बदल दे। ऐसा हिरण्यगर्भ जिसमें सोता है उसको बोलते हैं अव्यक्त।

मन्त्र आठमें बताया कि आत्मा अलिङ्ग है और वह अव्यक्तसे भी

श्रेष्ठ है। जिसे जान लेनेसे ही अमृततत्वकी प्राप्ति होती है। अब प्रश्न यह है कि अपने आपको जानना—ज्ञानका विषय बना लेना कैसे हो? जिसकी कोई पहचान नहीं है, चिह्न या लक्षण नहीं हैं, उसका दर्शन भला कैसे होता है? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए यह नवाँ मन्त्र—ऋषि प्रवृत्त होता है।

एक एक मन्त्रको एक एक ऋषि मानते हैं। ऋषि नहीं, ज्ञान है। मन्त्र तो शब्द समूह, वाक्यरूप होता है। यह लौकिक वाक्य नहीं, ऋषि स्वय बोल रहा है। मन्त्र वक्ता है, वक्ता ही नही, स्वय ज्ञान है।

वैदिक लोगोंने वेदका निरूपण जिस ढगसे किया है, यदि वह निरूपण ही किसीकी समझमे आजाय कि वेद किसको कहते हैं तो अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाय। आत्मा-परमात्मा, ब्रह्मकी बात छोड़ दो! जिस वस्तुकी सज्ञा वेद है, उस वेदको वस्तुको ही समझ लो।

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

इस आत्माका रूप दृष्टिमे नही ठहरता। इसे नेत्रसे कोई भी नही देख सकता। यह आत्मा तो मनका नियमन करनेवाली हृदयस्थिता बुद्धिद्वारा मननरूप सम्यग्दर्शनसे प्रकाशित [हुआ ही जाना जा सकता] है। जो इसे [ब्रह्मरूपसे] जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ॥ ९ ॥

प्रश्न है—कथं दर्शनम् उपपद्यते? अपना दर्शन कैसे होगा?

पूछनेवालेका अभिप्राय क्या है ? प्रत्येक प्रश्न किसी-न-किसी नासमझीसे उठता है। पूरी समझदारी हागी तो भी प्रश्न नहीं उठेगा और पूरी नासमझी होगी तो भी प्रश्न नही उठेगा। जब समझदारी और नासमझी दोनोंकी खिचड़ी हो जाती है तब प्रश्न उठता है। यदि प्रश्न ईमानदारीसे किया गया है और बिलकुल अज्ञान है तो क्या पूछेंगे ? जिसे न देखा, न सुना, न जाना, जिसके रूपरंगका पता नहीं और जिसका रोमरोम पहचान लिया, देख लिया, जान लिया, सुन लिया उसके बारेमें क्या पूछेंगे ? तो सामान्यरूपसे ज्ञान और विशेष रूपसे अज्ञान होने पर ही प्रश्न उठता है।

एकने पूछा : 'यह कौन है ?'

उत्तर : 'यह मनुष्य है।'

ऐसा जवाब देनेवाला बेवकूफ है, क्योंकि सामान्य रूपसे तो हम उसे देख रहे हैं, जान रहे हैं कि यह मनुष्य है। विशेषरूपसे उसको जाननेकी इच्छासे ही पूछ रहे हैं—उसका नाम, गाँव, जाति, विद्या। प्रश्न होता है तब मालूम होता है कि पूछनेवालेका क्या अभिप्राय है ? जो खण्डन करनेके लिए पूछता है, वह पूछता नहीं है। आक्षेप करना और प्रश्न करना एक बात नहीं है। आक्षेप करनेवाला जिज्ञासु नहीं है ! इसलिए उससे तो हम बात ही नहीं करते ! उसको तो हम कहेंगे कि तुम किसी काशीके पण्डित के पास जाओ ! तुम खण्डन करो, वह मण्डन करे। विद्वान्‌के पास जाकर आक्षेप मत करो ! अपनेको तौल लो ! तुम क्या पूछना-जानना चाहते हो ?

तुम क्या आत्माको विषय बनाकर पूछना चाहते हो कि आत्माका दर्शन आँख आदि इन्द्रियोंसे कैसे होगा ? कोई भी

इन्द्रिय पूर्णताका दशन नही करा सकती । कोई अनुमान, उप-
मान, ध्यान, समाधि भी पूर्णताका दशन नही करा सकती ।
परिच्छिन्न औजारसे अपरिच्छिन्नका दशन कैसे होगा ? इन
औजारोको अलग कर दो । पहले जान लो कि किस किस औजार-
से अनन्त अद्वय ब्रह्मका दशन होगा ? जो साधन इसमे उपयोगी
हो उसे धारण करो । यह 'नेति नेति' अपवाद है ।

परिच्छिन्न विषयग्राहिणी इन्द्रियोको, सकल्पात्मक मनको
और सोती हुई तथा जागती हुई बुद्धिको अलग करो । अपवाद
करना माने अपने आत्मारूप अनन्तका दशन करनेमे जो परि-
च्छिन्न विषयको दिखलानेवाले औजार हैं वे अनुपयोगी है, ऐसा
जानना और यह जानकर उनका परित्याग करना । अनन्त अन्त -
करणके ध्यानका विषय नही है । उसे अलग कर दो । उससे अपने
अहम्को उठाओ । जब तुम अपने अहम्को अन्त करणसे अलग
करोगे तब देश-काल और अन्त करणकी व्यक्त दशासे अपनेको
अलग कर लोगे । तुम तो वह चैतन्य हो जिसमें देश काल वस्तुकी
दाल गलती ही नही । अब तुम अपनी असग दृष्टिसे जरा दूसरेकी
ओर देखो तो ! अखण्डमें कहाँ, कब, क्या ऐसी वस्तु आकर भीतर
जम गयी है । आत्माके भीतर-बाहर, आगे पीछे, पहले बाद विश्व
होनेकी कल्पना गलत है । आत्माके अतिरिक्त विश्व है, यह भी
गलत है । जब बाहर, पीछे बादमे नही तो अतिरिक्त कैसे ? चैतन्य-
घन ठसाठस है । उसमे अन्यके लिए जगह नही तो द्वैत कहाँसे
रहेगा ? इसलिए सवप्रथम यह प्रश्न है कि यदि तुम आत्माको
विषयके रूपमे जानना चाहते हो तो तुम अपनेको अन्यके रूपमे
देखना चाहते हो । यही गलती है । औजार भी परिच्छिन्न होनेके

कारण गलत हैं—बेकार हैं। तुम औजार रहित, देश काल वस्तु रहित हो तो तुम्हारी अनन्तता-अद्वितीयतामे यह प्रपञ्च कहाँ है?

अपनेको कैसे देखोगे? वेदान्ती कहता है 'किसी भी प्रमाणसे वहाँ नहीं देख सकते जहाँ भूलसे नित्य प्राप्त वस्तु ही अप्राप्त मालूम पडती हो।'

बच्चेको आकाश मालूम नही है। उसे मौजूद आकाश दिखाना हो तो बताना पडेगा। 'जिसमे रोशनी फैलती है, अँधेरा फैलता है, आवाज फैलती है, हवा घूमती है, इनका वह आधार है। आकाश शब्दका आधार है।'

वेदान्त यही बात बताता है कि 'जिसको तुम अपनी इन्द्रियोंसे नही जान सकते, अन्त करणसे नही जान सकते, स्वय अपनेसे अन्य सुषुप्तिकी शान्तिकी तरह साक्षीभास्यरूपमे नही जान सकते, वह तुम्हें वेदान्त 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यसे बताता है। इस अनुभव-की प्रणालीका निरूपण करते हैं

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

श्री शङ्कराचार्यजी लिखते हैं

कथ तर्हि अलिङ्गस्य दर्शनम् उपपद्यते।

जिसकी कोई पहचान नही है ऐसे इस अलिङ्ग आत्माको कैसे देखा जाय? इस परमार्थ वस्तुका रूप द्रष्टाके सम्मुख नही होता है अर्थात् यह द्रष्टाका दृश्य नही होता है—'यस्य रूपम् तिष्ठति किन्तु सदृशे न तिष्ठति' इस परमात्माका रूप तो है, परन्तु द्रष्टाके

सम्मुख दृश्य नही है। यह स्वय दृक् स्वरूप है। व्याकरणकी रीतिसे इसका दूसरा अभिप्राय है—सवृशे अगिने न तिष्ठति। द्रष्टाके लिए इसका रूप नही है माने जैसे बुद्धि द्रष्टाके लिए है सोचनेको, रूप है देखनेको, ऐसे इसका रूप किसी द्रष्टाकी तृप्तिके लिए नही है। कोई द्रष्टा अगी शेषी हो और वह अग शेष हो, ऐसा नही है। जैसे सोना चाँदी, अन्न, सारे जड पदाथ चेतन मनुष्यकी रसमूलक तृप्तिके लिए, लाभमूलक संतुष्टिके लिए, काम-मूलक रतिके लिए होते हैं और—

यस्त्वात्मरतिरेवस्यावात्मतृप्तश्च मानव ।
आत्मतुष्टस्य संतुष्ट तस्य कार्यं न विद्यते ॥

—गीता

श्रुतिको इतनेसे संतोष न हुआ। वह बोली—'आत्म मिथुन'। जैसे पतिपत्नी आपसमे परस्पर मैथुन करके प्रसन्न होते हैं और जैसी रति होती है वैसी रति इसकी आत्मामे है। ससार-के लोग भोजन करके तृप्त होते हैं। यह बिना भोजनके ही तृप्त है। संसारी धनसे सतुष्ट है, यह बिना धनके ही सतुष्ट है। अर्थात् यह अपना धन, भोजन, पत्नी स्वयं है।

जैसे आत्माकी सारी दूसरी चीजें अपने लिए—चैतन्यके लिए होती हैं, वैसे इस आत्माका रूप किसी दूसरेके लिए नही है। कोई द्रष्टा इसे देखकर रतितृप्ति, सत्तोषका अनुभव करे ऐसा इसका अनुभव नहीं है। यह किसीका भोग्य, दृश्य या कर्म बन जाय ऐसा इसका रूप नही है। सत्तामे भेद न होनेसे कर्म नही होगा, चित्तामे भेद न होनेसे दृष्य नही होगा और आनन्दमे भेद न होनेसे भोग्य नहीं होगा। यह भोक्ता तो है, पर इसके सिवा

कोई भोग्य ही नहीं है तो वह भोग किसका करे ? वह द्रष्टा चित्ता तो है, परन्तु इसके सिवा कोई दृश्य ही नही है तो वह देखे किसको ? वह सत्ता तो है परन्तु इसमें कोई परिणाम या परिवर्तन ही नहीं है तो इसका कर्म कौन होवे ? किसीके लिए प्रयोजनीय इसका रूप नहीं है माने स्वसंवेद्य नही है। स्वसवेद्यता भी इसमे कल्पित है और साक्षीभास्यता भी इसमें नहीं है। इसे इन्द्रियोंसे देख सकते हैं ?

'न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।'
शब्दाभावात् श्रोत्रेण न श्रूयते।
रूपाभावात् चक्षुषा न दृश्यते।
स्पर्शाभावात् त्वचया न स्पृशते।
रसाभावात् रसनया न रस्यते।

यह रसरूप नहीं है इसलिए रसना द्वारा इसका स्वाद नहीं लिया जाता।

गन्ध नहीं है, इसलिए नाक द्वारा नहीं सूँघा जाता।

यह रूप नही है, इसलिए आख द्वारा देखा नहीं जाता।

यह स्पर्श नही है, इसलिए त्वचा द्वारा छुआ नहीं जाता।

यह शब्द नही है, इसलिए कान द्वारा सुना नहीं जाता।

एकबार इसको पहचान लो। दृश्यमें सृष्टि परिच्छिन्न है। यदि उसमें तुम आत्माको पकडना चाहोगे तो एक बात यह मालूम पडेगी कि तुम इन्द्रियवाले हो। दूसरी यह बात मालूम पडेगी कि तुम इन्द्रियो द्वारा ज्ञाता हो। तीसरी बात यह मालूम पडेगी कि तुम परिच्छिन्न हो, अपूर्ण हो। तुम जब अपूर्ण हो करके हृदयमें बैठोगे तो इन्द्रियों द्वारा इसे ग्रहण करोगे ? इसका दर्शन तो अपरिच्छिन्नका दर्शन है। तुम परिच्छिन्नको स्वीकार करके इस

अपरिच्छिन्नको नही देख सकते। न यह स्वय परिच्छिन्न है, न परिच्छिन्न इन्द्रियके द्वारा ग्राह्य है, न परिच्छिन्न द्रष्टा ही इसको ग्रहण कर सकता है। यदि तुम्हें अपनेमे परिच्छिन्नता मालूम पडती हो तो तुम उसे दृश्य बना दो। तुम उससे न्यारे हो। इसलिए परिच्छिन्नता जिसका दृश्य है वह द्रष्टा परिच्छिन्न नही होगा। वह परिच्छिन्न नही होगा तो अपरिच्छिन्न होगा। अपरिच्छिन्न होगा तो ब्रह्म होगा, क्योकि परिच्छिन्नता साक्षीभास्य है चाहे वह आनन्दकी, दृश्यकी, कर्मकी ही परिच्छिन्नता क्यो न हो। इसलिए आत्मा न कर्मपरिच्छेद्य है, न दृश्यपरिच्छेद्य, न भोगपरिच्छेद्य। सम्पूर्ण परिच्छेदोका निवारण कर देनेके बाद जो शेष रह जाता है, उसका नाम ब्रह्म है—आत्मा है। आत्मा और ब्रह्म दो शब्द है, नाम दो है, वस्तु एक है।

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

जब यह भोग्य नही है, इन्द्रियग्राह्य नही है, तो इसके ग्रहणमे ज्ञानमे—दर्शनमे बाधा क्या है? प्रतिबन्धकी चर्चा करते हैं। प्रतिबन्ध माने रुकावट अडचन। चार प्रकारके प्रतिबन्ध होते हैं—

१. बुद्धिका मन्द होना। अपने आत्माके ज्ञानके लिए दूसरे किसी प्रमाणकी आवश्यकता नही है और दूसरे किसीको थोडे ही सिद्ध करना है? 'मै तो हूँ ही हूँ' ऐसा अनुभव होता है। 'मैं जानता हूँ' इसके लिए भी प्रमाणकी आवश्यकता नही है। मै अपनेसे प्यार करता हूँ, यह भी सिद्ध ही है। प्रमाण अज्ञातके ज्ञापनके लिए होता है। अपने आप ही मालूम पडता है कि 'मै हूँ' मै जानता हूँ और 'मै अपना प्रिय हूँ।' यदि प्रमाणसे यह बात मालूम करायी गयी तो पिष्टपेषण हुआ। प्रमाणकी प्रवृत्ति होनेसे पहले ही आँखसे हमने किसीको देखा नही! आँख बन्द हैं, कान,

नाक, जीभ, मन, बुद्धि बन्द हैं और मैं हूँ। ऐसी स्थितिमे ब्रह्मको जाननेके लिए या मैं ब्रह्म हूँ यह जाननेके लिए प्रमाणकी आवश्यकता होगी? हृदयमे जो सबसे अन्तरग है, उसे जाननेके लिए भी प्रमाणकी आवश्यकता नही है और सृष्टिमें जो देश-काल—वस्तुका सर्वाधिष्ठान है, उसको जाननेमे किसी प्रमाणकी गति ही नही है। न आखसे उसे देख सकें, न मनसे सोच सकें, न बुद्धिसे समझ सकें, न द्रष्टा बनकर उसे देख सकें। सम्पूर्ण प्रमाणका प्रतिषेध कर दिया। आत्माके लिए प्रमाणकी आवश्यकता नही है। अनन्त ब्रह्ममे प्रमाणकी गति नही है। प्रमाणका अतिशय आत्मा भी है और ब्रह्म भी है। इस अविषयतामे निर्विशेषता है क्योकि वह प्रमाणका विषय नही है, विशेष होता तो विशेष प्रमाणका विषय होता। आत्मासे सम्पूण विशेषोका निराकरण कर दिया और अधिष्ठान-ब्रह्मसे भी सम्पूण परिच्छिन्न विशेषोका, परिच्छेदोका, भेदोंका निषेध कर दिया। निर्विशेष निर्विशेषमे भेदका कोई प्रमाण नही है, निर्विशेष दो नही होते। जब दो होगे तो कुछ न कुछ विशेषताको लेकर भिन्न होगे। निर्विशेष ब्रह्म और निर्विशेष स्व एक है। विशेष माने भेद-भेदक। अनन्तमे भी कोई भेदका हेतु नहीं है और अपने स्वरूपमे भी कोई भेदका हेतु नहीं है। जहाँ भेदका हेतु नहीं है, वहाँ पदार्थं दो नही हो सकता, एक ही होता है। इसलिए अन्त-करणोपहित निर्विशेष चैतन्य और सृष्टिके कारणभूत निर्विशेष चैतन्यने भेद करनेका कोई हेतु नहीं है। देहावच्छिन्न आकाश, गृहावच्छिन्न आकाश और सूयग्रहावच्छिन्न आकाश सब एक ही आकाश है। इसमे अवच्छेदगत विशेषता उस वस्तुका स्पश नहीं करती है तब प्रज्ञाकी मन्दता ही अपने आपको ब्रह्म न जाननेमें प्रतिबन्ध है।

२ दूसरा प्रतिबन्ध है कुतर्क—बालकी खाल निकालना। जो बात कहते है, उसे तो नही समझते और अट-सट इधर-उधर उड़ते हैं।

३ अपने जीवत्वमे दुराग्रह तीसरा प्रतिबन्ध है। दूसरे सम्प्रदायके आचार्यकी प्रज्ञा मन्द नही है। वे कुतर्क भी नही करते और वेदानुसारी तर्क करते हैं, परन्तु उनको यह दुराग्रह हो गया है कि 'मै तो जीव ही हूँ।' अपने जीवत्वका परित्याग करनेके लिए अपनेमे जो निर्विशेष ज्ञान है, उसमे उनकी जरा भी दिलचस्पी नही है। विपर्ययमे दुराग्रह हो जानेका कारण अपने ब्रह्म स्वरूपका अज्ञान है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस निश्चयके अभावसे 'जीव' होनेका विपयय अविचारकृत है। कोई कहे कि 'मैं ब्रह्म हूँ' 'यह विचारसे सिद्ध नही होता' तो 'मैं जीव हूँ' यह भी विचारसे सिद्ध नही होता है। तो फिर '**तत्त्वमसि, अह ब्रह्मास्मि**' महावाक्योके प्रमाणसे अपने ब्रह्मत्वको क्यो नही मानते ? जीवत्व भी सिद्ध नही और ब्रह्मत्व भी सिद्ध नहो। यदि तुम अपनेको जीव नही मानते तो अपनेको ब्रह्म माननेकी भी कोई आवश्यकता नही है। अपनेको ब्रह्म स्वीकार करना जीवत्वकी भ्रान्तिके निरसनके लिए है। वहाँ ब्रह्मत्वका बोध भी अपेक्षित नही है।

एक ब्राह्मणको वैराग्य बहुत था। वह सन्यासी होना चाहता था, लेकिन जब सन्यासी होने गया तो गुरुजीने कहा 'रोज सात घरसे भिक्षा मागकर खाना।'

उसने कहा 'महाराज, हम तो रोज नहाकर, चौकेमे वस्त्र बदलकर बडी पवित्रतासे खाते हैं। सात घरसे भिक्षा माँगने जायेंगे तो हमारा चौका छूट जायगा।'

गुरु 'सन्यासीके लिए चौका नही होता।'

वह बोला : 'बिना चौकेके तो हम खा नहीं सकते। इसलिए हम संन्यासी नहीं होंगे।'

४. विषयासक्ति (देहासक्ति) : आत्मा और ब्रह्म एक है इसमें भी शंका नहीं। उसके लिए वेदान्त-उपनिषद्के अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म और आत्माका भेद यन्त्रसे सिद्ध होता, अर्थात् 'यन्त्रसे ब्रह्म और आत्माको अलग-अलग देख कर फिर उनमें भेद नहीं है, यह हम सिद्ध करेंगे' ऐसा कोई वैज्ञानिक कहे तो नहीं होगा। सायन्ससे न आत्मा देखा गया न ब्रह्म। न दोनोंका भेद सिद्ध हुआ, न दोनोंकी एकता सिद्ध हुई तो आत्मा-या ब्रह्मको देखनेके लिए सायन्सकी क्या आवश्यकता है ? आत्मा का जीवत्व-ईश्वरत्व और ब्रह्मत्व शास्त्रैकगम्य है। इसलिए दोनों-की निवृत्ति भी शास्त्रैकगम्य है। जो जिस प्रमाणसे सिद्ध होता है वह उसी प्रमाणसे कटता है।

एक महात्माके पास सेठ जयदयालजी गये थे। वे प्रतिपादन करते थे : 'कर्मसे ज्ञान होता है।'

महात्माने पूछा : 'कर्म कौनसा प्रमाण है ? प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि क्या है ? जैसे रूपमें आँख प्रमाण है, वैसे कर्म क्या कोई दृष्टि है कि आत्मा-ब्रह्म दीखता है ? नहीं है तो कैसे ?'

सेठ जयदयालजीने दो-चार श्लोक सुना दिये—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

महात्माने कहा : जब हम कोई बात श्लोक बोलकर सिद्ध करें तो परस्पर श्लोक सुनावेंगे, युक्तिसे युक्तिको लड़ावेंगे, श्लोकसे श्लोकको काटेंगे।'

जब हम सायन्ससे जीव-ईश्वरकी सिद्धि करें, तब तुम और भी गम्भीर सायन्ससे जीवके अलगावको काटो ! जीव और ईश्वर-

के एकत्वका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए विज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। वाक्य प्रमाणसे जीवत्व-ईश्वरत्व सिद्ध है। स्वर्गमे आना-जाना कर्तृत्व भोक्तृत्व वाक्य प्रमाणसे सिद्ध है। तुमने वाक्य-प्रमाणसे ही अपने जीवत्वको माना है और '**तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि**' आदि महावाक्य ही कहते हैं 'तुम जीव नहीं हो, ब्रह्म हो।' वाक्यसे वाक्य कट गया। निषेध प्रतिपादक वाक्य बलवान होता है। बच्चे के लिए भेदका विधान है, योग्य अधिकारी बुद्धिमान्के लिए निषेधका विधान है।

यदि ये चारों प्रकारके प्रतिबन्ध न हो तो श्रवण मात्रसे ही ज्ञानका उदय हो जाता है और अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। तुमने अपनेको देखकर जाँच पडताल करके जीव माना है? अपने ब्रह्म पनेके अज्ञानमे ही अपनेको जीव माना है। इसके निवारणके लिए मन्त्र पर्याप्त है।

यदि प्रतिबन्ध है तो क्या किया जाय? '**स्थितस्य गति चिन्तनीया**'—जब कोई आकर सिर पडे तो उसको संगति लगानी पडती है। बनारसमे हम रहते थे तब एकबार कोई अतिथि आ गया। खाना-पीना खतम हो गया था। अब क्या करें? दोपहर एक दो बजेका समय था। क्या खिलावें? सत्कार तो आये हुए मेहमानका करना ही पडेगा। कचौरीगलीसे कचौरी मंगायी। प्रतिबन्ध लगा तो उसे निवृत्त करना पडेगा।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

हृदा=अपने आपको स्वयं जानो।

तुम स्वयं तत्त्व हो, स्वयं अपनेको जानो।

ब्रह्मज्ञानकी जिज्ञासा न होना ही अन्तःकरणकी अशुद्धिका

लक्षण है। मनमें हजारों इच्छा होती है—खाने-पीनेकी, चलने-फिरनेकी, रिश्तेदारोंसे मिलनेकी। जब आत्मा-परमात्माकी एकताके ज्ञानकी इच्छा नही होती तो समझ लेना कि विषयकी इच्छा हृदयमे कहीं-न-कहीं बैठी हुई है। यदि इच्छा हो जाय तो—

तत्त्वश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुल.

एकबार कह दिया 'तू जीव नही है, ब्रह्म है। तू परिपूर्ण है, देश-काल-वस्तुका साक्षी है, अधिष्ठान है। तेरे अन्दर सम्पूर्ण दृश्य अध्यस्त है, तू अद्वितीय है।' राजा जनक घोडे पर चढ़ने लगे और अष्टावक्रने जा बात बोली वह सुनते ही तत्त्वज्ञान हो गया। समाधि नहीं, श्रद्धाकी बात नहीं। प्रमामें यथार्थ ज्ञान यही है कि आत्मा और ब्रह्म एक है। इसमें प्रमाण है वेद। यह निश्चय होनेपर भी जब स्थिति नही होती, दृढता नहीं होती तब क्या करना चाहिए ?

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो

वहाँ पहुँच जाओ जहाँ हृद् है। वैष्णव लोग जिसको हरि बोलते हैं, शैव हर बोलते हैं, मुसलमान रहीम बोलते ह और शाक्त लोग ह्रीम् बोलते हैं, बिलकुल वही चीज यह हृद् है। हरति इति हृद्। हरि हरणे। चाहे शब्द सुनाई पडे या रूप दिखाई पडे, सबको पकडता भी यही है और छोडता भी यही है। जो सबको पकडने और छोडनेवाला है, वह हृत् माने हृदय है, आत्मा है। श्रीरमण महर्षि हृत्का अर्थ आत्मा मानते हैं। 'हृदये हृदारव्य' उनके षड्दर्शनम्के पहले श्लोकमें वे कहते हैं 'हृदयमें वह हृत् नामवाला है।' परमात्माका नाम है हृत् उसके सामने जानेपर सबकी सत्ता छिन जाती है। उसके सिवा दूसरी वस्तुकी सत्ता ही नहीं होती। उसीमे सब सिद्ध होते हैं, मालूम पडते हैं, प्यारे लगते हैं और उसमें हैं ही नहीं।

द्रष्टा = स्वयं। अपने आपको अपने आप देखो—'स्वयं च तत्त्व स्वयमेव पश्यत्' अपने-आपको देखनेके लिए पड़ोसीको मत बुलाओ कि आज हमारी आँख कैसी लगती है? अपने-आपको देखनेके लिए शीशेका भी प्रयोग मत करो। तुम स्वयं हो।

मनीषा—इस श्रवणसे यदि तुमने अपनेको न जाना तो दो कमी है—

१ दृष्टिमे स्वच्छता नही है,

२ दूसरेकी दृष्टिकी स्वच्छतापर श्रद्धा नही है।

बुद्धिसे 'नेति नेति' द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर जानेंगे? मै सन् ४८ मे जब प्रथम बार उत्तरकाशी गया था तब तपोवन-स्वामीसे एक महीने तक मेरा मिलना-जुलना हुआ। मैने उनसे पूछा 'ब्रह्माकार वृत्ति क्या है?'

वे बोले 'घट ज्ञान ही घटाकार वृत्ति है। इसमे घटकी कल्पना, घटकी स्मृति या घटाकार-वृत्ति नही है। प्रमेय और प्रमाणका निर्दोष सन्निकर्ष ही अर्थात् निर्दोष आँखसे निर्दोष घड़ेको देख लिया—यही घटाकार-वृत्ति है। ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्माकार-वृत्ति है। वह दुहरानेके लिए या बहुत दिनोके अभ्यासके लिए नही होती है। मनीषा होती है। मनीषाके दो अर्थ हैं १ बुद्धिका वाचक है और २ मनिट्=तृतीया विभक्तिमे मनीषा माने बुद्ध्या। अनन्तको देखनेमे जो औजार काम नही आते हैं, उन्हे अलग कर दो, जैसे उसे देखनेमे आख समर्थ है? नही, तो इस चश्मेको, इन इन्द्रियोको, इस खोलको उतारकर जहाँकी तहाँ रख दो। मन देवता-दानव-मानव, पशु-पक्षी आदिके बारेमे सकल्प विकल्प करता है। इन्द्रियोके द्वारा देखे गये पदार्थोंके बारेमे क्यो संकल्प करता है, जब उनके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान नही हो सकता? तुम संस्कारसे इतना आक्रान्त हो? अब तक इन्द्रियो द्वारा प्राप्त सस्कारोको

छोड दो। इससे स्मृति होती है, आगेके लिए कल्पना होती है। इनसे अपनी बुद्धिको खाली कर दो। 'नेति-नेति' द्वारा तिरस्कार कर दो। 'मै परिच्छिन्न हूँ' ऐसी वृत्ति जो बुद्धिमे है, उसका भी तिरस्कार कर दो। बुद्ध्या मात्त मनीषा।

अपरिच्छिन्न, अकर्म्य, अभोग्य, अदृश्य अपना आपा है। जा ऊपर-नीचे दीखता है वह सब अपने रूपमें नही दीखता है। अपनेको अनन्त रूपमे जानना ही मनीषा है। मनसाभिक्लृप्ते— स्वय न जान सको तो बुद्धिसे विचार करके जानो। वह भी न हो सके, तो बुद्धि नोन-तेल-लकडीमे लग जाती है। पाच पीढीकी चिन्ता क्यो आवश्यक है? ससारी आज भोजन करके कलकी चिन्ता करता है और परमात्मा पर काला लिहाफ ओढ़ा दिया है—मायाका पर्दा डाल दिया है कि सोते रहो, उठना नही। यदि अपना स्वपना स्पष्ट हो तब तो हृदा और स्पष्टता न हो तो बुद्ध्या। ऐसा न होने पर मनसे काम लेना पडेगा, भावना करनी पडेगी।

श्रीरमण महर्षि कहते हैं 'ढूढते हुए, खोजते हुए परमात्माके पास पहुँचो।'

मध्यकालके सन्तोने और स्थूल बात बतायी है—'आख-कान बन्द करने पर जो आवाज आती है वह कहाँसे आती है, यह ढूढ़ो। शब्दकी डोर पर चढकर सुरत अपने प्रीतमके पास जाय। जैसे कोई कोठे पर हो और दरवाजा बन्द हो तो रस्सीसे ऊपर जायगा। अपने प्रीतमने कोई खट-खट, पट-पट, इशारा कर दिया, कोई गीत गा दिया कि हम इसी कमरेमे हैं। प्रेमिका सुरतीकी डोरे पकडकर उससे मिलनेके लिए उसके पास पहुँच गयी।'

मनमे जितने संकल्प उठते हैं—दायें बायें, पहले-पीछे जो हुआ

और हो रहा है दिशा-विदिशा, पूरब-पश्चिम, मोहन सोहनका संकल्प यह सब कहाँसे उठते हैं ? इनका मूल कहाँ है ? संकल्पका जो मल उपादान है, अधिष्ठान और काल है, उन तीनोसे उपलक्षित आत्मतत्त्वका विचार करो 'सोऽहमस्मि।'

यह मनसा है जैसे मूर्तिकी पूजा करनेवाले सनातनधर्मी कट्टर-पुरुष 'इदम्'को ब्रह्म कहते हैं 'शिवकृष्णमूर्ति ब्रह्म है।' जैसे मूर्तिमे ब्रह्म भावना करते है वैसे मनके द्वारा 'अहम्'मे ब्रह्म-भावना करो। नेति नेति द्वारा सबका निषेध कर देनेपर बुद्धया है ये सबकी सब अभिक्लृप्ति है। सच्ची चीज हो तो सच्ची चीजसे मिटे। तुम्हारा पापी पुयात्मापना, कर्ता भोक्तापना, सुखी दु खीपना, नारकीय-स्वर्गीपना, परिच्छिन्नपना क्लृप्त है माने कल्पित है मन की एक लकीर है। उसे चाहे मनसे, बुद्धिसे या स्वयमे स्थित होकर मिटाओ। यह कल्पित रेखा है।

हि दुस्तान पाकिस्तानका आकाश अलग-अलग है। एकका विमान दूसरेके आकाशमे चला जाय तो गोली मारकर उसे गिरा दे। वहाँ आकाशमे क्या लकोर खीची गयी है ? नही, यह सीमा मनमे कल्पित की गयी है। इसी प्रकार एक ही निर्विशेष दृङ्मात्र चेतन्य आत्मा सबके शरीरमे है। उसमे अपने मन-बुद्धि और सुख स्वाथके अनुसार मर्यादा बनायी गयी है। इस कल्पनाको मनके द्वारा काट दो। सारे भेदोका मूल कल्पना है। कल्पनाका अधिष्ठान ब्रह्म है।

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।

जो इसे जानते है वे—पूवमपि अमृता भवन्ति, पश्चादपि अमृता भवन्ति' पहले भी अमत होते हैं, वर्तमानमे भी अमृत होते हैं और बादमे भी अमृत होते हैं। मृत्यु उनका स्पश नहीं कर सकती।

•

२०. परमपदप्राप्ति

संगति :

मन्त्र में तीन बातें बतायीं : हृदा, मनीषा, मनसा। स्वयं तुम अपने स्वरूपरूपसे ब्रह्म ही हो। ब्रह्म माने अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय, ज्ञानस्वरूप। तुम्हारे सिवा दूसरा कोई जगत्, जीव या नियन्ता नहीं है। ऐसा अनुभव न होवे तो विवेक करो—'मैं दृश्यसे

न्यारा द्रष्टा हूँ। द्रष्टाको जान लिया तो जैसे घड़ीका द्रष्टा है वैसे घड़ीके देश कालका भी द्रष्टा है। दृश्यका नेति-नेति माने देश-काल-वस्तु तीनोंका निषेध। तब तत्त्वमस्यादि वाक्य द्वारा वृत्तिज्ञान होते ही जान लिया जाता है कि द्रष्टा ही परमात्मा है। यह भी न हो पाया तो मनसे भावना करो। जैसे उपासक पत्थरकी मूर्तिमे इष्टदेवकी करता है, वैसे अहम्‌मे सोऽहम्‌की ब्रह्मभावना करो।

अपनेको अमृतस्वरूप अनुभव करनेकी बुद्धि कैसे प्राप्त हो ? मन्त्र दसमे इसके लिए एक अभ्यास-साधनाका वर्णन करके कहा जाता है कि जिज्ञासु साधक रोज रोज घरमे बैठकर इसे करे।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

जिस समय पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ मनके सहित (आत्मामे) स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नही करती, उस अवस्थाको परमगति कहते है ॥ १० ॥

बाहरके विषयोको नही देखते, इन्द्रियोको भी समेट लिया परन्तु मन इधर-उधर दौडने लगता है। तो जिज्ञासु इसप्रकार बोले 'हे मन, तुम अपना कोई प्रयोजन तो रखते नही, हमारे लिए दौडते हो। तुम जड हो, हम चेतन है।' मन शब्दादि विषयोमे किसके लिए जाता है ? अपने लिए या हमारे लिए ? अपने लिए नही, खुद जड है। उसमे अनेक-अनेक सस्कारोके पुञ्ज और वृत्तियाँ हैं।

एक सेठका मुनीम झूठ, बेईमानी, छल कपट करके व्यापारमे कमाई कर लेता था। एक दिन सेठने उसे समझाया—'मुनीमजी,

तुमको तो केवल तनख्वाह ही मिलती है। हमारे लिये तुम झूठ-छल कपट करते हो, हमें उसकी आवश्यकता नहीं है। तुम हमारे लिए यह सब मत किया करो। तुम झूठसे कमाओगे वह हम नहीं लेंगे। तुम्हारा अपना कोई प्रयोजन नहीं!'

'मनीराम! यदि तुम कहो कि हम विषयोंके लिये जाते हैं तो विषयोंमें तो कुछ है ही नहीं! वह तो क्षयिष्णु हैं माने बदलती हैं और बिगाडकी तरफ बही जाती हैं।' संसारका स्वभाव जितना सुधारो उतना बिगडे। संसारको सजानेकी कोशिश व्यर्थ है। एक-दो दिन सुखरूप मालूम होते हैं, फिर वह हमें पराधीन कर लेती हैं।

एक ब्रह्मचारीको बडा स्वच्छ निर्मल वस्त्र पहिननेका अभ्यास था। उडियाबाबाने पूछा 'तू पैसा तो रखता नहीं! तुझे साबुनके लिए पैसा मांगना पडेगा।'

एक अच्छे साधु रोज दूध पीते थे तब उन्हें टट्टी होती थी। 'उनको किसी सेठके आश्रित रहना पडेगा।' ऐसा बाबा कहते थे।

जब मनुष्य किसी विषयके अधीन रहता है, तब स्त्रीके लिए उसे घर गृहस्थी बसानी पडेगी। धनके लिये नौकरी-दूकान करना पडेगा। हम जब विषयोंको पराधीन करने जाते हैं, तब हम ही उनके पराधीन हो जाते हैं। तुम अपने मनको समझाओ कि 'हे मनीराम! सुख तो तुमको नहीं मिलता है, हमको मिलता है। तुम हमारे लिए विषयोंके पास क्यों जाते हो?'

विषयोंके बारेमें विचार करो। विषयोंमें तो सुख है ही नहीं। विषय अनित्य हैं। इन्द्रियोंमें शक्ति थोडी है। मनमें हमेशा रुचि नहीं रहती। भोक्ता हमेशा भोग नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें,

इन विषयोमे ऐसा क्या रक्खा है कि इन्हीके लिए प्रयत्न हो और इन्हीके लिए चिन्तन हो ? यदि यह कहो कि इनके बिना स्वास्थ्य ठीक नही रह सकता तो वह भी आदतके कारण नही रह सकता । इसमे भी मनमे कमजोरी लाना आवश्यक नही है।

हमारे एक बाबूजी हैं, उनका ज्योतिप्रसादजी नाम है। पहले रायसाहब थे। अब उनकी उमर अस्सीको छू रही है। हमारे साथ वे भी गगोत्री आये। वे कहते थे 'पचास वर्षसे रोजकी बीस सिगरेटसे कम मैने कभी नही पी है।' उन्होने यह कहकर दियासलाई सिगरेट—दोनो गगाजीमे डाल दिया और बोले 'छोड दिया हमने सिगरेट !' इस बातको पन्द्रह वर्ष हो गये। फिर कभी उन्होने सिगरेट नही पिया।

मनुष्यके जीवनमे मनोबलकी कमी है। मन निष्प्रयोजन ही इधर-उधर दौडता है। विषयोमे वस्तुत सुख नही है, परन्तु अभिमानसे भी विषयोमे सुख आता है। जेवर-कपडे दूसरोको दिखाने भरके लिए होते है कि 'देखो, जैसे हमारे पास हैं वैसे तुम्हारे पास नही है।' ये चीजें, बैंक-बैलेंस उनके किसी काम नही आता। आदमी भले ही गरीब हो, परन्तु यदि उसे भी अभिमान हो जाय कि दस दिनके बाद दस लाख रुपया मिल जायगा तो वह बडे मौजसे रहने लग जायगा। मनोराज्यसे सुख मिलता है। इन सब बातोको समझकर मनुष्यको वास्तविक सुखका अनुसंधान करना चाहिए यदि कोई कहे—'हम न मनोरामके लिए प्रयत्न करते हैं, न विषयोके लिए, हम तो अपने लिए प्रयत्न करते है।' तो हम पूछते हैं—अपने लिए क्या प्रयत्न करते हो ?

तस्य असगत्वात् परमानन्दस्वभावताच्च

यह तुम्हारी आत्मा स्वभावसे असग है और स्वरूपसे ही परमानन्द है। अपने स्वरूपके लिए तो किसीसे कुछ चाहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। यह कहीं जाकर किसीसे जुडता-मिलता-चिपकता नही है। वह तो छोडता हुआ चलता है। वह मित्र-शत्रु, सुख-दु ख सबको छोडता हुआ चलता है। आत्मामे कोई गोद नही लगती। हजारो चीजें आयी और छूट गयीं। अब उनका ध्यान करके देखो— उनकी याद भी नहीं आती है। कितने दोस्त-दुश्मन आये गये। आवश्यकता वैराग्यकी है। वैराग्य होवे तो अपने स्वरूपका चिन्तन होवे! शरीरमे ऐसा वेग है जो बैठने या चिन्तन करने नही देता है।

यदि तुम्हें 'स्व'को प्राप्त करना है तो अन्यताकी भ्रान्ति छोडनी पडेगी। नेति-नेति द्वारा निषेध न हो सके और स्वय स्वरूपानुभूति और विवेक ज्ञान दोनो न होवें तो भावना करनी पडेगी। मनकी नोक अपने लक्ष्यके साथ सम्बद्ध होवे —एकाग्रता हो।

द्रोणाचार्यके पास पाण्डव, कौरव दुर्योधनादि सबके-सब लक्ष्य-वेधकी विद्या पढ रहे थे। एक वृक्ष पर बनावटी चिडिया रखकर उसकी आँखको लक्ष्य बनाकर बेधनेके लिए कहा गया था। द्रोणाचार्य सबसे प्रथम एक प्रश्न करते थे 'तुमको क्या दीखता है?

दुर्योधन बोला 'मुझे वृक्ष, उसकी डालियाँ और पत्ते दीखती हैं।'

युधिष्ठिरने कहा 'मुझे चिडिया दीखती है।'

अर्जुनने कहा मुझे केवल चिडियाकी आँख दीखती है।'

यदि तुम्हें अपना लक्ष्य प्राप्त करना हो, लक्ष्यवेध करना हो

तो लक्ष्यके अलावा और कुछ नही दीखना चाहिए। लक्ष्यके लिए ब्राह्मण 'ज्ञातव्य' शब्दका प्रयोग करता है क्योंकि उसके जीवनका उद्देश्य ज्ञानप्राप्ति है। वैश्यको लाभका लोभ होनेके कारण वह 'आत्मलाभ' शब्दका प्रयोग करता है, **आत्मलाभात् न परं विद्यते।'** क्षत्रियको बाणका निशाना लगाना होता है इसलिए वह 'लक्ष्य' शब्दका प्रयोग करता है और शूद्र कर्मका अधिकारी होनेके कारण 'कृतकृत्य हो जाओ' ऐसे बोलता है। सब अपनी अपनी बोली पहचानते हैं। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार सोचते समझते है।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

जैसे हम रास्तेमे चलते है तो बीच बीचमे विश्राम करके खोई शक्तिको पुनः पुनः प्राप्त कर लेते है। हम कभी कभी सौ से चार सौ मील तक पैदल चले है। अब हाथ पकडकर चलते है और पाँच-छ मील चलते है तो थक जाते हैं तब बैठ जाते है, खेलते है, खाते है, पीते है और विश्रामसे फिर शक्ति पा लेते है। आज कुँएँमे से पानी निकालते है, फिर दूसरे दिन सुबह कुआँ भरा मिलता है। हमारे जीवनकी शक्ति स्त्रीभोग, धन-प्राप्तिके लिए श्रम करनेमे खर्च हो जाती हैं, हमारे मन-बुद्धिकी शक्ति भी क्षीण हो जाती है।

दुनियाके लोग दुनियाकी अनेकानेक चीजे पानेके लिए बुरी तरहसे व्यग्र रहते है। थोडी देर अपने आपको विश्राम दो। विश्राम करनेमे भी श्रम है। जिसे नामजपकी आदत हो जाती है, उसे यदि कहा जाय कि जबान हिलने मत दो, जप बन्द करो तो उसे जीभको रोकनेमे मानसिक श्रम होता है। जिसे काम करनेकी आदत होती है, उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ नही रुकती। असलमें सुषुप्ति या विश्राम महत्त्वपूर्ण नही है। तुम अपने मनको कितना

भी रोको, सुषुप्तिसे अधिक गाढ़ी अवस्थामे तो वह जा नहीं सकता। यदि विश्रामसे ही सारा काम बन जाता, तो सुषुप्तिमे या विश्राममे ही सारा काम हो जाता ध्यान भी लग जाता।

मुख्य बात बीजकी है। सुषुप्तिमे जानेपर भी पहले तुम विषय की वासना मनमे रखते हो। भोजन, स्त्री-पुरुषका भोग, पैसा, वस्त्र, मकान आदिकी वासना लेकर सोये तो दूसरे दिन फिर जागने पर वे ही जागती हैं। मिट नहीं जातीं। वे बीज रूपमें रहती हैं। विश्रामके समय भी उनकी बीजावस्था विद्यमान रहती है। विश्राम करके चार चोरी करने गया, छली छल करने लगा, पण्डित वेद पढ़ने गया, सैनिक युद्ध करने और व्यापारी दूकानपर गया। मनुष्यमे जैसी वासना होती है, वसी चेष्टा वह करता है।

मुख्य बात विश्राम नही, बीजमे जाकर वासनाएँ छिपती हैं और उसीमे-से फिर निकलती हैं, उसके मिटानेकी हैं। अज्ञानदशा मे उनमें महत्त्वबुद्धि हो जानेके कारण उनका जा मूल्याकन हो गया है, उससे हम समझते हैं कि ये ही हमें सुख देता हैं और सुखसे वञ्चित करती हैं। उनके प्रति होनेवाली इस महत्त्वकी भ्रान्तिको मिटाना आवश्यक है।

बुद्धिपूर्वक शान्ति लायी जाती है। सुषुप्ति, विश्रान्ति, बेहोशी अबुद्धिपूर्वक होनेपर वासनाएँ कहाँ रहती हैं? बुद्धिकी शिथिलतामें ही वासनाका निवास है। जहाँ ज्ञानशक्ति और सत्तापर दृष्टि प्रज्वलित नही है वही अंगूर, आम, इमलीका भेद है। जहाँ सत्तापर प्रज्वलित दृष्टि है, हम बिना किसी भोगकी वासनाके अंगूर, आम, इमली आदिको देखते हैं, तब वे पञ्चभूतके सिवा और कुछ नहीं हैं। इसीप्रकार वासनामुक्त होकर इस संसारको हम देखते हैं तब

पीली, नीली, लाल, सफेद। ऐसे शरीरके भीतर एक आत्मज्योति जग रही है जिसकी रश्मियाँ पाँच इन्द्रियोंके द्वारा शब्दाकार, स्पर्शाकार, रूपाकार, रसाकार, गन्धाकार होकर बाहर निकल रही हैं। ज्ञान माने ज्ञानेन्द्रियाँ।

ध्यायन्ते शब्दादिविषयाः एभिः इति ज्ञानानि।

जिनके द्वारा शब्दादि पांच विषय जाने जाते हैं उनका नाम है ज्ञान। वे पांच है। पञ्चनदवाले प्रदेशको पंजाब कहते हैं। वेदमें वर्णन है—

'पञ्चनद्यः सरस्वतीम् अधियन्ति सस्रोतसः'

और

'सरस्वती तु पञ्चधा सो देशे भवत् सरित्'।

बाहरसे ये पांचो नदी ज्ञान ले जाकर भीतर रहनेवाली एक सरस्वती अर्थात् ज्ञानमें जाकर मिलती हैं। ये रूप-रसादि सब हमको ही देते है। इन नौकरोसे कहो: 'थोड़ी देर हमारे लिए बाहरसे लाकर हमें कुछ मत दो।'

ठीक है, बाहरसे नहीं आता, तब मनसे कहो—'बाहरसे आये हुए पहलेके संस्कारोके अनुसार भीतर संकल्प मत करो! क्योंकि स्मृति-कल्पना इन्द्रियोंकी दी हुई हैं। इन्द्रियोंसे उधार लेकरके बेटा, थोड़ी देर जो खेल खेलते हो, वह बन्द कर दो!'

इन्द्रियोंका खेल बड़ा हल्का-फुल्का मामला है। तुम्हारे मनमें कामकी कितनी भी उत्तेजना हो, सांप दिखा दो तो उसे देखते ही पता नहीं, कामकी उत्तेजना कहाँ चली जाती है। धनका लोभ हो तो एक कटार दिखाओ! जिसमें मनुष्य फँसा हुआ है वह कितनी हल्की-फुल्की चीज है? मनुष्य उनको तो थोड़ी-थोड़ी बातपर छोड़नेको राजी होता है, परन्तु परमेश्वरको छोड़नेको

राजी नही होता क्योकि उसे अपने शरीरका मूल्य ज्यादा है।' यह शरीर बुद्धिका खेल है।

श्री उडियाबाबाजी कहते हैं 'भजन करते सयय कुर्सीपर नही बैठना चाहिए। आसन बाधकर पीठकी रोढ सीधी करके बैठ जाओ और शरीरका हिलना बन्द कर दो। ध्यान रखो कि शरीर हिलने न पावे। और कोई ध्यान करनेकी आवश्यकता नही। थोडी देर तक मन हिलेगा, फिर वह भी बैठ जायगा क्योकि मनका पानी शरीरके हिलनेसे ही दौडता है। शरोर स्थिर तो मन भी स्थिर।'

एक महात्मा आसन बाधकर भजन करने बैठते। गोदमे दोनो हाथके अंगूठोके नाखूनोको थोडा दबा देते और ख्याल रखते कि ढीले न पड़ें। इनका दबाव मालूम पडता रहे। ऐसा करनेसे तुम्हारे चित्तमे विषय-भोगकी स्फूर्ति नहीं होगी और होगी तो नाखूनोका दबाव ढीला पड जायगा। तुम्हे सूचना मिल जायगी कि तुम्हारा मनीराम बह गया।

सत्पथ ब्राह्मणमें एक प्रक्रिया बतायी गयी है—ऊपर नीचेके दात मिलें नहीं, होठ बन्द हो, जीभ न ऊपर तालूमे लगे, न नीचे लगे। उसकी नोक जरा-सी ऊपर उठी रहे। ऐसा करनेसे तुम्हे विषयकी स्फुरणा नहीं होगी अग्नि प्रकट नही होगी। जीभ मथानी है, ऊपर, नीचेका हिस्सा दो लकडी है—मन्थान काष्ठ है। जब जीभ हिलती है तब मन्थन होता है, उसमें अग्नि प्रज्वलित होकर शब्द होता है और शब्दका कोई अर्थ होता है। बिना अर्थके शब्द नही होता।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य. शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञान सर्वं शब्देन भासते॥ वा० प०

ऐसा कोई शब्द हमारे ध्यानमे नही रह सकता जिसका कोई अर्थ न हो। बिना नामका कोई अर्थ नहीं। यदि हमने अपनी जीभको निष्क्रिय कर दिया तो शब्द नही उठेगा। जीभको सहारा होगा तो क्रिया होगी। दोनो आखें अपने-अपने गोलकमे बैठ जाँय, पुतली हिले नही, दाये-बाये न जाय। आख चाहे खुली रखो या बन्द। दृष्टि निमेषोन्मेष वर्जित हो, परन्तु जोर नहीं लगाना। सहज-स्वभावसे छोड दो। जबतक आखकी पुतली स्थिर होगी, तबतक मनमे विषय-वासनाका उदय नही होगा। शरीरको बैठने दो धरतीपर, तुम बैठो छतपर और देखो कि आसनपर शरीर बैठा हुआ है।

इसप्रकार ध्यान लगानेके एक नही, दसो उपाय हैं। ऐसी नस दबाओ, औषधि खाओ, क्रिया करो, मंत्र बोलो तो मन स्फुरणरहित हो जायगा। ओम् का ऐसा दीर्घ उच्चारण करो ओ म् कि बीचमे काल आजाय। उतनी देर मन विषय-स्फुरणसे रहित हो जायगा। जहाँसे साँस लेते हैं वहाँ लौटकर आती हैं। नाभिप्रदेशका भाग थोडा हिलता है। ये सब स्थूल भौतिक क्रियाएँ हैं जिससे थोडा देर मन एक होता है। बादमे वही आ जाता है जहाँ पहिले था। 'सोऽहम्', 'हंस'—क्रिया करो। वह शान्त होते ही पहलेकी स्थिति आजायगी।

हमारे मन बुद्धि जो दिन-रात संसारके बारेमे सोचते रहते हैं, उनको एकबार निर्व्यापार कर दो। जैसे विरक्त पुरुष दुनियाका कामधन्धा छोडकर एकान्तमे वेदान्तका स्वाध्याय करता है वैसे हम दुनियाके व्यापारोको छोडकर एकबार परमब्रह्म परमात्माके बारेमे सोचें। ●

२२. अप्रमत्त योगी हो जाता है

संगति :

मन्त्र १० में परमपदकी व्याख्या करते हुए बताया कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि अपनी बहिर्मुखता छोड़कर आत्मामें स्थित हो जाती हैं, उस अवस्थाको परमपद कहते हैं। अब मन्त्र ११में इसी स्थिर इन्द्रिय धारणाको योग कहा गया है—

तं विद्यात् दुःखसंयोग वियोगं योगसंज्ञितम् ।

गीतामें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—दु:खसंयोग वियोग। दु:खके संयोगका वियोग योग है।

वियोगमेव सन्तम् योगमिति आचक्षते।

सबसे वियोगका नाम योग है। दु:खका वियोग क्यों नहीं कहा? अर्थात् दु:ख तो हो, पर दु:खका संयोग न हो। योगमें दु:खके संयोगका निवारण होता है, जैसे पानीमें कमल। कमलमें पानीके संयोगका वियोग है, पानीका वियोग नहीं है। अर्थात् शब्दादि विषयरूप, नाना आकार-प्रकार, विकार संस्कारवाली प्रपञ्चकी धारा बह रही है, उसके वियोगका नाम योग नहीं है, इसके संयोगके वियोगका नाम योग है। हम इसमें रहें और यह हमारे साथ जुड़े नहीं, ऐसी विद्याका नाम योग माने ब्रह्मविद्या है।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ ११॥

उस स्थिर इन्द्रियधारणाको ही योग कहते हैं। उस समय पुरुष प्रमादरहित हो जाता है, क्योंकि योग ही उत्पत्ति और नाशरूप है॥ ११॥

इस मन्त्रका सार ही वेदान्तका अभिप्राय है। मन और बुद्धिके निश्चेष्ट होनेपर द्रष्टा आत्मा अपने स्वरूपमें स्थिर रहता है, इसका नाम योग है। मनको स्थिर करनेके लिए लोग तरह-तरहके उपाय करते हैं

१ धर्मात्मा लोगोंका विचार है कि यदि हम पवित्र कर्म करें—जो विहित हो, निषिद्ध न हो और निष्काम हो, सकाम न हो तथा कर्तापनका अभिमान न हो तो इस कर्मसे एक ऐसी शक्ति भीतर अपने आप ही पैदा हो जाती है कि (निषिद्ध कर्मके त्यागसे,

विहितके अनुष्ठानसे, निष्काम होनेसे और अभिमानमुक्त होनेसे) चित्तवृत्ति स्वय एकाग्र हो जाती है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भी इस धर्मानुष्ठानकी प्रतिक्रिया स्वरूप शान्त हो जाती हैं।

२ उपासना करनेवालोका ऐसा सिद्धान्त है कि 'देखनेमें यह आता है कि यदि किसीसे अपना प्रेम होवे और हम उसकी सेवामे लग जायँ तो हमारा मन बिना किसी धर्मानुष्ठानके ही उसमे तन्मय हो जाता है।

३ योगाभ्यासियोका ऐसा अभिप्राय है कि चिरकालतक विषय-चिन्तनका अभ्यास रहनेके कारण चिरकालसे अबतक हमारा मन उसमें ऐसा अभ्यासी हो गया है कि बिना चिरकाल-तक, निरन्तर और महत्त्वबुद्धिसे बिना अभ्यास किये चित्त एकाग्र नही हो सकता। इसके लिए अभ्यास करना चाहिए। आसनसे शरीरको स्थिर करना चाहिए। लेटे लेटे चलते-चलते मन स्थिर नहीं होता। तब नींदकी या विक्षेपकी सम्भावना रहती है। इसलिए बैठकर यह अभ्यास करना चाहिए। इस सम्बन्धमे योगियो और वेदान्तियोका एक मत है। वेदान्तदर्शनका सूत्र है—

आसीनः सम्भवात्।

आसन स्थिर न होता हो तो अनन्त समापत्ति माने शेषका चिन्तन करो। आगेके लिए कोई काम मत रखो। सोचो कि 'अपना मन भगवान्मे लगा रहे हैं। चाहे तो वे हमें नित्य अपने धाम—वैकुण्ठमें ले जायें, चाहे तो नित्य समाधि लग जाय। अब ससारमें हमारा कोई काम बाकी नहीं है। ऐसा संकल्प करके भजनमे बैठो तो देखो, कैसा मन एकाग्र होता है।

ध्यान करो कि शेष भगवान् विष्णु भगवान्को गोदमें लिये अडिग बैठे हैं, तो तुम्हारा शरीर भी अडिग हो जायगा। शरीर

और प्राणकी स्थिरतासे इन्द्रियोको विषयोंसे खींच लेनेसे माने प्रत्याहृत करनेसे एक देश-विशेषमे धारण करनेसे, एक लक्ष्य विशेषमे ध्यान करनेसे, ध्येयाकार वृत्ति सम्पन्न हो जानेसे और ध्याता-ध्येयका भेद मिट जानेसे मनकी एकाग्रता आती है। योग-दर्शनमे यम-नियमसे लेकर समाधि-पर्यन्त योगके जो आठ अंग बताये हैं उसकी चर्चा की गयी है।

४ वेदान्ती कहते हैं 'ज्ञानके लिए कर्म, भावना या अभ्यासकी कोई अपेक्षा नहीं है। यह स्वय ज्ञानस्वरूप है।' दूसरी जो चीज भासती है, उसका अपने स्वरूपकी दृष्टिसे विचार करो कि वह स्वप्नकी अपेक्षा क्या विशेषता रखती है? संयोग-वियोग, चीजोका आना-जाना, जन्म-मृत्यु यह सारी सृष्टि ज्ञानका, चेतन-का मानो स्वप्न है। जैसे चेतन अपने अन्दर ही बिना जन्म-मृत्यु, रागद्वेष, सुख-दुःख, सयोग-वियोग, शत्रु-मित्रके स्वप्नकालमे उन्हें उस रूपमे देख लेता है, ठीक इसी प्रकार सारा समय, सारा देश और सारा वस्तुओं, सारे द्रव्योंको अपने अन्दर देख रहा है, अपने आप इस शान्तात्मा, ज्ञानात्माका विचार करो, विचार मत करो, इसे समझो।

मन्त्र १०में कहा '

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमां गतिम्।

न पाँच विषय हैं, न पाँच इन्द्रियाँ हैं, केवल ज्ञान है, तो कौनसे विषय इन्द्रियोमें आवें और कौन-सी इन्द्रियाँ विषयोंमें जायँ? ज्ञान ही मन है। बहि करणकी उपाधिसे पाँच विषय भासते हैं और अन्तःकरणकी उपाधिसे बहि' करण भासते हैं। स्वयं ज्ञान अपने स्वरूपके अज्ञानसे—परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिसे

अन्त करणको सत्य और अपना आपा देखता है। ऐसी स्थितिमे ये सब शुद्ध ज्ञानमें मूल्यहीन हैं—तुच्छ हैं। ये तो केवल परछाईं हैं। ज्ञानमे केवल अनादि सस्कारसे अनुकूल केवल प्रतिभास है। ये अनादि सस्कार भी अज्ञानकी दृष्टिसे बोला जाता है। इसको न पाँच इन्द्रिय है, न पाँच ज्ञान है, न अन्त करण है। विचार भी नही है

बुद्धिश्च न विचेष्टति।

असलमे विचार भी एक विक्षेप ही है। यह विक्षेप किसलिए है? भ्रान्तिकी निवृत्तिके लिए यह विक्षेप है। साँपको मारनेके लिए डण्डको हाथमे लेना उपयोगी है। यदि साँप मर गया तो हमेशा अपने हाथमें डण्डा लेकर हाथको फँसाये रखोगे? ज्ञानमें विचार-विवेक दण्ड है। यह मन्थान दण्ड है। तुम अपने ज्ञानमें विवेककी मथानी कबतक रखोगे? जबतक तुमको साँप सच्चा और मारने योग्य मालूम पडता है। जब यह सबका-सब ज्ञानका ही प्रतिभास मालूम पडता है तब उसे मारनेकी भी आवश्यकता नही रहती। विचारका डण्डा छूट गया तो बुद्धिका विचेष्टन शान्त हो गया। विचार बुद्धिका करवट बदलना है और सकल्प-विकल्प होना मनका करवट बदलना है। क्रियाके करवट बदलनेका नाम धर्म-अधर्म है।

जब यह ज्ञान हो जाय कि मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मामें और कोई वस्तु ही नही है, अखण्ड ज्ञान ही देश-काल-वस्तु, धर्म-अधर्म, विचार और सकल्प-विकल्पके रूपमे, संशय-विपर्यय और निश्चयके रूपमें भास रहा है, तब बुद्धिमे चेष्टा नही रहती। भले बाधितानु-वृत्तिसे विचार आवे, संकल्प उठे इन्द्रियोमे, विषयोमे गति नही है—बाधित गति है। अपना स्वरूप ही विषय और इन्द्रिय तथा

उनके सयोगके रूपमें भासित ही रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि अपने शान्त ज्ञानस्वरूपमे शान्ताशान्तके-भावाभावके अनुकूल जो शक्ति है, उस शक्तिसे अवच्छिन्न आत्मचैतन्यमें यह विवर्तरूपसे भास रहा है। असली अखण्ड सत्य तो अपना आत्मा ही है। इसीका नाम परमगति है

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

उपनिषद्की भाषामे इसीका नाम योग है।

अयं केनचित् योगः इति नानुभूयते।

'किसीके साथ हमारा योग है। किसी आत्माके साथ हमने योग कर लिया है। परमात्माके साथ हमारा योग हो गया है, हम पहले ब्रह्मसे अलग थे, अब मिल गये हैं'—इस प्रकारका अनुभव नही होता। आत्मा-परमात्माका वियोग था और बादमे मिले या पहले संयोग था और बिछुडे और फिर मिले—इसका नाम योग नही है। योग माने एकका दूसरेसे मिलना जैसे पानीमें दूधका योग होता है। विषय-सेवनमें इन्द्रियोंका विषयसे योग होता है। ओषधि बनानेमे एक ओषधिका दूसरी ओषधिसे योग होता है। यहाँ तुमने क्या किया। ज्ञानस्वरूपके अतिरिक्त मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ नहीं हैं और पाँच इन्द्रियोंका विषय विषयीभाव नहीं है, मनका संकल्प संकल्पी भाव नहीं है, बुद्धिका विचार-विचारी-भाव नहीं है। ऐसी अवस्थामें तुमने इसका नाम योग कैसे रखा ?

योगमेव सन्तम्, योगमिव मन्यते।

—श्रीशंकराचार्य

तामीदृशी तदवस्थां योगम् इति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्।

कहते हैं 'वियोगमेव सन्तम्' है सो यह वियोग। अज्ञानसे कल्पित और भ्रान्तिसे दृश्यमान—अज्ञान जिसका कारण है और भ्रान्तिके कारण जो चीजें दीख रही हैं उनका हो गया वियोग और उनकी सत्ता-महत्ता हो गयी बाधित, उनकी चिन्ताका स्वयंस्फुरणाका बाध हो गया, प्रियताका बाध हो गया। ये विषय न प्रिय हैं, न सत्य हैं, न महान् हैं, न इनमे स्वयं कुछ प्रकाशित होनेकी शक्ति है। ये प्रकाशशून्य, आनन्दशून्य, महत्त्वशून्य, सत्ता शून्य हैं। ये विषय जो अपने आपमे भास रहे हैं उनका पहले अज्ञानके कारण संयोग भासता था। अब भ्रान्ति, अध्यास, अज्ञान मिट जानेसे इनका वियोग हो गया। ये भासते हुए भी कुछ नहीं हैं। हम पर किसीकी परछाईं पड रही है तब कहते हैं—'धूपसे बच रहे है।' हाँ परछाईं धूपके कष्टसे मिल रही है, परन्तु वह परछाईं महत्त्वशून्य है, सत्ताशून्य है। उसका न वजन है, न निश्चित काल है, न उसमें लम्बाई चौडाई है। वह स्वय किसी वस्तुके रूपमे निश्चित नही है। वह अनिर्वचनीय है। कार्यकारी होनेपर भी मिथ्या प्रतिभास-मात्र है।

इन्द्रिय-मन-बुद्धिके बारेमे सत्यत्वकी भ्रान्ति थी, वह मिट गयी और उनके काल्पनिक संयोगका वियोग हो गया। सयोगका वियोग ही योग है।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगम् योगसंज्ञितम्।

दुःख-वियोग नही, दुःख-संयोग-वियोग, क्योंकि ज्ञान हो जाने-पर दुःखका आत्यन्तिक वियोग हो जाता है। दुःखका अभावरूप आत्यन्तिक वियोग ही होता है। दुःखका अभावरूप वियोग तो सुषुप्ति, समाधि, बेहोशी, जडतामें होता है। चैतन्यका किसी भी पदार्थके साथ अभावरूप वियोग नहीं होता। तात्पर्य यह कि—

"यह दुःख सच्चा है, यह दुःख मुझे हो रहा है, मैं दुःखी हो रहा हूँ, ऐसी संयोगकी भ्रान्तिका निवारण हो जाता है।

वियोगमेव सन्तम् योगम् इत्याचक्षते तद् विदः।

यह है तो इन्द्रिय, विषय, मन, बुद्धि, परिच्छिन्नताका वियोग, लेकिन महात्मा लोग इसीको योग बोलते हैं जो विपरीत लक्षण-वाला है। विपरीतलक्षणया = वाच्यार्थके विपरीत। बुद्धिसागर माने लक्षणसे मूर्ख। देवानाम् प्रिय = पशु। योग = वियोग। बचपनमे जब हमें खेलमे घर पहुँचनेमे देरी हो जाती, तब हमारे बाबा पूछते—'कहाँ गये थे महापुरुष?' योग माने आपने अखण्ड स्वरूपसे द्वैतका, अपने अन्तःकरणका वियोग होता है। जैसे कोई बालक अपनी परछाईंसे खेल रहा हो, डर रहा हो, उसे सच्ची समझकर उसे पकड़नेका प्रयत्न कर रहा हो, हँस रहा हो, परन्तु बड़ा होने पर वह जान लेता है कि यह तो परछाईं है और उसे झूठा समझता है। इसी प्रकार अज्ञानदशामे जिस प्रपञ्चको सच्चा समझते हैं, ज्ञान होने पर उस प्रपञ्चका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। अपने स्वरूपका ज्ञान उत्पाद्य नही है। जैसे घडा बनाया और फोड़ दिया ऐसा यह ज्ञान नही है। आत्मज्ञानमे पांच बातें नही होतीं—

१ कुम्हार घडा बनाता है वैसे तुम अपने आत्माको बनाते नहीं हो। क्योंकि बनानेके पहले तुम्हारा होना आवश्यक है। इसलिए आत्मा उत्पाद्य नहीं।

२ जैसे पड़ोसीसे घड़ा माँग लावें वैसे किसी महात्मा या ईश्वरसे अपनी आत्मा माँगकर ला नही सकते। यह आप्य भी नहीं है।

३ पहले एक घडा था। सस्कार करके उसमे वरुण देवकी स्थापना की। कलश स्थापन हो गया तो वह शुद्ध हो गया, ऐसे आत्मा संस्कार्य नही है, क्योंकि आत्मा कभी अपवित्र हुआ ही नही तो उसे धोकर, मन्त्र पढ़कर पवित्र कैसे करोगे ?

४ घडा कच्चा होता है, उसे पका देते हैं। यह आत्मा कच्चा नही होता कि उसे पकाया जाय। इसलिए आत्मा विकार्य नही है।

५ घड़ोंको फोड देते हैं, ऐसे आत्माको फोड नहीं सकते। फोडनेवालेकी आत्मा बादमे रहेगी और पैदा होनेसे पहले पैदा होनेवालेकी आत्मा रहेगी। आत्मा विनाश्य नही है।

इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा योग-उपासनाके संस्कारसे पवित्र होता हो सो बात नही है। रागद्वेषके संस्कारसे विध्वस्त भी नही होता। यह आत्मा स्वत सिद्ध है। अर्थात् आत्मा अनुत्पाद्य, अनाप्य, अविकार्य, असंस्कार्य, अविनाश्य है। भ्रान्ति माने अज्ञान-की निवृत्ति होनेपर अपना आपा ज्यो-का त्यो रहेगा।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।

जब मनुष्यको ऐसी स्थिर इन्द्रिय धारणा प्राप्त होगी तब वह अप्रमत्त हो जायगा। इस बारेमे विलक्षण बाते है। आत्मज्ञानके पूर्व हमको क्या साधन करने चाहिए ? एक ही प्रमाद न करें।

यदा अप्रमत्तो भवति तदा योग सपद्यते।

और

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्य कदाचन।

ब्रह्मनिष्ठा सम्पादन करनेमे प्रमाद नही करना चाहिए। प्रमाद माने किसी भी परिच्छिन्न भावमे—प्रतीतिमे अपनेको कही गुम

ब्राह्मण, संन्यासी, मनुष्य, प्राणी, कर्त्ता भोक्ता, संसारी जीव मानकर मत बैठ जाओ, यही अप्रमाद है। जो वस्तु ज्ञानका विषय हो रही है, उसे तुम मैं मत मानो, यही अप्रमाद है। जानो—कोऽहं ?

प्रमादम् वै मृत्युमहं ब्रवीमि

प्रमाद माने मृत्यु, ज्ञानकी विकृति, आनन्दकी विकृति, सत्ता की विकृति। अपने स्वरूपमे जो सत्ता जन्म-मरणवाली मालूम पड़ती है कि मैं जन्मने मरनेवाला हूँ, इसका नाम प्रमाद है। 'मैं ज्ञानीमे अज्ञानी, ऐसा अपनी चित् सत्तामे मालूम पडना प्रमाद है। 'मैं सुखी दु खी' ऐसा अपने आनन्दस्वरूपमें मालूम पडना प्रमाद है। जिसे अपने ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसे 'मैं ज्ञानी-अज्ञानी, सुखी दु खी, जन्मने मरनेवाला, परिच्छिन्न ऐसे प्रतीयमान पदार्थमे अहंपनेकी भ्रान्ति नही होती। इसीका नाम अप्रमाद है।

'योगवशायां सजातायाम् अप्रमत्तो भवति, अप्रमत्तो योगी भवति, योगी अप्रमत्तो भवति।'

अप्रमत्तको किसी भी पदार्थका अभिमान छू नही जाता। वह मतवाला होकर किसीका तिरस्कार नही करता, क्योंकि सब उसकी आत्मा हैं।

जहाँ शुद्ध अनुभवस्वरूप आत्मा है, जो न अभिमानी है, न प्रमादी है, वहाँ स्मृति-विस्मृतिका कोई महत्त्व नहीं है। इस ज्ञानके प्राप्त होनेके पहले प्रमाद करके किसी परिच्छिन्नताको ही 'मैं' न मान बैठना। बस, इतना अप्रमाद रखो तो तुम्हें ज्ञान हो जायगा। ज्ञान हो जानेके बाद यह प्रमाद कभी आ ही नही सकता। इसलिए सिद्ध अप्रमादका यहाँ पर वर्णन है।

'योगो हि प्रभवाप्ययौ'

निखिल दृश्य प्रपञ्चके साथ वियोगरूप योग ही प्रभवाप्ययौ है माने मुक्तिका उदय और बन्धका प्रलय है। अपने स्वरूपका ज्ञान ही इष्टकी प्राप्तिका साधन होनेके कारण इसे प्रभव बोलते हैं और अनिष्टके परिहारका साधन होनेसे इसे अप्यय (प्रलय) बोलते हैं। यही ज्ञान है जो सकलानर्थनिवृत्तिपूर्वक परमानन्दका प्रापक योग है। ऐसा जो अनर्थ, अशान्ति और अज्ञान वियोगरूप योग है, जिसमें किसी भी प्रकारकी परिच्छिन्नता, संसारिता, भोक्तृत्व-कर्तृत्व, देहरूपता, किसी भी प्रकारका अभिमान नहीं है। इसलिए इसी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिए। अप्रमत्त होना चाहिए।

> नावसरं किञ्चित् कामादिनाम् मनागपि।
> आसुप्तेरामृते' काल न चेद् वेदान्तचिन्तया॥

सो न जायँ तबतक रोज-राज और मर न जायँ तबतक जीवनभर, जबतक अपने स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान न हो जाय, तबतक वेदान्त चिन्तनमें ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। कामना, क्रोध, लोभ-मोहको मौका ही न दें।
गीतामें कहा है—

> सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' का अर्थ—

> यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्या शुकादय'।

ब्रह्ममयी वृत्ति माने बिना ब्रह्ममयी वृत्तिके एक क्षणभर भी न रहना। ब्रह्मा बच्चे पैदा करते हैं, विष्णु लोगोंको भोजन देते हैं, रुद्र संहार करते हैं परन्तु अपनी-अपनी क्रिया करते हुए भी

उनकी ब्रह्ममयी वृत्ति बनी रहती है। यह कर्तारूप ब्रह्मात्मक-विष्णवात्मक, रुद्रात्मक शरीर है और इनके द्वारा होनेवाली क्रियाके विषय ब्रह्मात्मक ही हैं। शुकादि समाधि लगाये हुए हैं। शुकदेवका यह व्यक्तित्व, चित्तवृत्ति और समाधि ब्रह्मात्मैक्य ही है।

क्षणमेकं न तिष्ठेत् वृत्तिम् ब्रह्ममयीम् विना।

ब्रह्माकार वृत्ति तो क्षणभर रहती है, परन्तु ब्रह्ममयी-वृत्ति तो ब्रह्मज्ञानीका शरीर जबतक रहता है तबतक रहती है। वह वृत्ति घटाकार पटाकार वृत्ति सरीखी नही होती, सर्व ही ब्रह्मात्मक है ऐसा स्वरूपबोध ही ब्रह्ममयी वृत्ति है। उसके लिए कहीं भी राग द्वेष, योग-रोग, संयोग-वियोग, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य या स्व-अन्य नही है। इस अखण्ड तत्त्वके साक्षात्कारको ही योग बोलते हैं।

हमारे एक महात्मा थे। वे कहते थे 'सावधान रहना ही साधना है।' आँख खुली रखें कि बन्द, सोवें कि बैठें, बोले कि मौन रहें—यह प्रश्न नही है। प्रश्न है—सावधानता है कि नही? सामान्य मनुष्य समझता है कि भूल होना गलती नही है, परन्तु भूल होना ही असलमें गलती है।

हमारे जीवनमें सत्यकी ओरसे प्रमाद आगया है कि सत्य चाहे कुछ भी हो, वह हमें रोटी-कपड़ा थोड़े ही देगा? इस प्रमादका बड़ा भारी फल दुःख हमें भोगना पड़ता है। दिन भरमें हम कितनी बार दुःखी होते हैं, संसारमे रागद्वेष करके फँसते हैं? क्यो? केवल प्रमादके कारण अपनी सुन्दरताकी ओरसे प्रमाद होता है, दूसरा सुन्दर मालूम पड़ता है। अपनी स्वच्छता, असंगता, व्यापकता, परिपूर्णता, अविनाशिता भूल जाती है और ससार सच्चा मालूम पड़ता है। इसीका नाम प्रमाद है।

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्य कदाचन।

अप्रमत्तस्तदा भवति—जब मनुष्यके अन्त करणमे वासनाकी, भोगकी प्रवृत्ति कम होती है, धारणा स्थिर होती है तब अपने स्वरूपकी ओरसे प्रमाद नही होता। अप्रमाद होनेसे ही मनुष्य अपने स्वरूपमें स्थिति-लाभ करता है। इसके लिए फावडा-हथौडा चलानेकी आवश्यकता नही है। शरीरको जड बनानेकी आवश्यकता नही है। धौकनी भरनेकी आवश्यकता नही है। परन्तु सावधानी आवश्यक है।

योगो हि प्रभवाप्ययौ

श्रीरामानुजाचार्यके एक अनुयायी कहते हैं—'योगमे उत्पत्ति-विनाश दोनो हैं, इसलिए सावधान! योग करनेसे होता है, उपेक्षा करनेसे मिट जाता है। प्रमाद करोगे तो तुम्हारी एकाग्रता, बुद्धिकी सूक्ष्मता, परमात्माकी प्राप्तिकी योग्यताका लोप हो जायगा, क्योंकि योगकी उत्पत्ति विनाश है।

एकने कहा 'योग माने साधन। वही इष्टकी प्राप्ति करवाता है, इसलिए प्रभव है और अनिष्टका परिहार करता है इसलिए काम-क्रोधादिका निवारण होता है। शमदमादि साधन सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिए और जगद्भावसे बचने और ईश्वरभाव रखनेके लिए योगमें प्रमाद नही करना चाहिए। यदि तुम्हे ब्रह्मकी जानकारी और अनुभूति प्राप्त करना है तो परिच्छिन्न पदार्थमे फँस जाना ही प्रतिबन्ध है।'

श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने प्रतिपादन करते हुए कहा है—'एक मनुष्यके मनमें धर्म करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई तो क्या उसे ब्रह्मज्ञान हो जायगा? वह तो जानना चाहता है कि हाथ कैसे

जोड़ना, प्रणाम कैसे करना, सिर कैसे झुकाना, दान-होम कैसे करना ? उसको अनन्त ब्रह्मका ज्ञान कैसे होगा ? तुम्हारी इच्छाका विषय अनन्त है कि परिच्छिन्न ? परिच्छिन्न देश-काल-वस्तुमें तुम्हारी दिलचस्पी है तो अनन्तका ज्ञान कैसे होगा ? परिच्छिन्न वस्तुओंको लेकर अपनेमें कर्ता या अधिकारी होनेका, भोक्ता होनेका या विषय इन्द्रियोंके तादात्म्यका भाव नहीं होना चाहिए। अनन्त-अपरिच्छिन्नके जिज्ञासुके मनमें अनन्त-अपरिच्छिन्न विषयक वासना होनी चाहिए, चाहे वह दोषापनयनरूप हो या गुणाधानरूप।'

जो-जो सान्त-परिच्छिन्न हैं, उनका 'नेति-नेति' द्वारा निषेध करोगे तब परिच्छिन्नकी वासना जायगी। न परिच्छिन्नको चाहो, न उसे मानो या जानो, न उसे करो न उसमें फँसो। अपरिच्छिन्न चाहने-जाननेवालेके लिए डर कब है ? अपरिच्छिन्नके जिज्ञासुकी मनोवृत्ति परिच्छिन्नमें लग जाना ही प्रमाद है। एकबार नहीं, हजार बार शरीर तो मरने छूटनेवाला है। अन्ततोगत्वा हमें तो अपरिच्छिन्नकी प्राप्ति करनी है। इसके लिए स्वर्ग वैकुण्ठकी क्या कीमत है ? वे तो एक स्थानमें रहते हैं। उसके लिए समाधिकी क्या आवश्यकता है ? वह तो कालसे परिच्छिन्न है। उसके लिए अमृत आदि पेय पदार्थोंकी क्या अपेक्षा है ? वे तो परिच्छिन्न हैं। उसके लिए उत्पाद्य जो-जो हैं वे सब परिच्छिन्न हैं। श्रुति कहती है—'सावधान बेटा ! प्रमाद नहीं करना चाहिए।'

अब यह प्रश्न हमारे सामने आता है कि बुद्धिकी चेष्टा शान्त हो जाय तो ब्रह्मज्ञान होवे, परन्तु अशान्त हो तो न होवे ऐसा नियम क्यों ? क्या बुद्धि-चेष्टाकी शान्ति-अशान्तिके साथ ब्रह्मका कोई सम्बन्ध है ? बुद्धि उपराम हो जायगी तब ब्रह्मज्ञान हो

जायगा ? वहाँ तो बुद्धिमे ग्रहणका कारणत्व ही नहीं रहेगा। आखिर औजार तो चाहिए न ? समाधिमें ब्रह्मज्ञान कैसे होगा ? वहाँ तो वृत्ति ब्रह्माकार नही है, निरुद्ध है, शान्त है। वहाँ अस्ति ब्रह्म-ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान भी कैसे होगा ? वहाँ तो यही कहना पड़ेगा कि बुद्धि नही थी तो कुछ नही था। तब फिर योग कैसा ?

वह कैसे मिलेगा ? यह बात निषेधकी प्रधानतासे ज्यादा समझायी जाती है, क्योकि 'यह' करके बोलनेसे परिच्छिन्नता तो आ ही जाती है। कैसे ? जो 'यह' शब्दका अर्थ है, वह बाहर है। 'यह' शब्द मुँहमे है। शब्द और अर्थका सम्बन्ध बुद्धिमें है और बुद्धि अपने आपमें अध्यस्त है। 'यह' करके यदि परमात्माको बताया जाय तो दोष आता है, इसलिए 'यह' करके परमात्माको मत बताओ, 'मैं' करके बताओ। 'मैं' करके तो बता सकते हैं, परन्तु 'मैं'में भी जितना दृश्यांश है उसका पहले निषेध करो। मै मरता नहीं, सोता नहीं, जागता नही, आता नही, जाता नही, किसी देशकी गोदमें नहीं। वह देशका भी प्रकाशक है। 'मै' कोई बिन्दु नहीं है। बिन्दु माने अन्त करण। मैं इस बिन्दु-अहम्‌का भी प्रकाशक है। इसलिए पहले निषेधकी आवश्यकता है। 'नेति नेति'के द्वारा निषेध करके पहले अपने आपका ही शोधन कर लो। मैं कौन ? देखो, अब परमात्मा मिलेगा। 'मैं'की परिच्छिन्नताका निषेध कर देनेपर जो परिच्छिन्नताका मै हूँ उसका नाम ब्रह्म है। जब अपनेको अपरिच्छिन्न ब्रह्म जान गये तब परिच्छिन्नता कुछ नहीं रही। अध्यस्त वस्तु अपने अधिष्ठानसे बिलकुल पृथक् नही होती। वह न अधिष्ठानके नीचे-ऊपर है, न बाहर-भीतर है, न पहले-पीछे है, न वह अधिष्ठान है, न अधिष्ठानसे अतिरिक्त है। ऐसे अधिष्ठानको जानना। ●

१२. सद्बुद्धिसे आत्मोपलब्धि

संगति :

मन्त्र ग्यारहमें अधिष्ठान ब्रह्मको 'मैं'के रूपमें जाननेके लिए 'नेति-नेति'की पद्धतिका उपदेश किया गया। मन्त्र बारहमें इसको और भी अधिक सूक्ष्मता और स्पष्टताके साथ समझाते हुए तीनका निषेध किया गया है — वाचा, मनसा, चक्षुषा। कोई कहे कि हम

बोलते हैं। तो बोलते ही वागिन्द्रियकी उपाधि उसके साथ जुड़ जायगी। उसके साथ पूरा अन्तःकरण जुड़ जायगा। अन्तःकरण और तुममें क्या फरक है? असलमें यही विवेककी आवश्यकता है। अन्तःकरण और 'मैं' जुदा-जुदा हैं। जब तुम्हारे 'मैं'का हड्डी मांस-चाम वाले शरीरसे ही विवेक ठीक ठीक नहीं हो रहा है तो अन्तःकरणसे विवेक कैसे होवे?

> नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
> अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

वह आत्मा न तो वाणीसे, न मनसे और न नेत्रसे ही प्राप्त किया जा सकता है, वह 'है' ऐसा कहनेवालोंसे अन्यत्र (भिन्न पुरुषोंको) किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है? ॥ १२ ॥

काशीमें एक पण्डितजी पढ़ा रहे थे 'जो कोई यह जान ले कि हमारा आत्मा नारायण है—जाननेवाला चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, स्त्री कोई भी हो तो वह कृतार्थ हो जाय।' 'यह पुराने ग्रन्थमें आया है। उस पण्डितजीने पोथी पटक दी और बोले—'यह कैसे हो सकता है? ज्ञान तो केवल ब्राह्मणको होता है 'चाहे जो कोयी हो'—यह कैसे लिख दिया? हम नहीं पढ़ावेंगे।' यह पण्डितजीका अभिनिवेश है।

ब्राह्मणत्व है कल्पना और उसका अधिष्ठान है देह। देहरूप अधिष्ठानमें ब्राह्मणत्व कल्पित है। मनुष्यत्व, सन्यासीत्व, गोरा, काला, सबका अधिष्ठान है देह। एक वेदान्ताचार्यके हृदयमें ब्राह्मणत्व इतना बद्धमूल है कि वह उस ब्राह्मत्वकी ओरसे अपनी नजर हटाकर ब्रह्मको नहीं देख सकता फिर उसे ब्रह्मज्ञान कैसे

हो? इतनी छोटी चीजमे तुम फंस गये? गड्ढेमे ही डूब गये तो समुद्र कसे पार करोगे?

अन्त करण और अहकार भेद मालूम होना चाहिये। अहं=आत्मा। 'अहं ब्रह्मास्मि'मे अहं पदका जो अर्थ है सो वह क्या है? 'अन्त करणम् ब्रह्म' थोडे ही बोलेंगे? 'अन्त करणम् ब्रह्म' तो 'शालग्रामो नारायण' बोलने जैसा होगा। किसीने पूछा—'शालीग्राम चतुर्भुज कहाँ हैं? उसमे पीताम्बर और मन्द मन्द मुस्कान कहाँ है?'

वह तुम्हें नही दीखेगा हम आख बन्द करेंगे तब हमें शालग्राम चतुर्भुज, मुकुटी, कुण्डली आदि दिखेगा।' यह तो उपासनाके लिए शालग्राममे नारायणत्व आरोपित हुआ। वैसे 'मनो ब्रह्म-अन्तकरण ब्रह्म है यह उपासनादृष्टिसे कहना उचित है। हमारी श्रुतिमें तो 'अन्नम् ब्रह्म, प्राणो ब्रह्म, मनो ब्रह्म, विज्ञानम् ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्म' भी है। इनमे-से किसी एकको पकड़कर बैठ जानेवाला उपासक ही होगा। वह परिच्छिन्नमे अपरिच्छिन्न बुद्धि कर रहा है, जसे गोलमटोल शालग्राममें नारायणकी बुद्धि है, त्रिकोणाकारमें बद्री-नारायणकी कल्पना। वह मूर्ति तो चन्दनकी बनाई जाती है। बद्रीनारायणमे नर नारायणकी मूर्ति त्रिकोण शिला पर है। चन्दनादि द्वारा आरोप करके त्रिकोण शिलामूर्तिरूप कराई जाती है।

मनमे ब्रह्मका आरोप करके कहा जाता है कि 'मन ब्रह्म है।' जो जो संकल्प होता है वह भी तब तो ब्रह्मरूप ही होता है। उसमें न विषय सच्चा है, न कर्ता सच्चा है। सकल्पकी धारा ज्ञानात्मक ही है। तुम किसी संकल्प-विशेषमे आग्रह मत करो। 'ऐसा हो' या 'ऐसा न हो' यह तो संकल्प विशेषमें आग्रह है।

सकल्पविशेषमें जो आग्रह है, उसे छुड़ानेके लिए और ब्रह्मको लखानेके लिए मनमे ब्रह्मबुद्धि कराई जाती है।

इन्द्रियोंके द्वारा लाये हुए सस्कारोको जो अपने अन्दर रखता है, उसे अन्त करण कहते हैं। शब्दादि विषय और सुख दु ख आदिके बारेमे बाहरसे ज्ञान इकट्ठा करके जो अपने खजानेमे रखता है, उसका नाम अन्त करण है। यह ज्ञान कभी व्यक्तरूपसे रहता है और कभी अव्यक्तरूपसे। परन्तु यह अन्त करण बनिया है। यह रद्दीकी टोकरीमे-से अपने उपयोगका माल निकाल लता है, और समय पर उसे बहुत कीमत पर बेचता है। यह बाहरसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति और अन्य-अन्य श्रुत प्रमाण तथा मतके द्वारा ज्ञान ग्रहण करता है।

आत्मा ग्रहण करनेवाला नहीं है, वह असंग, स्वयंप्रकाश है, अन्त करणका प्रकाशक मात्र है। नेत्रादि इन्द्रियोके सस्कारके व्यवहारसे टुकड़े टुकड़े अनुभवका संग्रह हम नहीं करते, अन्त-करण करता है। जैसे सूर्य केवल प्रकाश देता है और शीशा पर-छाईंको पकडता है, वैसे आत्मा प्रकाशक है और अन्त करणका शीशा संसारको पकड़ता है। यह तो जडका दृष्टान्त हुआ।

स्वप्नमे जो संस्कार हैं वे अन्त करणमे हैं। इन संस्कारोकी अभिव्यक्ति करनेवाला और सुषुप्तिको भी जो प्रकाशित करनेवाला है वह अपना आपा है। वह अच्छा ग्रहण करे या बुरा, इसकी जिम्मेवारी आत्मा पर नही है। आपके घरमें बिजलीकी लाइन खराब हो जाय, बल्ब या पंखा खराब हो जाय कि खट-पट आवाज आने लगे तो उसकी जिम्मेवारी पावरहाउस पर है? नहीं।

एक महात्मा बोले 'चोर चोरी करे तो पुलिस उसे पकड़ेगा, मजिस्ट्रेट सजा करेगा, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। उसने

अपनी वासना और संस्कारके अनुसार चोरी की। एक मच्छरने अपनी वासनाके अनुसार किसीको काट दिया। गायने दूध दिया। इनका सम्बन्ध पञ्चभूतसे है?'

'नही!'

वैसे ही इस अन्तःकरणके विक्षिप्त या समाहित होनेपर उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। दुनियाके संस्कार इकट्ठे होते हैं, वे अपना काम करते हैं। हम तो पञ्चभूत और सूर्यके समान असङ्ग हैं, स्वयप्रकाश हैं, ग्रहण करना हमारा काम नहीं है। हमारा काम तो प्रकाशित करना है।

मच्छर किसीको काटे, शेर खा जाय, गाय दूध दे, इसका पाप-पुण्य उनको नहीं होता। माँ अपने बच्चेको दूध पिलाती है तो उसे उसका पुण्य नही होता। पाप-पुण्य केवल मनुष्य जातिमें होते हैं।

मानुषेषु महाराजः धर्माधर्मं प्रवर्तत ।

भीष्म युधिष्ठिरको कहते हैं ' 'हे महाराज! धर्माधर्मका यह विभाग मनुष्य जातिमें है। पशु पक्षी आदिमें नहीं है। जिसने मनुष्योचित संस्कारके द्वारा ग्रहण करके अपने अन्दर रखा है उसका अपने अन्तःकरणके साथ वैसा ही सम्बन्ध नही है जैसा चोरके अन्तःकरणके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। अन्तःकरण अपनेको कर्ता-भोक्ता, स्वर्गी नारकी, उपासक-धर्मात्मा, योगी-ज्ञानी मानता है। उसकी इस मान्यतासे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हम इनमें-से कुछ भी नहीं हैं। जीवन्मुक्त हैं, न सन्त, न सद्वृत्त, न दुर्वृत्त।

यं न सन्तम् न चासन्तम् नाश्रुतम् नबहुश्रुतम् ।

न हम विद्वान् हैं—न मूर्ख हैं। लोगोंका ऐसा खयाल है कि जैसे हम पैसेका नोट पहचानते हैं वैसे ब्रह्मको भी पहचान लेंगे।

श्रुति कहती है 'तुम्हारा जो यह खयाल हो गया है कि हम सडासीसे ब्रह्मको पकडेंगे, तलवारसे काटेंगे, चीमटेसे उठा लेंगे तो तुम धोखेमे हो।' आँख मन वाणी ये चीमटा ही है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा

अन्त करण रूपरसादिके भावाभाव और इनसे होनेवाले सुख-दु खको इन्हीं इन्द्रियोके द्वारा पकडता है और पहलेसे जिनके संस्कार पडे हैं उन्हीको उखाडकर मनमें ही देख लेता है। मनमें देखता है तो सपना होता है, बाहर देखता है तो जाग्रत होता है। दोनोको नहीं देखता है तो सुषुप्ति होती है। यह सब अन्त करण-का खेल है।

नैव वाचा . वाणीसे यदि ब्रह्मका निरूपण करना चाहो तो नहीं कर सकते, क्योकि वाणी लौकिक वर्णन करती हैं। वह स्त्री-पुरुष, मनुष्य, पशु, पक्षी, जाति बताती है। चिह्नसे सम्प्रदाय, हिन्दू-मुसलमान बताती है। काला-गोरा, सत्पुरुष, कुपुरुष आदि गुण बताती है। महात्मापन-दुरात्मापन नही दीखता, क्रिया ही दीखती है, जैसे ड्राइवर, रसोइया। जहाँ क्रिया होती है वहाँ उसके लिए खास शब्द होता है। व्यवहारमे हम करोडी-मल नामवालेको गरीब और छदामीमल नामवालेको धनी देखते हैं। यह रूढिसे नाम चलता है। सम्बन्धसे बताते हैं कि 'यह मेम साहबके पति हैं, यह अमुक श्रीमानकी पत्नी हैं, बेटा है, बाप है!' ब्रह्ममें न जाति है न क्रिया, न गुण, न सम्बन्ध या रूढि!

अस्मात् शब्दात् अयम् अर्थो बोधव्य.

हम यह शब्द बोलते हैं उसका यह अर्थ है, यह कैसे ग्रहण होगा?

अच्छा, बोलो मत, सुनो! बोल-बोलकर ब्रह्मज्ञान नही होता,

सुनकर होता है। हम मनसे एक अम्बार खड़ा कर दें जिसमें ओर-छोर नहीं है, मैं-तुम नहीं है। पूर्वादिमें फैला हुआ और सृष्टिकी आदिसे अन्त तक रहनेवाला जो है, अलग-अलग दिखाई पड़नेवाली सर्व (अनेक) चीजोंमें जो एक है उसका नाम ब्रह्म है ? यह ब्रह्म नहीं है, ब्रह्मकी कल्पना है। वेदान्तश्रवणके द्वारा मनने इधर-उधरसे भानुमतीका कुनबा इकट्ठा किया है, वही दुहराते हो! क्या मनके घेरेमें ब्रह्म आगया ?

'नहीं !'

तो फिर आँखकी तो चर्चा ही मत करो !

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते

अस्ति इति ब्रुवत: पुरुषात् अन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते ।

जो 'अस्ति-अस्ति' बोल रहा है, उस वक्ता पुरुषसे अलग 'ब्रुवत'से वाक् मन-चक्षुका अधिष्ठान और प्रकाशक द्रष्टा पुरुष-ब्रह्म है—जिसको 'है' कहा जाता है सो ब्रह्म नहीं है। जो बोलनेवाला है, उससे जुदा-अन्यत्र ब्रह्मकी उपलब्धि कैसे होगी ? तुम अपनेसे अलग ब्रह्मका साक्षात्कार चाहते हो ? अपनेसे अलग ब्रह्म कभी नहीं मिलेगा। यह प्रश्न नहीं, आक्षेप है। मन्त्र अब निरावरण होकर अपना अर्थ बता रहा है।

मन्त्र तो कल्पवृक्ष है। वह कैसे महात्माओंके सामने अपनेको निरावरण करता है ? एक विद्वान् महात्मा कहते हैं 'जो लोग श्रद्धासे कहते हैं कि परमेश्वर है, परमेश्वर है, इसके अलावा परमेश्वरकी उपलब्धि और कहाँ होगी ? अर्थात् ईश्वर तो एक श्रद्धा-भावना-मान्यता है इसके सिवा किसी अनुभवके रूपमें परमेश्वर कहाँसे आवेगा ? 'वे उत्तरकाशीमें रहते थे, जिन्दगी भर तपस्या की अन्तमें इसी नतीजे पर पहुँचे कि 'मैं'से अलग ईश्वरकी उपलब्धि नहीं हो सकती।

'कथन मात्र जो ब्रह्म है उसके अलावा वह कहाँ मिलेगा ?' तात्पर्य यह कि यदि आप परमात्माको ढूढना चाहते हैं तो वाणी-से पुकारो मत। वह तुम्हारा बेटा नहीं है कि कह दो कि 'ओ मोहन, ओ सोहन, यहाँ आ, खडाऊँ तो ले आ।' वह पुकारनेसे आनेवाला नही है। दृष्टिशक्तिसे विषय बनाकर दृश्य कर लेंगे तो वह दृश्य होनेवाला नहीं है। मनसे ध्यान कर लेंगे तो ? नहीं। वह कौन है ? वह तुम हो।

जो हृदय नही है, देख रहा है अर्थात् वह अन्त करण दृश्य-मन, वाणी और चक्षुरूप दृश्य भी नही है, केवल प्रकाशक-द्रष्टा है। जब तुम 'मैं के सिवा अन्यमे ब्रह्म ढूढने जाते हो तब श्रुति आक्षेप करती है कि 'वह तुमको कैसे मिलेगा, जब तुम उसे 'मैं'से जुदा समझते हो ? उसमे चक्षु लगानेकी आवश्यकता नहीं। मनसे ध्यान भी मत करो। वाणीसे बोलो भी मत—जप मत करो। खुली आखसे प्रपञ्चमे ब्रह्मकी भावना मत करो। शालग्राममें नारायणत्वकी तरह प्रपञ्चमें ब्रह्मत्वका आरोप मत करो। पहले ब्रह्मको जानो, फिर प्रपञ्च अपने आप ही ब्रह्म है।

वेदान्ती लोग दृष्टान्त देते हैं—'वह ब्रह्मचारी तो सिंह है।' यह तो शक्लमें मनुष्य है, सिंह नही है, परन्तु गुणमे सिंह है माने यह बहादुर है। इसीप्रकार यदि कोई बोलेगा कि 'यह प्रपञ्च ब्रह्म है, तो ऐसे बोलना पडेगा कि यह देखनेमें तो नाशवान् है परन्तु तत्त्वसे अविनाशी है। अविनाशीको बिना देखे ही प्रपञ्चमे अवि-नाशीका आरोप करना पडेगा। इसलिए यह युक्ति भी ठीक नही है। तब ? सबको पहले न्यारा करो—वह मत नहीं, मन्ता है। ज्ञान नहीं, ज्ञाता है, दृश्य नही, द्रष्टा है। 'अरे ओ द्रष्टा, तू ब्रह्म है।' ●

२३. (अस्ति) 'है' के ज्ञाताको तत्त्वोपलब्धि

संगति :

मन्त्र बारहके अनुसार यदि बाहरसे भीतरका क्रम अर्थात्–बोलकर या जप-पाठ-कीर्तनसे वाणी द्वारा परमात्माको नहीं प्राप्त कर सकते, मन द्वारा ध्यान-उपासनासे और चक्षुषा माने साक्षीभाव्य रूपसे भी इसे नहीं प्राप्त कर सकते। जैसे हम अपने रागद्वेष, शान्ति अशान्ति,

समाधि बिना किसी कारणके देखते हैं—उसमें कोई आंख-कान-नाककी आवश्यकता नहीं पड़ती। अपनी सुषुप्ति और स्वप्नको, अपने राग और द्वेषको अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको हम इन्द्रियोंसे तो नहीं देखते हैं। कैसे देखते हैं? हम खुद देखते हैं। ऐसे भीतर ही भीतर जो बात जानी जाती है उसमें आत्मचक्षु माने अन्तर्दृष्टि है। उस अन्तर्दृष्टिसे भी कोई परमात्माको देखना चाहे तो नहीं देख सकता। कोई उलटकर अपने आपको नहीं देख सकता। तो कैसे देखा जाय?

अस्तीति ब्रुवतो। जो बोल रहा है, अस्ति इति मन्वानस्यत् जो सोच रहा है, अस्तीति पश्यत: जो देख रहा है। अस्ति—उस मैं के अतिरिक्त अन्य देश-काल वस्तुमें परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? जो द्रष्टा-मन्ता-वक्ता है, उस पुरुषसे अलग कोई परमात्मा दर्शन कैसे कर सकता है? अपनेसे अलग हो तो वह परमात्मा ही कैसे होगा?

शरीरके भीतर मालूम पड़नेवाला चैतन्य जड़में से पैदा हुआ है और जड़में ही रहता है। इसका उपादानकारण जड़ है, स्थान जड़ है, जडकी मृत्यु उसकी मृत्यु है। यह चर्वाकका प्रमाश्रित मत है। कोई वैदिक इस बातको स्वीकार नहीं करता। आजीवन मैं ब्राह्मण हूं, मैं देह हूँ ऐसे मृत्युपर्यन्त यह वृत्ति-अभिमान बना रहे तो भी वैदिक-दर्शनका द्रष्टा अपनेको देह स्वीकार नहीं करता। वह तो मानता है कि देहके साथ जो कर्ता-भोक्ता, पापी-पुण्यात्मा है, वह देहसे न्यारा है।

जैन मत बताता है कि—'जड़के मरनेसे आत्मा मरता नहीं। कर्म वासनाके अनुसार ऊपर नीचे आता-जाता है और वासनासे शुद्ध हो जाने पर ऊपर ही ऊपर रहता है। आत्माका आधार देश है, और आत्मा आधेय नहीं है। यह मत देशाश्रित है।

बौद्धमत कालाश्रित है। आत्मा कालक्रमसे क्षणिक विज्ञानसन्तान-रूप है। यह कालमें पैदा होता—मरता है। कालके प्रवाहमें बहता है। संस्कारके कारण एकता मालूम पड़ती है। जैसे तरंगमें अनुगत जल है वैसे संस्कारोंमें अनुगत आत्मा है। निर्वासन होने पर वासनाओंका आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। यही निर्वाण है। उच्छेद नहीं होगा तो जीवत्व बना रहेगा। विज्ञानमें सन्तानत्वका निर्वाण हो तो जन्म-मृत्यु नहीं रहेगा। शरीरमें जन्म-मृत्यु होगा तो आत्मामें भी होगा।

वैदिक दर्शन न द्रव्याश्रित है, न देशाश्रित है न कालाश्रित। ज्ञान वह है जिससे द्रव्य, देश, काल मालूम पड़ते हैं। देश काल वस्तु तीनों युगपत्—एक साथ जिसको भासता है, वह ज्ञान है। तीनोंकी दोनों अवस्थाएँ—पूर्ण देश और अल्प देश, पूर्ण काल और अल्प काल, पूर्ण द्रव्य और अल्प द्रव्य—तीनोंका आधार आत्मा है—ज्ञान है। ये तीन आत्माका आधार नहीं है।

अब मन्त्र तेरहमें तत्त्वतः आत्मोपलब्धि होनी चाहिए, यह बताकर कहा जाता है कि 'है' की उपलब्धि होते ही आत्मा-परमात्माकी एकताका बोध हो जाता है।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

वह आत्मा 'है' इसप्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिये तथा उसे तत्त्वभावसे भी जानना चाहिये, इन दोनों प्रकारकी उपलब्धियोंमें-से जिसे 'है' इसप्रकारकी उपलब्धि हो गयी है, तत्त्वभाव उसके अभिमुख हो जाता है॥ १३ ॥

यदि हम अपनेको सत्-चित्-आनन्द—अस्ति-भाति-प्रिय रूप

जानते है या होना- जानना-प्रियता इन तीनोंको अपना स्वरूप जानते हैं तो हम अपनेको अन्त करणके आरोपसे विनिर्मुक्त करते नहीं जानते हैं, क्योंकि इस आरोपके पूर्व बाद, बाहर-भीतर, अन्तर्दशा-उद्गमदशा ये छ विकल्प और बढ जायेंगे। वेदान्त यही चीज नहीं बताता है। वेदान्त ऐसी चीज बताता है जो आरोपको अपने साथ लेकर, अन्त करणको छोडे बिना, उसे बट्टे-खातेमे डाले बिना जानी जाती है। कहा जाय कि 'लोहा जलाता है' तो लोहा थोडे ही जलता है ? जलाती तो आग है। परन्तु लोहेमे अग्निका तादात्म्य होनेसे—अध्यास होनेमे विवेक नष्ट हो जाता है, तब मालूम पडता है कि लोहा जलाता है। अहं गच्छामि-करोमि-जानामि ब्रवीमि-अस्मि'ऐसा कैसे मालूम पड़ता है ? सत्य-का आत्मवस्तुका अन्त करणके साथ तादात्म्य होनेसे ही ऐसा मालूम पड़ता है।

अस्तिका निरूपण—अस्तित्येवोपलब्धव्य इत्येवका व्यावर्त्त देखो। एक विद्वान्ने कहा—'हम धर्मको सनातन धर्म बिलकुल नहीं कहेंगे।'

'क्यो ?'

विशेषण अपनेसे इतर सजातीयका व्यावर्त्तक होता है। यदि हम 'सनातन' विशेषण लगावेंगे तो ऐसा अर्थ होगा कि 'सनातन' धर्मसे इतर कोई और धर्म भी है।' एक असनातन धर्म भी होता है ? उन्होंने कहा 'कभी धर्म असनातन होता ही नहीं। इसलिए हम धर्म शब्दका निरुपपद प्रयोग करते हैं। उसके पूर्व किसी विशे-षणकी आवश्यकता नही है। शास्त्रीय धर्म बोलेंगे तो एक अशा-स्त्रीय धर्म भी होगा। सनातन होगा तो एक विनाशी भी होगा। अग्नि अपने दाहकत्वरूप धर्मको छोड़नेपर तो अग्नि ही नहीं

रहेगा। शैत्यरूप धर्मको यदि जल छोड दे तो वह जल ही नही रहेगा। पदार्थान्तर हो जायगा। अपने धर्मको कभी कोई छोड़ नहीं सकता। धर्म तो धर्मीमे हमेशा ही रहता है। कालकी दृष्टिसे परिवर्तन, देश-दृष्टिसे संकोच और विस्तार तथा द्रव्यकी दृष्टिसे जन्म मरण–इनका होना, जानना, प्रियता-अप्रियता ये सब अन्त - करणके साथ तादात्म्य होनेसे ही भासती हैं। एकबार अपने आपको अन्त करणसे जुदा करो, जो देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका आधार है, उनके उदय शान्तिका कारण है, उनके होने-न होनेका कारण है। उस अन्त करणको छोडकर देखो—तुम उससे न्यारे हो। जब तुम उससे न्यारे हो तो क्यो देश-काल वस्तुको अपने साथ जोडते हो? वेद कहता है—तुम अदेश हो, अकाल हो।

एतस्मिन् अदृश्ये, अनात्म्ये, अनिरुक्ते, अनिलयने अभयं प्रतिष्ठम् विन्दते।

तैत्तरीय उपनिषद्मे आत्मदेवका वर्णन करते हुए चार बात बतायी गयी है—अदृश्ये, अनात्म्ये, अनिरुक्ते, अनिलयने—दृश्य नही है। अपनेको अन्त करणसे अलग करो जिसमें देश-काल-वस्तुकी कितनी कल्पनाएँ हैं। यह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ। मैं स्वयं अदृश्य द्रष्टा हूँ।

जैसे अन्त करणका आत्मा 'मैं हूँ' वैसे मेरा भी कोई आत्मा होगा? नहीं अनात्म्ये अगर तुम्हारा कोई आत्मा होगा तो उसको तुम जानोगे। तुम अनात्म्य हो। तुम कल्पना करो कि हमारे पीछे एक परमात्म नामकी वस्तु है और वह तुम्हारी आत्मा है। इस कल्पनाके साक्षी भी तुम्ही हो। अर्थात् इससे भी न्यारे तुम हो। न तो तुमसे अन्य कोई दृश्य है न तो तुमसे अन्तरंग कोई तुम्हारी आत्मा है।

अच्छा, बोलकर बताओ, अनिरुक्ते यहाँ तो वाणी बन्द है, निर्वचन नहीं कर सकते।

एक प्रक्रिया है—यह दृश्य है और यह जो आत्माकी कल्पना है और निरुक्ति है, ये सब जिसमे लीन हो जाते हैं वह अद्वैत आत्मा है? ना ना, अनिलयने—उसमे किसीका लय नही होता। ज्यो-का त्यो वह प्रपञ्च जैसा भासता रहता ब्रह्म है। देश-काल-वस्तु, अन्त करण और शरीर भी भासता हुआ ब्रह्म है। केवल बुद्धिका परिवर्तन करके अध्यासके मिटनेसे भ्रमनिवारणसे वेदान्त ज्यों-का-त्यो ब्रह्मदर्शन करा देता है।

रतनगढ़में हम सन्ध्यावदन करते समय पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व समझनेकी भूल करते थे। प्रात कालमे हमे जो पश्चिम मालूम पडता उस ओर मुँह करके बैठ जाते और थोड़ी देरमे देखते कि उधरसे ही सूर्योदय हो रहा है। हमे पूर्व-देशका ठीक ज्ञान था परन्तु भ्रमका संस्कार नहीं मिटता था।

हमे प्रपञ्चमें प्रपञ्चबुद्धि होती है। यह प्रपञ्च प्रपञ्चात्मक ही भासता है और देह देहात्मक ही भासता है। अत करण अन्त - करणात्मक ही भासता है, परन्तु यह अपने स्वरूपमें है नही। यावद् बुद्धि यावद् अन्त करण इस भ्रमके सस्कारकी अनुवृत्ति होती है और जब अन्त करण भंग हो जाता है, तब संस्कारके लिए कोई आश्रय नहीं रहता है। इसलिए अस्तित्येवोपलब्धव्यः। वेदान्तके द्वारा अपना अनुभव प्राप्त करो। वेदान्तका काम दुनियासे बिलकुल निराला है। कैसे प्राप्त करें? दोनो तरहसे सविशेष रूपसे भी और निर्विशेष रूपसे भी। पहले अन्त करणकी उपाधिको स्वीकार करके देखो कि यह देश-काल-वस्तु रूप सारी सृष्टि कैसी कल्पना है?

अस्ति-भाति-प्रीति भाव क्या है यह जानो। इनका आरोप करके अपनेको सच्चिदानन्दरूपसे जानो। बादमें तत्त्वभावेन जानो, जिस तत्त्वमें उपाधिसहित सारी औपाधिक कल्पनाएँ रहती हैं। तत्त्वमें माने जिस वस्तुका जो रूप निश्चित है उसे वह न बदले। तत् और त्व। त्व माने त्वम्। समानाधिकरण्य माने एक ही विभक्तिका दोनोंका होना, ऐक्य होना विभक्तिके द्वारा सूचित एकतावाले जो तत् और त्व पदार्थ हैं उसीको तत्त्व कहते हैं। वह अभेदका ज्ञापक है। किसी भी आकारका आरोप किये बिना जो अधिष्ठानका आरोप होता है वह तत्त्व है।

उत्पत्ति और विनाशधर्मी जो पदार्थ हैं, प्रवर्तन, परिवर्तन और निवर्तनके बिना उनकी जो मूल धातु है उसे तत्त्व कहते हैं। वह मूल धातु इदम् है कि अहम्? अहम्‌के बिना इदम् तो होता ही नहीं। इसलिए इदम् तो अहम्में लीन हो जाता है। अहम् कैसे भासता है? अन्त करणके कारण। यह अन्त करण भी पंचभूतमें एक बीज ही है। इस संस्कारयुक्त अन्त करण-बीजको पृथक् करके अपने आपको देखो। वह अपना आत्मा है और उसमें कोई पृथक्कृत और अपृथक्कृत बीज सत्ता नहीं है। भासती है तो भासने दो। पश्चिम-पूर्व भासता है तो भासने दो। ज्ञानका भान-से कोई विरोध नहीं है। ज्ञान तो भानात्मक ही है। ज्ञानका केवल भ्रमसे विरोध होता है यद्यपि भ्रम भी एक ज्ञान ही है। विपरीत ज्ञानका नाम भ्रम है।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।

हमें बोलना हो तो हम अविद्याकामकर्म बोलेंगे, कामअविद्या-कर्म या कर्मअविद्याकाम नहीं बोलेंगे। इसका कारण है। जैसे आनन्द है। आनन्द मालूम पड़ना—आनन्दकी प्रतीति और

आनन्दकी अनुभूतिमे मालूम पडता है कि एक आनन्द है और एक उसकी अनुभूति है। लेकिन क्या अनुभूतिके सिवा आनन्द नामकी कोई वस्तु नहीं रहती है? आनन्द तिजोरीमे है और तुम यहाँ हो? तुम रुपयेमें, जेवरमें, घरमे आनन्दका आरोप करते हो। परन्तु आनन्द जब मिलेगा तब अनुभूतिसे अभिन्न ही मिलेगा। आनन्द और अनुभूति भिन्न-भिन्न नही हैं, भिन्न-भिन्न कालमे नही है, भिन्न-भिन्न चीजमे नहीं है। अनुभूतिसे पृथक् आनन्द नामकी वस्तु नही है। इसीप्रकार सत्तामे कोई चीज है और चीज है ऐसी अनुभूति है। अनुभूतिसे पृथक् देश-काल-वस्तु नहीं है। यह अनुभूति तुम्हारा अपना ऐसा स्वरूप है जिसमे देश-काल-वस्तु रूप प्रपञ्च है ही नहीं। अनुभूति और आनन्द, आनन्द-की उपलब्धि यह भाषाका भेद है।

'ब्राह्मणका शरीर'—क्या ब्राह्मण अलग है और शरीर अलग है? 'पुरुषकी चेतनता,' 'ब्राह्मणी-कुमारका शरीर' इसीको विकल्प कहते हैं। शब्दसे अलग-अलग मालूम पड़े लेकिन होवे एक ही, उसे विकल्प कहते हैं। 'राहुका सिर'—ऐसे ही 'आनन्दका अनु-भूति।' व्याकरणमे अलगाव करनेके लिए विभक्ति आती है—'से, ने, के, लिए।' उदाहरण—ब्राह्मणके लिए वैश्यने—काला धन काला दान किया।

अनुभूति ही आनन्द है। तुम्हारी अनुभूतिमें तुम अपने अहंको क्यो जोड रहे हो? अहंके बच्चेका नाम अनुभव नही है। अनु-भूतिमें विवर्तका नाम अहम् है। अनुभूतिके महान् समुद्रमे अह-अहकी स्फुरणा तो बुलबुला है। आनन्दकी अनुभूति तो अनु-भूति ही है। उसमें न मैं-तू है, न सुख-दुःख है। अनुभूति और उपलब्धिको अलग करनेकी कोशिश करोगे तो तुम सत् और

चित्का पट फाड़नेकी कोशिश करोगे। तात्पर्य यह कि हम जब, जहाँ, जो, जैसे हैं, उसमे परिच्छिन्नता भास रही है या अपरिच्छिन्नता, पापीपना या पुण्यात्मापना, रागी-द्वेषीपना, सुखी-दुःखीपना—यह सब तो सपनेके समान हैं। ज्ञान भानका विरोधी नही है, जैसे नाटकका द्रष्टा नाटकके दृश्यका विरोधी नही है। वह तो प्रत्येक दृश्यको तमाशा जाननेवाला है, देखने-मात्रका है। वहाँ तो कुछ नहीं है। सिनेमाके पर्देपर कुछ नहीं होता, देखना-मात्र होता है। वैसे तुम्हारे अनुभवस्वरूपमे प्रपञ्चका प्रत्येक दृश्य देखना मात्र ही है। वस्तुतः कुछ नही है। इसलिए उपलब्धि और सत्ताको अलग मत करो, नही तो जड-चेतनका भेद भासने लगेगा। आनन्द और अनुभूतिका भेद हो तो भोग्य-विषय और भोक्तापनका भेद भासने लगेगा। अनुभूति और अनुभाव्यका भेद हो तो दृश्य और द्रष्टाका भेद भासने लगेगा।

असलमे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अखण्ड अनुभूतिमें आनन्दात्मक, दृश्यात्मक, जडात्मक, मैं तू, स्त्री-पुरुष, स्वर्ग नरक, आस्तिकता-नास्तिकता, हिन्दू-मुसलमान, सत्ता-असत्ता, देश-काल-वस्तु सब एक तरंग है। यह तरंग क्या है? जैसा जल वैसी तरंग। जल जड़ तो तरंग भी जड़। चैतन्य यदि चैतन्य है तो उसकी तरंग अनुभूति भी चैतन्य है। चैतन्य बिना आरम्भ और बिना परिणामका है। उसका न बाप है, न बेटा, न पत्नी है—न भाई। न अन्न है—न धन है, न शरीर है—न भोजन। इस चैतन्यको अनुभूति बोलते हैं।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभाव प्रसीदति।

यदि तुम्हें आत्माका साक्षात्कार करना है तो 'अस्ति अस्ति-अस्ति।'

कार्यनाशेति यत् अस्ति कारणम्, कार्यं अन्यतम् कार्यावि-व्यतिरिक्तम् येन रूपेण आत्मा उपलब्धव्य तत्तश्च तत्त्वभावेन अन्वयव्यतिरेकसाध्य साधनकार्यं कारणाविवर्जितभावेन उपलब्ध-व्यम् उभयो'।

पहले आत्माकी उपलब्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिए। उपलब्धि भास रही है—'अहं आत्मानम् न जानामि'—मै अपने-आपको नही जानता। ऐसा आपको माल्ूम पडता है कि नही माल्म पडता ? अहं आत्मानम् जानामि—मनुष्योऽहम्, ब्राह्मणोऽहम्, सोऽहम्, दानोऽहम्, क्रियावान् अहम्। मैं अपनेको जानता हूँ, परन्तु मै मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ' गोरा हूँ, काला हूँ, क्रियावाला, कर्ता भोक्ता हूँ' तो यह विपरीत ज्ञान है। सचमुच तुम क्या हो यह नही जानते।

यदि कोई गाँवका आदमी आकर कहे कि 'तुम आत्माको नही जानते।' तो तुम नही मानना, परन्तु तुम्हे खुद ही ऐसा माल्म पडे कि मैं अपनेको नही जानता हूँ तो अपनी अनुभूतिका तिरस्कार भी मत करना। उस पर विचार करना। लाउडस्पीकर लगा कर पर्चा छाप कर, गावके लोगोंको बुलाकर यह कहना कि 'तुम अज्ञानी हो। यह हमारी प्राचीन शिष्ट परम्परा नही है। प्राचीन शिष्ट परम्परा यही है कि स्वय मनुष्य अपनेको अज्ञानी मानकर विपरीत भावनासे भ्रान्तिसे दु खी हो करके गुरुकी शरणमें आवे और कहे कि 'मैं अज्ञ हूँ, मुझे ज्ञान दीजिए। मैं भटका हूँ, मुझे रास्ता बताइये तब उसको बताया जाय।'

यदि तुम्हे यह अनुभव होता हो कि 'मैं दु खी हूँ' तो तुम क्यों दु खी हो ?

वासनाओंके कारण।

वासनाएँ क्यों हैं ?

संस्कार से।

संस्कार कहाँसे आये ?

कर्मसे।

कर्म कहाँसे आया ?

कर्तापनसे।

कर्तापन कहाँसे आया ?

कहीं तो तुम्हें यह मालूम पड़ेगा आगे बढ़ते बढ़ते कि 'यह तो मैं नहीं जानता।' तब तुम्हें जाननेकी कोशिश करनी चाहिए।

सिखाया-पढ़ाया बेटा वकीलके सामने जिरह करनेपर नहीं टिकता है। हमारे गाँवमे गन्दी बात है— जिसकी बहुत सराहना सुननेको मिले—

सराहल धिया डोम-घर जाली।

जिस लड़कीको बहुत तारीफ की जाती है, वह अपनी अच्छाईके घमण्डमे गलत चुनाव कर लेती है। बहुत सराहना भी नहीं होनी चाहिए। आत्मनिरीक्षण करना चाहिए। तुम स्वयं देखो—तुम्हें दुःख है कि नहीं ? दुःख है तो वासना है कि नहीं ? वासना है तो राग-द्वेष है कि नहीं ? राग द्वेष है तो संस्कार है कि नहीं ? संस्कार है तो तुम कर्मके कर्ता हो कि नहीं ? क्या वासनाकी परम्परा शरीरके साथ ही समाप्त हो जाती है। यह तो बिलकुल गलत है। वासना शरीरके साथ समाप्त नहीं होती। हमलोगोंने देखा है, खेतमें गेहूँ बोते हैं तो बीज नष्ट हो जाते हैं, पौधा निकलता है, बीज फूलता-फटता है, उसमें-से अंकुर निकलता है। थोड़े दिनोंमें बीज नष्ट हो जाता है परन्तु अंकुरके सिरेपर एकको जगह दस बीज निकल आते हैं। वह मूल बीज खोदने पर नहीं

मिलेगा। यह ख्याल गलत है कि जडका सस्कार तो उसके तनेमे और फलमें गया, बीजवान् बने हुए चैतन्यका मस्कार नही जायगा।

तुमको चाहे जगत् अलग अलग मालूम पडे या एकमे मिलाया हुआ होवे कि उसका अभाव होवे, तुम होओगे ही होओगे, क्योंकि जिसको मालूम पडे वह तो होगा ही। घडा बना, फुटा और उसका अभाव हुआ। तीनो तुम्हे दीख रहे हैं। इसलिए तुम घडेसे जुदा हो। परन्तु तुम्हारे बिना यह मालूम नहीं पड सकता। इस-प्रकार तुम घडेकी सब अवस्थाओंमे अन्वित भी हो और व्यति-रिक्त भी हो।

वेदान्तशास्त्रमे जिसे ईश्वर माना जाता है वह अनुमान सिद्ध नही माना जाता। ईश्वरकी सिद्धि गलत मानी गयी है। जैसे न्याय-दर्शनमे कहा है 'प्रत्येक कार्य कर्तासे होता है, जैसे घडेको कुम्हार बनाता है। खेती किसान करता है। यह विश्व भी एक कार्य है, वह अपने कर्ताके द्वारा बनाया गया है' यह अनुमान द्वारा सिद्ध हुआ।

वेदान्ती लोग इस अनुमानको नही मानते। व कहते है 'तुम्हारी सब कल्पना ही कल्पना है। दो परमाणुओंसे अणु ईश्वर बनाता है। यह कल्पना है। अणुओंसे त्रसरेणु भी ईश्वर बनाता है यह भी कल्पना है, क्योंकि जहाँ अणुको निरवयव माना, निरंश माना, उसमे कोई हिस्सा नही माना तो वहाँ भी बिना हिस्सेके एक-एक परमाणु मिलकर डबल हो जायँगे या एक दूसरेमें लीन हो जायँगे। न तो परमाणुओंसे सृष्टि हो सकती है, न ईश्वर द्वारा ऐसा बनता कभी देखा गया है। जो चीज कभी देखी नहीं गयी, उसका अनुमान ही नही हो सकता। धुआँ और आग कभी

देखे हुए होते हैं, व्याप्तिग्रह होता है, परामर्श होता है तब अनु-
मान होता है। अनुमान माने प्रत्यक्षके पीछे चलनेवाला प्रमाण।
जहाँ अग्नि और धुएँका सम्बन्ध गृहीत होता है, वहाँ धुएँको
देखकर अग्निका अनुमान होता है। लेकिन जहाँ यह सम्बन्ध
ज्ञात नहीं है, वहाँ यह अनुमान नहीं हो सकता। इसलिए वेदान्त-
मतमे ईश्वर किसी भी प्रमाणसे न मालूम होता है, न सिद्ध होता
है, ईश्वर केवल शब्द-प्रमाणसे सिद्ध है। यदि वह शब्द-प्रमाणसे
सिद्ध न हो तो कल्पितांशका तिरस्कार (परिहार) करके आत्माके
साथ उसकी एकता सिद्ध हो ही नहीं सकती। ईश्वर और आत्मा
दोनोंमें कल्पितांशका तिरस्कार कर देनेसे आत्मा-ईश्वरकी एकता-
का ज्ञान हो जायगा। इसको बोलते हैं अस्तीत्येवोपलब्धव्य।

देखनेमे आता है कि मृत्तिकाका लय पानीमें, पानीका लय
आगमें, आगका लय वायुमें और वायुका लय आकाशमें होता है।
द्रव्यांश कठोर बनता है, उष्णता द्रव बनती है। जहाँ गरमी है
वहाँ गति है, गति है वहाँ अवकाश है। अवकाशके बिना गति
सिद्ध नहीं होती, इसलिए गतिमे अवकाश अनुगत है। ऐसे कठो-
रता तक अन्वय-व्यतिरेकका नियम लागू होता है।

अवकाश दशामे, अभाव-सी दशाको प्राप्त प्रपञ्च हो हमको ही
मालूम पड़ता है। सृष्टि-स्थिति-प्रलय तीनो हमको ही मालूम पडता
है। व्यष्टि-दृष्टिसे और समष्टि सृष्टिसे दोनों प्रकारसे अवलोकन करने
पर सारी सृष्टिमें हमारा ही अन्वय-व्यतिरेक भासता है। समष्टि
दृष्टिसे जो हमारा अनुगत-व्यतिरिक्त रूप है उसे ईश्वर बोलते हैं
और व्यष्टि-दृष्टिसे हमारा अनुगत-व्यतिरिक्त रूप है उसे आत्मा
बोलते हैं। कार्यमें ही व्यष्टि-समष्टिका भेद है। शास्त्रसे अवगत
कारण दशाका साक्षी चैतन्य और प्रत्यक्षरूपसे अवगत व्यष्टिदशा-

का साक्षी-चैतन्य—इन दोनो साक्षियोके उपाधि अंशका परिहार करके श्रुति एक बताती है—अस्ति इति।

'अस्ति' क्या है ? घड़ा फूट गया तो मिट्टी अस्ति है। मिट्टी गल गयी तो जल अस्ति है। जल सूख गया तो अग्नि अस्ति है। अग्नि निराकार होने पर गतिशील वायु होतो है। गतिशील-शक्ति जिस आधारमें है वह आकाश अस्ति है। बिना आधारके शक्ति सिद्ध नही होती। आकाश कहाँ है ? मनमे है। किसको अस्ति-प्रत्यय मालूम पड रहा है ? मैं को। इसीको बोलते हैं परिच्छिन्न। परन्तु सर्वके आधारके रूपमे देशकाल-वस्तु है। बिना वस्तुके देश कालकी कल्पना नहीं होती। इसलिए वेदान्तमे ज्यादा विचार वस्तुका किया जाता है, देश-कालका विचार कम किया जाता है। कोई चीज बदलनेवाली हो तो क्रमकी सवित् हो और कोई चीज फैलने सिमटनेवाली हो तो स्थानकी संवित् हो। वस्तुके विचारसे देश कालका विचार परिसमाप्त हो जाता है।

अस्तीत्येवोपलब्ध—अस्ति शब्दका व्यभिचार कहीं नही हुआ। अभाव अस्ति, भाव अस्ति-दोनोंमे अस्ति है। अस्तिरूपसे जो सर्व देश-काल वस्तुमे विद्यमान है, जिसका रूप है अस्ति, इसके रूपमे उपलब्ध कौन ? हम। एक अस्ति-प्रपञ्चका भाव है और एक अस्ति प्रपञ्चका भाव नहीं है। दोनोको उपलब्धि किसको होती है ? मै-को। प्रपञ्चकी भावाभावकी उपलब्धिमे जो अस्तित्व है, वह मैंको मालूम पड़ता है। असलमे मै की उपस्थितिमें जो होता है वही अस्ति होता है। जो अहंकी उपस्थितिमें नहीं होता है, वही नास्ति होता है, परन्तु नास्तिमें भी अस्ति है।

एक ही सत्ता इन्द्रियोके कारण अनेक भासती है यदि यौन सम्बन्ध सृष्टिमें न होता तो स्त्री-पुरुषमे क्या भेद होता ? केवल

लैंगिक-यौन-सम्बन्ध ही अलग अलग करनेवाली चीज है। पञ्चभूतमें पार्थक्य नही है। कर्म मीमासामे इसका बाकृया-विवेक है। स्त्रीमे ग्रहणात्मक और पुरुषमे त्यागात्मक तत्त्व होता है। दोनोका यह भेद है। स्त्री चन्द्रतत्त्व प्रधान है, पुरुष सूर्यतत्त्व प्रधान है। स्त्रीमे गर्भाधानकी—तपस्याकी शक्ति है, पुरुषमे त्यागकी। ये सब भेद व्यावहारिक हैं। इनके अस्ति नास्तिका जो साक्षी है, उसकी हम चर्चा करते हैं।

धर्ममें भेदकी चर्चा है। धर्म, प्रेम, भ्रमके अन्तमे 'म' है। अ उ-म विश्व-तैजस्-प्राज्ञ है, धर्म, प्रेम, ब्रह्मका अंश यही 'म' है। आत्मा कौन है? अमात्र है। इसमे 'म'की गति नही है और धर्म-प्रेम-भ्रमकी गति भी नहीं है। इसमे न आत्माका धर्म है न ब्रह्मका।

हम शब्दके निरावरण रूपको जानते हैं। जबतक शब्द है तबतक वक्ता है। जब शब्द नहीं है तब अवक्ता है। वक्ता, अवक्ता दोनोमें जो एक है सो तत्त्व है। वक्तृत्व-अवक्तृत्व दोनो औपाधिक हैं। शब्दके भावकी उपाधिसे वक्तापन है और शब्दके अभावकी उपाधिसे अवक्तापन है। दोनो जिसमे अध्यस्त हैं, कल्पित हैं वह दोनोका साक्षी है। उसका नाम है तत्त्व।

तुम अस्तिकी वंशपरम्पराको मत मानो, केवल अस्तिको मानो। 'है', इतना है। जहाँ अस्तिके विशेष नही भास रहे हैं, केवल अस्ति मात्र भास रहा है, वहाँ तुम पहुँच जाओ। वहाँ निर्विशेष अस्ति और निर्विशेष ज्ञान दोनोमे कोई भेद नही है।

सृष्टि विषयक मतभेद—१ शून्यवादी बौद्ध जगत्‌का उपादान नही मानते हैं, निमित्त भी नहीं मानते। २ जैन दोनो मानते हैं।

३. चार्वाक माटी–उपादान मानते हैं, निमित्त-कुम्हार नहीं मानते। यह दुनियाका घडा बन गया। जैन प्रत्येक जीवको अलग-अलग कुम्हार मानते हैं, एक कुम्हार नहीं मानते। बौद्ध निमित्त-कुम्हार नही मानते, शून्य ही मानते हैं। ४ अवैदिक—मुसलमान-ईसाई निमित्तको मानते हैं, उपादानको नही मानते। कुम्हारके सकल्पसे ही यह सारी सृष्टि है। दार्शनिकोकी दृष्टिमे गणितकी रीतिसे मतोंका विभाजन हुआ है। ५ ईश्वर निमित्त कारण है और परमाणु असत् उपादान हैं। जिनमे कार्य नही है ऐसा उपादान है। यह लीला है। जैनमतकी अपेक्षा इसमे विशेषता यह है कि इसमे कुम्हार एक है, घडेके खरीददार जीव अनेक हैं, घड़े अनेक हैं। न्याय वैशेषिक बहुत्ववादी हैं। ६ साख्य कहता है—परमाणु बहुत सारे हैं। सबकी सत्ता जिसमे छिपी हुई है ऐसा कारण एक है। पुरुष ही अलग अलग हैं। ये प्रकृति-उपादान वादी है। इसमें दो भेद हैं १ बहिरग उपादानवादी और २ अन्तरंग उपादानवादी।

सृष्टिका उपादान बाहर है कि भीतर? जो लोग परमाणुको सृष्टिका उपादान मानते हैं वे लोग उपादान बाहर मानते हैं। जो लोग प्रकृतिको उपादान मानते हैं वे अन्तरंग मानते हैं। पुरुष और सृष्टिके बीचमें प्रकृति है तो वह सृष्टिसे अन्तरङ्ग है, पुरुषसे बहिरङ्ग है। पुरुष सृष्टिका द्रष्टा है और प्रकृतिका भी द्रष्टा है। पुरुष और बुद्धिके बीचमें प्रकृति रहती है। बुद्धिसे अन्तरङ्ग होनेके कारण प्रकृति अन्तरङ्ग कारण है। सुषुप्ति, जाग्रत् और फिर मैं कौन हूँ यह उत्थान—यह सांख्य-दर्शन हुआ नींद टूट गयी परन्तु मैं वृन्दावनमें हूँ या बम्बईमें यह फुरता नहीं है। कहाँ हूँ? क्या हूँ? मेरा नाम क्या है? यह भी नहीं फुरता। इसका नाम मह-

तत्त्व है। परन्तु जब यह फुर गया कि मैं अखण्डानन्द हूँ और बम्बईमें हूँ तो अहंकार स्फुरित हो गया। सुषुप्तिका भङ्ग होना और अहंकारका जाग्रत न होना—दोनोंके बीचकी स्थिति महत् है। महत् समष्टिबुद्धि है।

चैतन्यके लिए प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होती है और ईश्वर स्वयं सकल्प करके, परमाणुओंको जोड़कर सृष्टि बनाता है। ईश्वर एक है, सकल्पवान् है। सकल्प उसका आत्मधर्म है। वह सृष्टि बनाता है। पुरुषमें संकल्पात्मक धर्म नहीं है, वह तो द्रष्टा है। वह तो चिति शक्ति है। इसलिए सकल्प करके वह नहीं बनाता। समष्टि बुद्धि ही संस्कारसे युक्त है। वह सृष्टिको बनाती है।

अन्तरङ्गमें कौन-कौन ? जो ईश्वरको जगत्का कारण मानता है, जो विज्ञानको जगत्का कारण मानता है, जो कर्मको जगत्का कारण मानता है (क्योंकि कर्मका संस्कार तो अन्तरङ्गमे ही होता है।) तो कर्म, चित्त, ईश्वर ये सब अन्तरङ्ग उपादान हैं। विज्ञानवाद, दृष्टि सृष्टिवाद, ये सब अन्तरङ्ग उपादान मानते हैं।

चाहे कोई सिद्धान्त होवे, कोई सृष्टिको नित्य मानते हैं, कोई अनित्य, प्रकट होनेवाली-लोप होनेवाली, कोई हमेशा ऐसी मानते हैं। लेकिन जिसे दीखती है उसे कौन काट सकता है ? जो लोग द्रव्यसे चेतनाकी उत्पत्ति मानते हैं वे जड़को मूलतत्त्व मानते हैं। परन्तु चेतनाकी उत्पत्तिके पूर्व जड तत्त्व था यह सिद्ध करनेके लिए उनके पास कोई युक्ति हो सकती है ? यह अनुभव कैसे हो सकता है ? अनुभवकी प्रणालीमें यह मत नहीं आ सकता। जो लोग मानते हैं कि कालमें चैतन्यकी उत्पत्ति-विनाश होता है। उनके मतमें क्या उत्पत्ति-विनाश सिद्ध हो सकता है ? किसने देखा ? जो लोग सृष्टिको बिना उत्पत्ति-प्रलयके नित्य मानते हैं,

न आदि उत्पत्ति है—न अन्तिम अन्त—हमेशा इस सृष्टिका प्रवाह चलता रहेगा। लोगोने देशमें बहती हुई सृष्टिको दशकी गादमे करके साधार बना दिया। तो जिस आधारमें यह सृष्टि बह रही है वह आधार क्या है?

इस हालतमे यह बात माननी पड़ेगा कि आत्माके अस्तित्वसे ही अन्यका अस्तित्व सिद्ध होता है, अन्यके अस्तित्वसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध नही होता। इसलिए सबके अस्तित्वमे आत्मा अनुगत है और सबमे अस्तित्वसे आत्मा व्यतिरिक्त है।

अस्तित्व और नास्तित्व दोना जिसको भास रहा है वह आत्मा है। फकत, इस शरीरका ही अस्तित्व-नास्तित्व नही, सम्पूर्ण सृष्टिका। सम्पूर्ण सृष्टिके कालका और देशका अस्तित्व नास्तित्व जिसको भास रहा है वह आत्मा है। कालका होनेके कारण वह अविनाशी है, देशका होनेके कारण वह परिपूर्ण है, वस्तुका होनेके कारण वह अद्वितीय है। अपने ऐसे चैतन्य आत्मामें कालकी दाल नही गलती, देश उसमे नही घुसता—प्रवेश नहीं करता, द्रव्यमे उसका द्रव्य नही होता। आत्मा माने चैतन्य, ज्ञान। इसलिए देश-काल वस्तुमे, होने-न होनेमे अस्ति रूपसे तुम अपनेको जानो।

ततश्च सत्त्वभावेन—यह सोपाधिक रूप हुआ। कार्यकारण ही उपाधि है। यह वेदान्तका सिद्धान्त नही है। यह तो अन्य सिद्धान्तोंका निषेध करनेके लिए—नेति नेतिके लिए यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है।

सत्कार्योपाधिकत्व अस्तित्वप्रत्ययेन उपलब्धस्य।

सम्पूर्ण कार्य कारणमें स्थित होते हैं। उस कारणका द्रष्टा साक्षी मैं हूँ। इसप्रकार सबसे पहले अपने आपको उपलब्ध करो।

उसके बाद 'तत्त्वभावेन च उपलब्धव्यात्'—यह अस्ति-नास्तिकी जो लकीर व्याकरणमें खिंचती हैं उसे थोड़ा बिगाड़ दें इसका अधिकार वैय्याकरणको रहता है, वर्णागम वर्णविपर्यय करनेके लिए। तो 'अस्ति'को 'असति' कर देनेसे अर्थ निकलेगा कि अस्ति भाव असति भाव है अस् धातु है, उसका अर्थ है होना। लेकिन सच्ची सत्ताका उसे बोध कराना होता है तो उसमेसे 'अ'का लोप हो जाता है। अस्ति इति सत्। अस्ति क्रिया है, सत् शब्द। अ कहाँ गया? इसलिए 'अस्ति अस्ति' जो मालूम पड़ता है वह भी औपाधिक है, जैसे पहले खिताबी राजा हुआ करते थे। उनके पास सेना नहीं, एक इञ्च धरती नहीं, परन्तु अंग्रेज सरकारकी खुशामद करते तो उन्हें राजाका खिताब मिल जाता। इसे उपाधि बोलते हैं। वे राजा हैं नहीं, राजा कहे जाते हैं—असली घी नहीं, डाल्डा है।

अस्ति भाव कार्य कारणमें लीन हुआ और कारण कार्यमें से निकला। जो लीन होता है और निकलता है वह तो दृश्य है, द्रष्टाका स्वरूप नहीं है। अपना जो स्वरूप कार्य कारणकी उपाधि-से 'अस्ति' रूपमें सिद्ध होता है, उसकी सिद्धि सापेक्ष है। यह तो एक प्रक्रिया युक्ति है। कार्य-कारणभावको वेदान्तमें यथार्थ स्वीकार नहीं किया जाता। स्वप्नमें दिखनेवाले माटी-घड़ेमें कार्य कारण भाव नहीं होता। जिस क्षणमें घटकी उत्पत्ति स्वप्नमें हुई, उसी क्षणमें घटाकारताको प्राप्त सेर-भर मिट्टीकी भी उत्पत्ति हुई। स्वप्नमें मिट्टीका वजन, फैलाव, उमर जितनी देर मालूम पड़ता है, उतनी देर है, मिट्टी-घड़ेमें कार्य-कारण भाव नहीं है। इसी-प्रकार सृष्टिमें जो कार्य कारणभाव दीखता है वह है नहीं, यह कल्पना देशपरिच्छिन्न, काल-परिच्छिन्न, आकृति-परिच्छिन्न बनाकर

अपनेको तीनो परिच्छेदोंसे अलग करनेके लिए वेदान्तकी यह प्रक्रिया है। इस प्रक्रियाका तिरस्कार कर दोगे तो अद्वितीयत्वकी सिद्धि नहीं होगी। इसलिए पहले अपनेको सोपाधिकरूपसे जानो। भामतीकारने कहा है—'अपने आत्माका साक्षात्कार वृत्तिके द्वारा होता है'—वह पहले सोपाधिकका ही होता है और सोपाधिकका हो जाने पर वह साक्षात्कार ही निवृत्त हो जाता है। वृत्ति और वृत्तिका विषय माने वह सोपाधिकत्व ही बाधित हो जाता है। वृत्ति भी बाधित हो जाती है।

निरुपाधिक क्या है? तत्त्वभाव। तत्-तत्-तत्, स स-स, जीव-ईश्वर-जगत्, तेषाम् भाव एकत्वम् यत्र। जीव-ईश्वर जगदारोप-निषेधीयते। जैसे मिट्टीमे आकारका आरोप घड़ा है वैसे ब्रह्ममें इदन्ताका आरोप जगत् है। चेतनकी परिच्छिन्नताका आरोप जीव है और चेतनकी पूर्णताका आरोप ईश्वर है। असली चेतन न जीव है, न जगत् है, न ईश्वर है। वह तीनोसे विलक्षण है। इसलिए तत्त्वभावेनका अर्थ है ब्रह्मभावेन—अद्वितीयभावेन।

उन दोनोमे भी हम तत्त्वरूपसे अपनेको जानकर अस्तिरूपसे उपलब्ध करें या अस्तिरूपसे जानकर तत्त्वरूपसे उपलब्ध करें?

पहले कार्य-कारणभावसे ऐसा विचार करो कि तत्त्व निर्विशेष हो जाय और यहाँ तक विचार ले जाओ कि ज्ञान निर्विशेष हो जाय। इसका अभिप्राय है कि सत्ता तो ऐसी हो जिसमे क्रिया न हो। ज्ञान ऐसा हो जिसमें वृत्ति न हो। वृत्तिहीन ज्ञानमे और परिणामहीन सत्तामे भेद करनेवाला कौन है? जहाँ सत्तामें तो कोई विशेष नहीं है—सत्ता घट-पट-मठ नहीं बनती। सत्ता और ज्ञान दोनों निर्विकार हैं। वह घटाकार-पटाकार-मठाकार वृत्तिरूप से प्राप्त नहीं होता। जो अपरिणामी निर्विशेष ज्ञान और अपरि-

णामी निर्विशेष सत्ता है उसको दो होनेका कारण क्या है? अज्ञान।

जड़वादी लोग कहते हैं कि जगत्‌के मूलमें एक अद्वैत सत्ता परिणामको प्राप्त होकर जगत् बनी अर्थात् वह स्वयंप्रकाश है, स्वयंभू है। गणितकी रीतिसे उसे व्यवस्थित सर्वाकारमें परिणत मानते हैं। सत्ताका स्वयंप्रकाश माना तो वह चैतन्य नहीं हुई? चेतन ईश्वरको जगत्‌का कारण मानने पर उसमे जडता नही आयी? चेतनसे शून्य सत्ता नहीं होती और सत्तासे शून्य चेतनता नही होती। यह भेद ही बिलकुल गलत है। यदि चेतन सत् नही होगा तो परिणामका साक्षी नही होगा, वह बदलता जायगा। साक्षी अपरिवर्तनशील होनेसे सत् है। यदि सत् चेतनरूप नही होगा तो जड़ होगा।

ईश्वरसे अलग होकर हम जन्म-मरणके चक्करमें पडे, अखण्ड सत्तासे अपनेको पृथक् करके क्षणिक हो गये और हमारी अखण्ड सत्तासे अलग होकर ईश्वर जड़ बेहोश हो गया। आज ईश्वर निष्क्रिय हुआ है क्योंकि वह हमसे अलग पडा है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

जीव-ईश्वरका सम्बन्ध बिलकुल बराबरीका मामला है। हमारी चेतनता—होश हवास हमारे पास है तो हमारे सिवा ईश्वर बेहोश हो गया और अविनाशीपना केवल ईश्वरके पास है तो ईश्वरके बिना हम क्षणिक, जन्म-मरणवाले हो गये। दोनों एक हो गये तो झिलमिल आत्माके रूपमें ईश्वर झलकने लगा। हम जन्म-मरणसे विनिर्मुक्त हो गये। ईश्वर अनुभवरूप हो गया। ईश्वर न सातवें आसमान पर है, न बन्द कमरेमें है, न खोया हुआ है। जब ईश्वर हमसे एक होगा या हम ईश्वरसे एक

होंगे तब हम पापी-पुण्यात्मा रहेंगे, न सुखी दु खी, न जाने-आने-वाले रहेंगे, न रागीद्वेषी। यह एकताका उद्योग कौन करे? ईश्वर कि हम? ईश्वर तो हमारी विमुखताके कारण अलग सोया हुआ है। यदि हम उद्योग करेंगे, उसके सम्मुख होंगे तो ईश्वर जाग जायगा और तब हमारा स्वरूप अनुभव स्वभाव, गुण, ज्ञान, रूप सब एक होगा। जो कुछ दृश्यमान है वह सब हम दोनोका एक होगा।

धर्मकी दृष्टिसे पापकर्म दोष है, पुण्यकर्म गुण है। भक्तिकी दृष्टिसे पाप पुण्यका अभिमान दोष है। पाप पुण्य दोष नही है। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे जिस अज्ञानके कारण यह अभिमान होता है, वह अज्ञान ही दोष है। अभिमान और कर्म तो इसके बच्चे-कच्चे हैं। धर्मात्मा लोग भी यह बात तो मानते हैं कि पापकर्म तो स्वरूपसे ही दोष हैं—चोरी, जुआ, व्यभिचार, अनाचार। जिस समाज, वर्ग, सम्प्रदायमे जिस शास्त्र सविधानके अनुशासनको मान करके हम रहते हैं उसके विपरीत हम आचरण करेंगे तो हमारे मनमे ग्लानि, घृणा आवेगी। हम अपनेको हीन समझेंगे। इसलिए उसके विपरीत आचरण नही करना चाहिए। अपने हाथो ही हम अपने पाँव पर कुल्हाडा मारेंगे यदि अपने ही संप्रदाय, सविधान जाति, समाज और वर्गके द्वारा स्वीकृत मर्यादाका उल्लंघन करेंगे।

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।

हमारे प्रयत्नसे निष्पाद्य ऐसा कोई काम (आरम्भ) नहीं है जिसमें कोई न कोई दोष न हो। कुशल रसोइयेके द्वारा भी चावल पकानेमें उसके साथ कोई कीडा भी पक जाता है। शरीर-की खाज-दाद, जख्म मिटानेमें जन्तु भी मरेंगे। उसी प्रकार कोई ऐसी आग (पुण्य) नहीं है जिसमें धुआँ (पाप) न हो। ऐसा कोई पाप नहीं है जिसमें कहीं-न कहीं थोडा पुण्य न हो। कहते हैं,

स्वधर्मका कीर्तन करनेसे दोष होता है। पुण्यका कीर्तन करनेसे पुण्यका क्षय होता है, क्योंकि उसमे पुण्यका अभिमान होता है। धर्मकी दृष्टिसे मानसिक अभिमानको तो पाप नहीं मानते, क्रियामे आने पर वह पाप माना जाता है। क्रियामें कीर्तनका अर्थ है अभिमानकी अभिव्यक्ति।

राजा ययाति स्वर्गमे गये और अपने पुण्यबल पर इन्द्रके आधे सिंहासन पर बैठे। इन्द्रने पूछा 'आप तो बड़े पुण्यात्मा हैं! आपने क्या-क्या पुण्य किये हैं कि आप यहाँ आये?'

उन्होंने कीर्तन करना शुरू किया—'हमने इतना दान-पुण्य किया, भोजन कराया' आदि। थोड़ी देरमें इन्द्रने ढकेल दिया सिंहासन परसे कि—'जाओ, नीचे मुँह गिरो!'

भक्तिकी दृष्टिसे ईश्वरकी प्रेरणा, शक्ति या सहयोगसे जो कर्म किया जाता है, उसमे अपनेको कर्ता मान बैठना ईश्वरका तिरस्कार है। तब भक्तिसिद्धान्तमें यह पाप हो जाता है। वेदान्त-की दृष्टिमे चाहे पाप हो या पुण्य, असलमें अपनेमें कर्तृत्वका अभिमान ही दोष है। ये दोनो अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म-से अभिन्न आत्मा न जाननेके कारण, परिपूर्ण ब्रह्म न जाननेके कारण अपनेको कर्ता भोक्ता जानते हैं। पाप भोगसे नहीं होना चाहिए, केवल कर्मसे ही होना चाहिए, क्योंकि भोग तो कर्मका फल है। जैसे वेतन लेनेमे पाप नहीं, वेतन मजदूरी है, वैसे कर्मसे भोजन मिलता है। परन्तु भोजनमें भी वासनाके वशीभूत हो अपने वर्ग, जाति, समाज, सम्प्रदाय, राज्यकी बनायी मर्यादाका उल्लंघन करनेसे पाप हो जाता है। यह तो गुलामी है! गुलामी पाप है? ईश्वरने भोग दिया—यही तक दृष्टि नहीं रही, तुमने जबरदस्ती उसमें अपने अभिमानको जोड़कर एक कर्म किया।

तुम्हारे मनमें बैठे हुए एकने कहा 'यह माल चोरीका है, तुम्हें नहीं खाना चाहिए।'

तुम्हारे मनने कहा 'चोरीका है तो क्या हुआ, मैं तो उसे खाऊँगा।'

इसमे खानेका दोष नही हुआ, 'तुम्हें न खाना चाहिए'—यह जो अन्तःकरणसे निषेध आया, उसे तुमने नहीं माना। उसमे कर्तृत्वका इतना प्रबल अभिमान आगया कि भोजनमे पाप आगया। कर्तृत्व परिपुष्ट होता है वही मर्यादा-नियमका उल्लंघन होता है। भोगमे तो पाप होना ही नहीं चाहिए।

भक्तलोग कहते है—'प्रभु जैसा कराता है वैसा होता है'—

यत्कृतम् यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतम् त्वं फल-भुक् त्वमेव मधुसूदन॥

जो कुछ मैने किया और करूँगा सो मैंने नही किया। तुमने किया-कराया प्रभु! तुम्ही करन-करावनहार! तो दिमाग हल्का हो जाय। ठीक है, यह विश्वासकी बात है।

श्रद्धालु बोलते हैं कि 'हुकुम देनेवाला भगवान् है।'

तत्त्वज्ञान कहता है 'तुम कर्म और भोगके कर्ता-भोक्ता क्यों बने?'

अज्ञानी कहता है 'हमने किया है। इसलिए हम मानते हैं अपनेको कर्ता-भोक्ता।'

वेदान्त 'तुम अपने-आपको जानते नही हो?'

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।

बचपनमें हमने सुना—तुलसीका पौधा सूखने लगता है या पत्ते नहीं निकलते हैं तो चायका चूरा तुलसीकी जड़में डालनेसे बहुत बढ़िया खाद बनती है। तुलसी हरी-भरी हो जाती है,

बढ़ने लगती है, पत्ते निकल आते हैं। तीक्ष्णता और पत्तेकी समानता दोनोमे एकसे। चायका तत्त्व तुलसीको अपेक्षित हैं ऐसा अन्वय-व्यतिरेकसे लगता है। अब वह तुलसीकी खाद हो गयी तो उसमे चायकी विशेषता नहीं रही। जो लोग संसारमे जिस वस्तुको बहुत ही प्रयोजनीय समझते हैं, उनको उन वस्तुओसे राग द्वेष बना रहता है। तब तत्त्वकी दृष्टिसे वे उनको नहीं देख पाते। खुर्जामे एक सेठ शुरूसे अबतक आमका पौधा दूधसे सींचते रहे हैं। दसहरी आम खायें तो उसमें अलगसे दूध मिलानेकी आवश्यकता नही रहती, दूध मिला आम जैसा उसका स्वाद होता है। इसीका नाम संस्कार है। दूधके सस्कारके कारण आम दूधके संस्कारसे युक्त हो गया। सबके सब बीज पञ्चभूतरूप नहीं हैं। वे अमुक-अमुक संस्कारसे संस्कृत हैं। जब तुम्हें अमुक संस्कारसे संस्कृत वस्तुकी आवश्यकता नही है, तो वह पञ्चभूत-मात्र है।

तुम जीव क्यो हो? पञ्चभूतमें ही संस्कारका भेद है। अमुक-अमुक संस्कारवाले बीजसे स्त्रीका, पुरुषका जन्म हुआ। पशु-पक्षी, माता-पिता, नाना-नानीका साँचा भी असर करता है। परब्रह्म परमात्माके अज्ञानमें जितने सस्कार अबतक हैं उन सबका असर है। यह मत समझना कि तुममे साँप और शेरके संस्कार नहीं हैं। मनुष्यके शरीरमें रहते हुए भी जब तुम्हारा मन किसीको नोचनेका होता है तो उसमें बन्दरके संस्कार हैं, काटनेका मन होता है तो साँपके-शेरके संस्कार हैं। वात्सल्यसे किसीको तर कर देना चाहते हो तो गायके संस्कार हैं।

तुमने अपनेको संस्कारयुक्त क्यो मान रखा है? चेतन जीव भी आम-अगूरकी भाँति संस्कार-युक्त है, परन्तु जड़ बीजमें वस्तुत: संस्कार लिप्त हो जाते हैं। तत्त्वत उसमे भी सस्कारका

लेप नहीं होता। क्योंकि यदि आगमें जला दिया जाय तो तत् तत् सस्कार मिटकर केवल पञ्चभूत ही रह जायगा। कट्टर वेदान्ती पञ्चभूतमें इन सस्कारोको विवर्त मानते हैं, वास्तविक नही मानते। यदि पञ्चभूत वास्तवमें आम इमली स्त्री-पुरुष हो जाता तो आगसे जलानेपर वे सबके सब पञ्चभूत नही रह जाते।

पञ्चभूत कभी अपने स्वरूपको नही छोडता है। वैसा-वैसा संस्कारके कारण मालूम पड़ता है। गलने, जलने, सड़नेके बाद वह उसी दशाको पहुँच जाता है। यहाँतक कि चने गेहूँका अङ्कुर निकलता है तो मालूम पडता है कि यह तो अङ्कुर निकल ही गया। वह अङ्कुर नही होता है, फिरसे बीज हो जाता है। बीज-का उपादान दूसरा था और जो पैदा हुआ उसका उपादान दूसरा है। जो पञ्चभूत जमीनमें गाडा गया था उसके सस्कार ही तनेमें होकर आये। साँचा, आकृति, गुण सबके सब वही हैं, पञ्चभूतके विवर्त हैं।

पहले कार्य-कारणकी उपाधिसे अपने ब्रह्मस्वरूपका निश्चय करो, परन्तु यह कार्य-कारणभाव वास्तविक नही है माने तात्त्विक (धात्विक) नही है। यह तो अध्यस्त है। कार्यकारण दोनोके अधिष्ठानका ज्ञान न होनेसे पहले कारण और पीछे कार्य मालूम पड़ता है। असलमें कार्य कारणका पूर्वापर भाव पहले-पीछे, भीतर बाहर, स्थूल सूक्ष्म है ही नहीं।

'तत्त्वभाव' प्रसीदतिका अभिप्राय पहले देखो। अस्तिके सिवा न घडा है, न शकल है, न मिट्टी। अस्ति ही है जब धर्मात्मा लोग कार्य-कारण भावका वर्णन करते हैं तो कहते हैं—'कर्मके निमित्तसे कार्य-कारणभाव हुआ। जैसे टाकीसे लोहेमें छेदकर चाहे कैसा भी छेद बना लें, हथौड़ेसे पीटकर गोल या लम्बा बना दें। तो

टाकी-हथौड़े ो काम होता है। काम द्वारा शक्ल बनती है। बसूलेसे, आरोसे, रूखानोमे लकड़ोमे शक्ल बनती है। सुनार सोनेको गला कर पीटकर, साँचेमें ढालकर शक्ल बनाता है। जडमें जितनी शक्लें बनती है वे कमसे बनती हैं। धर्मात्मा लोगोका यह ख्याल है कि जीवको जितनी शक्लें मिलती हैं वे कर्मसे मिलती हैं। परन्तु यह तो तब होता जब जीव और ईश्वर कर्ता होते। दोनों चैतन्य हैं! चैतन्यका काम प्रकाशना है, करना नही है।

साख्यवादी कहते हैं 'कि कर्म प्रकृतिसे होता है।' कुछ भी हो, अस्ति मात्र ही है कर्म और अस्तिमात्र ही है प्रकृति।' बौद्धोने कहा—'यह केवल विज्ञान है। मालूम पड़ता है कि यह केवल प्रकृति या परमाणु है, फलाना-ढिकाना है।' ईश्वर कहता है—'यह तुम्हारा अनुमान है। जैसे जड़ कारणका अनुमान प्रकृति है, वैसे चेतन कारणका अनुमान ईश्वर है। कारणत्वकी वासनासे वासित अन्त करण जगत्के कारणको ढूढने लगता है और जडके द्वारा संगति लगाता चलता है तो प्रकृति पर पहुँचता है और चेतन द्वारा सगति लगाने पर ईश्वर पर पहुँचता है।

'जन्माद्यस्य यत' सूत्रकी व्याख्या या यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।' गीतामे अहं सर्वस्य प्रभव'। सत्र कार्य-कारणभावका निरूपण करते है। शास्त्रमें यह लिखा है तो सच्चा हुआ न ?

शास्त्र प्रयोजनवश निरूपण करता है। 'कार्यकी कारणमे एकता होती है या लय होता है या कार्य कारणमें-से निकलता है ?'—इस ढंगसे प्रतिपादन न किया जाय तो सरल बुद्धिके लोग समझेंगे ही नही कि इस अनेकतामे एकता भरी हुई है। इस समझदारीको सुगम करनेके लिए कारणको एकता और कार्यकी अनेकता बतायी जाती है। तो क्या कार्य-कारण सच्चा है ?

नही, यह अद्वितीयको समझनेमें उपयोगी हैं। उसमे अद्वितीयका सामीप्य है।

एकमें-से अनेक निकला। कैसे? एक कांपता है और अनेक मालूम पड़ता है या एक दो बन जाता है। यदि एक कांपता है और अनेक मालूम पड़ता है, तो अनेक निकला नहीं, एक ही है। यदि एकत्वका नाश होने पर एकका एकत्व दो बनता है तो दो भी नहीं बनेगा। दो-तीन तो दोपना भी नहीं, त्रित्व भी नहीं। कारण हो करके कार्यकी उत्पत्ति होती है, तब तो कार्य भी नष्टप्राय ही है। यदि एकके कम्पनसे अनेककी प्रतीति होती है तो एकमे कम्पन होता है कि बुद्धिमें कम्पन होता है? एक नहीं कापता है, बुद्धि कांपती है। इसलिए कम्पन करके एकका दो नही बनता वह तो अद्वितीय ही अद्वितीय है। तुममे बुद्धि दोकी है।

जैसे मनका कम्पन स्वप्न है वैसे तत्त्वका कम्पन स्वप्न नही है। इसीप्रकार अद्वितीय परमात्मामें शत्रु मित्र, पति पत्नी, पशु-पक्षी, मानव-दानव, स्वर्ग-नरक, पाताल-मर्त्यलोक, ऊपर-नीचे—मध्य-वर्ती, दांये-बांये, बाहर-भीतर, कार्य-कारण-करण, पहले-पीछे बीचमे यह सब मन कम्पन हैं, तत्त्वकम्पन नहीं है।

यह मन क्या है? हम न हो तो मन कुछ हो। कम्पनको प्रतीत करनेवाला मैं मन हूँ और कम्पनके बाधित होने पर जा मैं हूँ, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अपना निजस्वरूप हूँ।

तत्त्वभाव. प्रसीदति सत्कार्योपाधिक अस्तित्वप्रत्ययसे तत्त्व-भावेन घड़ा नही घड़ेमे जा सत् है, मिट्टी नही मिट्टीमे जो सत् है, गुरुजी नही गुरुजीका जो सत् है, यह सौंफ नही, सौंफकी सत् है, नीबू नही, नीबूका सत् है, शक्करका सत् है। गुडुची (ओषधि) नहीं गुडुचीका सत् है (उसके पञ्चाङ्गकी सत् निकालते हैं) जो घड़ेका सत् है—जिस बुद्धिमे घड़ेके नामरूप भास रहे हैं उसी बुद्धिमे घड़ेका नामरूप चूर चूर करने पर जो सत् है, पञ्चभूतको चूर-चूर करने पर जो सत् है, देश-काल-वस्तुको चूर-चूर करने

पर जो सत् है जिसमें नामरूप बिलकुल नहीं है, ऐसी कारणाव-स्थोपाधिक नाम-रूपकी अव्याकृत दशामें जो सत् है, उस सत्का विचार करके देखो, तुम और वह सद्वस्तु अलग नहीं है। तब इससे फिर क्या होगा ? तत्त्वभाव प्रसीदति। तत्त्वभाव प्रसन्न हो जायगा अर्थात् निरावरण हो जायगा।

प्रसादमे कमी कहाँ तक ? जहाँ तक पर्दा है। कपट ही प्रसादकी कमीका लक्षण है। कपट माने माया, छल, पर्दा। क माने सुख, कल्याण और पट माने पर्दा। सुख पर मस्तिष्क माने ज्ञानपर पर्दा कपट है। असलियत पर पर्दा कपट है। प्रसीदति माने फाड दिया सारा पर्दा, नष्ट कर दी सारी दूरी। अब इन्तजारकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जो बिछुड़े हैं पियारेसे भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममे हमनको बेकरारी क्या ?

न कार्यकी उपाधि है न कारणकी।

कठोपनिषद्के प्रारम्भका ध्यान करो—

अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥

१ नचिकेताने यमराजसे यह प्रश्न किया था कि हमें वह चीज बताओ जो धर्म-अधर्मसे परे है माने कर्मका फल नहीं है-स्वर्ग-नरकमें नही है, पशु-पक्षी योनिमे नहीं है, देव-दैत्य-मनुष्य योनिमें नही है। यह सब कर्मका—धर्माधर्मका फल है।

२ अन्यत्र च कृताकृतात् माने जो कार्य-कारण नहीं है द्रव्यकी कोई अवस्था नहीं है। जो कर्मफलरूप अनन्तकोटि योनियाँ-चौरासी लाख कर्मकी फलभूता योनियाँ नही है। जो स्वर्ग-नरक, वैकुण्ठ गोलोक आदि अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग धर्माधर्मका फल नहीं हैं,

जो कार्य-कारणरूप नही है, अन्तरङ्ग-बहिरङ्गरूप नही है जो भूत-भविष्यरूप नही है। अर्थात् देश-काल वस्तु, कर्तापन-भोक्तापन, कर्मफल आदिका किञ्चित् सम्बन्ध नही है, वह वस्तु हम बताओ।

वहा यमराजने प्रतिज्ञा की थी

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।

हम तुमसे ऐसी बात कहते है जो विद्यासे भी दूर है और अविद्यासे भी दूर है। जिसको कभी ज्ञानने नही छुआ, कभी अज्ञानने नही छुआ। ज्ञानने कभी अपने विषयरूपसे छूकर उसे अपना विषय नही बनाया और आश्रयरूपसे छूकरके कभी ज्ञानी नही बनाया। तत्त्व ज्ञानी नही होता, ज्ञेय भी नही होता। यदि तत्त्व उसे छूए तो विषयरूपसे ज्ञान छुए और वह ज्ञेय हो जायगा और आश्रयरूपसे छुए कि तत्त्व हमारा ज्ञानी तो तत्त्व ज्ञानी हो जायगा।

ज्ञान जिसका आश्रय और विषय दोनो ही प्रकारसे नही छू सकता और अज्ञान भी जिसका नही छू सकता, क्योकि तत्त्व यदि अज्ञात होता तो विपरीत ज्ञान सम्भव होती, परन्तु तत्त्व अज्ञात कहाँ है ? वह तो मैं हूँ। तब क्या तत्त्व ज्ञात है ? ज्ञान कहाँ है ? अपनी अद्वितीयता पूर्णता ज्ञात कहाँ हो रही है ? यह अज्ञात-ज्ञातसे विलक्षण, अपना आपा अज्ञान नही हो रहा है और अपनी अद्वितीयता तथा पूर्णता ज्ञात नही हो रही है। हम अपने आप-को जानते भी है और अनन्तरूपसे नही भी जानते है अर्थात् ज्ञानको विषयरूपसे जानते नही है और मै नहीं हूँ या नही जानता हूँ यह वृत्ति तो कभी होती नही। तो ऐसी वस्तु कौन-सी है ? तत्त्वभाव। वह कैसा है ? अद्वय-स्वभाव है। नेति-नेति—जो कुछ

अपनेसे अलग भासे उसका निषेध करो। देशकी लम्बाई-चौड़ाई और बाहर-भीतर, कालमें आगे पीछे और पूर्वापर, व्यक्तिमें यह-वह, मै तू यह कुछ भी हममे नहीं है।

अह्रस्वं, अदीर्घं, अनणुं, अदृश्ये, अनिरुक्ते, अनिलयने

आत्मतत्त्वके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नही है—आत्मतत्त्व प्रकाशनाय। अस्ति-अस्ति-अस्ति।

प्रमाण माने जब तुम नेति नेतिका निषेध करके बैठते हो तो अबतक जितने ब्रह्मके अनुभवी पुरुष हुए हैं, कृष्ण, राम, स्वर्ग, प्रपञ्च, राजनीति, मानवता, विश्वनीतिके अनुभवियोमे भिन्नता होगी। जिसने अद्वितीयत्वका अनुभव किया है और वे वेदवाणी-को दुहराते रहे है–तत्त्वमसि, तत्त्वमसि, तत्त्वमसि वह है प्रमाण। आत्माके ब्रह्म होनेमे असलमे स्वके लिए प्रमाणकी आवश्यकता नही पडती। सर्डांसी रसायनका प्रमाण नही होगा, उसमे अनु-भवीका वचन प्रमाण होगा, कान नाकका प्रमाण नहीं होगा। अनुभवी कौन है? वह कैसे मालूम पडे? जो आत्मा ब्रह्मके अद्वि-तीयत्वका निश्चय और निरूपण करे वह अनुभवी आत्मा और ब्रह्मके अद्वितीयत्वका निश्चय करनेवाला ही अनुभवी है, इसमें क्या प्रमाण है? कहते हैं—'हम ब्रह्म को—अद्वितीयकी चर्चा कर रहे हैं। जिसने अद्वितीयताका अनुभव किया हो, अपौरुषेय ज्ञान प्राप्त किया हो वह अनुभवी है।

अन्त करण–अन्त क्रीयते अनेन—जो बाहरके सस्कारोको भीतर ले ले। आत्मा ऐसा नही करता। वह तो स्वयंप्रकाश है, वह तो अन्त करण और उसके विषयोको मात्र प्रकाशित करता है। देश-काल-वस्तुके सस्कारोसे सस्कृत अन्त करण है और इनका प्रकाशक अपना स्वरूप है। यह कैसा है? यह दृश्य नहीं है,

इसकी दूसरी आत्मा नही है, निर्वचनीय नही है और अनि-लयन है।

तुम्हे ब्रह्मानुभूति हुई कि नही ? हाँ! ब्रह्मानुभूतिका क्या स्वरूप है ? आत्मा-ब्रह्म जुदा-जुदा नही है। आत्मा और संसार, ब्रह्म और संसार जुदा-जुदा नही हैं और आत्मा-आत्मा जुदा नही हैं। ब्रह्मज्ञान होनेपर पाँच प्रकारके भेदोकी निवृत्ति हो जाती है—

१ जगत्का जगत्से भेद।

२ जगत्का जीवसे भेद।

३ जीवका जीवसे भेद।

४ जीवका ईश्वरसे भेद।

५ ईश्वरसे जगत्का भेद।

ये पाँचो भेद तुम्हारे कट गये कि नहीं ?

कट गये। तब आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुभव ब्रह्मदृष्टि ही आत्मदृष्टि है—दृष्टि तुम्हे प्राप्त हुई कि नही ? कैसे यह दृष्टि प्राप्त हुई ? आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होनेसे। अपनी दृष्टिका उल्लेख—वर्णन करो। आत्मा और ब्रह्म एक है। इसका अभिप्राय यह है कि चाहे अंग्रेजी बोलो या संस्कृत, अनुभूतिका उल्लेख किस रूपमे होना चाहिए ? अद्वय आत्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नही है। आत्मा अद्वय है माने 'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि प्रज्ञानम् ब्रह्म।' हम दुनियासे असंग-अलग हैं यह अनुभूति-उल्लेख नही। तत्त्वभाव प्रसीदति। जहाँ तत्त्वने निरावरण रूपसे यह प्रकट कर दिया कि मेरे सिवा दूसरी कोई वस्तु नही है, मैं ही मै हूँ। आत्मा मै, परमात्मा मैं, जगत् मैं, शत्रु मैं, मित्र मै। संसारके व्यवहारमे जितने भेद हैं उनकी उपस्थितिमे भी मैं अद्वय हूँ।

●

२४. काममुक्तको अमरत्वप्राप्तिः

संगति :

मन्त्र तेरहमें ब्रह्मानुभव और ब्रह्मानुभवीके लक्षण पर विचार किया गया जिससे यह निष्कर्ष निकला कि अनुभव और अनुभवीमें को भेद नहीं रह जाता। यही अद्वय आत्माका स्वरूप है। अब मन्त्र चोदहमें अविद्याग्रथिके विकीरण पर विचार किया जायगा।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो कि इसके हृदयमे आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (मरणधर्मा) अमर हो जाता है और इस शरीरसे ही ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

यह श्लोक पढ़नेमे जैसा मालूम पडता है, वैसा नही है। कई शब्द विचार करने योग्य हैं। गुजरातीका 'मूकी दो' सस्कृतमे मुच्-मुक्ति है। जैसे कोई रस्सी बंधी हो और खोलकर धरती पर डाल दें तो कहेंगे—रज्जुर्मुक्त.।

ये कहते हैं—आत्मा मुक्त नही होता, काम मुक्त होता है। शाङ्करभाष्यके टीकाकार बोधाचार्य आनन्द-गोपालस्वामी कहते हैं 'काममुक्तिका क्या अभिप्राय है ? मुक्ति आत्माको मिली या कामको ? आत्मा तो सहज ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। मुक्ति तो कामको मिली।'

ज्ञानी पुरुषके ज्ञान होनेसे पूर्व जब हृदयमें रहनेवाले सबके

सब काम टूट जाते हैं, तब पहले जो अपनेको मरनेवाला मानता था, वही अपनेको अमृत जान लेता है—अमृत हो जाता है। उसी जीवनमें उसको ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

अत्र ब्रह्म समश्नुते। वेदान्ती लोग इस 'अत्र'को बहुत उद्धृत करते हैं। इसी जीवनमें, इसी धरतीपर प्रत्यक्ष उनको ब्रह्मकी अनुभूति, ब्रह्मका स्वाद मिलता है। वे ब्रह्ममें एक हो जाते हैं।

मुण्डकके मूलमें भी 'समश्नुते' शब्द आया है। वहाँ भाष्य-कारने उसकी व्याख्या की है—

अप्राप्यप्राप्यमाशकी इति अत्र समश्नुते।

यह मत समझना कि ब्रह्म कोई अनोखी चीज है और मिल जाती है। यह तो नासमझीका ही पर्दा है। ब्रह्म तो तुम ही हो। इसलिए नासमझीको हटाओ, फिर तुम ज्यों-के-त्यों ब्रह्म हो। इसका अर्थ हुआ, जैसे कर्मसे दो प्रकारके फल मिलते हैं—कर्म करते-करते कोई बड़े ऊँचे पदपर पहुँच जाता है, ऐश्वर्यशाली हो सकता है और इस जन्ममें कर्मका फल नहीं मिला तो मरनेके बाद मिल सकता है—स्वर्गमें पहुँच जाय। कई लोग निष्काम कर्म समुचित रूपसे करते हैं तो उनको और लोककी प्राप्ति होती है। कहीं ज्ञान और उपासनाका समुच्चय होता है तो और लोकका प्राप्ति होती है। परन्तु शुद्ध ज्ञान होता है, वहाँ आना-जाना नहीं होता। ज्ञानीकी तो सारी वासना ही मिट गयी।

कामना मनोधर्म है कि आत्मधर्म? इस बातको लेकर दर्शन-शास्त्रमें बड़ा विवाद है। न्याय-वैशेषिक कामनाको आत्मधर्म मानते हैं। सांख्य-योगी कामनाको प्राकृत-मनोधर्म मानते हैं।

द्रष्टामें तो कामना है नहीं। वेदान्त-सिद्धान्तमे कामनाको प्राकृत-मनोधर्म नही, प्रातिभासिक-मनोधर्म मानते हैं। मिथ्या-प्रातीतिक मनोधर्म और प्राकृत मनोधर्मभे भेद है। जैन-बौद्ध कामनाको आत्मधर्म मानते है, परन्तु संयम-विशेष-से (अनुष्ठान-से) काम मनोधर्म शान्त हो जाता है ऐसा जैन मानते है। सम्यक्-चारित्र्य, सम्यक्-सकल्प और सम्यक्-समाधिसे मनोधर्म शान्त हो जाता है। बौद्ध मानते हैं कि 'शून्यताके ज्ञानसे जब आत्मोच्छेद हो जाता है—आत्माका ही निर्वाण—कामनाका निर्वाण होता है।' जैसे वेदान्तमे ज्ञान होनेसे ही अज्ञानका उच्छेद (निवृत्ति) होता है, वैसे 'निर्वासन होनेसे ही निर्वाण होता है' यह बौद्ध-सिद्धान्त है।

'जबतक आत्मा है, तबतक काम है, ऐसा प्रतिपादक धर्म-अधर्म, इच्छा, प्रयत्न, संस्कार, सुख, दु ख, ज्ञान अष्टौ आत्मगुणा — ये आठो आत्माके गुण हैं और इसलिए आत्माके साथ गुण-गुणी सम्बन्ध है। 'यावद् द्रव्यभावित्व' है। जबतक पृथ्वी रहेगी, तबतक गन्ध रहेगी। यह गुण-गुणी सम्बन्ध जैसे नित्य है, वैसे आत्माका काम-कामी सम्बन्ध नित्य है' ऐसा न्याय-वैशेषिक मानते है। गुणकी निवृत्ति होनेपर तो वस्तुका उच्छेद हो जायगा। गन्ध न रहे तो पृथ्वी क्या ? रस नही तो जल क्या ? उष्णता न रहे तो आग क्या ? स्पर्श न रहे तो वायु क्या ? शब्द न रहे तो आकाश क्या ? इसीप्रकार काम आत्माका गुण है तो काम रहनेपर आत्मा क्या होगा ? परन्तु जब हम अपने जीवनमें देखते हैं तो ऐसा मालूम पडता है कि किसीको भी चौबीस घण्टे तो काम नही रहता है। काम माने इच्छा—अप्राप्तके प्राप्तिकी इच्छा।

इच्छा कई प्रकारकी होती है—(१) जो चीज अनुकूल है

पर नहीं मिल रही है उसे पानेकी इच्छा। (२) जो चीज प्रति-कूल है और सामने हो रही है, उसे हटानेकी इच्छा। (३) निष्काम होनेकी इच्छा—यह भी एक कामना है। इससे मनुष्यको बड़ा दुःख होता है। मनमे कामना आजाय तो जलने लगेगा। कई लोग तो ऐसे गलत मार्गपर चले जाते हैं कि ब्राह्मण कहे कि 'दुर्गापाठ करवा लो तो तुम्हारा मङ्गल हो जायगा।' तब कहेंगे—'हम सकाम अनुष्ठान नही करवायेंगे!' दिन-भर व्यापार करेंगे, पर सकाम अनुष्ठान-से तो उनका ख्याल गलत हो जाता है। सकाम भाव-से ब्याह-बच्चे, पैसा, मकान बनायेंगे और देवताकी उपासनामे 'राम-राम मैं सकाम हो जाऊँगा।' वे तो मूर्ख लोग हैं। उनको सकामता-निष्कामताका कोई विवेक नही है। जाग्रत्मे जो कामना रहती है, उसके विरुद्ध स्वप्नमे कामना देखनेमे आती है। सुषुप्तिमे न अनिरुद्ध (अनुरोधी) न विरुद्ध (विरोधी)—किसी प्रकारकी कामना नही रहती, सब शान्त हो जाती है। जाग्रत्मे और स्वप्नमें अनुकूलकी, प्राप्तिकी कामना होती है और विपरीत-को हटानेकी कामना होती है, लेकिन सुषुप्तिमे कामना नही होती है, शान्त रहती है। कामना जागती हो, सो जाती हो, बदलती हो, तीनोमें आत्मा है। जब कामना बिलकुल अव्यक्त-दशामें रहती है, तब भी आत्मा है। इसप्रकार कामनाकी सर्वदशामे आत्माका अन्वय है और कामनाकी सर्वदशाओसे आत्माका व्यतिरेक है। विवेकी पुरुषोने अपनेको द्रष्टाके रूपमें अनुभव किया है, कामीके रूपमे नही। इसलिए अपनेको कामी मानना अनुभवके विपरीत है। कामना माने इच्छा। केवल स्त्री-पुरुषके मिलनकी इच्छाका नाम ही काम नहीं है।

'काम' शब्दके अर्थपर विचार करें तो वर्तमान सेकेण्डके

बाहरकी, अगले सेकेण्डको किसी भी बातको सोचना, सेकेण्डके हजारवें, लाखवें, अरबवें हिस्सेमें—जिसमे तुम हो, आगेके लिए कोई भी बात सोचना काम ही है। भविष्यपर हमारी दृष्टि गयी और काम हुआ। जिस देशमे तुम हो, जो तुम हो, उसमें कुछ भी चाहना काम है और जो तुम हो उसके सिवा—'मै'के सिवा किसीको भी चाहना काम है। कामवृत्ति बहिर्देश, बहिर्काल, बहिर्विषयको अर्थात् स्वस्थिति-से अतिरिक्त स्थितिके कालको, स्वदेश-से अतिरिक्त देशको और स्वसे अतिरिक्त विषयको अनुकूल या प्रतिकूल बुद्धि-से चाहना है। यह तुम्हे कबतक नही छोडेगी ?

किसीको ज्ञान हो गया तो उसकी कामना कैसे मिटेगी ? उसमें भी कामना मानते है। तुम यह मत समझना कि ज्ञानीको कामना नही होती। शरीर स्थितिके लिए जितने अन्नकी आवश्यकता होगी, उसकी कामना होगी। ज्ञानी व्यक्ति है। उसे खाना-पानी-सास-गरमी द्वारा शरीरको बनाये रखनेकी आवश्यकता है। गङ्गोत्रीका ज्ञानी बारह महीनेकी लकडी रख लेता है कि हम आग जलाकर अपनेको गरम रखगे क्यों ? आठ महीना कोई नही आयेगा, तो जाडेमें उसके लिए सग्रह कर लो। क्यो बर्फीला पानी हाथसे उठाकर तुरन्त पी नहीं लेता ? अपने कमण्डलुमे ले जाकर रखता है, बरफ गल जाती है, पत्थर और बालूके कण नीचे बैठ जाते हैं तब पानी पीता है। ज्ञानीको भी घूमनेको मैदान, सांसके लिए हवा, अन्न, पानी बारह महीना चाहिए। नगे हो तो दुशाल, कम्बल, रजाई चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि जो परिच्छिन्न वस्तु होगी, वह पूर्णसे सम्बन्ध रखे बिना रह ही नहीं सकती। मिट्टीका बना शरीर मिट्टीसे बने अन्नसे सम्बन्ध रखे बिना नही रह सकता। वैसे ही पानी, हवा, गरमी, अवकाशसे

सम्बन्ध रखे बिना भी शरीर नहीं रह सकता। पञ्चभूतसे बना शरीर पञ्चभूतसे सम्बन्ध रखना चाहेगा। परिच्छिन्न शरीर पूर्णसे सम्बन्ध रखना चाहेगा। जो वस्तु अप्राप्त होगी, उसकी लालसा भी मनमें जगेगी। लोग ऐसा सोच लेते हैं कि ज्ञानीको अन्न, पानी, गरमी, हवा, अवकाश नहीं चाहिए, क्योंकि तुम ज्ञानीको पाञ्चभौतिक पुतला समझते हो। ज्ञानी अपनी दृष्टिसे तो शरीर है नहीं। ज्ञानी अपनी दृष्टिसे तो ब्रह्म है।

ज्ञानीकी निष्कामतामें और अज्ञानीकी निष्कामतामें क्या फरक है?

अज्ञानी अपनेको परिच्छिन्न देश-काल-वस्तु मानकर इसी परिच्छिन्नको रखने-जिलानेके लिए पूर्णके साथ सम्बन्ध रखता है। ज्ञानी पूर्ण इस परिच्छिन्न मनके साथ तो सम्बन्ध रखता नहीं, वह तो अपरिच्छिन्न है। कामका आश्रय परिच्छिन्न अहं है, परिपूर्ण ब्रह्म नहीं है। मिट्टीका ढेला चाहिए। पानीके बिना, इनके बिना मृत्तिका नहीं रह सकती। वह बिखर जाय। अग्नि अपनेको बनाये रखनेके लिए गरमी चाहिए, गरमीको वायु और वायुको अवकाश चाहिए, क्योंकि ये सब परिच्छिन्न हैं। केवल-देश-काल वस्तु, रहनेसे अतीत परमसत्ताको अपना पैदा होने—मरनेके लिए भी कुछ नहीं चाहिए। न जन्मना-मरना है, न देश-कालके आधारमें वह रह रहा है। त्याग-वैराग्य-निष्कामता ये सब व्यक्ति विशेषकी शोभा-साधन हैं। ज्ञानीको सपना न आता हो, सो बात नहीं है। जब ज्ञानीका शरीर है, मन है, नींद कभी गाढ़ी और कभी हल्की आती है तो ज्ञानीके मनपर इन सबका प्रभाव पड़नेके कारण उसे सपना आता है।

हम स्वप्नमें किसी उत्सवमें गये हुए थे। वहाँ श्रीउड़िया-

बाबाजी महाराज थे, हम सब लोग भी थे। बडे-बडे लोग आये थे। इतनेमे पता लगा कि यहाँके जंगलमे घूँघर बाबा आये है। वे लँगोटी मात्र पहनते है। उनका शरीर काला है, बाल बिखरे हुए हैं, किसी से कुछ लेना देना नहीं है।

हमारे एक साथी उनके पास गये और देख आये। वे बडे प्रभावित हुए और बोले कि—'चलो दर्शन करने।' हमने श्रीउडियाबाबाजीसे पूछा—तो वे बोले—'तुम्हारी दृष्टिमे ज्ञानका मूल्याकन है कि रहनीका ? यदि ज्ञान महत्त्वपूण है तब तो ज्ञानस्वरूप तुम ही हो। यदि रहनीको महत्त्व देते हो तो व्यक्तिकी होती है—एक हाड-मांस-चामके शरीरकी होती है। तुम उसके ज्ञानका दर्शन करनेके लिए जाते हो कि रहनीके ?'

हमे अमुक व्यक्तिके दर्शनकी इच्छा होती है, अमुक व्यक्ति, समय, देश महत्त्वपूर्ण मालूम होता है, अमुक ऋतु सुहावनी लगती है। लन्दनमे धूप निकलने पर लोग घरके बाहर घूमनेको निकल पडते है और हिन्दुस्तानमे धूपसे बचनेके लिए लोग घरमे रहना पसन्द करते हैं। यह धूप और ठडकके प्रति महत्त्व देश-विशेषकी बात हो गयी। महत्त्व अपना बल क्या है, इस बातका होता है।

मै हिप्नोटिज्मकी बात नही कह रहा हूँ। हमारे साथ दो सज्जन रहते थे, गीता प्रसमे। एक सस्कृतका आचार्य था, एक हिन्दी का। दोनो बैठकर, बडा पुराना हरिसूरिके भक्तिरसायन ग्रन्थका अनुवाद लिखते थे। इस ग्रन्थमे पाँच-सात हजार श्लोक हैं। हिन्दी लिखनेवाला जरा कमजोर था। एक दिन उसके सिरमें दर्द था। वह लिखे भी और घबडाये भी। हमने हँसी की 'तुम कहो तो तुम्हारे सिरका दर्द हटाकर हम इनको दे-दें। उसने कहा—'नही-नही, हम भोग लेंगे, इनको क्यों दें ?' दूसरा काशीका

'स्वर्ग-नरक मुझमे कल्पित है'। कल्पितका अधिष्ठान और प्रकाशक मैं हूं तो मुझे स्वर्गमे जाना नही पडता, स्वर्ग तो मुझमे है ही है। कल्पित वस्तु तो नित्य-प्राप्त होती है। म ही इन्द्र होकर अमृतपान कर रहा हूँ। राजा होकर सिंहासन पर बैठा हूँ। अप्सरा होकर नाच रहा हूँ। नन्दनवनमे विचरण कर रहा हूँ। म तो ब्रह्मा बनकर ब्रह्मलोकका, शिव होकर शिवलोकका, उस-उस आकारमे भास करके विष्णु बनकर वैकुण्ठका भोग कर रहा हूँ, क्योंकि जितने प्राकृत-लोक विशेष है वे प्राकृत देशके अन्तर्गत या दिव्यदेशके अन्तर्गत हैं। परन्तु देश मेरी कल्पनामे है और मैं देशका अधिष्ठान और प्रकाशक हूं। मैं स्वय-प्रकाश अपनी कल्पनामे चाहे जो प्रकाशित करके उसका भोग कर सकता हूं। ठीक वही भोग देवता करता है। म यहाँ बैठे-बैठे स्वर्गका भोग कर सकता हूँ, परन्तु भोगमे अपनी रुचि ही कहाँ है।

यक्षन्, क्रीडन् रममाण स्त्रीभिर्वा यवस्येर्वा यानैर्वा नोपजनाय स्मरन्निदम् शरीरम्।

इस श्रुतिकी व्याख्या विद्यारण्यस्वामीने अनुभूतिप्रकाशमे की है—'दुनियामे जितने लोग जो भोजन कर रहे हैं, वह मैं ही कर रहा हूं। जितने लोग विहार करते हैं, क्रीड़ा करते हैं, विमानमे बैठते हैं, मित्रोके और पत्नियोंके साथ आनन्द करते हैं वह मैं ही हूं। मै यह शरीर नहीं हूँ। मै अखण्ड, अविनाशी, अद्वितीय, परब्रह्म-परमात्मा हूँ और मुझमे मेरी ही कल्पनासे प्रतिभासित जो कुछ है वह सब मुझे प्राप्त ही है।'

इसी श्रुतिमे आत्मकामका वर्णन है। ससारियोंका भी जो सुख होता है, वह कल्पनामे ही होता है। पति-पत्नीके मिलनका और धनका सुख बाहर नही है, कल्पनामे ही है। ये सारे सुख

अपने आपमे कल्पित हैं। परन्तु वे इस रहस्यको नहीं समझते। वे सोचते है, बाहर कुछ वस्तु बने तब कल्पना बने। बाहर वस्तु हुए बिना ही आत्मस्वरूपमे उत्तमसे उत्तम कल्पना हो सकती है तो बाह्य वस्तुकी अपेक्षा ही कहाँ है? सारा सासारिक सुख बाह्यवस्तुमे है, वास्तविक सुख अपने आत्मामें है। हम अपने सुखका ही दूसरेमे आधान (आरोप) करके दूसरेमें सुखको ढूँढ़ते है।

आत्मकाम जिज्ञासुमे आत्मकामना होती है। आत्मोपलब्धिकी कामना कि 'मैं अपने आत्माका साक्षात्कार करूँ'—यह जिज्ञासुमे और परिच्छिन्न अहमे है। ज्ञानी तो आत्मकाम है। विषय, इच्छा और आश्रय तीनो वह स्वयं हैं।

स्वय कामयते, स्वय कामः, स्वयं काम्य ।

प्रातिभासिक जीव कामना करता है, प्रातिभासिक अन्त करणमे कामना होती है और प्रातिभासिक प्रपञ्चमे काम्यमान विषय होता है। यह सम्पूर्ण कामनाकामित्व-अन्त करण, काम्यविषय और कामित्वके अभिमानसे युक्त आभास व्यष्टिरूपसे भी और समष्टिरूपसे भी, जीवरूपसे भी और ईश्वररूपसे भी अपना स्वरूप है। अपने स्वरूपमे यह बिना हुए ही भास रहा है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते ।

'प्र' उपसर्ग जिसके साथ जुडता है उसे उत्कृष्ट या निकृष्ट बना देता है। वेदान्तमतमे जैसे यह सृष्टि अनिर्वचनीय है वैसे शब्दसृष्टि भी अनिर्वचनीय है। प्रकृष्टकी बात हो तो 'प्र' जोड दो। ज्ञान प्रज्ञान, अध्यापक, प्राध्यापक, बडा, बढ़िया, श्रेष्ठ अर्थमें इसका प्रयोग किया जाता है। हार-प्रहार, तारक-प्रतारक। प्रतारक माने ठग। जैसे रूपसृष्टि अनिर्वचनीय है वैसे नामसृष्टि

भी अनिर्वचनीय है। जो अनिर्वचनीय वस्तु होती है वह अपने अधिष्ठानसे अलग नही होती और अधिष्ठान आत्मसत्तासे अलग नही होता। इसलिए इस सृष्टिमे जितने नामरूप हैं, वे अनिर्वचनीय है और आत्मसत्तासे पृथक् नही हैं।

काम अच्छा भी है और बुरा भी है, इसलिए काम न अच्छा है न बुरा। ईश्वरको भी काम आता है कामस्तदग्रे समवर्तत श्रुतिमे वर्णन है—स कामयत् एकोऽहं बहुस्याम्। ईश्वरके मनमे कामना हुई कि मै एक-से बहुत हो जाऊँ। सृष्टिके प्रारम्भमें काम ही था। यह काम क्या है? ईश्वरमे खेलनेकी कामना है और जीवमें जितना सुख अपनेको मालूम पड़ता है, उससे अधिक सुखी होनेकी कामना है। तुम्हारा ईश्वर तो अभी बच्चा है और जीव दुःखी है। श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें आया है—

क्रीडायाम् उद्यमोऽर्भस्य।

क्रीडाके लिए उद्यम तो बालक करता है। ईश्वर खेलनेके लिए यह प्रपञ्च कैसे बनाता है? आखिर क्रीडाकी कामना ईश्वरको क्यों हुई? उसे कोई दुःख जरूर होगा। बठे बैठे शरीर कुछ अलसाता होगा तब उसने सोचा होगा कि 'कुछ खट-पट करें।'

स एकाकी नारमत, ततो द्वितीयम् असृजत्।

जब एकाकी उनकी क्रीडा सम्पन्न नहीं हुई तब उसने द्वैतकी सृष्टि की। ईश्वरमे क्रीडाका सकल्प है या सुखका अभाव है, यहाँ यह बतानेमें तात्पर्य नही है। तात्पर्य है ईश्वरकी कल्पनाके अतिरिक्त सृष्टि और कुछ नहीं है। अपनेमे दुःखीपनेके भ्रमके सिवा हमे सृष्टिकी कोई आवश्यकता नही है और अपनेमें परिच्छिन्नताके सिवा दुःखीपनेका भ्रम हो नही सकता। अपनेमे

परिच्छिन्नताका भ्रम अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण है। इस कारण अपने दु:खीपनेके निवारणके लिए वह वस्तुओंकी कामना करता है। परन्तु किसकी कामना ? अपनी ही कामना।

सम्पूर्ण वृत्ति, विषय और अहमर्थरूप प्रपञ्चमे मुझमें तीनों प्रातिभासिक रूपसे ही भास रहे हैं। ये तीनो न हुए, न हैं, न होंगे। इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नही है। अज्ञान निवृत्तिके पूर्व हृदयमे उदय होनेवाले जो काम अपनेमे मालूम पड़ते थे, वे न थे, न हैं, न होंगे। इसलिए इनकी केवल व्यावहारिक-प्रातिभासिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नही है। अर्थात् ये मेरे स्वरूपमें बिलकुल नही हैं। चाहे हजार-हजार काम आवे जायँ, चोरको धनकी, व्यभिचारीको व्यभिचारकी, चींटीको शक्करकी, धर्मात्माको स्वर्गकी, उपासकको वैकुण्ठकी, योगीको समाधिकी कामना भले होवे। वे अपनी-अपनी कामनाको लेकर भले रहें, ज्ञानी जानता है कि कोई वस्तु अप्राप्त है ही नही। यह तो सारा का सारा अपना आपा ही स्फुरणात्मक-प्रतिभासात्मक भास रहा है। उसमे कहाँ काम और कहाँ बेकाम ?

मनुष्यमे काम होता है तो वह ब्याह करता है। विवाहमे वेदका मन्त्र पढ़ते हैं—

> कोऽदात् कस्मै अदात्।
> कामोऽदात् कामायै अदात्।
> कामो दाता, कामो हि प्रतिगृहीता, काम हि दत्ते।

किसने दिया, किसको दिया ? बाप समझता है—'हम निष्काम हैं, पति सकाम है इसलिए निष्काम पिता सकाम पतिको अपनी पुत्रीका दान करता है।'

वेदमन्त्र कहता है 'नहीं, किसने दिया, किसको दिया। कामने दिया, कामको दिया।'

पिता और पति दोनोंके मनमें काम है। दोनों कामके ही चक्करमें हैं। पिताके मनमें कामना है कि 'लड़की अपने पतिके घर जाकर सुखी हो जाय। हमारे सिरपर भार है, यह उतर जाय तो हम निश्चिन्त हो जायें।' असलमें इस कामसे प्रेरित होकर पिता कन्यादान करता है और कामसे प्रेरित होकर ही पति पाणिग्रहण करता है। इसप्रकार कर्मके लिए प्रेरक तत्त्वको ही काम बोलते हैं। वह जब सवैधानिक होता है, तब उसे जीवनके लिए उन्नतिकारक मानते हैं और अवैधानिक होता है तब उसे अवनतिका हेतु मानते हैं।

यह काम उन्नतिका हेतु है या अवनतिका? असलमें उन्नति और अवनति भी क्या है? अपने सम्प्रदायकी मान्यता। यदि कोई वैष्णव शिवलोकमें जाकर शङ्करजीका भूत-प्रेत बन जाय तो उन्नति या अवनति? अवनति। यदि इधरसे कोई शङ्करजीका सेवक श्रीकृष्णके साथ गाय चराने लगे तो उन्नति कि अवनति? तो भी अवनति। इसमें अपने जाति-सम्प्रदाय, धर्म, वर्ग, समाज, शास्त्र और परिस्थितिका जो दृष्टिकोण है, वही उन्नति-अवनतिका विभाजक होता है। ब्रह्मदृष्टिमें न उन्नति है, न अवनति। न साधक न बाधक। बहुत बड़ा क्रान्तिकारी दृष्टिकोण है। जब हम यह कहते हैं कि उन्नति और अवनति, धर्म-अधर्म, सकामता-निष्कामता, केवल शास्त्रद्वारा ही नियन्त्रित होती है तो एक ओर कोई कहेगा कि 'ये तो बड़े अन्धश्रद्धालु हैं। शास्त्रका नाम लेते हैं।' लेकिन दूसरी ओर कोई समझदार होगा तो कहेगा कि 'तात्त्विक दृष्टिसे इनको मिथ्यात्वका दर्शन कराके इसके काल्प-

लिक महत्त्वके लिए शास्त्रके नियमका प्रतिपादन कर रहे हैं। हमारे समान धर्म-अधर्म, उन्नति-अवनति, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःखको मिथ्या जाननेवाला और कौन है?' हम तो तुम्हारे सारे भेद-विभेदका ही तत्त्वमे निषेध कर देते हैं।

सर्वे कामाः प्रमुच्यन्ते।

प्रमुच्यन्ते माने छोड़ दिये जाते हैं। बेटा, तुम अपने दायरेमें घूमो। भोजन थालीमें 'मूक दिया'—काम्यमान विषय, कामवृत्ति और कामीको मिथ्या दृश्यमे डाल दिया। अपने स्वरूपमे ये बिना हुए ही भास रहे हैं। ये मुक्त हो गये। हमारी सत्तामें इनकी सत्ता नहीं है। हम स्वयं सच्चिदानन्दघन, मुझमें कहाँ कामी और कहाँ काम? कहाँ कामका विषय?

अथ मर्त्योऽमृतो भवति।

अपने स्वरूपमें ये तीनो जबतक बाधित न हों, तबतक मनुष्य मर्त्य है। जहाँ यह बाधित हो गया, वह मर्त्य नहीं है।

यह जो अखण्ड काम है, आप्तकाम है, आत्मकाम है, जिसे सब कुछ मिला हुआ है, वह खुद नारायणके पास चलकर नहीं जाता, नारायण उसके अधीन रहते हैं, उसके पास आते हैं जो शङ्ख-चक्र-गदाधारी हैं। यदि वह कहे—'नारायण, सामने आकर खड़े तो हो जाओ।'

नारायण 'क्या बात है?'

आत्मकाम 'मैं तुम्हें मुसकराते हुए देखना चाहता हूँ।'

नारायण मुसकराने लगे। 'हमारे सिरपर अपना हाथ रखदो!'

नारायणने उसके सिरपर हाथ रख दिया! 'कोई बात नहीं, अब तुम पधार सकते हो।'

हमारे एक मित्र हैं। एक दिन वेदान्तके सत्संगमें बोधपर हमने प्रतिपादन किया कि अपने सिवा जो कुछ है वह सब कल्पित ही होता है। (भक्तिमें ईश्वर पूर्ण होता है और वेदान्तमें आत्मा ब्रह्म होता है। पूर्णता तो एक ही है। चाहे उसमें आरोपित करो या इसमें और चाहे दोनोंमें-से निषेध कर दो) पूर्णता तो विलक्षण वस्तु है। मैंने अपने आपमें पूर्णताका आरोप किया और सबको कल्पित बताया। थोड़ी देरके बाद आये। बड़े समझदार थे। उनके मनमें बड़ा दुःख था। वे बोले—'स्वामीजी, आज हमारी समस्या हल हो गयी। मैं समझता था, कभी कृष्णके हृदयमें कृपा होगी तब वह हमारे सामने प्रकट होंगे। तब हमको उनका ध्यान होगा। दस वर्ष हो गये, मैं बड़ा दुःखी था। आपने तो कहा, यह हमारे अधीन है उनके अधीन नहीं है। हम जब चाहें, बुला सकते हैं। आओ कृष्ण, 'खड़े हो जाओ' तो खड़े हो जायेंगे। आज मैं समझा कि हम स्वतन्त्र हैं। अब मेरा ध्यान लगेगा। जब चाहूँगा तब कृष्ण आकर खड़े हो जायेंगे।'

यह काम और विषय पड़ोसीमें-से नहीं आता। काम अपने संकल्पका नाम है। निःसंकल्पताका संकल्प ही निष्कामता है। विषयका संकल्प ही कामना है। इसमें आत्मदेवका बिलकुल स्वातन्त्र्य है, इस बातको नहीं भूलना चाहिए।

इस मनुष्यके हृदयमें रहनेवाली कामनाओंकी मुक्तिका अर्थ है 'कामनाओंका विषय मिथ्या है। मैं कामी नहीं हूँ। अनन्त ब्रह्म, साक्षी, अधिष्ठान हूँ। इस प्रकार मुझमें तो कामीपनेका अभिमान नहीं है और जिन विषयोंकी कामना की जा रही है' उनका तो कोई सत्त्व-महत्त्व-अस्तित्व ही नहीं है। अब कामी

ौर काम्यमान विषय दोनों मिथ्या हैं तो दोनोको जोड़नेवाली ाड़ी यह कामना क्या है? यह तो केवल फुरना-कल्पना है, योंकि कामनाका संचालन करनेवाला वह मिथ्या जादूगर और जेसकी ओर कामना दौड़ रही है वह मिथ्या-मृगतृष्णाका जल-इन दोनोंके बीचमें पिस करके कामना तो स्वयं मिथ्या हो गयी। जो सर्प भास रहा है, वह अपने अधिष्ठान रज्जुमें तो नही है और उसको चाहनेवाला स्वप्न-पुरुष-परिच्छिन्न अह भास रहा है, सो साक्षोमे नही है। स्वप्न-स्थानोय विषय और स्वप्न-पुरुष-स्थानीय कामी, दोनो न रहनेके कारण कामनाका न आश्रय है, न विषय।

श्रुतिमें कामनाका अच्छा विश्लेषण मिलता है। यदि तुम्हें यह मालूम हो गया कि मैं कौन हूँ, तब—

किं इच्छन्, कस्य कामाय शरीरमनुसज्वरेत्।

श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण और पञ्चदशीमें भी थोडे पाठभेदके साथ यह वेदमन्त्र है। भागवतमें है

किं इच्छन् कस्य कामाय देह पुष्णाति लम्पट.।
'किं विषयजात इच्छन् कस्य भोक्तुः कामाय।'

दोनों पर आक्षेप किया। न तो विषयमें कोई सत्त्व-महत्त्व है, न भोक्तामे। भोक्तापना तो दिलकी एक फुरफुराहट है, विषय-पना इन्द्रियोंका चमत्कार है। सपनेमें जैसे स्त्री-पुरुषका समागम होता है, चाट, खीरका भोजन और साम्राज्य भोगते हैं, वहाँ जैसे भोक्ता तुच्छ है, तात्कालिक है, इसीप्रकार व्यवहार माने जाग्रत्में भी जो भोक्ता है, तुच्छ और तात्कालिक है और विषय भी तुच्छ और तात्कालिक है। इनमें अपनी सत्तासे ही हम इनको सत्ता दे रहे हैं। इसोलिए शास्त्रमें कामकी चर्चा बड़े ढङ्गकी की गयी है। सत्त्व और व्यवहार दोनोका समझनेके लिए कामचर्चा है।

"कामनाके चश्मेसे जब हम किसी वस्तुको देखते हैं, उसमे भले कामना और दीखनेवाली वस्तु बनी रहे, लेकिन वस्तुमे कितनी असलियत है और कितना कामके चश्मेसे आगयी है यह विवेक करना पड़ेगा, नही तो फँस जाओगे।

कामान् य कामयते मन्यमान
स कामभिर्जायते तत्र-तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा ॥

ससारके विषयमें भासमान सौन्दर्यको सच्चा मानकर और भोगमे प्राप्त आनन्दकी स्वप्नवत् प्रतीतिको सच्चा मानकर विषयो-को चाहनेवाले व्यक्तिको अपनी कामनाके अनुसार वहाँ-वहाँ जाना पड़ेगा। अर्थात् वह अपनी ब्रह्मताके मूल स्रोतसे विच्छिन्न हो जायगा। इसका अभिप्राय है अपनेको परिच्छिन्न मानना, ब्रह्म-स्वरूप सत्यसे वंचित हो जाना। जिसने सद्गुरुओंकी शरणमे रह-कर अपने मनको ठीक-ठीक अपने ढङ्गका बना लिया और सारी कामनाएँ जिनको प्राप्त हैं, इस जीवनमे ही उसकी सारी कामनाएँ शान्त हो जाती है।

आप क्या चाहते हैं? कहाँ, कब, कैसे, क्यो—यह मत बताइये। जो चाहते हैं सो क्या है? उसवस्तुके स्वरूपको देखिये। अपने-से अन्यको आप चाहते हैं या अपने 'आपको? जो मैं सुख ही हूँ तो मैंको मैं क्या चाहूँगा? मैं तो प्राप्त हूँ। जो अप्राप्त है, वह अन्य है वह जड़ है या चेतन? आप अपने-से अन्य चेतन मानते हैं तो अपनेमे जड़-चेतनका विवेक नहीं है। चैतन्य अपने-से अन्य न दूसरे आत्माके रूपमें होता है, न ईश्वरके रूपमें। न परोक्ष है, न प्रत्यक्ष। चैतन्य उसीको कहते हैं जो प्रकाशक है। जो अन्य है

ह अन्त करणमे वृत्तिके रूपमे कल्पित होता है और मिटता है। सुषुप्तिमे नही रहता। यदि आप अन्यको चाहते हैं तो आप अपने अन्त करण द्वारा कल्पितको चाहते हैं। अपने द्वारा प्रकाशित जडको चाहते हैं। जितनी देरतक आपकी चाह रहेगी, उतनी देरके लिए ही चाहते है। आप उसे बाहर चाहते है या भीतर? आपको अपने भीतर उसके मिलनेकी सवित् हो ऐसा चाहते हैं कि उसके मिलनेका सवित् न हो और मिले ऐसा चाहते हैं? मिले और मालूम न पडे तो मजा है? नही, तो आप उसे चाहते ही नही हैं। असलमे हमको मिलना मालूम पडे, यही हम चाहते हैं। तब बाहरके विषयकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं है! आँख बन्द किये हो उससे मिल लीजिए! यह तो कल्पना है। इसलिए आप जिसको चाहते है, वह आपकी कल्पना है, आपकी कल्पनाके आश्रित है और आपके सामने ही पैदा हुआ है। आपके सामने ही मर जायगा। आप-प्रकाशक बने रहेगे और अन्त करण द्वारा गृहीत अन्य मिट जयगा।

आप क्या चाहते हैं? हम अपने-आपको ही चाहते हैं। यदि आप अपने-आपको चाहते हैं तो अपने आपको अप्राप्त मानते हैं। वास्तवमे आप अपने-आपको नहीं चाहते हैं। अज्ञानसे आप अपने आपको चाहते हैं। हम आत्माका ज्ञान नही चाहते, जिज्ञासासे सूचित विचार चाहते हैं! यदि आप 'मैं कौन हूँ' यह जानना चाहते हैं तो इसपर श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना चाहिए। आप दूसरे देश-काल-वस्तु रूपमे नही हैं, स्वयं हैं तो आप अपनेको चाह क्या रहे हैं? अपनेमें जो अप्राप्तिका भ्रम है, वही मिटाना पडेगा।

जो शरीरके भीतर है, उसे नही चाहता, स्वर्गमें है उसे चाहता हू या नई दिल्ली, न्यूयॉर्क, पैरिस, लन्दनमें है वह चाहता

हूँ। इसका मतलब है कि आप यहीं हैं, वहाँ नहीं हैं। यहाँ-वहाँका भेद आपके मनमें हैं, आपमें है कि आप इस भेदमें विचरण करते हैं? कभी यहाँकी कल्पनामें तो कभी वहाँकी कल्पनामें। जैसे आप यहाँ रहकर वहाँकी कल्पना कर रहे हो, वैसे वहाँ जाओगे तो यहाँकी कल्पना करने लग जाओगे या और कहींकी कल्पना करने लग जाओगे, क्योंकि कल्पनामें मर्यादा नहीं है। आप यहाँ छोड़कर वहाँ जाओगे तो वहाँ छोड़कर और कहीं जाओगे? तब भटकते ही जिन्दगी बीतेगी। यह तो बहुत मोटी दृष्टि बताया।

आत्मा यहाँ भी है। वहाँ भी है। यदि कोई विचार करे कि 'मै ही इंग्लैण्ड-पेरिस, नई दिल्ली, स्वर्गमे हूँ।' तो यह कल्पना बिलकुल झूठी है। मैं देशके पेटमे या देश मेरे पेटमे? दोनों नहीं। यह परिच्छिन्न मैं और परिच्छिन्न देश दोनों फुरनाके पेटमें और फुरना मुझ स्वयप्रकाशसे पृथक् नहीं है। अर्थात् स्थान-विशेषमे किसी वस्तुको चाहना, अपनेको स्थान-विशेषमे मानना है। यह लाउडस्पीकर, यह पुस्तक मुझसे उत्तर दिशामें भास रही है। क्यो? क्योंकि मैं शरीर बनकर उसके दक्षिण दिशामे बैठा हुआ हूँ। यदि मैं आकाश हूँ तो यह मुझसे किस दिशामें है! यदि मैं ब्रह्म हूँ तो यह मुझसे उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, दाँये-बाँये, सामने-पीछे किधर है? ब्रह्ममे तो यह सब नहीं होता! तो स्थान-विशेषमें सौन्दर्यकी, सम्यक्त्वकी, हितकारित्वकी भावना भी चित्तकी ही कल्पना है।

अब-तबकी कल्पना—अब नहीं, तब सुख मिलना चाहिए—तो मार दिया अपनेको। तुम तो अब हो। तब रहोगे कि नहीं यह कैसे मालूम हो? अब और तब दोनों जिस मनमें हैं, उस मनके तुम साक्षी हो। अब अपनेको मनसे मिला देते हो तब

'अब मैं दुःखी हूँ, तब सुख मिलेगा या अब मैं सुखी हूँ, तब दुःखी रहूँगा' ऐसी कल्पना होती है।

'मैंके रूपमें इस शरीरमे बैठा रहूँ और यहके रूपमे मेरा प्यारा प्राप्त करूँ'—दोनो कल्पना हैं। दोनो अपने स्वरूपके अज्ञान-से काम हैं। अर्थात् अपने ब्रह्मत्वके अज्ञान-से अपनेको देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न मानते हैं। इसको भ्रान्ति बोलते हैं।

भ्रान्ति अन्तःकरणमे होनेवाली एक वृत्ति है। उसमे 'मनुष्य हूँ, हिन्दू हूँ, ब्राह्मण हूँ, सन्यासी हूँ, महात्मा हूँ, धर्मात्मा-उपासक-योगी-ज्ञानी-ब्रह्म हूँ'—इस वृत्तिका अभिमान लेकर यदि कोई बैठ जाय तो यह अन्तःकरणकी वृत्ति ही है।' 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति 'मैं जीव हूँ' या 'परिच्छिन्न हूँ' इस भ्रमको मिटानेके लिए अपेक्षित है। स्वरूपमे इसकी भी आवश्यकता नही है। स्वरूपको न जाननेके कारण ही 'सचमुच मैं जीव हूँ' यह भ्रान्ति बन गयी। इसी प्रकार यह भ्रान्ति मिटानेके लिए उपनिषद्से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति उत्पन्न करनी पडती है। यह भी उत्पद्य-उत्पाद्य वृत्ति है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह वृत्ति पैदा होती है, क्षण-भर रहती है और नष्ट हो जाती है। ये सबकी-सब वृत्तियाँ अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही धारण करनी पड़ती हैं। स्वरूपका अज्ञान वृत्ति नही है। 'मैं परिच्छिन्न हूँ, जीव-पापी-पुण्यात्मा-सुखी-दुःखी-मनुष्य-ब्राह्मण हूँ'—ये सब वृत्तियाँ हैं। इन सब परिच्छिन्न वृत्तियोंका ध्वंस करनेके लिए 'मैं ब्रह्म हूँ, अनन्त-अविनाशी-परिपूर्ण हूँ'— इस वृत्तिकी आवश्यकता है। अपने स्वरूपमें कोई वृत्ति हो चाहे न हो, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। अपनेको ब्रह्म न जाननेके कारण ही अपनेको परिच्छिन्न मान लिया जाता है और अपनेको परिच्छिन्न मानते ही देशकी गोदमें आगये। जो देशका अधिष्ठान था उसने

अपनेको देशकी गोदमे माना। कालका अधिष्ठान था वह कालके पेटमें आगया। इस समयकी चीज हमे मिली हुई है और आगेकी चीज हमे नही मिली है ऐसी कल्पना हो गयो। जिसकी गोदमे सम्पूर्ण जडता और अन्यता अध्यस्त—कल्पित थी, वह अज्ञानके कारण अपनेको परिच्छिन्न देह समझने लगा। स्त्रीको पुरुष अप्राप्त मालूम हुआ और पुरुषको स्त्री। अप्राप्त देश-काल और अन्य वस्तुके लिए कामनाका उदय हो गया। कामनाका मूल कहाँ है ? अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिमे। अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति कहाँ है ? अपने स्वरूपके अज्ञानमें। अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्तिसे जब प्राप्त-अप्राप्तका भेद हो जाता है तो अन्य देशमे सादगुण्यकी कल्पना होती है कि 'यह देश अच्छा नहीं है, कश्मीर बहुत अच्छा है।' तो तुम वहीं जाकर बसो। नहीं, दस दिनके लिए जायेंगे, फिर लौट आवेंगे। कश्मीर हो अच्छा था तो यहाँ क्या काटकर आते हो ? रुपया भी तो अच्छा है न ? दो दो अच्छे होने पर एकबार वह खींचेगा और एकबार यह। तुम्हारे हृदयमे एक कश्मीर-ग्रन्थि है, एक नोटग्रन्थि। सौन्दर्यकी गाँठ वहाँ खींचेगी, पैसेकी गाँठ यहाँ। अपनी वृत्तियोका भासमान विषयोंके साथ जो सम्बन्ध है, उसीको बोलते हैं ग्रन्थि। धनके साथ मनकी गाँठ लोभग्रन्थि है। विष्णु भगवान् उसे पूरी करनेमे मदद करते हैं। दुश्मनके साथ बदला लेनेकी इच्छा क्रोधग्रन्थि है। रुद्र भगवान् उसे पूरी करते हैं। स्त्री बच्चेकी कामना कामग्रन्थि है जिसे ब्रह्माजी पूरी करते हैं। इन सबके मूलमें एक ग्रन्थि है, उसका नाम है चिज्जड-ग्रन्थि। एक ही सत्ताको शब्दादि पाँच विषयोंके रूपमें ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय वृत्तियों सहित अन्तःकरण है। आत्मा तो केवल प्रकाश फेंकता है। वह तो स्वयम्भू, स्वयंप्रकाश, स्वयंआनन्द, स्वयंप्रेम स्वयंप्रतिभास, स्वयंसत्ता है। इससे तो प्रकाशका विकीरण ही हो रहा है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता.।

लौकिक दृष्टिसे साधक लोग चाहते हैं कि काम मिटे। ससारी चाहते हैं, कामना पूरी हो। ये दोनों दृष्टियाँ अधूरी हैं। औसत-मध्यमकक्षाके मनुष्यकी दृष्टिमे उसकी सारी कामनाएँ मिट जायँ यह आवश्यक नही है और सारी कामनाएँ पूरी हो जायँ यह भी आवश्यक नहीं है। सब कामनाएँ पूरी हो जायँ, यह चाहनेवाले तो बच्चे ही होते हैं। सब कामनाएँ मिट जायँ यह चाहनेवाले भी साधनाके मार्गमें बच्चे ही होते हैं।

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।

श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—'मैं तुम्हारे जीवनमें काम हू।'

(१) यावद् जीवो त्रयो वन्द्याः।

जबतक जीवन रहे तबतक तीनकी वन्दना करनी चाहिए, चाहे वह वेदान्ती हो जाय, ब्रह्म हो जाय, कुछ हो जाय।

(२) वेदान्तो गुरु ईश्वर.।

प्रमाणमें सर्वोपरि वेदान्त है। मालिकमे सर्वोपरि ईश्वर है और शिक्षकमें सर्वोपरि गुरु है।

जीवन है तो जिस राज्यमें रहें उसके संविधानको मानें। हम ईश्वरके राज्यमें रहते हैं तो ईश्वरीय संविधानको मानना चाहिए। अब ईश्वर हमारे जीवनमें कामके रूपमें आया।

मन चाहता है सब कामनाएँ पूरी हों या मिट जायँ। ऐसा चाहो कि मर्यादाके अनुरूप हों वे कामनाएँ पूरी हों। जीवनके लिए जो अपेक्षित हैं उनको रहने देना। कुछ कामनाएँ ऐसी हैं जिनको जबरदस्ती हम अपने जीवनमें बुलाते हैं। कैसे? 'संकल्प-मूलक.कामों वैकामकी जड़ संकल्प है। अब प्रश्न यह हुआ कि

संकल्प तो सबके मनमे होता है। संस्कृतमे कल्पनामात्रका नाम संकल्प नही है, सम्यक्‌त्वकी कल्पनाका नाम संकल्प है।

हमारे एक आचार्य गद्दी पर बैठते थे। हमने कहा 'तुम महाज्ञानी हो, विरक्त हो, त्यागी हो फिर गद्दी पर क्यो बैठते हो?'

वे बोले 'हम तो रोज शौचालयमे भी जाते है। शौचालय-स्नानगृह कल्पना तो है, परन्तु इसमे सम्यक्‌त्वकी कल्पना नही है। यहाँ विश्राम, नींद, भोजन नही, जाना पड़ता है इसलिए जाते हैं। गद्दीपर बैठना पड़ता है इसलिए बैठते है। इसमे सम्यक्‌त्वकी कल्पना नही है। यह सोना, चाँदी, गद्दीमे बहुत बढ़िया कल्पना नहीं है। एक ब्रह्म परमात्माके सिवा शौचालय भी कल्पित है और गद्दी-सिंहासन भी कल्पित है। जहाँ समत्वका ज्ञान है, वहाँ कल्पना राग-द्वेषकी जननी नही होती। यह दुष्ठु-सुष्ठुका ज्ञान नही है, एक अद्वितीय है। जहाँ समतामे कल्पना है वहाँ वह कल्पना कामकी जननी नहीं होती।

श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌ने अपने शास्त्रोमे महाभारतका एक वचन उद्धृत किया है। शान्तिपर्वमे कामगीता (मनकी गीता) मे मोक्षधर्म पर तीस-पैंतीस श्लोक हैं। उन्तीस-तीस श्लोकोमे कामका ही वर्णन है। कामग्रन्थिका स्वरूप समझनेके लिए कभी-कभी पुराना ग्रन्थ भी देखना चाहिए। सब फ्रायड ही नही जानता है। यह ख्याल गलत है कि मनोविज्ञानके सम्बन्धमे सारा ज्ञान फ्रायडका ही है। 'ओ काम, मैं तेरी जड़ जानता हूँ।' महात्मा ललकारता है।

जब हम यह खयाल करते हैं कि यह चीज हमे बहुत सुख देगी और यह हमारे लिए बड़ी हितकारी होगी तो उसमें एक क्रमपूर्वकी सम्यक्‌त्वकी कल्पना रहती है—(१) सर्वप्रथम 'मैं'

(२) फिर 'मेरे लिए', (३) फिर मेरे लिए यह वस्तु, (४) फिर मेरे लिए यह वस्तु सुखप्रद होगी, (५) आगेके लिए हितकारी होगी। इसप्रकार सुखत्व और हितकारीके प्रति सम्यक्त्वकी कल्पना हो जाती है। तब—

'ध्यायतो विषयान् पुंस संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥'

—गीता

जिसमे सम्यक्त्वकी कल्पना होती है उसका उपादेय बुद्धिसे ध्यान होता है कि यह चीज हमे मिले। ध्यान करनेसे उसका सङ्ग होता है, सङ्ग करनेसे उसकी उपलब्धि होनेपर उसके भोगकी इच्छा होती है। कामपर विजय कैसे प्राप्त करना चाहिए? कामना है मध्यवर्ती कल्पना। उसके पूर्व और पश्चात्पर चोट-करना चाहिए। वह चोट क्या है?

असंकल्पात् जयेत् काम क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्षणात्॥

—भागवत

सम्यक्त्वकी कल्पना होने लगे तो उसपर विचार करना कि हमारा हित होगा या हमे सुख मिलेगा, ऐसी यह कल्पना क्या ठीक है? इसमे कोई जबरदस्ती नही है। हाथ-पाँवको बाँधकर कामको रोका नहीं जाता। लोहेकी लगोटी पहनकर भी कामको रोका नही जाता। गाँवमे कोई-कोई सिकड़ियाबाबा होते हैं। पीतलकी या किसी अन्य धातुकी लंगोटी पहनकर वे उसे ताला लगा देते हैं। कामपर विजय पानेका यह कोई तरीका नहीं है।

असङ्कल्पात्—विचारपूर्वक देखने-से जिस वस्तुमें त्रुटि मालूम होती है, उसमे यदि सम्यक्त्वकी कल्पना हो गयी तो तुम्हें

भिखारी, प्यासा, पराधीन होना पडेगा। फिर भी पूर्णरूपसे उस वस्तुकी प्राप्ति नही होगी। मनपर चोट नही की जाती, बुद्धिको ठीक करना है। क्रिया और बुद्धिके बीचमे काम है। क्रियामे पवित्रता, कममे पवित्रताका भाव और बुद्धिका ठीक दिशामे चलना कामको रोकता है।

काम जानामि ते मूल सकल्पात् किल जायसे।
न त्वां सकल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि ॥

हम दृश्यवस्तुमे सम्यक्त्वकी कल्पना करेंगे ही नही। एक-बार श्रीउडियाबाबाजीसे लोगोने कहा 'अमुक व्यक्तिको बुलाया जाय, वह बहुत अच्छा है।'

वे बोले 'मैं तो ईश्वरको भी नही बुलाता हूँ। दृश्यम सम्यक्त्वकी कल्पना माने भिक्षापात्र लेकर पीछे पीछे घूमना कि तुम अपना रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श दे आओ। निरतिशय महान्के लिए यह क्या शोभाकी बात है कि वह इस प्रकार संसारमे घूमता रहे? सम्यक्त्वकी कल्पना छूट जानेसे कामपर विजय होती है।

जो अपने मनकी ज्यादा चाहता है उसीको क्रोध आता है। क्रोधी वह होता है जो अपने मनको तो मन समझता है, दूसरेके मनको चिडिया समझता है। 'हमारे ही मनकी हो'—यह तो बडी अधूरी दृष्टि है। क्रोधकी निवृत्ति अपनी कामना शान्त होनेसे होती है। अर्थ-अनर्थके विचारसे लोभ शान्त होता है। अपने मनका पतन ही असलमें पतन है। जब मन मर्यादारहित हो जाता है, गिर जाता है, तो सब कुछ गिर जाता है। 'एक परमार्थवस्तु ही सच्चा अर्थ है' यह विचार करने-से लोभकी वृत्ति मिटती है।

भयं तत्त्वाविमर्शनात्।

डर लगे तो विचार करो कि हम तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा-ब्रह्म हैं। भूत दीखे तो मत लौट जाओ। जाकर उसकी गोदमें ही बैठनेकी कोशिश करो और खुली आँखसे देख लो तो वहाँ भूत नहीं मिलेगा, पेड़का ठूंठ ही मिलेगा। असलियतकी खोज करने-से भय मिटता है। एक-एक दोषके निवारणके लिए शास्त्रमें बड़ा लम्बा-चौड़ा वर्णन है।

दम्भम् महदुपासना।

मनमें शोक-मोह आवे तो दर्शन शास्त्रका विचार करो—'कौन किसका है?' शोक-मोह हल्का हो जायगा। जो अपने उत्कर्षका ख्यापन करे कि 'मैं बड़ा' वह अपने-से बड़ेके पास रहे तो दम्भ छूट जायगा।

एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्।

अपने जीवनमें कोई भी दोष होवे, यदि अपने गुरुदेवके प्रति सच्ची भक्ति है तो बड़ी सुगमतासे उसके प्रति विजय हो जाती है। ये कामादि विकार तत्त्वदृष्टिसे तो हैं ही नहीं, जिज्ञासुके जीवनमें ये केवल हल्के-फुल्के जीवन-निर्वाहके लिए रहते हैं और संसारीके जीवनमें उसको काबूमें करके, उसे नचानेवालेके रूपमें रहते हैं। जब हम तत्त्वज्ञानकी ओर अग्रसर होते हैं तब एक ऐसी चीजको चाहने लगते हैं जिसमें इन सबकी कोई कीमत ही नहीं है। वे अपने आप छूटकर गिर पड़ते हैं—प्रमुच्यन्ते। तब अज्ञान-दशामें अपनेको मर्त्य = मरनेवाला शरीर माननेवाला पुरुष अमृत हो जाता है और इसी जीवनमें उसे ब्रह्मानुभूति-ब्रह्मसे एकत्वकी प्राप्ति होती है।

तब हमारे मनमें यह ख्याल आता था कि जब अग्नि, जल, वायु आदि अपना धर्म छोड़कर नहीं रह सकता तो हमारा धर्म

कच्चा होनेपर छूटता होगा। हिन्दू-मुसलमान हो जाता होगा और मुसलमान हिन्दू। यदि वह अग्नि-जलके समान पक्का होता तो छूटता कैसे? धर्म तो सनातन ही होना चाहिए, परन्तु जो धर्म उधार लिया हुआ होता है वह तो छोडना ही पडता है—एक न एक दिन छूट जायगा।

मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है, पशुका धर्म पशुत्व है। मनुष्यत्व छोड करके पशुत्व-धर्मभान नही हो सकता और पशु पशुत्व छोड करके मनुष्यत्व-धर्मभान नहीं हो सकता। इसलिए धर्म तो सनातन ही होना चाहिए। सत्य और झूठमे झूठ सनातन नही, सत्य ही सनातन होगा। हिंसा और अहिंसामे हिंसा सनातन नही, अहिंसा ही सनातन होगी। कभी हिंसा भी धर्म हो सकती है जैसे पानी भी कभी गरम होता है। आदमी कभी गरमा जाय तब हिंसा होती है, परन्तु यह उसमे स्वाभाविक नही है। इसी-प्रकार काम-क्रोध-लोभ आदि पुरुषका—आत्माका स्वाभाविक धर्म नहीं है, यह तो गरमाहटमे—आवेशमें आनेपर है। इसका सहज धर्म सत्य, अहिंसा, सन्तोष, ब्रह्मचर्य है। कोई चौबीस घण्टे चोरी करके, ब्रह्मचर्य-भंग करके बता दे। नही हो सकेगा। परन्तु हम चौबीस घण्टे ब्रह्मचर्य करके, सन्तोष करके रह सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि हममें जो बुराइयाँ हैं वे अध्याहार्य हैं—उधार ली हुई हैं।

बडे होनेपर भक्तोका सत्सग मिला तब विचार किया कि ईश्वरकी गोदमें रहकर, उसकी सासोंमें सांस लेकर, उसकी चेतना-से चेतनावान होकर जैसे एक कण भी आकाशका अभक्त नही हो सकता, उसी प्रकार कोई भी जीव ईश्वरका अभक्त नही हो सकता। भक्ति सामान्य धर्मके अन्तर्गत है। निरन्तर

स्मरण नही, आस्था उसमे अपेक्षित है। निरन्तर विश्वास-आस्तिकता हो तो भक्ति सामान्य धर्म है। यह तो जीवका जीवत्व है पूर्णके प्रति आस्थावान होना। कणका जीवन है आकाशके भीतर ही रहना। मनुष्यका धर्म मनुष्यत्व है जिसके बिना मनु य रह नहीं सकता।

ब्रह्मविद्या अग्नि-जल, कण या जीवके धर्मका विचार नही है। जो सर्वाधिष्ठान, स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक, अद्वितीय, चिन्मात्र वस्तु है उसका क्या स्वरूप है। यह बताना वेदान्तका काम है। वेदान्त कहता है कि अनन्त, अद्वितीय, स्वयंप्रकाश आत्मामे काम नहीं है, व्यक्तिके मनमे है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

धर्म आत्मा है तो वह छोड़ा नहीं जा सकता और अनात्मा है तो वह पकडा नही जा सकता। यहाँ छोडनेका मतलब क्या है? छूटे हुएको छूटा हुआ जानना और पकडे हुए का पकडा हुआ जानना। आत्मा कभी छूट नहीं सकती और जो धर्म छूटे हुए हैं वे कभी पकड़े नहीं जा सकते।

'परित्यज्य' माने 'परित्यक्तेन अवबुध्य।' इन धर्मोंको छोडनेकी क्रिया नही करनी है, ये छूटे हुए है। अनात्म-धर्म आत्म-धर्म नहीं है। अनात्म-धर्मके साथ आत्म-धर्मका कभी कोई सम्बन्ध नही है। शरीरका मरना-जीना हमारा नहीं। सासके लिए हवा, पानी प्राणका भोजन है, आत्माका नहीं—

काम, संकल्प, विचिकित्सा धीर्धीर्भी ह्री एतत् सर्वं मन एव।

काम, संकल्प-विकल्प, संशय, श्री, धी, भी, लज्जा, समझदारी, सुख-सौभाग्य—ये सब मनके धर्म हैं। ये सब हृदिश्रिता-मनसि स्थिता हैं। न तु आत्मनि इत्यर्थ। काम आत्मधर्म नहीं, मनोधर्म हैं।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।

'आत्मगतान् नही—आत्मामे कोई काम नही है, क्योकि काम रहे तब भी आत्मा है और न रहे तब भी है। काम-अकाम दोनो सच्चे हों तब भी आत्मा है, झूठे हो तब भी आत्मा है। बड़े-से-बड़े कामीको नीद आजानेपर कामका पता कहाँ लगेगा? न्याय-वैशेषिक और वेदान्तियोके सम्प्रदायमे भर्तृ-प्रपञ्च है। इनका सिद्धान्त है कि काम, संकल्प आदि जीवके धर्म हैं, परन्तु जीव तो परिच्छिन्न है, कर्ता-भोक्ता है। मनरूप उपाधिसे ठीक-ठीक विवेक न होनेके कारण उसे जीवका धर्म माना और सम्प्रदाय इसे जीवका धर्म नही मानते, आत्माका धर्म भी नहीं मानते हैं, अनात्माका धर्म मानते हैं।

आदमीके मोहके सिवा इनको छोड़नेमें कोई बाधा नहीं है, मोह ही बाधा है। मैं वृन्दावनमें था तब एक सज्जन बीकानेरसे पैदल चलकर हमारे पास आये। राजस्थानमें बालूके टीले पार करके आना बड़ा मुश्किल है। उनकी दाढ़ी बड़ी-बड़ी थी, हाथमे लोटा-डोरी और काँखके नीचे एक सामान्य कम्बल दबाया था। उन्होने कहा 'महाराज, हमारी स्त्री दूसरे पुरुषसे फँस गयी है। हम बहुत दुःखी हैं। मनमें जरा भी शान्ति नही है, बेचैनी है। हम आपके पास आये हैं, हमें शान्ति मिले ऐसा उपाय बताइये।'

हमने कहा 'छोड़ दो ऐसी स्त्रीको। वह जिसके साथ जाती है, उसके साथ जाने दो। जब वह तुम्हारे प्रति वफादार नहीं है, वह अपने धर्मका पालन नहीं करती है तो तुमको ऐसा क्या मोह है? उसको कह दो कि जाओ, तुम उसीके साथ रहो। तुम अपने घरमें अकेले रहो।"

वे बोले 'महाराज, बच्चे हैं।'

मैं बोला 'बच्चोंकी देखभालके लिए अपनी बहन, बेटी, रिश्तेदार किसीको बुला लो।'

वे बोले 'कोई नहीं है।'

मैंने कहा 'अच्छा तुम बच्चोको उसके पास छोड़ दो और तुम अलग हो जाओ।'

वे बोले 'यह तो नहीं हो सकता। हम उसके बिना रह ही नही सकते।'

मैंने कहा 'जब तुमको यह बात मालूम हो गयी कि तुम्हारी पत्नी तुम्हारी नही रही है, दूसरेकी हो गयी है तो उसे छोड क्यो नही देते? यह तुम्हारा मोह है। उससे जो सुख मिलता है, रोटी बनाती है, भोग मिलता है तो अच्छा लगता है, इसीसे नही छोड सकते।' हम इस मनको क्यो नही छोड सकते?

योगवासिष्ठ सस्कृत साहित्यका रत्न है और ईश्वर कृपासे मैं उसके बारेमे जानकारी रखता हूँ। उसमें एक बहुत अद्भुत कथा आयी है।

बृहस्पतिका पुत्र कच मुर्दोंको जिन्दा कर देनेवाली सजीवनी विद्या प्राप्त करनेके लिए दैत्योंके गुरु शुक्राचार्य के पास गया। दैत्योंमें तब भौतिकी विद्या बहुत उन्नति पर थी। विद्या प्राप्त करके कच अपने पिता बृहस्पतिके पास लौट आया तो वह अपने पिताको कुछ समझता ही नहीं। बृहस्पतिने देखा, विद्यासे औद्धत्य नहीं, विनय आनी चाहिए—'विद्या ददाति विनयम्।' उद्धत वे लोग होते हैं जिनके अन्दर हीनताका भाव होता है। वे अपने-को स्वाभाविकरूपसे छोटा समझते हैं और बनावटी बडप्पन

दिखाते हैं। उनके बनावटी बडप्पन पर चोट लगती है तब लड़नेके लिए तैयार हो जाते है। बडेको कोई छोटा बता दे उसे कोई तकलीफ नही होती। कोई करोडपतिको गरीब बत तो उसे हँसी आयेगी कि 'अच्छा हुआ, छिप गये, नही तो ज्या चन्दा देना पडता!' गरीब अपनेको करोडपति बताता हो अ कोई उसे गरीब बताये तो वह लडेगा।

ज्ञान बघारनेवाला ऐसा ही है, जैसे नौकर अपनी मूँछ ऐंठ हुआ मालिकके सामने आय। कचसे पिताने पूछा 'तु शान्ति मिली ?'

कच 'नही, शान्ति तो नही मिली।'

अभिमानीको शान्ति नही मिलती, क्योंकि वह तो काम है और चाहिए, और चाहिए। अभिमानका स्वभाव है बनाना—'हमारी ऐसी जाति' तो जातिका घरा बन गया।

अभिमानी एक मानमे, परिमाणमे, साढ़े तीन हाथमे, प्र या राष्ट्रमें अपनेको घेर लेता है। धनीपना, सद्गुणीपना, धर्मा पना, विद्वान्पना, नेतापना सब अभिमान है। जब यह निकलनेकी कोशिश करता है तो मर्यादाको तोड देता है। शान्ति कैसे मिलेगी? बँधे हुए गाय-बाछे जैसे बन्धन तुडा व्याकुल होते हैं, वैसे उसकी स्थिति हो जाती है। जब क कहा कि 'शान्ति नहीं मिली' तो पिताने कहा 'त्याग कर उसने पहले वर्ष वस्त्र छोड दिये, दूसरे वर्ष दण्ड-कमण्डलु तीसरे वर्ष कौपीन छोड दिया। चौथे वर्ष खाना-पीना कम दिया। आपने पूछा 'शान्ति मिली ?'

कच 'नहीं, पिताजी, अब मेरे पास कुछ नहीं है।

कहते हो, त्याग करो, त्याग करो, त्याग करो, तब शान्ति मिलेगी। अब मैं अपने शरीरका ही त्याग करूँगा।'

उसने चिता बनायी और उसमे कूदनेको तैयार हुआ कि बृहस्पतिने उसका हाथ पकड लिया—'बैटा, ऐसा त्याग नही होता। यदि तुम शरीरको जलाओगे तो जिस वासना-से शरीर बना है, वह वासना बनी रहेगी और फिरसे शरीर बन जायगा। तुम्हें देह-बन्धनसे छुट्टी नही मिलेगी।'

कच 'तब पिताजी, त्याग क्या होता है?'

पर्समें-से एक-एक पैसा निकालकर फेंकनेका नाम त्याग नही है, पर्स फेंक देनेका नाम त्याग है। जितनी कामनाएँ हैं वे कहाँ रहती हैं? चित्तमें। चित्तका भी सोता जागता है और कामना भी सोती-जागती है। बेटा, तुम न जागते हो—न सोते हो, तुम तो एकरस रहते हो।

चित्तत्यागम् विदु. सर्वत्यागम्।

असलमे चित्तका त्याग ही सच्चा त्याग है। जब मकानको हम मैं-मेरा समझ लेते हैं तब उसकी मरम्मत—उसका पोषण निश्चित हो जाता है, और चित्त विक्षिप्त हो जाता है। देहातमे मिट्टीके घरमें बडा झगडा लगा रहता है। वर्षामे धरती गोली हो जाती है। शौच जाकर कोई आवे तो गोली मिट्टीसे हाथ कैसे मटियावे? उन्होंने पडोसीकी भीतमें से थोडी-सी मिट्टी निकाली और लाठी चली, क्योंकि पडोसीने बडे प्रयत्नसे भीत बनायी है। मकानके साथ उसमें रहनेवालेका तादात्म्य हो जाता है। वैसे इस देहमें बिन्दु बनकर 'मैं' बैठ गया है, जो देहके जन्म-मरणको अपना जन्म-मरण समझता है। प्राणको मैं समझता है तो भूख-प्यास उसे अपनी मालूम होती है। मनमें मैं होनेपर काम, सकल्प, विचिकित्सा

अपने मालूम होते हैं। बुद्धिमे मै होनेसे 'विद्या मेरी' मालूम पड़त है। आनन्दमे 'मै' होनेपर 'भोग-सुख मेरे' मालूम होते हैं। ये सब एक चित्तरूप पर्समे रहते है। यदि तुम चाहते हो कि 'उसमे एक-एक पैसा डालकर उसे भर दगे तो ससारकी सारी सम्पत्ति उसमे अँट जायगी और हम सारी सम्पत्तिके मालिक हो जायँ तो यह ख्याल गलत है। एक-एक पैसा निकालकर त्यागी भी नही हो सकते।

भिन्न-भिन्न कर्म करते-करते इनकी वासना-सस्कारोसे पञ्च भूतकी सात्त्विक तन्मात्रा-प्रधान—प्रकाश-प्रधान चम-चम चमकती हुई रोशनीसे बाहरके पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाली जो चद्दर बुनी होती है, वह न मैं है, न मेरी। अन्त करणसे 'मैं—मेरा' का विवेक होता है, अन्त करण मैं-मेरा नही है। जब मैं अन्त करणवाला नही हूँ तो क्या हू। वेद तो बताता है—तत्त्वमसि तुम अनन्त, ब्रह्म, अद्वितीय हो। दुनियाके सारे अन्त करण हमारे है या तो कोई अन्त करण हमारा नही है। दो ही स्थिति हो सकती है। हम अपने 'मै'को अन्त करणके घेरेमे निकाल लेंगे इसमे निकालनेका अर्थ यह नही है कि कलेजेमे-से निकालकर उसे सिरमें या सिरमे-से निकालकर छतपर रख दिया। निकालना अर्थात् अन्त करणसे अपनेको परिच्छिन्न मैं समझते हैं वह भ्रान्ति मिट जाय। अन्त करणके मोह-माया, ममता, शोक, गुण, दोष जाग्रतादि मेरा मालूम नही पड़ेगा। जब चोंटी, मछली, इन्द्र ब्रह्मा सब अन्त करण मेरे हैं तो केवल एककी चिन्ता अपने ऊपर क्यो लेते हो? यदि कोई अन्त करण अपनेमे नहीं है तो लेनेकी कोई बात ही नहीं रही। सब अन्त करण मेरे हैं तो तुम किस अन्त करणमे बैठकर चिन्ता कर रहे हो? वह भी तो अन्त

करण ही है न ? अन्त करणके गुणदोषके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही है, क्योकि यह अन्त करण ही मेरा नही है और अन्त करणके घेरेवाला मैं नही हूँ। मुझ अखण्डमें अन्त करणकी सत्ता ही नहीं है।

नौकरको हम क५तक नही छोडते हैं ? अग्रेज-सरकारके समयमें हमारे एक मित्रके यहाँ अफीम-गाँजा-जुआवाले बहुत आते थे। उनकी आमदनी बहुत होती थी। एकबार उन्होने मुझे बुलाया—'बाबाजी, आप हमारे यहाँ आइये।' मै गया। वहाँ मुझे और सब तो अच्छा लगे, परन्तु उनका नौकर उनके सिरपर हावी था। वह अपने मालिकको डाँट दे उनकी बात न माने, वे कहें कुछ और वह करे कुछ। वे सब चुपचाप सह लेते थे। मैने उनसे पूछा—'तुम अपने नौकरसे इतने दबे हुए क्यो हो ?'

हम तो उनके गुरुजी ठहरे। उन्होने बताया—'बाबाजी, हम रिश्वत इसके द्वारा लेते हैं। वह जानता है, हमने किस-किससे रिश्वत ली है। किसीको बुलवाते हैं तो वही जाकर बुला लाता है। पैसे कहाँ रखे हैं यह भी इसीको मालूम है। हम इससे लडाई कर लें तो वह तो हमारी सारी पोलपट्टी खोल देगा। यही सारा काम चलाता है।'

आदमी मनकी इतनी सहता क्यों है ? शोक-मोह, बेचैनी अशान्ति सब मन देता है। बात यह है कि यह मन कभी-कभी दुनियामे-से प्यार भी निचोडकर ले आता है, कर्म, भोग, धन, रिश्ते-नातेका सुख-दु ख भी मन देता है। अत इसके दबावमे हम इतने आगये हैं कि उसे छोड नहीं सकते। शराब पीनेवाले शराब नहीं छोड सकते। नशा उतरने पर वे रोते हैं। जिनके चित्तमे धर्मका संस्कार है वे ज्यादा ग्लानि होनेपर कहते हैं—'महाराज, हम

आपको छूने लायक नहीं है, उच्छिष्ट है।' उनका बुरा नहीं लगता। हमारे गाँवके आसपासके लोग—राजपूत हैं, वे मांस खाते और हम उनकी गुरुवाई करते। वे कहते—'हमारे बर्तन आपके खाने लायक नहीं हैं, हम उनमें मांस-मछली पकाते हैं'। ब्राह्मणके घरके बर्तनमें रसोई बनाते तब उनके यहाँ हमारा भोजन होता।

हमारा यह मन बर्तन ही है। इसमें गन्दगी, सुख-दुःख, भोगमें राग-मोह भरे हुए हैं। ऐसे मनके प्रति अब हमने आत्मसमर्पण कर दिया तो मनको छोड़ नहीं सकते। मन न होगा तो रूपरसादि कहाँ होगा? छोड़ दो मनको—'जा बेटा, जो मजा तू दे सकता हो वह हमें चाहिए ही नहीं।' यह वैराग्य है। वैराग्यसे मन छूटता नहीं, मनको छोड़नेकी योग्यता आती है। मनसे मिलनेवाले सुखोंके प्रति जब वैराग्यका भाव आता है तब हम कहेंगे कि—'हे मन! तू जड़का बेटा है, अन्य है, नौकर है। मेरे कहे अनुसार चल, नहीं तो निकल जा घरसे बाहर। तुझे घरमें नहीं लौटने देंगे। हमारे आत्मामें तुम्हारा प्रवेश नहीं है। तुम्हारी मौज हो वहाँ जाओ।' तब थोड़ी देरमें मन तुम्हारे पाँवमें आकर गिरेगा, चिरौरी करेगा, कि—'दो मिनटके लिए तुममें—आत्मामें हमें आने दो।'

तुम कह दो—'जा तू भूतमें, भविष्यमें, वर्तमानमें। हम भीतर नहीं आने देंगे।' हम तो इस नौकरके चक्करमें ऐसे फँसे हैं कि उसके बिना रह ही नहीं सकते। यह आता है तो गन्दा कपड़ा भी अपने साथ ले आता है, शरीरका दुर्गन्ध और अपनी जातिकी बुरी संस्कृतियाँ भी ले आता है।

त्याग करो। किस द्रव्यमें, किस अन्तर्देश और किस कालमें ग्रन्थि-विमोक्ष होता है यह जानो। मनके सोने-जागनेका समय, उसके घूमनेकी जगह और जिस मसालेसे वह बना है,

वह मसाला पहचान लो। मन तुम्हारा बेटा नहीं है, पत्नी नहीं है कोई नातेदार-रिश्तेदार नहीं है, वह कोई परदेशी तत्त्व नहीं है। वह तुम्हारे साथ ऐसा चिपक गया है कि तुम अमृत पुत्र होनेपर भी अपनेको मृत्युग्रस्त समझते हो—

न भवति अमृत मर्त्यम्।

जो स्वधर्म है, वह छूट नहीं सकता, परधर्म हमेशा रह नहीं सकता। पराया हमेशाके लिए अपना हो नहीं सकता और अपना हमेशाके लिए पराया नहीं हो सकता।

न मर्त्यममृतं तथा प्रकृतेरन्यथा भावो कथंचित् भविष्यति।

श्रीगौडपादाचार्यने कहा—'जो अमृत है वह कभी मर्त्य नहीं हो सकता। जो मर्त्य है वह कभी अमृत नहीं हो सकता। प्रकृति माने जो चीज जैसी है उसका अन्यथाभाव न होना। ब्रह्मविद्या बताती है—'तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो। तुम न कामके विषय हो-न आश्रय। कोई तुम्हारी कामना कर नहीं सकता। तुमको बड़े प्रेमसे किसीने देखा ही नहीं है तो तुमसे वह प्रेम क्या करेगा ? तुम प्रेमके विषय भी नहीं हो।'

तुम प्रेमके विषय या कामके विषय तब होते, जब तुम्हें कोई ठीक ठीक देखता कि तुम क्या हो ? तुमको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म जान जाय तो तुमसे प्रेम क्यों करेगा ? तब तो कहेंगे—'यह तो हमारे किसी कामका ही नहीं है। न दे—न ले।' तुम अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त जान जाओ तो किसीके रागमें, मोहमें, प्रेममें क्यों फँसोगे ? श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत् ?

आत्मा दुःखी नहीं होता, वह तो दुःखी जीवका, दुःखी मन-अन्तःकरणका साक्षी है। जो तुम्हारे दिलके भीतर बैठकर रो रहा

है कि "मै दु खी हूँ, दु खी हूँ, दु खी हूँ," इसके तुम साक्षी हो, जैसे सडकपर 'मैं दु खी हूँ' चिल्लाता हुआ कोई रो रहा हो और तुम उसको देख रहे हो। जो साक्षी है वह दु खी नही है और जो दु खी है वह साक्षी नही है। यदि बन्धन स्वाभाविक होता, तुम सचमुच अन्त करणवाले होते तो तुम कभी अन्त करणको छोड नही सकते। आत्मा सचमुच बद्ध होता तो कभी मुक्त हो नही सकता।

अपना धर्म, स्वभाव, स्वरूप छोडा नही जा सकता। तत्त्व-ज्ञानसे तो आत्मा मुक्त हो जाता है—मुक्त होता नही, वह तो पहलेसे ही मुक्त होता है।

जो बडे प्रेमसे ब्याह करते हैं उनका जोश तीन वर्षमे अधिक नही रहता।

ब्याहके बाद जब प्रेम शिथिल पड जाता है तो रूठकर—लडाई करके प्रेमको जगाना पडता है। यह मोहका विलास है जो घर-गृहस्थीमें चलता है। मोह आत्मधर्म नही है। सुरेश्वरा-चार्यजीने कहा

> आत्मा कर्तादि रूपश्चेत् माकांक्षी तर्हि मुक्तता।
> नहि स्वभावो भावानाम् व्यावर्तेतौ ष्ण्याद्यथा रवे ॥

जैसे सूर्यका स्वभाव उष्णता है और वह बदल नहीं सकता, वैसे आत्माका स्वभाव अमृत है।

हमारे वेदान्तके चार वाद मुख्य हैं—(१) दृष्टिसृष्टिवाद, (२) अवच्छेदवाद, (३) आभासवाद और (४) प्रतिबिम्ब-वाद। इन सबमे यह बात मानी जाती कि है आत्मामे गमनागमन नही है। शरीरके भीतर एक-से दूसरी जगह, लोकमे एक लोकसे दूसरे लोकमे जाना-आना नही होता। आत्मा तो ब्रह्म ही है।

आना-जाना तो केवल कल्पना है। जैसे संग्रहणीका रोगी अपनेको मलस्थानमें, टी बीका रोगी अपनेको फेफड़ेमे जानें, इसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका अधिष्ठान अपने ही अन्दर है। इसलिए आत्मा स्वर्ग-नरकमें जाती नही, स्वर्ग-नरकमे पहुँच गयी ऐसी कल्पना होती है। जन्मान्तरकी प्राप्ति नही होती, मैं जन्मान्तरमें चला गया ऐसी कल्पना होती है। चारो वादोका सिद्धान्त एक सरीखा है कि पूर्ण वस्तुमे गमनागमन कल्पित है। अपने स्वरूपकी अखण्डताका बोध न होनेसे ऐसी कल्पना होती है।

जिस वासनाग्रंथिके कारण हम कर्म और फल, पूर्वजन्म और उत्तरजन्मकी कल्पना करते हैं, परिच्छिन्नमें मैं करते हैं उस वासनाग्रन्थिको ही काटना है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

परावर = परम् अपि अवरम् यस्मात्। दुनियाकी दृष्टिमें जो सबसे परे है वह भी छोटा है जिसमे। पर = अव्यक्त, प्रकृति, सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म। वह सगुण ब्रह्म भी जिससे छोटा है, अवर है वह परावर है। निर्गुणमे सगुणका आरोप—अपवाद हुआ। अध्यारोपके बाद और अपवादके पूर्व निर्गुणमें सगुणकी प्रतीति होती है। अध्यारोपके पूर्व और अपवादके अनन्तर निर्गुणमें सगुणकी प्रतीति नहीं होती। वह सर्वकारणकारण, सर्वशक्तिमान परमेश्वर जिससे अवर है, जगत्के कर्ता भोक्ता-संहर्ताके रूपमें जिसकी कल्पना की गयी है उस प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान हो जाय, अर्थात् सद्-विषयक अविद्याकी निवृत्ति हो जाय तो 'भिद्यते हृदयग्रन्थि'।

तब तुम जो आम-अंगूर, इमली, चना होकर चटते-मटते हो,

यह नही होगा। तब तुम पुनर्जन्मवाला, नारकी-स्वर्गी न होओगे। जैसे तुम्हारे हाथमे हथकडी और पाँवमे बेडी लगी हो, वैसे तुम्हारे कलेजेमे गाँठ लगी है। वह गाँठ ही तुम्हें खींचे लिये जा रही है। एकबार एक आदमीने बहुत वर्ष पहले बम्बईमे हमसे पूछा था। वह आँखका कच्चा और छोटी किस्मका आदमी था। उसने कहा—'महाराज, आज हम बाजारमे गये। एक सुन्दर वस्त्रवाली स्त्री देखी। वह घूँघट काढे थी। मनमे आया, यह कितनी सुन्दर होगी? वह चली तो मै भी उसके पीछे-पीछे चला। गली पार करके उसके घरके दरवाजे तक पहुँच गया। वहाँ पहुँचकर उसने अपना घूँघट हटा लिया और बोली—'आपको बडी तकलीफ हुई। अब अच्छी तरहसे हमारे मुँहको देख लीजिये।' वह कुरूप थी, उसके मुँहपर चेचकके दाग थे। मै उसके कपडेको और पाँवका देखकर पीछे-पीछे चला गया था।

वह कौन-सी चीज थी जो उस भलमानुसको उसके पीछे-पीछे मीलो तक खीचकर ले गयी? उसके हाथमे कोई हथकडी नही थी, पाँवमे बेडी नही थी, कमर या गलेमे कोई रस्सी नही लगायी गयी थी, लेकिन कोई गाँठ उसके चित्तमे थी कि नही? इसीको ग्रन्थि बोलते हैं। जब सौन्दर्यकी वासनामे तुम्हारा मै बैठेगा तब वह कामना जहाँ-जहाँ सौन्दर्यकी प्रतीति होगी, वहाँ-वहाँ तुम्हें घसीट-कर ले जायगी, परन्तु यदि तुमने सौन्दर्यकामनाको छोड दिया, आँख सेंकने या ठंडी करनेके लिए तुम्हें सौन्दर्यकी आवश्यकता नही है तो तुम्हे कहीं भटकना नही पड़ेगा। हमारे गाँवमे कहते हैं—'जिसका आना-जाना, उठना-बैठना भी बुरा है उसका नाम बताओ'—आँख। आँखका आना रोग है, जाना अन्धा होना है।

तुम दौडे हुए कहाँ जा रहे हो? धन तो है किसी दूसरेको

लजारोम या बेकम। तुम बिलकुल भले-मानुस हो, चैतन्यवान, बुद्धिमान, जानवान-जीवन्त प्राणी हो। तुम्हे कौन घसीटकर धनके पास ले आता है? क्या धनने तुम्हारे हथकडी लगा दी है? नही। उसके पास कोई रस्सी नही है। धनकी वासनाने चैतन्यके साथ गाठ बाध ली है। ब्याहमें पति-पत्नीमे कपड़ेकी गाठ बाधते है वह तो खोल दी जाती है, दिलमे जो वासनाकी गाठ बनती है कि यह मेरी पत्नी, यह मेरा पति—वह पति-पत्नीके मैको बाध देती है। दोनो बधे-बधे डोलते हैं। एक रोवे तो दूसरा सिर पीटे, छाती पीटे। क्यो? गाँठ पड गयी है। इसीका नाम हृदयग्रन्थि है—छिद्यते हृदयग्रन्थि.। मनुष्यके हृदयमे पति-पत्नी, पुत्र, परिवार, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त, राष्ट्र, धरती, हिन्दुत्व, मानवता आदिको लेकर एक गाँठ बँध गयी है।

चेतनमें कोई गाठ नहीं लगती। चेतन कोई बबूलका पेड या खम्भा थोडे ही है कि उसमे गाँठ बध जाय? चैतन्य तो अनन्त आकाशका अधिष्ठान, दिक्कालसे अनवच्छिन्न वस्तु है। उसमें गाँठ कैसा? गाँठ तो उसे छूती नही! यदि तुमने इतना ही समझ लिया कि कोई शत्रु-मित्र, राग-द्वेष, सुख-दु ख, पाप-पुण्य, धर्माधर्म, कर्मंमे हमारी कही गाठ नहीं है, यह तो स्वप्नवत् आकर झलक-कर चली जाती है तो बन्धन रहेगा ही नही, तुम अपनेको मुक्त अनुभव करोगे!

पलटू तुम मरते नहीं, साधो करो विचार!
साधो करो विचार तुम हो कर्ताके कर्ता!

एक बाबा गाते थे—

का पूछो साधो उमर हमारा हो!
कोटि कलप ब्रह्मा भये

दस कोटि कन्हाई हो !
छप्पन कोटि यादव भये
मेरी एक पलाई हो !

क्या पूछते हो इस आत्माकी उमर ? युगपर युग, कल्प और महाकल्प आये और चले गये। काल कितने रूपोमे फुरफुराया ? कालका प्रेम तो कल्पना मात्र है। चैतन्यके साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है।

हम तो खेतिहर है। यदि एक ही गड्ढेमे पाँच-सात तरहके पेड लगा दिये जायँ—आम, पीपल, बबूल, अशोक, बड तो उन पेडोकी क्या गति होगी ? या तो वे मर जायँगे या आपसमे लड़ेंगे। वे लडकर दुबले पड जायँगे, क्षीण हो जायँगे। एक ही हृदयमे तरह-तरहकी वासनाएँ हैं, वे संघर्षकी सृष्टि करती हैं। जिसके दिलमे बहुत सारी वासनाएँ संघर्ष कर रही हो वह कभी सुखी नही रह सकता। यदि कहो कि 'हम दिलको रख लेंगे, वासनाओंको निकाल देंगे, तो बिना वासनाके दिल तो रहता नही। ऐसी स्थितिमे क्या करना पडेगा ? वासनाग्रन्थिका भेदन यही है कि इस दिलमे अटके हुए तुम्हारे मैके बारेमे विचार करो कि यह सचमुच अटक गया है या अटका हुआ नही हैं। जबतक संशय रहेगा तबतक वासना बनी रहेगी, आत्मसाक्षात्कार नही होगा।

संशयमे भ्रम, अन्धकार है। आधा दीखे और आधा नही दीखे तब संशय होता है। कोई भी चीज पूरी दीखे तो उसमे संशय नही रहता है। स्फीतालोक मध्यवर्ती घटके सम्बन्धमे—स्पष्ट प्रकाशमे दिखता रहे कि यह स्त्री है, यह पुरुष है तो कोई संशय है कि यह स्त्री है कि पुरुष है ? नहीं, वैसे जो आत्मतत्त्वका दर्शन कर लेता है वह जाना जाता है कि जैसे एक शरीरमे रहनेवाली

वासनाओंके साथ हमारे 'मैं'का सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही दूसरे शरीरमें रहनेवाली वासनाओंके साथ भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे शरीरमें रहनेवाला आकाश शरीरमें रहनेवाली वासनाओंसे गन्दा नहीं होता है, वैसे दूसरे शरीरसे, पञ्चभूतसे, देश और कालसे परमात्मा-आत्मा गन्दा नहीं होता। स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान, अद्वितीय आत्मचैतन्य जगमग-जगमग प्रकाशित होता रहता है, किसी कर्मसे-पापकर्मसे भी उसका लेप नहीं होता।

न लिप्यते कर्मणा पापकेन।

तत्त्वज्ञानी पुरुषकी महिमा ही यह है—

नाऽसौ तपति किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवम्।

उसको यह पश्चात्ताप नहीं होता कि मैंने यह काम क्यों किया और उसको यह अभिमान भी नहीं होता कि मैंने यह काम क्यों नहीं किया? बुरा काम हो जानेपर उसे ग्लानि नहीं होती।

गाँवके लोग पण्डित-पुरोहितोंके पास ज्यादा जाते हैं तो उनका ख्याल होता है, 'हम कथा सुनेंगे तो हमें पुण्य होगा, परलोक बनेगा, मरनेके बाद सद्गति होगी।' एक दृष्टिसे यह अच्छा है, क्योंकि लोक बनानेके बारेमें तो वे स्वयं इतने बुद्धिमान् हैं कि पण्डितों-बाबाजीओंसे क्या पूछें कि पैसा कैसे कमाया जाय? लेकिन महात्माओंका यह कहना है कि जैसे तुम धर्म करो और उसका फल तुम्हें स्वर्गमें मिलता है, ऐसे यह वेदान्त-श्रवण इस जन्ममें इस लोकमें सुनो और मरनेके बाद दूसरे जन्ममें या दूसरे लोकमें फल मिले, इसके लिए नहीं है। असलमें यह तो तुम्हारे लोकको ही पूरी तरहसे बनानेके लिए है। परलोकका तो भय मिटा दे और इस जन्मको बिलकुल ठीक बना दे।

अमृतो भवति—मृत्युके कण्टके समान भय-शोक-मोहकी निवृत्ति हो जायगी। मृत्युका डर छूट जायगा। लोग जब देखेंगे कि इसके हृदयमे रागद्वेषकी ग्रंथि नही है, इसे शोक-मोह नही सताते, इसके चित्तमे किसीके साथ कोई दुर्भाव नही है, इसके जीवनमें कोई संघर्ष नही है तो तुम्हारा सहज-सादा जीवन देख कर लोग तुम्हारे पावकी धूलि चाहेंगे। तुम सारी सृष्टिके लिए अमृतमय हो जाओगे। तुम्हारी वाणी, तुम्हारे शरीरकी हवा, तुम्हारी नजर अमृतमय हो जायेंगे तुम जिसे छू दोगे वह अमृत हो जायगा।

यद् यद् पश्यन्ति चक्षुर्भ्याम्
यद् यद् स्पृशति पाणिभ्याम्
स्थावराणि अपि मुच्यन्ते
किं पुन इतरे जना ?

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज इस श्लोकको कथामे बार-बार बोलते थे। तत्त्वज्ञानी पुरुष जिस पशु-चूहे-कुत्तेका, वननको छू देता है वह भी मुक्त हो जाता है। जिसको वह अपनी ज्ञानदृष्टिमें देख लेता है वह भी मुक्त हो जाता है। जड मुक्त हो जाता है, तो चेतनकी तो बात ही क्या ? तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमे कोई जीव, जड या बद्ध है ही नही। लोग स्वय अपनेको जीव और बद्ध मानते है।

एक बार मेरे हाथमे शंकरानन्दी टीका थी। मै मोकलपुरमें बाबाके पास बैठा था। उन्होने वह लेकर खोली तो श्लोक निकल आया—'वेदान्तके श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे जो अपनेको तो मुक्त मानता है, परन्तु दूसरोको बद्ध समझता है, उसे अभी सात्त्विक मुक्तिका ज्ञान नहीं है।' तत्त्व तो किसी भी शरीरमे

हो, मुक्त ही है। जिस दिन हमको यह ज्ञान हुआ कि तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमे हम मुक्त हैं तो हमने कहा—'तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि सच्ची, हमारी दृष्टि झूठी। सच्चे ज्ञानसे हम मुक्त हैं, अज्ञानके कारण हम अपनेको बद्ध मानते हैं।' इसमें संशय करनेका कोई कारण नही है।

मर्त्य—जो अपनेको मरनेवाला समझता है वह मर्त्य है। वास्तवमे मरनेवाला है नही, बुद्धिमें ही मर्त्यत्व है। यह मनकी एक कल्पना है। वस्तुकी मृत्यु नही है। जो पहले कभी मर चुका होता, वह आज होता ही नहीं! 'आज तुम हो,' इससे यह सिद्ध होता है कि तुम पहले मरे नहीं! 'तुम आज हो' और 'आगे भविष्यमे मरोगे' यह किस अनुभवके आधारपर अनुमान कर सकते हो? यह अनुमान भी झूठा है। हमने लोगोंके शरीरको मरते देखा है, आत्माको नही! आकारको फूटता देखते हैं, तत्त्वको नही। मिट्टी-पानी-आग हवा-आकाश तत्त्व है, वह नहीं मरता। जो किसी एक शक्ल-सूरतमें मैं करके बैठा है, वही अपनेको मरनेवाला मानता है। अपने सहज स्वरूपको जाननेवाला अपनी मृत्युकी कल्पना नही करता है।

अथ मर्त्योऽमृतो भवति

जो मरनेकी कल्पनासे आक्रान्त हो गया है, वह उस नशेबाज आदमीकी तरह है जो भ्रान्तिवश अपनेको या अन्यको कुछ और समझ ले। जो इस भ्रान्तिसे छूट जाता है वह अमृत हो जाता है। अमृत माने मृत्यु न होना, सत् होना। वह सत् 'मैं' है या दूसरा? यहाँ तो अपने आपको ही अमृत बताया गया है। इसलिए यह अमृत चेतन है, क्योंकि अपना आपा चेतन है, आनन्द है, परम प्रेमास्पद है। अमृतो भवति अर्थात् तुम सत् चित्-आनन्द हो।

तमेवम् विद्वान् अमृतैव इह भवति।

इस अमृतको मरनेके बाद नहीं, जिन्दा रहते इसी धरतीपर इसी शरीरमें आत्माके रूपमें जानो। रिक् माने अर्च्यते अनया इति रिक्। रिक्=देह जिसके द्वारा भगवान्‌की अर्चा-स्तुति होती है। व्यष्टि-विशेष परिच्छिन्न है ही इसलिए कि वह पूर्णकी आराधना करे, पूर्णतामें मिल जाय, जातिसे जुदा न हो, सामान्यसे पृथक् न हो। परिच्छिन्न भासता ही इसलिए है कि वह अपरिच्छिन्नसे जुदा नहीं है। इस शरीरका नाम ही रिक् है। यह शरीर वेदमन्त्र है।

ऋचो अक्षरे परमो व्योमन्।

इसका मैं अर्थ देख रहा था—

ये त न वेद किं ऋचा करिष्यति ?

यदि इस जीवनमें परमात्माको नहीं जाना तो यह देह—यह व्यक्तित्व निरर्थक गया।

रिक् प्राप्तिर्व्यर्था इत्यर्थः।

पण्डित लोग कहते हैं—'मन्त्र व्यर्थ है यदि परमात्माको न जाना।' निरुक्त कहता है—'शरीरकी प्राप्ति व्यर्थ है यदि इसी जीवनमें परमात्माको न जाना।' प्रत्येक इन्द्रिय मन्त्र है—'अर्थ प्रकाशकत्वात्। आँख, कान, नाक आदि, जिह्वा, हृदय, बुद्धि, हाथ सब मन्त्र हैं—अयम् मे हस्तो भगवान्—यह हाथ नहीं, ईश्वर है। ऋग्वेदमें बताया है—अयम् मे हस्तो भगवत्तर:—यह हाथ नहीं, बड़े ईश्वर है।'

इसका अभिप्राय यह हुआ कि ये सब एक-एक ज्ञान हैं। स्थान-भेदसे ज्ञानमें भेद करते हैं। भेद ज्ञानात्मक ज्ञानमें फुरना मात्र है, कल्पित है। इसलिए मात्र ज्ञान ही है।

आत्मज्ञानमे प्राप्त होती है। तब उसे संसारका कोई धम-अधर्म, देशकाल, वस्तु-द्रव्य अपना स्पर्श नही कर सकते।

हमारे ब्रह्मप्राप्तिमें बाधक हैं—अविद्या और काम।—

हम अपनेको ब्रह्म नही जानते। असलमें अपने स्वरूपका अज्ञान ही मृत्यु है। दूसरे, हमें अमुक चीज चाहिए। अभावसे पीड़ित होकर हम शब्दादि विषयोसे, पडोसीसे सुख पाना या इन्द्रसे वरदान लेकर सुखी होना चाहते हैं तो हम मर जाते हैं—हम मँगते हो जाते हैं।

मागन गया सो मर गया।

जो अपने लिए कुछ चाहता है, वह पूर्ण नही है। वह अपूर्ण है, इस लिए कट-पिट गया। कामना ही मृत्यु है। अपने आपको न जानना ही मृत्यु है। नचिकेतामें न अविद्या रही, न कामना रही। उसे सहज-स्वरूपकी प्राप्ति हो गयी। सहज इच्छा भक्ति है, सहज कर्म—धर्म है। जो कोई इसे जानेगा उसे विरजा विमृत्यु अमृतकी प्राप्ति होगी—ब्रह्मप्राप्ति होगी।

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥ १९॥

परमात्मा हम [आचार्य और शिष्य] दोनोकी साथ-साथ रक्षा करे। हमारा साथ-साथ पालन करे। हम साथ साथ विद्या-सम्बन्धी सामर्थ्य प्राप्त करें। हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो। हम द्वेष न करें॥ १९॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सम्बन्ध रखे बिना भी शरीर नहीं रह सकता। पञ्चभूतसे बना शरीर पञ्चभूतसे सम्बन्ध रखना चाहेगा। परिच्छिन्न शरीर पूर्णसे सम्बन्ध रखना चाहेगा। जो वस्तु अप्राप्त होगी, उसकी लालसा भी मनमें जगेगी। लोग ऐसा सोच लेते हैं कि ज्ञानीको अन्न, पानी, गरमी, हवा, अवकाश नहीं चाहिए, क्योंकि तुम ज्ञानीको पाञ्चभौतिक पुतला समझते हो। ज्ञानी अपनी दृष्टिसे तो शरीर है नहीं। ज्ञानी अपनी दृष्टिसे तो ब्रह्म है।

ज्ञानीकी निष्कामतामें और अज्ञानीकी निष्कामतामें क्या फरक है?

अज्ञानी अपनेको परिच्छिन्न देश-काल-वस्तु मानकर इसी परिच्छिन्नको रखने-जिलानेके लिए पूर्णके साथ सम्बन्ध रखता है। ज्ञानी पुरुष इस परिच्छिन्न मनके साथ तो सम्बन्ध रखता नहीं, वह तो अपरिच्छिन्न है। कामका आश्रय परिच्छिन्न अहं है, परिपूर्ण ब्रह्म नहीं है। मिट्टीको [illegible] चाहिए। पानीके बिना, इनके बिना मृत्तिका नहीं रह सकती। वह बिखर जाय। [illegible] अपनेको बनाये रखनेके लिए गरमी चाहिए, गरमीको वायु और वायुको अवकाश चाहिए, क्योंकि ये सब परिच्छिन्न हैं। केवल-देश-काल-वस्तु, रहनेसे अतीत परमसत्ताको अपना पैदा होने—मरनेके लिए भी कुछ नहीं चाहिए। न जन्मना-मरना है, न देश-कालके आधारमें वह रह रहा है। त्याग-वैराग्य-निष्कामता ये सब व्यक्ति विशेषकी शोभा-साधन हैं। ज्ञानीको सपना न आता हो, सो बात नहीं है। जब ज्ञानीका शरीर है, मन है, नींद कभी गाढ़ी और कभी हल्की आती है तो ज्ञानीके मनपर इन सबका प्रभाव पड़नेके कारण उसे सपना आता है।

हम स्वप्नमें किसी उत्सवमें गये हुए थे। वहाँ श्रीउड़िया-

बाबाजी महाराज थे, हम सब लोग भी थे। बडे-बडे लोग आये थे। इतनेमे पता लगा कि यहाँके जंगलमे घूँघर बाबा आये है। वे लँगोटी मात्र पहनते है। उनका शरीर काला है, बाल बिखरे हुए हैं, किसी से कुछ लेना देना नहीं है।

हमारे एक साथी उनके पास गये और देख आये। वे बडे प्रभावित हुए और बोले कि—'चलो दर्शन करने।' हमने श्रीउडियाबाबाजीसे पूछा—तो वे बोले—'तुम्हारी दृष्टिमे ज्ञानका मूल्यांकन है कि रहनीका ? यदि ज्ञान महत्त्वपूर्ण है तब तो ज्ञानस्वरूप तुम ही हो। यदि रहनीको महत्त्व देते हो तो व्यक्तिकी होती है—एक हाड-मांस-चामके शरीरकी होती है। तुम उसके ज्ञानका दर्शन करनेके लिए जाते हो कि रहनीके ?'

हमें अमुक व्यक्तिके दर्शनकी इच्छा होती है, अमुक व्यक्ति, समय, देश महत्त्वपूर्ण मालूम होता है, अमुक ऋतु सुहावनी लगती है। लन्दनमे धूप निकलने पर लोग घरके बाहर घूमनेको निकल पडते है और हिन्दुस्तानमे धूपसे बचनेके लिए लोग घरमे रहना पसन्द करते हैं। यह धूप और ठडकके प्रति महत्त्व देश-विशेषकी बात हो गयी। महत्त्व अपना बल क्या है, इस बातका होता है।

मैं हिप्नोटिज्मकी बात नही कह रहा हूँ। हमारे साथ दो सज्जन रहते थे, गीता प्रसमे। एक सस्कृतका आचार्य था, एक हिन्दी का। दोनो बैठकर, बडा पुराना हरिसूरिके भक्तिरसायन ग्रन्थका अनुवाद लिखते थे। इस ग्रन्थमे पाँच-सात हजार श्लोक हैं। हिन्दी लिखनेवाला जरा कमजोर था। एक दिन उसके सिरमें दर्द था। वह लिखे भी और घबडाये भी। हमने हँसी की 'तुम कहो तो तुम्हारे सिरका दर्द हटाकर हम इनको दे-दें। उसने कहा—'नहीं-नहीं, हम भोग लेंगे, इनको क्यों दें ?' दूसरा काशीका